८६०

समालोचना

कथाकार प्रेमचन्द

मन्मथनाथ गुप्त

रमेन्द्रनाथ वर्मा

किताब महल

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९४७

प्रकाशक—मन्मथनाथ गुप्त तथा किताब महल,
५६-ए० ज़ीरो रोड, इलाहाबाद
मुद्रक—आर० एन० अवस्थी, के० पी० प्रेस, ऐंग्लो
प्रिंटिङ्ग स्कूल, इलाहाबाद

भूमिका

उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द का सिक्का हिन्दी संसार पर बहुत पहले ही बैठ चुका है। उन पर बहुत-सी आलोचना-पुस्तकें भी निकल चुकी हैं। राजनैतिक क्रान्ति के साथ साहित्य की क्रान्ति का बहुत निकट सम्बन्ध है, सच बात तो यह है कि राजनैतिक क्रान्ति केवल विचारधारा के क्षेत्र में क्रान्तियों के लिए जमीन को तैयार कर देती है। इसलिए कोई भी क्रान्तिकारी साहित्य से तथा उसकी गति से बेखबर नहीं रह सकता है। साहित्य अर्थात् क्रान्तिकारी साहित्य केवल क्रान्ति से पुष्ट होता है, यह बात नहीं, क्रान्तिकारी साहित्य क्रान्ति को लाने में सहायक भी होता है। साहित्य से यहाँ केवल पार्टीलिटरेचर या दलगत साहित्य ही अभिप्रेत नहीं है, बल्कि इसमें कविता, उपन्यास, नाटक सभी आ जाते हैं। अब तो सोवियट रूस के क्रान्तिकारियों के हाथों में विराट साधन है, किन्तु कभी अर्थात् क्रान्ति के पहले बाल्शेविक दल के लोगों के हाथों में बहुत कम साधन थे, क्रान्तिकारी साहित्य सर्वथा निषिद्ध था। मुश्किल से कोई ढंग का साहित्य निकल पाता था। बाल्शेविक दल का बहुत-सा साहित्य रूस के बाहर छपता था, फिर उसको चोरी-छिपे से देश के अन्दर लाया जाता था। कहना न होगा, ऐसे समय में वे ही साहित्य दल द्वारा मुद्रित तथा प्रचारित हो सकते थे जो बहुत आवश्यक थे। स्वाभाविक रूप से दल के बहुत जरूरी प्रकाशन ही छापेखाने में जाने का सौभाग्य प्राप्त करते थे। स्वयं लेनिन की बहुत-सी रचनायें क्रान्ति के पहले छपने की मर्यादा प्राप्त न कर सकीं।

फिर भी ऐसे अवसर पर किस प्रकार लेनिन ने हाउप्टमैन के 'जुलाहे' नामक नाटक को बार-बार दल के जरिये से छपवाया और प्रचारित किया, यह बहुत दिलचस्प है। आखिर लेनिन ने ऐसा क्यों कराया? स्पष्ट है कि ऐसा करने में उनका उद्देश्य क्रान्ति के पथ को प्रशस्त करना था। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि लेनिन की बहिन आना इलिनिचना उलियनोवा ने मूल जर्मन से इस नाटिका का अनुवाद किया था। अवश्य ही इसके पीछे भी लेनिन की अनुप्रेरणा थी।

दल के अन्य साहित्यों के मुकाबले में इस नाटिका को बार-बार गैरकानूनी रूप से प्रकाशित करवाकर इतिहास के सबसे बड़े क्रान्तिकारी ने साहित्य का क्रान्ति में क्या हिस्सा हो सकता है, इसे मानो बहुत स्पष्ट शब्दों में कह दिया। लेनिन केवल इस नाटिका को प्रकाशित करवाकर और प्रचारित कराकर सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने यह भी कहा था कि इस नाटक के साथ एक ऐसी भूमिका जोड़ दी जाय जिससे इसकी क्रान्तिकारी अन्तर्गत वस्तु स्पष्ट हो जाय।

प्रेमचन्द का साहित्य मुख्यतः क्रान्तिकारी है। क्यों वह ऐसा है इसे हमने अपने ग्रन्थ में प्रमाणित किया है। हमने ऐसा करते समय प्रेमचन्द के ऊपर पड़ने वाले भूतकाल तथा समसामयिक साहित्यिक 'राजनैतिक' भाषा-सम्बन्धी असरों का विश्लेषण किया है। प्रेमचन्द को तभी हम समझ सकते हैं जब हम उनको पूरे परिप्रेक्षित में अच्छी तरह देखें, इसलिए हमें प्राक्प्रेमचन्द हिन्दी साहित्य के साथ-साथ उर्दू साहित्य का भी मन्थन करना पड़ा है। हम प्रेमचन्द को एक मामूली उपन्यासकार नहीं समझते, हम उन्हें आगामी युग के निर्माताओं में समझते हैं। यह बात सही है कि आज के युग में जो लोग राजनीति में हैं, उनकी कदर साहित्य सेवियों से कहीं अधिक की जाती है, किन्तु हमें विश्वास है कि जब शोषणमूलक समाज के अन्त हो

जाने के बाद बहुत-सी सामयिक घटनायें तथा व्यक्तित्व इतिहास के नीचे घिरा जायेंगे, उस समय हम प्रेमचन्द ऐसे लेखक का सही मूल्य कूतने में समर्थ होंगे। हमने इसी दृष्टि से प्रेमचन्द की आलोचना की है कि वे केवल हमारे मनोविनोद की सामग्री के स्रष्टा नहीं हैं, बल्कि उन्होंने अपने साहित्य के द्वारा दशों दिशा में क्रान्ति की चिनगारियाँ फैला दीं। स्वाभाविक रूप में इस प्रकार उनके सम्बन्ध में आलोचना करते समय हमें उनको विश्व साहित्य विशेषकर भारतीय साहित्य के परिप्रेक्षित में देखना पड़ा है। यह काम बहुत टेढ़ा था, किन्तु फिर भी आशा है कि हम इस प्रकार प्रेमचन्द के सही रूप को स्पष्टीकृत करने में समर्थ हुये हैं, और विश्वसाहित्य में उनका क्या स्थान है, इसका निर्णय कर सके हैं।

यद्यपि हमारी आलोचना में हमने उनकी रचना की सामाजिक अन्तर्गत वस्तु पर ही अधिक जोर दिया है, किन्तु फिर भी साहित्य के साथ भाषा, शैली, वाक्यविन्यास, रस का परिपाक आदि का अविच्छेद्य सम्बन्ध होने के कारण हमने उन पर भी आलोचना की है, और यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनमें कहाँ और कितना गुणावगुण है।

विषय-सूची

प्रेमचन्द के पहले

यों तो कथासाहित्य के वंश का यदि अनुसरण किया जाय तो हम अति प्राचीनकाल में पहुँच सकते हैं, जगत के सबसे प्राचीन साहित्य वेदों में भी कहानियाँ मौजूद हैं; इसी प्रकार पाश्चात्य साहित्य में हम इसकी वंशावली को ट्रोमालकियों के Bauquet, डाफनिस, और कलो और शायद उससे भी पीछे हेरोडोटस (ईसा पूर्व पंचम शताब्दी) तक पहुँचा सकते हैं, किन्तु जिस माने में आज हम कथासाहित्य को समझते हैं उसका उद्भव पाश्चात्य में छापेखाने के साथ, और पूर्वीय देशों में भी पश्चिम से छापेखाने की आमदनी के साथ होता है ।[1] कहानी कहने और सुनने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है, किन्तु पहले जो कहानियाँ कही जाती थीं, वह छन्दोबद्ध होती थीं । दुनिया के सभी देशों में पहले साहित्य पद्यमय और सो भी गेय होता था । प्रत्येक देश में गद्य का उद्भव बहुत बाद को हुआ है । प्राचीन साहित्य में पद्य का कितना बोलबाला था, यह इसीसे अनुमित हो सकता है कि ज्योतिष, वैद्यक यहाँ तक कि कोष तक पद्य में लिखे जाते थे ।

जहाँ तक कहानियों का सम्बन्ध है, पद्य में जो कहानियाँ कही गई हैं, उनमें मनोरंजकता कुछ कम नहीं है, इसके प्रमाण-स्वरूप हम दूर न जाकर महाभारत और रामायण का उल्लेख कर सकते हैं । यह समझना गलत है कि महाभारत और रामायण का प्रचार केवल धर्म-ग्रन्थों के रूप में ही रहा है, अवश्य ही इन पुस्तकों का अध्ययन धार्मिक ग्रन्थों के रूप में ही अधिक रहा है, किन्तु इनकी जनप्रियता का कारण कहानी के रूप में रोचकता है, इसमें सन्देह नहीं । प्रत्येक देश के

[1] N. P., p. 1

धार्मिक साहित्य में इसी प्रकार कुछ न कुछ पुराण अवश्य हैं, धार्मिक लोग यह मानते भी हैं कि साधारण व्यक्तियों के लिए शुष्क धार्मिक ग्रन्थों से इनकी उपयोगिता अधिक है। महाभारत की पंचमवेद के रूप में जो रचना हुई, बतलाई जाती है, उसके कारण-स्वरूप यह कहा जाता है कि साधारण लोगों के लिए ही इस प्रकार की रचना का आश्रय लेना पड़ा। अतएव धार्मिकों की दृष्टि से भी कहानियों का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं बल्कि इसके अलावा और भी कुछ है। बौद्ध तथा जैनी गण भी इस सम्बन्ध में पीछे नहीं रहे। बुद्ध के पूर्वजन्म की कल्पित कथाओं को लेकर जातक कथाओं की सृष्टि हुई, इसी प्रकार जैनियों ने भी तीर्थंकरों की लीलाओं की कहानियों की सृष्टि की। इनमें से कुछ भी भित्ति ऐतिहासिक हैं, कुछ लोक कथाओं को इनके अन्तर्गत करने के प्रयत्न-स्वरूप सृष्ट हुये हैं, कुछ अंश कल्पना की भी होंगी। वर्तमान युग में भी कितनी ही पुस्तकों की रचना महाभारत और रामायण की कथाओं को लेकर हुई हैं। भारतीय सिनेमा जगत में अब भी इन कथाओं का उपयोग होता है। यदि हिन्दी साहित्य के किसी पुस्तकालय को जाकर देखा जाय तो ज्ञात होगा कि सैकड़ों नाटक तथा काव्य पौराणिक या अर्द्ध-पौराणिक कथाओं को लेकर लिखे गये हैं। अपेक्षाकृत आधुनिक लेखकों में 'वेताव', आगाहश्र काश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक, बदरीनाथ भट्ट, माधव शुक्ल, मैथलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, विशम्भरनाथ कौशिक, सुदर्शन, जयशंकर प्रसाद आदि कितने ही लेखकों ने पौराणिक कथानकों के आधार पर अपने नाटक तथा काव्य तैयार किये हैं। 'सती-सीता', 'वीरकर्ण', 'सुभद्रा' इत्यादि अनेकों उपन्यास पौराणिक कथानकों को लेकर उपन्यासों की रचना हिंदी में हुई। डाक्टर लाल के अनुसार 'इन उपन्यासों में साहित्यिक रूप तथा भाषा के अतिरिक्त और कोई मौलिकता न थी। कथानक पुराणों से लिये गये थे, और चरित्र भी

पौराणिक थे। केवल जहाँ-तहाँ कथा में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन अवश्य कर दिये गये, और कहीं-कहीं कुछ साधारण नये चरित्रों की अवतारणा हुई, परन्तु मूलरूप में वे पुराण से भिन्न नहीं थे।' ये उपन्यास विशेषकर स्त्रियों के लिए लिखे गये थे। ऐसा केवल भारतवर्ष के सभी साहित्यों में हुआ ऐसी बात नहीं, हालकेन ऐसे आधुनिक उपन्यास लेखक ने यह लिखा है कि उनको बाइबिल से कथानक मिलते हैं।

कुरान में भी कथायें मौजूद हैं, और मुस्लिम धर्मतत्वज्ञों के अनुसार यूसुफ और जुलैखा की कहानी कुरान की सबसे दिलचस्पी कहानी है। कहा जाता है कि एक मोमीन ने अल हजरत से यह शिकायत की कि प्रत्येक जाति की धर्म-पुस्तक में कोई न कोई दिलचस्प कहानी है, किन्तु हमारी धर्म-पुस्तक में कोई दिलचस्प बात नहीं है, इस पर कहते हैं कुरान का वह हिस्सा उतरा जिसमें यह कहानी है। जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि कहानी कह लेने को ही कथा-साहित्य माना जाय तो हमें इन पौराणिक पुस्तकों को कथासाहित्य के अन्तर्गत मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से जैसा कि हम पहले ही बता चुके वेदों के खास-खास हिस्से को भी कथासाहित्य के अन्तर्गत मानेंगे, वेदों में कितने ही प्रेम, युद्ध, तथा जुआ आदि की कहानियाँ हैं। ग्रीकों के पुराण भी इसी अर्थ में कथासाहित्य के अन्तर्गत आ जायेंगे। सच बात तो यह है कि कहानियों की दिलचस्पी की दृष्टि से ग्रीक और भारतीय पुराण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, इनसे कुछ उतर कर स्कैनडेनिविया के पुराण हैं, बाइबिल तथा मुसलमानों के पुराणों का दर्जा इस सम्बन्ध में सबसे घटिया है। जिस प्रकार से महाभारत और रामायण बच्चों के लिए भी दिलचस्प हैं, उस प्रकार बाइबिल या कुरान में बच्चों को कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। अवश्य इस कमी की पूर्ति बाद को सन्तों, असहाब, फकीरों आदि की अर्द्ध-कल्पित जीवन कहानियों से

कर ली गई है। मिश्र देश के ३००० वर्ष पुराने लेखों से दो भाइयों की कथा नामक एक कहानी का पता मिलता है, 'यह कहानी फ्रांस से भारतवर्ष तक की एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है।'[२]

आधुनिक कथासाहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह गद्य में लिखा जाता है। स्मरण रहे कि इस सम्बन्ध में भी हर्षवर्द्धन के राजकवि बाणभट्ट की 'कादम्बरी' को ही अग्रणी मानना पड़ेगा, वह गद्योबद्ध भी है, और उसकी विषयवस्तु कहानी भी है। फिर भी हम बाणभट्ट की कादम्बरी को आधुनिक अर्थ में उपन्यास नहीं कहेंगे, क्योंकि उसमें जिस प्रकार की आलंकारिक तथा वागाडम्बरपूर्ण भाषा का उपयोग हुआ है, उससे कोई भी उसे उस प्रकार पढ़ कर सहज आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता, जिस प्रकार आज ट्रैम में या रेल में आधा घंटा बैठ कर लोग एक कहानी को पढ़ कर आनन्द प्राप्त करते हैं। आधुनिक अर्थ में उपन्यास सहज निर्मल कलामय आनन्द देने के लिए लिखा और पढ़ा जाता है, अवश्य· इसके साथ ही लेखक और भी बहुत से उद्देश्य सिद्ध कर सकता है, करता है, और शायद उसे करना भी चाहिये,—यहाँ हम इन तर्कों में नहीं पड़ेंगे, किन्तु चाहे जिस प्रकार का उपन्यास हो उसकी सफलता इसीमें है कि पढ़ने वाले को आनन्द प्राप्त हो, और उसे उपन्यास को समझने के लिए प्रत्येक पंक्ति में न तो कोष उठा कर देखना पड़े, और न उसे बार-बार अलंकार विशेषज्ञ की सहायता लेनी पड़े। इतना बता देने पर भी जिस अर्थ में हम धार्मिक पुराणों को तथा अन्यलोक कथाओं को पद्योबद्ध होते हुये भी आधुनिक उपन्यास का आदिपुरुष मानते

---

[२] कु० वि०, पृ० ८२

हैं, उससे निकटतर अर्थ में बाणभट्ट की कादम्बरी को आधुनिक उपन्यास का पूर्वपुरुष मानना पड़ेगा। अलिफ लैला की कहानी भी इसी प्रकार आधुनिक उपन्यास के पूर्वपुरुषों में है, किन्तु उसमें अलौकिक घटनाओं की भरमार है। धार्मिक साहित्य की अलौकिकता और इसकी अलौकिकता में फर्क यह है कि इसकी अलौकिकता में धर्म की पुट नहीं है। इसी प्रकार फारसी की एक पुस्तक 'तिलस्म होशरुबा' का पता मिलता है, यह बीस हज़ार पृष्ठों की पुस्तक है यह भी अलौकिक घटनाओं से पूर्ण है। इस पुस्तक के रचयिता के सम्बन्ध में कहा जाता है कि अकबर के दरबार में फैजी इसके लेखक थे, किन्तु इसमें सन्देह है। जो कुछ भी हो पाश्चात्य तथा पूर्वीयदेशों में हम आज जिसे उपन्यास कहते हैं, उसकी उस युगीन रचना के रूप में कई प्रसिद्ध पुस्तकों की रचना हुई।

आधुनिक उपन्यास की केवल यही विशेषता नहीं है कि वह गद्योबद्ध है, और उसकी भाषा सरल होती है, बल्कि उसमें और भी विशेषतायें हैं। अवश्य यदि हम क्रमबद्ध तरीके से पुराणों से अति-आधुनिक उपन्यासों के विकास का अनुसरण करें तो हमें उसमें कई सोपान के दर्शन होंगे। आधुनिक वस्तुवादी उपन्यास—वस्तुवादी उपन्यास से यहाँ केवल इतना ही मतलब है कि उसमें अलौकिक घटनायें न घटित हुई हों—और पौराणिक गाथाओं के बीच में जो सोपान हुआ है, उसे हम रोमान्टिक कथा का युग कह सकते हैं। रोमान्टिक उपन्यासों में धार्मिक कथाओं के बनिस्बत अलौकिक घटनायें कम हुईं, किन्तु उनका रूपभर बदल गया, उनको हम किसी न किसी रूप में देख सकते हैं। रोमान्टिक साहित्यों में ही अब हम व्यक्ति की प्रधानता देखना शुरू करते हैं, उदीयमान पूँजीवादीवर्ग के साथ—जो अपने को सामन्तवादी समाज की बेड़ियों से मुक्त करने के लिए छटपटा रहा था जिसका व्यक्तित्व सामन्तवादी वृहत्तर व्यक्तित्व में बराबर ग्रस्त हो रहा

था, किन्तु अब धीरे-धीरे सिर उठा रहा था, अब हम व्यक्ति के उत्थान की बात सुन सकते हैं। रोमान्टिक साहित्य में व्यक्ति ही प्रधान है, वह असाध्य साधन कर रहा है। रोमान्टिक धारा ने ऐतिहासिक उपन्यास को विशेषकर अपना वाहन बनाया है, बात यह है एक पीछे के युग में व्यक्ति को एक बड़ी हद तक मुक्त करके दिखलाया जा सकता था। इस प्रकार उदीयमानवर्ग ने व्यवहारिक क्षेत्र में अपनी मुक्ति प्राप्त करने के पहले काल्पनिक रूप से साहित्य क्षेत्र में मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा की। अवश्य यह कोई मुक्ति नहीं थी, मुक्ति की छायामात्र थी, किन्तु यह चेष्टा साहित्य में अपना एक चिह्न छोड़ गई।

पहले-पहल पाश्चात्य जगत में उपन्यास की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके सम्बन्ध में राल्फफाक्स ने लिखा है—'ज्यों-ज्यों मध्ययुग अवसान की ओर जाने लगा त्यों-त्यों इटली और इंगलैंड के व्यापारीवर्ग ने पहले-पहल आधुनिक ढंग पर कहानी कहने वालों को उत्पन्न किया। इन कहानियों में जो नायक और नायिकायें थीं, उन्होंने जो कुछ किया उसको महत्व दिये जाने के साथ ही साथ अब उतने ही परिमाण में उनके चरित्रों को महत्व दिया गया। चौसर और वक्कासियों ने पहले-पहल उपन्यास लेखक की जो सबसे बड़ी विशेषता है, यानी पुरुष और स्त्रियों के सम्बन्ध में कौतूहल प्रकट किया। कुछ हद तक हम इस बात को मालोरी में देख सकते हैं, किन्तु वे चौसर के शताब्दीवाद लेखक के रूप में आये हैं, और यद्यपि उनका माध्यम गद्य था, फिर भी हम यह अनुभव करते हैं कि वे कवियों के ही ढर्रे पर चल रहे हैं। यह बात सच है कि वे एक ऐसे समाज के मध्य में बैठ कर लिख रहे थे, जो ह्रास की पूर्व अाराजकता के बीच से गुजर रहा था, किन्तु फिर भी आपको पास्टन के पत्रों में मालोरी के बनिस्बत अधिक वस्तुवादी अंग्रेज पुरुष और स्त्रियाँ और कभी-कभी सुन्दरतर गद्य मिलेगा।[3]

---

[3] N. P., p. 35

इस प्रकार आधुनिक उपन्यास की अर्थात् पूँजीवादी युग के उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह व्यक्ति को महत्व देकर शुरू करता है। पूँजीवाद व्यक्तिवाद को लेकर ही आगे आया है। ह्रासशील सामन्तवाद के विरुद्ध उसने न केवल अपने वर्ग को बल्कि अन्य सब वर्गों को व्यक्तिवाद का नारा देकर पूँजीवाद के विरुद्ध संगठित किया है। यह द्रष्टव्य है कि शुरू-शुरू के कुछ उपन्यासों में आत्मकथा-मूलक ढंग जोरों के साथ अपनाया गया था। राबिन्सन क्रूसो (१७१६), गुलीवर की यात्रायें, (१७२७) Mauom Lescant (१७३२), Marianne (१७३५) और आमतौर पर मारीवो (Marivoux) और आवे प्रेवोस्त (Prevost) की सब रचनायें आत्मकथा-मूलक थीं। इन उपन्यासों में वर्णन यों किया जाता था कि मैंने यों देखा और मैंने यों वर्णन किया।[४] इसी प्रकार पत्रों के जरिये से जो उपन्यास का तरीका चला, उसे भी हम आत्मकथामूलक कह सकते हैं, अवश्य पत्रोपन्यास में केवल एक मैं न होकर दो मैं के होने की गुञ्जाइश हुई। वृन्तीयर ने १७४८ में लिखित Clarisse Harlowe तथा १७६२ में लिखित la Nouvelle Heloise को मुख्य उदाहरण के रूप में पेश किया है। इस प्रकार एक मैं से दो मैं और फिर बहुत से दृष्टिकोणों से एक चीज को देखने की परिपाटी का सूत्रपात हुआ। इस तरह से हम बिल्कुल आधुनिक उपन्यास में पहुँच जाते हैं। अति-आधुनिक कथित मनोविज्ञान प्रधान उपन्यास में यह जो कोशिश की जाती है कि मनुष्य के मनोविज्ञान से ही सारी घटनायें प्राप्त की जायँ, यह इसी रुख की चरम सीमा है। अवश्य ही मनुष्य का मन एक बहुत बड़ा Factor है, उपन्यास लेखक को या कवि को अवश्य उसका ध्यान रखना पड़ेगा, किन्तु यह कुचेष्टा करना कि आसपास का समाज

[४] H. D. B., p. 18

हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं डालता था, कम प्रभाव डालता है, यह गलत है। सच बात तो यह है कि मनुष्य का मन तथा उसकी मनोवृत्तियाँ ही ऐतिहासिक भौतिक कारणों से उत्पन्न हुई हैं और बराबर समाज की अग्रगति अथवा अवनति के साथ-साथ बदलती चली जा रही हैं, इसलिए मनोवृत्तियों को ही सब कुछ समझना सही नहीं हो सकता। अतिआधुनिक उपन्यासों पर लिखते समय हम यथासमय इस प्रवृत्ति की आलोचना करेंगे।

पहले-पहल जब आधुनिक उपन्यासों की उत्पत्ति हुई, तो उनकी रचना एक बड़ी हद तक बेकार लोगों के मनोरंजन के लिए हुई, अर्थात् ऊपर से इनके रचयिता स्वतन्त्र और निस्पृह दिखाई पड़ने पर भी उपन्यासों की रचना बिक्री के लिए अर्थात् धन के लिए की गई। स्वाभाविक रूप से धन तथा उपन्यास पढ़ कर आनन्द उठाने लायक शिक्षा पूँजीवादीवर्ग में ही थी, अतएव घुमाव-फिराव के साथ उपन्यासों की रचना पूँजीवादीवर्ग तथा उनके साथ-साथ उत्पन्न होने वाले नये मध्य वित्तवर्ग के लिए हुई। इसलिए उपन्यास के सम्बन्ध में यह जो कहा गया है कि वह निठल्ले लोगों के मनोरंजन की कला है, यह ठीक उतरती है, किन्तु यहाँ यह स्मरण रहे कि सब परोपजीवीवर्गों द्वारा शासित समाजों में कमोवेश कला का यह स्वरूप होने के लिए बाध्य था। सामन्तवादी युग में काव्य, साहित्य की रचना, सामन्तवादी प्रभुओं, राजाओं, महाराजाओं, नवाबों का कृपाकटाक्ष प्राप्त करने के लिए होता था, और जो कवि इनका कृपा कटाक्ष प्राप्त कर लेता था वह धन्य समझा जाता था। उस युग में स्वाभाविक रूप में कवियों तथा कलाकारों को इस बात की परवाह नहीं थी कि जनता उनकी कला या काव्य की कदर करती है या नहीं। यदि लगे हाथों जनता के कुछ लोगों ने उनकी कदर की तो अच्छी बात है, नहीं तो वे इसके लिए कोई चेष्टा नहीं करते थे। इसके अतिरिक्त

जनता में इतनी शिक्षा, संस्कृति या अवकाश नहीं था कि वह इन रचनाओं की कदर करता है। इस प्रकार सामन्तवादी युग में कला तथा साहित्य का रूप वर्गकला या वर्गसाहित्य ही रहा। उस युग में भी साहित्य या कला निठल्लों का मनोरंजन करता था। अवश्य कुछ जनता के कवि तथा कलाकार उन युगों में भी हुये हैं जो राजदरबार की ओर नहीं, बल्कि जनता की ओर ही देखते थे। हम इसके ब्यौरे में जाने का साहस नहीं करते, केवल इतना बताकर आगे बढ़ जायेंगे कि कबीर, नानक, तुलसी आदि कवि इसी श्रेणी के हो गये हैं, किन्तु साथ ही हम यह भी बता दें कि उनकी कविता या कला दरबारी न होने पर भी और दरबार की ओर न ताकने पर भी उनकी कविता की अन्तर्गत-वस्तु अपने को एक हद तक ही सामन्तवादी अन्तर्गतवस्तु से अलग कर सकी।

पूँजीवादीवर्ग की प्रथम महान राजनैतिक क्रान्ति अर्थात् १७८९ की फ्रेंच राज्यक्रान्ति के पहले ही उपन्यासों की बहुत उन्नति हो चुकी थी। फिलीब्र आदेब्राँ ने इस सम्बन्ध में एक बहुत ही मजेदार तथ्य यह दिया है कि जिस दिन वास्तिल पर क्रान्तिकारियों का कब्जा हो गया, उसी दिन से कुछ काल के लिए उपन्यास की उन्नति रुक गई। इसके बाद तो सड़कों पर नाटकों का दौरदौरा रहा। प्लासदला रिवल्यूसियों में खूनी दृश्यों को नाटकों के जरिये से दिखाया जाता था, और कई क्षेत्रों में तो नाटक मानो बन्दूक कन्धे पर लेकर और हाथ में तलवार लेकर सरहद पार कर दिग्विजय के लिए रवाना हो गया। ऐसे समय में प्रेम की कहानी बिल्कुल एक ऐसी बात होती, जो उस समय की पवित्रता को अक्षुण्ण करती, और सारे परिप्रेक्षित के साथ असामंजस्यपूर्ण होती। यह परिस्थिति करीब दस साल तक रही। तथ्य तो यह है कि १८वीं ब्रूमेपेर या मारंगों के युद्ध के बाद ही उपन्यास का पुनरुज्जीवन हुआ। इस प्रकार जो उपन्यास फिर से कब्र के अन्दर

से निकला तो उसने देखा कि उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं, उसकी चारों तरफ की सब बातें, रंगढंग, पोशाक, बातचीत का तरीका, यहाँ तक कि भूगोल बदल चुका था। इस दृश्य को देख कर उसने अपना Liuceul को हिलाया, टटोला, और उसे यह मालूम न पड़ा कि कैसे फिर से जनता पर कब्जा किया जाय, धीरे-धीरे वह तगड़ा पड़ता गया, और नई दुनिया के साथ कदम ब कदम चलने लगा।'[५] इसके बाद तो उपन्यासों की धूम हो गई, यहाँ तक कि चार्ल्स सारोलिया को यह कहने की हिम्मत हो गई कि कहानी कहने की कला अनिवार्य रूप से एक फ्रेन्चकला है।[६]

आदेवाँ ने यह जो दिखलाया है कि वर्षों तक उपन्यास बन्द रहा, यह ऐतिहासिक रूप से सत्य होते हुये भी, यह जरूरी नहीं था कि हर हालत में ऐसा होता ही। ऐसा इसलिए हुआ क उस समय के बुर्जुआ उपन्यासकारगण उपन्यास को प्रेमकहानी या निठल्लों की मनोरंजन सामग्री के अतिरिक्त किसी अन्य रूप में कल्पना नहीं कर सकते थे। उपन्यास इसके अतिरिक्त अन्य उद्देश्य भी सिद्ध कर सकता है, तथा एक क्रान्तिकारी तथा अनिश्चित वातावरण के साथ कदम मिलाकर चल सकता है, इसका ज्ञान उस समय के बुर्जुआ उपन्यासकारों को नहीं था। इस प्रकार उपन्यास के सम्बन्ध में जो बुर्जुआ धारणा थी कि वह केवल निठल्लों के मनोरंजन के लिए है, दूसरे शब्दों में कला कला के लिए है—यह नारा, या इस प्रकार की धारणा ने ही उनको ऐसे समय में पंगु बना दिया, और उपन्यास कला उनके युद्ध तथा दिग्विजय में सहायक सिद्ध न हो सकी। इस महायुद्ध में हम देख चुके हैं कि इलिया, एरेनवर्ग तथा वान्द्रा वासिलियावास्का आदि लेखकों के उपन्यासों ने लड़ाई को जीतने में उतनी ही सहायता दी जितनी

[५] R. E. V., p. 3 [६] L. M. M., p. 3

नवीन से नवीन हवाई जहाज तथा टैंक दे सकता है, बल्कि उनसे भी कहीं अधिक, क्योंकि लड़ाई के जीतने में जो सबसे बड़ा उपादान है, वह मनुष्य है, और इन लेखकों की रचनाओं ने ऐसे मनुष्यों को उत्पन्न किया या यों कहना चाहिये कि ऐसे मनुष्यों को ऐसे मानसिक ढाँचे में लाकर रख दिया जिसमें ही लड़ाई जीती जा सकती है। इस प्रकार कला की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में एक संकुचित दृष्टिकोण रखने के कारण या यों कहिये कि उसकी विस्तृतर सम्भावनाओं को विकसित करने में असमर्थ रहने के कारण स्वयं बुर्जुआ समाज अपने एक बहुत Potential अस्त्र से वंचित रहा। जो कुछ भी हो इसके बाद बुर्जुआ-वर्ग इतना अज्ञ नहीं रहा, और उसने कला, साहित्य का बहुत सुन्दरता के साथ और सूक्ष्मता के साथ उपयोग किया है।

चार्ल्स सारोलिया ने यह जो कहा है कि कहानी कहने की कला अनिवार्य रूप से एक फ्रेन्च कला है, यह केवल एक देशभक्त का आस्फालन मात्र नहीं था, सचमुच ही फ्रेंच उपन्यास सारे बुर्जुआ जगत के उपन्यासों के शीर्ष स्थान पर रहा है। यदि हम इस बात को याद रखें कि सबसे पहले खुल कर फ्रांस के बुर्जुआवर्ग के हाथों में राष्ट्रशक्ति आई, तो हमें इस परिणाम को समझने में दिक्कत न होगी। इंगलैंड में उस प्रकार से Spectacular तरीके से कोई बुर्जुआ क्रान्ति नहीं हुई, किन्तु वहाँ फ्रांस से पहले बुर्जुआवर्ग शक्ति-आरूढ़ हो गया, इसलिए अंग्रेजी उपन्यासकारगण भी रचना की दौड़ में फ्रांसीसियों से होड़ करते रहे। बाद को तो चल कर सभी यूरोपीय देशों में उपन्यासों की उन्नति हुई।

इस स्थान पर हमसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि हम उपन्यास-कला के विकास का कोई क्रमबद्ध इतिहास पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करें। हमारा केवल इतना ही दिखा देना उद्देश्य है कि एक तो उपन्यास आधुनिक पूँजीवादी समाज की विशेष ही नहीं, बल्कि

उसकी सबसे बड़ी उपज है, दूसरा यह कि भले ही इसका भ्रूण-रूप में पहले अस्तित्व रहा हो, किन्तु इसे जन्म देने का श्रेय पूँजीवादी समाज-पद्धति को ही है। राल्फफाक्स ने यह बहुत ठीक कहा है कि उपन्यास हमारे आधुनिक बुर्जुआ समाज का ऐपिक कलागत स्वरूप (epic art form) है, इस समाज के यौवन काल में यह कला अपनी पूर्णता तक पहुँची, और इस समाज के ह्रास के साथ-साथ इसमें भी कुछ बट्टा लगता हुआ नजर आता है। यद्यपि अभी भारतवर्ष में यह प्रश्न नहीं उठता कि क्या वर्तमान समाज-पद्धति अर्थात् बुर्जुआ समाज-पद्धति के ह्रास तथा अन्त के साथ उपन्यास का भी अन्त हो जायेगा। राल्फफाक्स ने इस प्रश्न पर विवेचना करते हुये यह दिखलाया है कि एपिक या महाकाव्य सामन्तवादी युग की सबसे बड़ी साहित्यिक उपज थी, किन्तु बाद को इसका Chauson de geste में पुनरुज्जीवन हुआ, और जब इस रचना-प्रणाली का भी अन्त हो गया तब उपन्यास ही एपिक रूप में लिखे जाने लगे। इस प्रकार एपिक अपने मौलिक रूप न सही, एक दूसरे रूप में पुनरुज्जीवित हुआ। इसी प्रकार उपन्यास अपने व्यक्तिप्रधान स्वरूप में न रह कर एक बदले हुये स्वरूप में पूँजीवादी समाज के आगे के समाज में रह सकता है, रहेगा, और जैसा कि हम रूस के उदाहरण से जानते हैं, वह है, और न सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति कर रहा है। सच बात तो यह है कि स्वयं बुर्जुआ लेखकों ने ही व्यक्तिप्रधान उपन्यासों को खतम करने की ओर प्रवृत्ति दिखलाई है।

भारतवर्ष में अभी उपन्यास-कला कल की उपज है। जैसा कि हम दिखा चुके उपन्यास साहित्य की उत्पत्ति के लिये यहाँ दो बातों की जरूरत थी, एक तो उसके उपयुक्त भाषा के विकास की, और दूसरा उपन्यासों की अधिक से अधिक प्रतियों के प्रचार के लिये छापेखानों की जरूरत थी। अंग्रेजों के भारतवर्ष में आने के पहले ये दोनों बातें यहाँ

नहीं थी। बँगला तक में अंग्रेजों से पहले कोई कहने लायक गद्य नहीं था। राजा राममोहन राय ही बँगला के प्रथम गद्यलेखक माने जाते हैं, यद्यपि यह स्मरण रहे कि बँगला की जो प्रथम गद्य पुस्तक मानी जाती है, वह राममोहन की लिखी हुई नहीं बल्कि रामवसु का लिखा हुआ प्रतापादित्य चरित्र था। प्रतापादित्य चरित्र १८०१ में प्रकाशित हुआ था। राजा राममोहन ने इस पुस्तक की पांडुलिपि को शुद्ध किया था, किन्तु उनकी निजी कोई रचना १८१५ के पहले प्रकाशित नहीं हो सकी। राममोहन ने कोई उपन्यास नहीं लिखा, किन्तु बँगला गद्य को सभ्य समाज में प्रचलित कर उपन्यास के लिए आधार उत्पन्न किया। इसके बाद तो ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और एक के बाद एक लेखक आते गये, और बँगला गद्य का और साथ ही उपन्यास का जन्म हुआ। यह तो बताने की आवश्यकता ही नहीं है कि छापेखाने के जरिये से ही इस गद्य का प्रचार हुआ। बंकिमचन्द्र जिस समय बँगला में आये हैं, उसके पहले ही कुछ उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। इनमें समय की दृष्टि से नवबाबू विलास १८२३ में प्रकाशित होने के कारण पुरानी रचना मानी जा सकती है, इन लोगों ने गद्य को कुछ दूर तक उपन्यासोपयोगी बनाया, किन्तु फिर भी बंकिमबाबू को साथ ही साथ गद्य की सृष्टि भी करनी पड़ी। इस प्रकार उनको कुआँ खोदना और पानी पीना बल्कि पिलाना साथ ही साथ करना पड़ा।

जो काम बँगला में रामवसु, राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने किया, हिन्दी में वही प्रक्रिया दूसरे तरीके से होती रही। बँगला का प्राचीन साहित्य हिन्दी के मुकाबिले में दो दृष्टि से भिन्न था, एक तो ब्रजबोली की ओर कुछ थोड़ी-सी प्रवृत्ति के अतिरिक्त बँगला में जो पद्य की भाषा रही, वही बाद को गद्य की भी भाषा रही, दूसरा बँगला का प्राचीन साहित्य हिन्दी के प्राचीन साहित्य की तरह ऐश्वर्यशाली न होने के कारण वह अग्रगति में बाधक न हो सका। हिन्दी के कवियों

ने ब्रजभाषा और अवधी को ही आश्रय कर काव्य रचना की थी। इस बीच में भाषा में परिवर्तन हो चुका था, और सार्वजनपदिक भाषा के रूप में खड़ी बोली का विकास हुआ था। खड़ी बोली का अस्तित्व खुशरू और कबीर के पहले से था, ऐसा दिखलाया जा सकता है। श्री गुलाबराय। के अनुसार 'गंग' आदि ने इसका प्रयोग गद्य में भी किया, तथापि वह जनता की भाषा ही रही, साहित्यिक भाषा न हो सकी क्योंकि साहित्यकार पद्य की ओर झुके हुए थे जिसमें ब्रजभाषा और अवधी का प्रचलन था। जनता की भाषा होने के कारण यह गद्य के लिए विशेष उपयुक्त थी। खड़ी बोली में गद्य लिखने के सूत्रपात करने का श्रेय चार महानुभावों को है। मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्ला ने स्वान्तः सुखाय और लल्लूलाल सदन मिश्र ने फोर्ट विलियम की छत्रछाया में अंग्रेजी अफसरों की प्रेरणा से लिखा है। इनका कार्य प्रायः १८६० के निकट आरम्भ हुआ। इससे पूर्व १६वीं शताब्दी के आरम्भ से पहले सम्वत् १८६८ में रामप्रसाद निरंजनी ने भाषायोगवाशिष्ट लिखी और सम्वत् १८१८ में पंडित दौलतराम ने हिन्दी में जैन पद्मपुराण का अनुवाद किया। इनमें हमको खड़ी बोली का अच्छा नमूना मिलता है।* अब इस खड़ी बोली को साहित्य में प्रतिष्ठित करने के लिए बड़ी भारी लड़ाई लड़नी पड़ी। हिंदी साहित्यिक के विकास में यह लड़ाई बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु दुख है कि अच्छे से अच्छे समीक्षकों ने इस लड़ाई को वह महत्व नहीं दिया है, जो इसका न्याय-संगतप्राप्य है। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के बीच हिन्दी साहित्य के सिंहासन के लिए जो लड़ाई हुई है, उसमें यदि ब्रजभाषा की जीत होती तो जैसे आज हिन्दी एक विराट भूखंड की साहित्यिक भाषा के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है, ऐसा न होता। उस हालत में आज जहाँ पर हिंदी

* हि० सा० सु० पृ० १२६-३०

है, वहाँ हमें सम्भव है कई साहित्यिक भाषायें दृष्टिगोचर होतीं। अवश्य यह कहना मुश्किल है कि खड़ी बोली की विजय तथा उसके साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के कारण अब हमेशा के लिए पृथक्-पृथक् जानपदिक भाषाओं की उत्पत्ति का मार्ग रुक गया।

जो कुछ भी हो वर्तमानरूप में हिन्दी उपन्यास कला के उदय में खड़ी बोली का सर्वमान्य हो जाना एक बहुत बड़ी बात है। इस क्षेत्र में जो विजय हुई वह अभी कल की बात है, सच बात तो यह है कि अभी तक ब्रजभाषा और खड़ी बोली की लड़ाई में जो विराट संग्राम हुआ था, उसके तोपों की गड़गड़ाहट अभी तक सुनाई पड़ सकती है। श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के ही नेतृत्व में इस युद्ध में खड़ी बोली वालों की विजय हुई।

जहाँ तक छापेखानों की स्थापना का सम्बन्ध है, कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज से ही कुछ हिन्दी पुस्तकें पहले प्रकाशित हो चुकी थीं, किन्तु जैसा कि डाक्टर लाल ने लिखा है 'उनकी संख्या बहुत कम थी, और उनका महत्व भी विशेष नहीं था। आधुनिक काल का प्रारम्भ १८३७ से होता है, जब दिल्ली में एक लिथोग्रेफिक प्रेस की स्थापना हुई, तभी से हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन अबाध गति से चलता रहा है'।[८]

जिन भूभागों में आज हिन्दी बोली जाती है, उन भूभागों में वे ही लोककथायें तथा कहानियाँ प्रचलित थीं जो भारतवर्ष के अन्य स्थानों में प्रचलित थीं। डाक्टर लाल ने यह लिखा है कि 'हिन्दी उपन्यास के क्रमिक विकास का मूल तोता-मैना और सारंगा सदावृज

[८] आ० हि० सा० वि०, पृ० १९

जैसी कहानियों में खोजना पड़ेगा, जिनका उद्गम उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से हुआ जान पड़ता है। इन कथाओं का उल्लेख हमें कालिदास के समय से ही मिलता है।' दूसरे शब्दों में डाक्टर लाल के वक्तव्य का यह अर्थ हुआ कि हिन्दी उपन्यासों अथवा कहानियों के आदिपुरुष की खोज में हमें उस युग में जाना पड़ेगा जब हिन्दी थी ही नहीं, इसलिए उन युगों की कहानियाँ न केवल हिन्दी कहानियों की बल्कि समस्त भारत की कहानियों की जननी थीं। डाक्टर लाल ने जिस प्रकार आसानी से यह कह दिया कि तोता-मैना और सारंगा सदावृज आदि कहानियों का उद्गम उत्तर भारत में प्रचलित मौखिक कथाओं से हुआ जान पड़ता है, आधुनिकतम खोजें ऐसे अनुमानों की पुष्टि नहीं करतीं। सच बात तो यह है कि कहानियों के विकास की खुद एक बहुत बड़ी कहानी है। हितोपदेश में जिन कहानियों को हम बचपन में पढ़ते हैं, वे न मालूम किस-किस रूप में कहाँ-कहाँ मौजूद हैं। केवल कोई अज्ञ व्यक्ति ही यह कहने का साहस कर सकता है कि अमुक कहानी निश्चय रूप से अमुक स्थान से ली गई। जो कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी बँगला आदि भारतीय भाषाओं को उत्तराधिकार सूत्र में कहानियों की जो थाती मिली थी, वह किसी भी हालत में यूरोपीय भाषाओं को उत्तराधिकार सूत्र में प्राप्त थाती से कम नहीं थी। फिर भी यहाँ यूरोप की तरह आधुनिक कथासाहित्य की उत्पत्ति क्यों नहीं हो सकी, यह इस बात से समझ में आ जायेगी कि यहाँ उस वर्ग का विकास ही नहीं हुआ जिसके तत्वावधान में, जिसकी देखरेख में तथा जिसकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए आधुनिक कथासाहित्य की सृष्टि हुई। तभी हम देखते हैं कि ईसा के पहले ही भारतवर्ष का प्राचीन कथासाहित्य बहुत समुन्नत होने पर भी, यूरोप में तो चौदहवीं शताब्दी में वक्कासियो, डकामरन (१३५३) तथा 'कॅन्टरवरी टेल्स' की रचना होती है किन्तु भारतवर्ष में

आधुनिक उपन्यास तथा कहानी साहित्य का प्रारम्भ १६वीं सदी के पहले नहीं हो पाता।

मलिक मुहम्मद जायसी—हमें इस अवसर पर कथासाहित्य के इतिहास की पूरी-पूरी आलोचना नहीं करनी है, किन्तु फिर भी हम इस बात पर ध्यान दिये बगैर नहीं रह सकते कि भारतवर्ष में कहानियो को धार्मिक या पौराणिक प्रभाव से मुक्त होने में बहुत दिन लग जाते हैं। मध्ययुग की रचनाओं में मलिक मुहम्मद जायसी रचित पद्मावत को एक ऐसी प्रेम कहानी हम कह सकते हैं, जिसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह एक प्रेमकाव्य है। इसकी रचना सम्वत् १५६७ या १५४० ई० में हुई थी। श्री गुलाबराय ने इस पुस्तक का वर्णन इन शब्दों में लिखा है 'पद्मावत में राजा रतनसिंह और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। इन दोनों का मिलन हीरामन तोता ने कराया था......इस कथा में प्रेम साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखलाया गया है। यह कथा अधिकांश ऐतिहासिक है। कवि कल्पना के अनुसार इसमें हेर फेर अवश्य किया गया है। पूर्वार्द्ध कल्पित है किन्तु उत्तरार्द्ध का बहुत कुछ ऐतिहासिक आधार है। भौतिक प्रेम के साथ आध्यात्मिक प्रेम की भी झलक दिखलाई गयी है।'[९] इतने ही वर्णन से ज्ञात होगा कि इस कथा में बाद के युग के अर्थात आधुनिक प्रेममूलक उपन्यास के उपादान मौजूद हैं। इन पर पहले की कथाओं का बहुत जबरदस्त प्रभाव रहा है।

इंशाअल्ला खाँ—इंशाअल्ला खाँ रचित उदयभान चरित या 'रानी केतकी की कहानी' से हिन्दी उपन्यास साहित्य का आरम्भ होता है।[१०]

सैयद इंशाअल्ला खाँ के विषय में यह विशेष द्रष्टव्य है कि उनके पूर्वज समरकन्द से भारतवर्ष में भाग्य की तलाश में आये थे। वे पहले

[९] हिं० सा० सु०, पृ० ३४   [१०] आ० क० सा०, पृ० २४

मुगल दरबार के आश्रित होकर रहे, किन्तु उनके समय में मुगल साम्राज्य का रहा सहा नाम भी जाता रहा, तब उनके पिता मुर्शिदाबाद जाकर बस गये। इस प्रकार उनको जीवन के सम्बन्ध में बहुत विलक्षण तजर्बे हुये। विदेशी होते हुये भी उन्होंने उर्दू पर अच्छा अधिकार प्राप्त किया, हिन्दी गद्य के तो खैर वे प्रवर्तकों में गिने जा सकते हैं। भाषा के सम्बन्ध में इनके क्या आदेश थे, यह इन्हीं के शब्दों में सुना जाय—

'एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न मिले; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ इसके बीच में न हो......एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े, घाग यह खटराग लाये......और लगे कहने, यह बात होती दिखाई नहीं देती। हिन्दीपन भी न निकले, और भाषापन भी न हो। बस जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे, और छाँव किसी की न पड़े, यह नहीं होने का।'[११]

इस उद्धरण से स्पष्ट है प्रवृत्ति बोलचाल की भाषा को अपनाने की ओर है, अवश्य बोलचाल की भाषा से मतलब अच्छे से अच्छों की अर्थात् उच्चवर्ग की बोलचाल से है। अभी तो हमारे साहित्य में दूसरे लोगों की बोलचाल का प्रश्न बीसियों वर्ष तक उठने का नहीं है, फिर भी उस युग में जिस पंडिताऊ तथा मौलवियाना शैली की ओर लोगों का झुकाव था उसको देखते हुये, इस प्रवृत्ति को प्रगतिशील मानना पड़ेगा। श्री गुलाबराय ने इस सम्बन्ध में सहीरूप से लिखा है— 'भाषापन से मुसलमानों का अभिप्राय संस्कृत मिश्रित हिन्दी से था...

११. हि० भा० सा० वि०, पृ० ६४१

इंशाअल्ला की भाषा शुद्ध हिंदी रूप दिखाई पड़ता है, किन्तु उसमें फारसी का प्रवाह लक्षित होता है।'[१२] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इंशाअल्ला के सामने भाषा का निर्माण कर तब उसमें लिखने का सवाल था, इस प्रकार उनका कार्य दोहरा कठिन था।'

सदल मिश्र—रानी केतकी की कहानी के साथ-साथ सदल मिश्र रचित नासिकेतोपाख्यान का भी इस अवसर पर उल्लेख किया जा सकता है। यह पुस्तक फोर्ट विलियम कालेज में लिखी गयी थी। ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने अपने कर्मचारियों को देशी भाषाओं से परिचय कराने के लिए एक कालेज खोला था, इसमें लल्लूलालजी और सदल मिश्र हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हुये। इस कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्रिष्ट ने उन्हें इस बात का भार सौंपा कि वे हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की रचना करें, जिससे हिन्दी सीखने वालों को आसानी हो। इस प्रकार ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने हिन्दी के निर्माण में जो कार्य किया वह बहुत महत्वपूर्ण है, अवश्य उन्होंने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही ऐसा किया था, इसमें सन्देह नहीं। इन लोगों ने खड़ी बोली को ही अपनाया, किन्तु यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी बल्कि जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे हिन्दी सीखना-सिखाना चाहते थे, वह खड़ी बोली से ही सिद्ध होता था इसीलिए उसे अपनाना स्वाभाविक था। फिर भी सदल मिश्र छलाँग मार कर खड़ी बोली को अपना न सके, बल्कि हरिऔध के अनुसार उनकी भाषा खड़ी बोली और ब्रजभाषा के बीच में थी। अभी भाषा में प्रयोग हो रहे थे। अभी स्वाभाविक रूप से शुद्ध खड़ी बोली का हम इस पुस्तक में दर्शन नहीं पाते। इनकी भाषा में ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट है। वे बहुवचन ब्रजभाषा के तरीके से 'न' लगाकर बनाते थे। कहीं-कहीं पूर्वी बोली का भी प्रभाव है, फिर भी भाषा को सरल बनाने की ओर उनका प्रयास स्पष्ट है।

[१२] हि० सा० सु०, पृ० १३२

राजा शिव प्रसाद—राजा शिव प्रसाद (१८२३-१८६३ ई०) ने राजा भोज का सपना लिखा। इन्होंने उर्दू मिश्रित हिन्दी लिखी। उनकी भाषा अब भी आधुनिक उपन्यास के उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसमें अनुप्रास की भरमार है, और बहुत से स्थानों पर तुकबन्दी पूर्णरूप से मिलती है। श्री गुलाबराय ने इस पर ठीक ही लिखा है कि 'यद्यपि लोग भाषा में सरलता लाने का उद्योग करते थे, तथापि वे सर्वथा पद्य के अभाव से मुक्त न थे।'

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-८४) के नाम से हिंदी में एक युग ही चल गया है। इस समय तक हिंदी में जो दो धारायें चल रही थी, एक हिन्दी को संस्कृत बना डालना चाहती थी, दूसरी उसे उर्दू बना देने के लिए उद्यत थी। भारतेन्दु ने इन दोनों के बीच में एक मार्ग ग्रहण किया। 'वे न तो हिंदी को उर्दू बनाना चाहते थे न संस्कृत। वे हिंदी को उसका निजी रूप देना चाहते थे... भारतेन्दुजी अपनी भाषा में संस्कृत के शब्दों को स्थान देते थे, जिनका व्यवहार रोजाना की बोलचाल में होता, और उर्दू के उन्हीं शब्दों का व्यवहार करना उचित समझते थे जिनको जनता ने अपना लिया था।'[13] दूसरी ओर हिंदी भाषा को वर्तमान रूप प्रदान करने में उनका और भी दान है। वे जिस युग में थे उस युग में गद्य में तो खड़ी बोली स्वीकृत हो चुकी थी और उसका रूप बहुत कुछ निखर चुका था, किन्तु पद्य में अभी यह झगड़ा चल रहा था कि ब्रजभाषा कविता की भाषा रहे अथवा खड़ी बोली ही कविता में अपनाई जाय। भारतेन्दु स्वयं ब्रजभाषा के विद्वान् थे, और ब्रजभाषा में कविता लिखने में उन्हें बहुत सफलता भी मिल चुकी थी, किन्तु उन्होंने युग के ढाल को देख कर खड़ी बोली में कविता लिखना

[13] वही पृ० १३५

प्रारम्भ किया। उन्होंने खड़ी बोली में कुछ कवितायें यह देखने के लिए लिखीं कि वे सफल रहती हैं या नहीं, और उन कविताओं को उन्होंने भारतमित्र में प्रकाशित करवाया। १८८१ (पहली सितम्बर) के भारतमित्र में उन्होंने अपने छन्द के साथ यह पत्र भी छपाया था—

'प्रचलित साधुभाषा में कुछ कविता भेजी है। देखियेगा इसमें क्या कसर है, और किस उपाय के अवलम्बन करने से इसमें काव्य सौन्दर्य बन सकता है। इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की सम्मति ज्ञात होने से आगे से वैसा परिश्रम किया जायेगा।'[१४]

खड़ी बोली में कविता लिखने में भारतेन्दु को प्रोत्साहन न मिला, इसलिए उन्होंने इस दिशा में आगे परिश्रम नहीं किया। उस युग में ब्रजभाषा और खड़ी बोली के तुलनात्मक गुणावगुण पर बहुत तुमुल वादविवाद चल रहा था, जैसा कि डाक्टर रामविलास ने लिखा है बाद के ब्रजभाषा प्रेमियों ने इस सम्बन्ध में भारतेन्दु को कविता में सफलता न मिलने की बात को एक तर्क के रूप में इस्तेमाल किया और कहा कि जब भारतेन्दु को ही कविता में सफलता न मिली तो और कवि किस गिनती में हैं। इस सम्बन्ध में खड़ी बोली की अन्तिम विजय के लिए अभी कुछ और समय की आवश्यकता थी।

भाषा को इस प्रकार निखार कर आधुनिक वाहन बनाने में बहुत बड़ा हाथ बटाने के अतिरिक्त भारतेन्दु ने लगभग १०० पुस्तकें लिखी[१५] जिनमें चौदह नाटक और कई प्रहसन भी थे। इस प्रकार हिन्दी साहित्य में उनका दान बहुत भारी है, किंतु इस स्थान पर उनके नाम का उल्लेख इसलिए यहाँ विशेष रूप से किया जा रहा है कि खड्ग विलास प्रेस से 'पूर्ण प्रकाश चन्द्र प्रभा' नामक एक

[१४] भा० बु० पृ० १६८ [१५] हि० भा० सा० वि० ५०६

उपन्यास उनके नाम से प्रकाशित हुआ था, (अवश्य इस उपन्यास के असली रचयिता कौन हैं इस सम्बन्ध में मतभेद है। शिवनन्दन सहाय के अनुसार यह किसी दूसरे व्यक्ति का अनुवाद किया हुआ है। भारतेन्दु ने केवल इसकी पांडुलिपि को शुद्ध कर यत्रतत्र इसमें परिवर्तन किये थे)। श्री गंगाप्रसाद के अनुसार इस पुस्तक के कथानक में रूढ़िवादी और प्रगतिशील विचारों के सघर्ष प्रदर्शन के पश्चात् प्रगति की विजय होती है। इसके अतिरिक्त कविवचनसुधा नामक अपनी पत्रिका में उन्होंने कुछ आपबीती कुछ जगबीती नाम से एक कहानी प्रकाशित करना शुरू किया था, किन्तु उसे पूरा न कर सके। इस प्रकार उपन्यास साहित्य के क्षेत्र में वे स्वयं विशेष सफल नहीं रहे किन्तु फिर भी उन्होंने अपनी देखरेख में कई उपन्यासों की रचना करवाई। इन बातों के कारण भारतेन्दु का नाम इस अवसर पर भी अवश्य उल्लेखनीय हो जाता है।

बालकृष्ण भट्ट—पंडित बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४) ने 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' पुस्तक लिखी। उनकी भाषा में मुहावरों का खूब प्रयोग है, और वे बोलचाल के शब्दों का खूब प्रयोग करते थे।

हाँ कहीं-कहीं लम्बे उपदेशों का बाहुल्य है और उनसे पाठक का जी ऊबने लगता है। डाक्टर रामविलास के अनुसार "इन दोषों के होते हुये भी उपन्यास कला के विकास में इस कृति का विशेष स्थान है। यथार्थ चित्रण की ओर इसमें काफी झुकाव दिखाई देता है। यह उस युग के नाटकों के प्रभाव के कारण है। भाषा पात्रों के अनुकूल गढ़ी गयी है। नौकर, दासी, चौकीदार आदि अवधी में बोलते हैं, पुलिस के आदमी उर्दू में। पढ़े-लिखे बाबू लोगों की भाषा में अंग्रेजी का भी पुट रहता है। 'मैं आप लोगों के प्रयोजन को सेकेन्ड करता हूँ' इत्यादि। कहीं-कहीं पात्र नाटकों की भाँति स्वतः और

प्रकाश्य दोनों प्रकार से बातचीत करते हैं। भट्टजी ने अपने उपन्यास को देश काल की सीमाओं में मजबूती से बाँधा है। उन्होंने पृष्ठभूमि के चित्रण के लिए अवध का भौगोलिक वर्णन आवश्यक समझा है।...भट्टजी कोरे किताबी विद्वान नहीं थे। स्त्रियों के सूप फटकारने और हाथ नचा कर वाग्बाण बरसाने को उन्होंने उतने ही ध्यान से सुना था जितने ध्यान से मेघदूत पढ़ा था।...चरित्र-चित्रण में भट्टजी आकृति निदान की ओर विशेष आकृष्ट थे।...व्यंगपूर्ण चित्रण में वे प्रेमचन्द्र की याद दिलाते हैं जैसे बुद्धदास जैन का चित्र—'पानी चार बार छानकर पीता था, पर दूसरे की थाती समूची निगल जाता था, डकार तक न आती थी।''

'सौ अजान और एक सुजान' का कथानक क्या है, इसके सम्बन्ध में भी एक वाक्य में बता दिया जाय। 'सेठ हीराचन्द के दोनों लड़के पिया की मृत्यु के बाद कुसंगति में पड़ जाते हैं, और अन्त में उनका एक सुजान मित्र संकट से उनकी रक्षा करता है।' मालूम होता है कि इस प्रकार का कथानक उस युग में बहुत पसन्द किया जाता था, क्योंकि हम देखेंगे कि 'परीक्षा-गुरु' नामक जिस पुस्तक को हिन्दी के प्रथम उपन्यास स्वीकृत होने का गौरव प्राप्त हुआ है, उसका भी कथानक कुछ इसी प्रकार है। इस प्रकार के कथानक में अन्तर्निहित उपदेश देने की प्रवृत्ति बहुत ही स्पष्ट है। हम बालकृष्ण भट्ट की इस रचना में ही आगे आनेवाले युग के लेखकों विशेषकर प्रेमचन्द के आगमन की सूचना पा सकते हैं।

श्रीनिवासदास—यों तो श्रीनिवासदास (१८५१ - १८८७) के 'परीक्षागुरु' नामक उपन्यास के पहले कई उपन्यासों की रचना हुई, किंतु इसी ग्रन्थ को यह गौरव प्राप्त हुआ है कि वह हिंदी का पहला उपन्यास कहलावे। 'इसके शीर्षक नीति तत्वों के समर्थन में उद्धृत अंग्रेजी हिंदी कविता के रूप में है, कथोपकथन में भी अंग्रेजी पुट है।

परन्तु कथा अपने ही समय के समाज की है, और उसमें आदर्श नहीं यथार्थवाद के ही दर्शन होते हैं—एक अमीर का लड़का कुसंगति से किस प्रकार बिगड़ जाता है[१६] केवल यही नहीं इसमें यह भी दिखलाया गया है कि वह अपने एक सच्चे मित्र की सहायता से किस प्रकार सुधर जाता है।[१७] परीक्षागुरु को क्यों हिंदी के प्रथम उपन्यास होने का गौरव प्राप्त हुआ, यह समझना उस हालत में कठिन न होगा, जब हम इस बात को स्मरण रखेंगे कि इस पर अंग्रेजी लेखनशैली का प्रभाव है, तथा इसका कथानक की बनावट इस प्रकार है कि उसमें समसामयिक समाज का अच्छा प्रतिफलन हो सकता है। रानी केतकी की कहानी तथा नासिकेता पाख्यान में यह बात सम्भव नहीं थी। लाला श्रीनिवासदास ने तीन नाटक भी लिखे। इनके नाटकों में भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनकी रणधीर प्रेम-मोहनी नामक नाटिका दुखान्त है। यह भी पाश्चात्य प्रभाव के ही कारण है, ऐसा बताया गया है,[१८] इनकी भाषा में अब वह जड़ता जो पहले के लेखकों में बहुत अधिक थी, करीब-करीब जाती रही है, और अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आधुनिक उपन्यास के लिए उपयुक्त वाहन का विकास बहुत आगे तक हो चुका है।

राधाकृष्णदास—इन्हीं के समसामयिक श्री राधाकृष्णदास ने 'निःसहाय हिन्दू' नामक एक उपन्यास लिखा। इस पुस्तक के नाम ही से यह ज्ञात हो जाता है कि इस कहानी का सम्बन्ध हिन्दू समाज से है। डाक्टर रामविलास इस पुस्तक की समालोचना करते हुये लिखते हैं 'इस पुस्तक की विशेषता इस बात में है कि लेखक ने सेठ-साहूकारों के लड़कों के बनने-बिगड़ने की कहानी छोड़ कर एक ऐसी समस्या को अपनी कथावस्तु बनाया है, जिसका सम्बन्ध किसी वर्ग से नहीं, वरन

[१६] प्रे० आ० पृ० २१७-१८ [१७] भा० प्र० पृ० १३४ [१८] वही ७३

पूरे समाज से है। हिन्दुओं के बारे में लिखते हुये वे मुसलमानों को नहीं भूले और उनमें साम्प्रदायिक और देशभक्त।दोनों प्रकार के मुसलमानों का चित्रण किया है। दो मित्र गोवध बन्द करने के लिए आन्दोलन करते हैं, उनका साथ एक मुसलमान सज्जन भी देते हैं। अन्य कट्टरपन्थी मुसलमान षड्यन्त्र करके इन लोगों को मार डालना चाहते हैं, और अन्त में दोनों ही ओर के कुछ लोग मारे जाते हैं, यही उसकी कथा है।'

निःसहाय हिन्दू में जो कथा वर्णित है, उसके कहने में लेखक ने कुछ विशेष कौशल नहीं दिखलाया है, आजकल के ढंग के उपन्यास पढ़ने के आदी पाठक शायद उसे अन्त तक पढ़ने का कष्ट न उठा सकें, कथानक सुसंगठित नहीं है, पात्रों की संख्या आवश्यकता से कहीं अधिक है, किन्तु जैसा कि डाक्टर रामविलास ने बताया है, इस कहानी के पैर यथार्थ की भूमि पर ही टिके हैं। वे केवल कल्पना जगत में विचरण नहीं कर रहे हैं। कुछ जातीयता का भी पुट है। मदन नामक एक नेता को व्याख्यान देते हुये दिखाया जाता है, वे भारतवासियों के आलस्य का वर्णन करते हैं, और उन पर जो अधिक टैक्स लगा हुआ है, उस पर अफसोस प्रकट करते हैं। साथ ही गन्दी गलियों और कोठरी के टाटों के वर्णन की ओर उनकी जो प्रवृत्ति थी, वह भारतीय उपन्यास साहित्य में पहला प्रयत्न था, ऐसा बतलाया गया है। यह प्रथम प्रयत्न की बात जहाँ तक हिन्दी उपन्यास साहित्य का सम्बन्ध है, सही है, किन्तु बँगला में इससे पहले ही दीनबन्धु मित्र तथा अन्य लेखकों ने गरीबों के जीवन का मार्मिक वर्णन किया था। फिर भी हम डाक्टर रामविलास के इस मन्तव्य से सहमत हैं कि 'निसंदेह राधाकृष्णदास में एक महान् उपन्यासकार की प्रतिभा बीजरूप में विद्यमान थी, यदि उसे विकास का अधिक अवसर मिलता तो प्रेमचन्द का मार्ग और भी सरल और परिष्कृत हो जाता।'

राधाचरण गोस्वामी—राधाचरण गोस्वामी (१८५८—१९२५) ने भी बहुत से उपन्यासों की रचना की, जिनमें विरजा का नाम प्रमुख है। उन्होंने बहुत से उपन्यासों का अनुवाद किया, मालूम होता है इनकी प्रतिभा मुख्यतः अनुवाद सम्बन्ध ही प्रतिभा थी, इसलिए यह कहा है कि 'खेद की बात है कि जो प्रतिभा उन्होंने 'यमपुर की यात्रा' में दिखलाई उसे उन्होंने मौलिक उपन्यास रचना में नहीं लगाया।[19]

राधाचरण गोस्वामी अच्छे नाटककार भी थे। यों तो इस प्रसंग में नाटकों से हमें मतलब नहीं है, किन्तु बूढ़े मुँह मुहासे नामक अपने नाटक में इन्होंने 'किसान और जमीन्दार के संघर्ष को अपनी कथा-वस्तु बनाया है, और उसमें भी मुसलमान और हिन्दू किसानों की एकता दिखा कर गाँवों के वर्गयुद्ध और हिन्दू-मुस्लिम समस्याओं पर प्रकाश डाला है,'[20] इसलिए इस प्रसंग में भी इनके नाटक का उल्लेख किया गया। इस दृष्टि से देखने पर राधाचरण गोस्वामी ने प्रेमचन्द से पहले किसान जमीन्दार के वर्गयुद्ध का चित्रण अपने नाटक में किया था। डाक्टर रामविलास ने यह भी दिखलाया है उनमें व्यंग की बहुत परि-मार्जित शक्ति थी, इसका सबसे अच्छा नमूना 'यमपुर की यात्रा' नामक उनका व्यंगपूर्ण निबन्ध है। 'तन मन धन श्री गुसाईंजी के अर्पण' आठ दृश्यों का एक छोटा-सा प्रहसन है, इसमें उन्होंने दिख-लाया है कि 'भक्तों के लिए गुसाईंजी को कुछ भी अदेय नहीं है, और गुसाईंजी के लिए भक्तों से कुछ भी अग्राह्य नहीं है। गुसाईंजी ने भक्तों की सहायता के लिए एक कुटनी को भी नौकर रख छोड़ा है। सुन्दर स्त्रियाँ गुसाईंजी की पूजा करने आती हैं, उनकी सेवाओं के लिए एक विशेष शब्द का प्रयोग किया जाता है—'समर्पण'। सेठ

[19]भा० प्र० पृ० १३२-३३ [20]भा० प्र० पृ० ८६

रूपचन्द एक धनाढ्य व्यक्ति हैं जो धन के बोझ से धर्म भिरु हो गये हैं। पाप की कमाई पचाने के लिए गुरु का आशीर्वाद आवश्यक है। इस आशीर्वाद के लिए गुसाईंजी सेठ की बहू के समर्पण का माँग करते हैं। सेठ और सेठानी दोनों गुसाईंजी की आज्ञा मानने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिस समाज के वे रत्न हैं; उसमें ऐसी बातों से सम्मान घटने के बदले बढ़ता ही है। गुसाईंजी की मनोकामना पूरी होती, और सेठ रूपचन्द को आशीर्वाद भी मिल जाता यदि सेठजी के पुत्र गोकुल ने बाधा न डाली होती।' उसे नई शिक्षा की हवा लग चुकी है, और यद्यपि माता-पिता उसे सनातन लीक पर ही चलने को बारबार आदेश देते हैं, फिर भी वह अपने नये विचारों पर दृढ़ रहता है। अन्त में सेठ बहू को गोसाईंजी के यहाँ भेज तो देते हैं, लेकिन गोकुल की कुशलता से गोसाईंजी को हवालात की हवा खानी पड़ती है।'[२१] इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी वे बराबर प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय देते हैं और उनकी सहानुभूति नवीन शिक्षितवर्ग के साथ है, यह स्पष्ट हो जाता है। वे स्वयं गोसाईं थे, तथा बहुत ही प्रतिक्रियावादी वातावरण में पले थे, इसलिए उनकी प्रगतिशीलता और भी स्तुत्य है।

किशोरीलाल गोस्वामी—किशोरीलाल गोस्वामी ने बाबू देवकीनन्दन खत्री से पहले 'कुसुमकुमारी' की रचना की थी, किन्तु घटनाचक्र के कारण इसका प्रकाशन १६०१ के पहले न हो सका जब कि चन्द्रकान्ता का प्रकाशन १८६१ में ही हो चुका था। प्रकाशन की दृष्टि से देवकीनन्दन किशोरीलाल से पहले हैं किन्तु रचना की दृष्टि से किशोरीलाल देवकीनन्दन से पहले पड़ते हैं, हमने इसीके अनुसार उनको पहले गिनाया है। श्री रामरतन भटनागर ने प्रेमचन्द को प्रत्यक्ष-

[२१] वही पृ० ६०

रूप से किशोरीलाल की धारा का परिपोषक बतलाया है, इससे उनका कितना महत्व है, यह स्पष्ट हो जाता है। वे लिखते हैं 'प्रेमचन्द से पहले हिन्दी उपन्यास में तीन धारायें बह रही थीं जो क्रमशः इस प्रकार आईं—(१) देवकीनन्दन के उपन्यास चन्द्रकान्ता के साथ तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास, (२) किशोरीलाल गोस्वामी के साथ सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक एवं सामाजिक प्रेम रोमांच और (३) गोपालराम गहमरी के साथ जासूसी, पुलिस और साहसिक उपन्यास, ये तीनों धारायें प्रेमचन्द के समय (१६१६) तक साथ-साथ चलती रहीं, और जब प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में सेवासदन के साथ पदार्पण किया तो वे वास्तव में किशोरीलाल गोस्वामी के क्षेत्र में उतर रहे थे।'[२२]

सभी समालोचकों ने किशोरीलाल गोस्वामी की शतमुख से प्रशंसा की है, अवश्य वे अपने युग की सीमाओं से बँधे हुये थे। श्री झा ने लिखा है कि 'उनकी रचनाओं में साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव नहीं है किन्तु वह सौन्दर्य कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक चटकीला और कुप्रभावोत्पादक हो गया है। उनके रस संचार की प्रणाली कुछ-कुछ असात्विक भावों और दृश्यों को भी अपने साथ रखती हुई-सी दीख पड़ती है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने मौलिकता के नाते हिन्दी के इस क्षेत्र में बड़ी मुस्तैदी से काम किया, और उनमें उपन्यासकार होने की सच्ची क्षमता थी। यह दूसरी बात है कि उस क्षमता को वे बहुत अच्छे ढंग से बहुत अच्छी रुचि के साथ काम में न ला सके।'[२३]

किशोरीलाल के प्रथम उपन्यास 'कुसुमकुमारी' की प्रेरणा उन्हें कहाँ से मिली, इस सम्बन्ध में लिखते हुये डाक्टर लाल ने लिखा है

---

[२२] प्रे० अ० पृ० २१८-१६ [२३] प्रे० द्र० क० पृ० ६

कि उन्हें 'यह प्रेरणा रीति कवियों से मिली, जिन्होंने अपने मुक्तक काव्यों के लिए नायिका भेद एक ऐसा विषय चुना जिसका सम्बन्ध मूलरूप से नाटकों से ही था। किशोरीलाल स्वयं उसी परम्परा के कवि थे, उन्होंने नायिका भेद तथा अन्य रीति साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था। इसलिए जब वे उपन्यास लिखने बैठे तब उन्हें केवल एक सुसंगत प्रेम कहानी की कल्पना करनी पड़ी, और उसमें उन्होंने प्राचीन कवियों की परम्परा के अनुसार प्रेम-सम्बन्धी विविध प्रसंगों को यथावसर अनेक अध्यायों में गद्यात्मक भाषा में जड़ दिया। उनकी 'तारा', 'अँगूठी का नगीना' तथा अन्य उपन्यास हर्ष और राजशेखर के संस्कृत प्रेम नाटकों के स्मरण दिलाते हैं। परम्परागत प्रेम—अभिसार, मान, परिहास इत्यादि इसमें भरे पड़े हैं।' यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि किशोरीलाल ने प्रेरणा के लिए पीछे की ओर विशेषकर संस्कृत साहित्य की ओर दृष्टिपात किया, बात यह है कि भारतवर्ष में साहित्य के नाम से जो कुछ भी था, उसमें सर्वप्रथम संस्कृत साहित्य का ही स्थान था। फिर भी इन लेखकों ने नये युग को भी अपनाया, इसमें सन्देह नहीं। उनकी भाषा, शैली तथा कथानक का ताना-बाना इस बात की साक्षी देते हैं।

इस युग के प्रधान उपन्यास लेखक होने के अतिरिक्त किशोरीलाल को हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी के रचयिता होने का भी गौरव प्राप्त है। जून १६०० में उनकी 'इन्दुमती' नामक कहानी, 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इस कहानी के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि 'इस पर शेक्सपियर के टेम्पेस्ट की स्पष्ट छाप मिलती है, यहाँ तक कि यदि इसे भारतीय वातावरण के अनुकूल उसका रूपान्तर भी कहें तो अत्युक्ति न होगी। इन्दुमति भी मिरांडा की भाँति विन्ध्याचल के सघन वन में अपने पिता के साथ रहती है जहाँ उसने अपने पिता के अतिरिक्त किसी भी मनुष्य को नहीं देखा था। एक

दिन वह अचानक पेड़ के नीचे एक सुन्दर नवयुवक—अजयगढ़ के राजकुमार चन्द्रशेखर को देखती है जो पानीपत के प्रथम युद्ध में इब्राहीम लोदी को मार कर भागा हुआ था और जिसका पीछा लोदी का एक सेनापति कर रहा था। इसी दौड़-धूप में उसका घोड़ा मर गया, और वह भूखा-प्यासा पेड़ के नीचे पड़ा था। इन्दुमती और चन्द्रशेखर प्रथम दर्शन में ही एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। इन्दुमती का वृद्ध पिता जो वास्तव में देवगढ़ का राजा था, और इब्राहीम लोदी द्वारा राज्य छिन जाने पर अपनी एक-मात्र कन्या के साथ जंगल में रहता था, टेम्पेस्ट के प्रास्पेरो की भाँति युगल प्रेमी के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए चन्द्रशेखर से कठिन परिश्रम कराता है, और स्वयं पहाड़ी के पीछे खड़े होकर नवयुवक हृदयों का प्रेम संभाषण सुनता है। अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है, क्योंकि इन्दुमती के पिता ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो इब्राहीम लोदी को मारेगा, उसीको वह अपनी कन्या ब्याहेगा। चन्द्रशेखर ने अनजाने ही यह प्रतिज्ञा पूरी कर दी थी, और इन्दुमती के प्रति उसका प्रेम भी सच्चा था, इससे पिता ने दोनों का विवाह कर दिया। इस प्रकार शेक्सपियर के टेम्पेस्ट और इसी प्रकार की एक राजपूत कहानी के संमिश्रण से हिन्दी की सर्वप्रथम मौलिक कहानी की रचना हुई।'[२४]

इस प्रकार किशोरीलाल ने एक ओर संस्कृत साहित्य से प्रेरणा ली, दूसरी ओर अंग्रेजी साहित्य से भी दोनों हाथों से जो कुछ भी मिला उसे बटोरा। स्वाभाविक रूप से इस युग में इसी प्रकार के साहित्य का उद्‌भव हो सकता था, जो एक तरफ पाश्चात्य और दूसरी तरफ भारतीय प्राचीन साहित्य से अनुप्रेरणा लेता हो, तथा

[२४] आ० हि० सा० वि० पृ० ३२३

जिसका सम्बन्ध यहाँ के युग तथा समाज से केवल चर्म गंभीर हो। फिर भी इस युग में अंग्रेजी राज्य तथा शिक्षा के कारण एक ऐसे तबके का उदय हो चुका था जो अपने अवसर समय में इस प्रकार के उपन्यासों तथा कहानियों को पढ़ना पसन्द करता था, इसीलिए इस दिशा में बराबर उन्नति होती गई।

यद्यपि 'इन्दुमती' में जिस प्रकार प्रेमिक-प्रेमिका का प्रथम संदर्शन हुआ है, वह हमें सामन्तवादी युग की ही याद दिलाती है, किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि अन्य उपन्यासों में विशेषकर 'अँगूठी का नगीना', 'कुसुमकुमारी' इत्यादि में नायक-नायिका नवीन युग के नये ढंग से एक दूसरे के मार्ग में प्रथम बार आते हैं। 'अब नायक-नायिका से रेल में नाव में अथवा पानी बरसने के कारण भाग कर खड़े हुये किसी घर के बरामदे में मिल जाया करते हैं और प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो जाता है, जो प्रेमपत्र अभिशार इत्यादि रीतियों से सिंचित होकर क्रमशः पल्लवित होता है, और संयोग और दैव घटनाओं की सहायता से उनका मिलन भी हो जाता है'[२५] किशोरीलाल फिर भी तिलस्मी और ऐयारी के मोह से अपने को मुक्त नहीं कर पाये। उनकी लखनऊ की कब्र में तिलस्म और ऐयारों का चित्रण है, "शोणिततर्पण में जिसमें १८५७ के सिपाही विद्रोह का हाल है, सरदार रामसिंह की जासूसी का विशद वर्णन है जो नाना साहेब और तातियाँ टोपी के सहायक रावर्ट मैकेयर, अब्दुल्ला तथा उनके लुटेरे साथियों को बन्दी बनाता है।'

किशोरीलाल गोस्वामी ने ६० से अधिक उपन्यास लिखे हैं। प्रेमचन्द के पहले हिन्दी जगत में उनके उपन्यास तथा देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास सबसे अधिक पढ़े जाते थे। बिना किसी प्रतिवाद के भय के यह कहा जा सकता है कि प्राक् प्रेमचन्द युग के वे सबसे बड़े

---

[२५] वही पृ० ३००

उपन्यास लेखक थे, इसलिए यह उचित ही था कि उनकी सेवाओं के कारण उनका अभिनन्दन करने के लिए वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बाइसवें अधिवेशन के सभापति बनाये गये। नामकी दृष्टि से देवकीनन्दन का ही अधिक नाम हुआ तथा उनके उपन्यास ही हिन्दी जगत में अधिक प्रचलित हुये, किन्तु जैसा कि भटनागर ने लिखा है वे ही नवीन युग का निर्णय कर रहे थे न कि देवकीनन्दन। देवकीनन्दन तो अपने उपन्यासों में एक बीते हुये युग, बल्कि एक मृतप्राय शैली का अनुसरण कर रहे थे। नवीन युग में उसका कोई स्थान नहीं था। अपनी रीतिबद्धता तथा एक हद तक गतानुगतिकता के बावजूद हम देखेंगे कि किशोरीलाल ही प्रेमचन्द के प्रत्यक्ष साहित्यिक पूर्वज हैं न कि अन्य कोई लेखक।

देवकीनन्दन खत्री—हिन्दी उपन्यास लेखकों में देवकीनन्दन खत्री इसी युग में हिन्दी साहित्य के गगन में उदित हुये, और जैसा कि हम बतला चुके हैं, उस युग में उनसे बढ़कर कोई इस आकाश में चमका ही नहीं। प्रेमचन्द जी ने उपन्यास कला पर कुछ बहुत अच्छे लेख लिखे हैं, उनमें वे एक स्थान पर अनुमान करते हैं कि खत्रीजी ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकांता सन्तति' का बीजांकुर 'तिलस्मी होशरुबा' से ही लिया होगा।'[२६] उस युग में उनके उपन्यासों की इतनी धूम रही कि कहा जाता है कि बहुत से उर्दू वालों ने इसलिए हिंदी पढ़ी कि वे उनकी पुस्तकों को पढ़ कर मजा उठा सकें। उनकी रचनाओं में अलौकिक घटनाओं और रोमान्सों की भरमार है। श्री रामरतन भटनागर ने ठीक ही लिखा है कि उनके उपन्यासों में 'चरित्र-चित्रण नहीं, भावों का घात-प्रतिघात नहीं, मनोविकारों का विश्लेषण नहीं, पात्रों में व्यक्तित्व नहीं। केवल कथा मात्र है—कुतूहल-प्रधान

---

[२६] कु० वि० पृ० ८२

मनोरंजन की किताब हाथ में ली कि खाना पीना गया ।...खत्रीजी की रचना-शक्ति कल्पना एवं वर्णन-शक्ति अद्वितीय थी ।'[२७]

उनके उपन्यासों में राधाचरण गोस्वामी की तरह किसी प्रकार समाज-सुधार या प्रगति की ओर रुझान नहीं है, इन उपन्यासों का एक मात्र उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना है, और वह मनोरंजन भी बहुत निम्नकोटि का मनोरंजन है। उच्च कोटि की बौद्धिकतापूर्ण बातचीत, प्रचलित समाज की असंगतियों का उद्‌घाटन, वर्गयुद्ध के चित्रण, विचारों के द्वन्द आदि से भी मनोरंजन हो सकता है; किन्तु हम देवकीनन्दन रचित चन्द्रकान्ता, चन्द्रकांता सन्तति, कुसुमकुमारी, काजर की कोठरी, नरेन्द्र मोहिनी, वीरेन्द्र वीर आदि उपन्यासों में जिस प्रकार के मनोरंजन का प्रयास पाते हैं, वह चमत्कारिक घटनाओं के वर्णन से होने वाला मनोरंजन है। हाँ, उनकी भाषा चलती हुई और मुहाविरेदार होती थी, इस दृष्टि से उनकी भाषा उनके भावों के लिए सर्वथा उपयुक्त वाहन थी। अद्‌भुत कल्पना-शक्ति के अतिरिक्त उनकी भाषा भी उनकी जनप्रियता का कारण-स्वरूप थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। उनकी भाषा में आकर हिन्दी गद्य अब एक ऐसे सोपान पर पहुँच चुका है जब उसमें प्रेमचन्द की तरह कलाकार का उदय हो सकता है।

प्रेमचन्दजी ने यह अनुमान अवश्य किया है कि देवकीनन्दन खत्री ने फारसी से तिलस्मी ढंग ग्रहण किया है, किन्तु देवकीनन्दन ने केवल अनुवाद, संकलन या अनुकरण ही किया, ऐसी बात नहीं है, बल्कि जैसा कि डाक्टर लाल ने कहा है उन्होंने 'अपनी अद्‌भुत कल्पना-शक्ति और कल्पना के बल से उनमें इतना कौशल और अलौकिकत्व भर दिया कि वे उर्दू और फारसी के तिलस्मों से कहीं

२७ प्रे० अ० पृ० २१६

अधिक अद्भुत और आकर्षक बन गये। चन्द्रकान्ता और चन्द्र-कान्ता सन्तति के तिलस्म अद्भुत कौशलपूर्ण और अपूर्व हैं। खत्री की देखा-देखी अन्य लेखकों ने भी कितने ही नये तिलस्मों की सृष्टि की। धीरे-धीरे तिलस्मों का प्रचार इतना अधिक बढ़ा कि सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मों का प्रयोग किया जाने लगा। ये तिलस्म इतने यथार्थवादी ढंग में वर्णित हुये और इतनी अधिक संख्या में लिखे गये कि तिलस्मी उपन्यासों के पाठक सभी जगह तिलस्म ही तिलस्म देखने लगे, और कुछ पाठकों को तो ऐसी आशंका होने लगी कि कहीं उनके पैरों के नीचे कोई तिलस्म न हो। तिलस्मों के मूल-रूप में अतिप्राकृत भावना का आरोप न था। तिलस्म की सृष्टि में अद्भुत कौशल और अनोखी सूझ की आवश्यकता होती थी। उसकी उलझनें लखनऊ के भूल-भुलैयों की तरह चक्कर में डाल देने वाली होती थीं। तिलस्म का रहस्य न जानने वाला मनुष्य चाहे कितना ही चतुर क्यों न हो, तिलस्म में पड़ कर चक्कर में पड़ जाता था। परन्तु पिछले खेवे के लेखकों में इस प्रकार के अद्भुत तिलस्म सृष्टि करने की क्षमता न थी, इस कारण वे क्रमशः अतिप्राकृत सूझों से काम लेने लगे थे। स्वयं देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में भी इस प्रकार के अतिप्राकृत प्रसङ्ग आने लगे थे, यथा, तिलस्मी खञ्जर के छुलाने मात्र से मनुष्य के शरीर में बिजली लगने की-सी सनसनी पैदा होती थी, और वह बेहोश हो जाता था, और तिलस्मी तलवार कमर के चारों ओर लपेटी जा सकती थी।'

हम यदि इस प्रकार की अलौकिक कथाओं से पूर्ण उपन्यासों की रचना के लिए देवकीनन्दन खत्री को यह कहकर दोष दें कि उन्होंने अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया, तथा उन्होंने उससे वह सामाजिक काम नहीं लिया जो उन्हें लेना चाहिये था, तो यह समालोचना

केवल ऊपरी आलोचना होगी। इससे किसी बात का स्पष्टीकरण नहीं होगा। फिर इस क्षेत्र में वे अकेले नहीं थे, यद्यपि इस वन में वे ही सबसे बड़े वृक्ष थे। केवल यही नहीं वे इतने बड़े वृक्ष थे कि बाकी इस तरह के सभी लेखक उनकी छाया में पनपे। फिर यदि कुछ लेखकों ने ऐसी चीजें लिखीं तो प्रश्न यह उठता है कि हजारों पाठकों ने उन्हें क्यों अपनाया? कोई भी व्यक्ति किसी भी युग में किसी भी विचार को रख सकता है, किन्तु वह विचार सामाजिक रूप से तभी स्वीकृत तथा ग्राह्य हो जाता है, जब उस समाज के किसी तबके के साथ उस विचार का रक्तगत सम्बन्ध स्थापित हो जाय। इस पहलू से देखने पर एक तो तिलस्मी उपन्यासों की ओर पाठकों की रुचि उर्दू उपन्यासों में इसी तरह की धाराओं के प्रचलन के कारण हुई होगी, किन्तु केवल यही कारण यथेष्ट नहीं है। आखिर कौन ऐसी बात थी जिसके कारण लोग इस समय प्राकृतिक या अति-प्राकृतिक बल्कि प्राकृतिक छद्मवेश में अतिप्राकृतिक तथा प्राकृतिक की तलाश कर रहे थे? इसको समझने के लिए हमें उस समय की सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक अवस्था पर ध्यान देना पड़ेगा। उस समय तक आम लोगों में ज्ञान-विज्ञान का प्रचार कम था, किन्तु साथ ही एक पाश्चात्य साम्राज्यवादी शक्ति के साथ संस्पर्श में आने के कारण यहाँ रेल तार से शुरू कर नित्य नये आविष्कार यूरोप से दस-बीस साल बाद ही सही पहुँचते रहते थे। यदि लोगों में ज्ञान-विज्ञान का प्रचार अधिक होता तो वे इन नये आविष्कारों को समझ पाते अर्थात् यह समझते कि इन आविष्कारों में कोई अलौकिकता नहीं है, किन्तु यहाँ के लोगों की उस समय जो मानसिक सतह थी उसमें यह आविष्कार पहुँचते गये, उस परिस्थिति में इनके प्रति एक अलौकिक दृष्टि से देखना तथा उनके सम्बन्ध में अलौकिकता के साथ सोचना स्वाभाविक था।

इन आविष्कारों तथा उनके प्रयोगों को देख कर स्वाभाविक तथा स्वस्थकर तो यह होता कि हमारी विचारधारा के नेतागण—स्मरण रहे कि कवि, नाटककार तथा उपन्यासकार भी किसी जाति की विचार-धारा के नेता ही हैं—आविष्कार के Mechanism को अच्छी तरह समझते, और उनमें व्यवहारिक रूप से वृद्धि करने के लिए जुट पड़ते, किन्तु इसके विपरीत वे काल्पनिक रूप से उसमें वृद्धि करने लगे। इन उपन्यासों की ऊलजलूल कल्पनाओं को सफलता तथा स्वीकृति इस कारण प्राप्त हुई कि एक तो धार्मिक पौराणिक वातावरण के कारण लोग यों ही हर तरह के तिलस्म में विश्वास करने के लिए तैयार बैठे थे, दूसरा चाहिये तो यह था कि पाश्चात्य के विज्ञान के संस्पर्श के कारण लोगों में वैज्ञानिक जेहनियत उत्पन्न होती, किन्तु इसके विपरीत विज्ञान के ही कारण लोग और भी सहज विश्वासी हो गये। यों तो इन दोनों कारणों को एक कारण अर्थात् पिछड़ापन कह सकते हैं। यह बात नहीं कि इस युग में पाश्चात्य में तिलस्मों की कमी रही, किन्तु उन तिलस्मों की सतह बहुत कुछ वैज्ञानिक थी। कोनान डायल की पुस्तकें इसी प्रकार की तिलस्मों से भरी हैं, किन्तु उनको वैज्ञानिकता प्रदान करने की चेष्टा की गई थी, और कहीं भी वे इस प्रकार की नहीं थी जो तिलस्मी खंजर की तरह असम्भव होते। इस युग में यूरोपीय साहित्य में जो जासूसी उपन्यास लिखे गये, वे ऐसे चमत्कारित घटनाओं से पूर्ण थे, किन्तु जैसा कि हम बता चुके वे असम्भवता की रेखा को बचाकर चलते थे। यहाँ भी बाद को चल कर गोपालराम गहमरी आदि ने जासूसी उपन्यासों की सृष्टि की, यहाँ तक कि ऐतिहासिक उपन्यासों में भी तिलस्मों का प्रयोग हुआ, इस दृष्टि से यूरोपीय साहित्य में जो जासूसी उपन्यास लिखे जा रहे थे, तथा बाद को हिन्दी में जो जासूसी उपन्यास लिखे गये, वे देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों के प्रथम क्षेत्र में समगोत्रीय तथा द्वितीय क्षेत्र में

उनके वंशधर थे, इसमें सन्देह नहीं। यह हम दिखा ही चुके कि पिछड़ेपन के कारण एक ही प्रवृत्ति का यूरोपीय समसामयिक साहित्य में तथा हिन्दी में दो भिन्न परिणाम हुये।

इसके अतिरिक्त हम यह भी समझते हैं कि उस युग में जो उदीयमान बाबूवर्ग के पाठक इन पुस्तकों को पढ़ते थे, वे समाज-सुधार तथा अन्य बखेड़ों में पड़ना नहीं चाहते थे, वे साधारणतः यह चाहते थे कि कुछ दिल बहलाव हो। हमें मालूम है कि इस प्रकार के लोगों में अब भी खत्रीजी की रचनायें चाव से पढ़ी जाती हैं। अवश्य यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की मनोवृतिवाले पाठकों के लिए जासूसी उपन्यासों के रूप में पठन-सामग्री अब भी मौजूद है। चन्द्रकान्ता के लेखक और प्रेमचन्द में इसीलिए हम किसी प्रकार की समता या समगोत्रता नहीं पाते, यद्यपि यह ज्ञात है कि 'प्रेमचन्द ने अपने छुटपन में उन सब तिलस्मी और अय्यारी उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया था जो हिन्दी के उपन्यासों के उत्तेजक थे'।[२८] अवश्य जैसा कि हम देखेंगे ध्यान से देखने पर उनके कई उपन्यासों में तिलस्मी और अय्यारी रुझान स्पष्ट दिखाई पड़ेगी।

एक समालोचक ने 'साहित्य सन्देश' (अप्रेल-मई १९४४) में हिन्दी उपन्यासकारों की जबानी हिन्दी उपन्यासों की कहानी लिखी है, यद्यपि यह कहानी काल्पनिक है, फिर भी उसमें सत्य का पुट चमत्कारिक ढंग से आ गया है। इस काल्पनिक सम्वाद में देवकीनन्दन खत्री प्रेमचन्दजी को सम्बोधित करते हुये कहते हैं—

'भाई! आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है—तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हम तो उपन्यास को कल्पित

---

२८ प्रे० अ० पृ० २१९

कथा समझते थे— इसके अतिरिक्त उसका और कोई स्वरूप हो सकता है, यह तो हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने देश-विदेश की विभिन्न कथायें बड़े मनोयोग से पढ़ी थी, और उनको पढ़ कर मुझे यह प्रेरणा हुई कि मैं भी इसी प्रकार के अद्भुत कथानकों की सृष्टि से जनता का मनोरंजन कर यश,लाभ करूँ, इसीलिए मैंने चन्द्रकान्ता सन्तति लिख डाली। अद्भुत के प्रति निर्बाध आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित होकर उस चित्रलोक की सृष्टि कर सकी। आखिर लोगों के पास इतना अवकाश था, और जीवन की गति इतनी मन्द थी कि उन्हें कुछ चाहिये था जो उसमें उत्तेजना भर सके। निदान वे साहित्य से उत्तेजना की माँग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत अनन्त रहस्यों का भंडार है, परन्तु साधारणतः कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण वह उनको देख नहीं पाता। उसका कौतूहल जैसे इस तिलस्म के दरवाजे से टकरा कर लौट आता है, और उसे यह आकांक्षा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादू घर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की भी इन दोनों मागों को पूरी करते हैं, उसके मन्द जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं, और उसकी कौतूहल-वृत्ति को तृप्त करते हैं। इसलिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं। असंख्य पाठकों को उनके द्वारा अपना अभीष्ट मिलता है, इससे बढ़कर मेरी या उनकी सिद्धि और क्या हो सकती है? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिन्ता भी नहीं की, परन्तु मनोरंजन अवश्य करते हैं—मन की एक भूख को भोजन देते हैं, बस।'

ऊपर जो कुछ देवकीनन्दन खत्री के मुँह से कहलाया गया है, वह बहुत ही उपयुक्त है, और यह साफ कर देता है कि खत्रीजी की कला का उद्देश्य केवल बेकार लोगों को दिलचस्पी के साथ समय काटने

में मदद करना था। इस प्रकार यह कला एक ऐसे वर्ग या तबके के लिए थी, जो यदि पूर्ण रूप से नहीं तो एक हद तक परोपजीवी था, और यदि उसका कोई हिस्सा सचमुच परोपजीवी नहीं भी था तो मानसिक रूप से इस समाज के परोपजीवी वर्गों के साथ आत्मीयता का अनुभव करता था, और यह सोचता था कि हो सके तो उसे प्रत्यक्ष रूप से उसी वर्ग में शामिल होना है। इस वर्ग के बाहर भी इस कला का प्रचार हुआ, और जिस वर्ग के लिए इस कला की उत्पत्ति हुई थी, उसीका उद्देश्य इस माने में सिद्ध किया कि शोषितों को अपनी असली समस्याओं से बेखबर कर उन्हें तिलस्मों की भूल-भुलैये में डाल दिया।

इस प्रसङ्ग में अय्यार क्या होते थे इस पर दो-एक शब्द। अय्यारों को हम Knight errant या साहसिक कार्यों के खोज में घूमने-वाला वीर कह सकते हैं, अवश्य ये वीर अक्सर अपराधी के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। सच बात तो यह है कि वीर और अपराधी के बीच में सीमारेखा के रूप में रेखागणित की एक रेखा रहती है। वीर पूजा के साथ ही साथ अपराधी पूजा चेतनाहीन जनता की विशेषता है। वीर भी साहसिक कार्य करते हैं, असाध्य साधन करते हैं, और अपराधी भी। इन दोनों में साहसिकता कूट-कूट कर भरी होती है, किन्तु उद्देश्यों की भिन्नता के कारण वीर की वीरता और अपराधी की साहसिकता गुणगत रूप से भिन्न वस्तु होती है। वीर भी जान हथेली पर लिये फिरता है, और अपराधी भी। इसी अर्थ में हमने यह जो कहा है कि मध्ययुग की ऐतिहासिक उपन्यासों की वीरतापूर्ण कहानियों के वंशधर आधुनिक युग के जासूसी उपन्यास हैं, इसे समझना चाहिये।

ये अय्यार अर्द्धवीर और अर्द्ध-अपराधी होते थे। डाक्टर लाल ने हिन्दी उपन्यासों के इन अय्यारों का अच्छा वर्णन किया है। वे लिखते

हैं—'तिलस्मी उपन्यासों में तिलस्मों से भी अधिक अद्भुत, कौशल-पूर्ण और मनोरंजक अय्यारों की अवतारणा थी। अय्यारी झोला लिये हुये, ये अय्यार वास्तव में अदभुत थे। उनके छोटे से झोले में विविध रासायनिक पदार्थ होते थे जिनकी सहायता से वे अपना रंग, अपनी बोली और अपना मुँह तक बदल डालते थे; उसमें नकली दाँतों की श्रेणियाँ, भेष परिवर्तन के लिए अनेक प्रकार के पहनावे तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें होती थीं। उनके झोले में सबसे अद्भुत वस्तु लखलखा हुआ करती थी, जिसे सुँघाते ही बेहोश आदमी उठ बैठता। वे अदभुत रासायनिक होते थे। वे ऐसे धुयें पैदा कर सकते थे कि जिसे सूँघते ही आदमी बेहोश हो जाता था। चन्द्रकान्ता में बद्रीनाथ ने ऐसे गोले बनाये थे कि उनके फूटने से जो धुँआ उड़ता, उसे सूँघनेवाला बेहोश हो जाता, परन्तु स्वयं उसके पास ऐसी दवा थी कि उस पर धुयें का कुछ भी प्रभाव न पड़ता। फिर वे कारीगर भी अच्छे होते थे। मोम के ऐसे मनुष्य बनातें थे कि जीवित मनुष्य और उनमें कोई अन्तर नहीं रहता था। इतना ही नहीं बुद्धि में भी वे आधुनिक जासूसों से कहीं अधिक चतुर और बुद्धिमान हुआ करते थे। उनकी तरकीबें और चालें सभी मौलिक हुआ करतीं, और उनके घात-प्रतिघात अत्यन्त कौशलपूर्ण और अदभुत चातुर्ययुक्त होते थे। जासूसों से भी अधिक चतुर और बुद्धिमान होते हुये भी नैतिकता और वीरता की दृष्टि से वे अय्यार महावीर थे। नैतिकता और वीरता का उनका अपना नियम और दृष्टिकोण था, जो बहुत कुछ मध्यकालीन राजपूतों से मिलता-जुलता था। उनकी वीरता पर उनके स्वामियों को अभिमान हुआ करता था, उनकी स्वामी-भक्ति पत्थर की चट्टान की भाँति अचल और अटल थी। कुछ इने-गिने अय्यारों को छोड़ कर वे नैतिक दृष्टि से सर्वदा ही महान और साधु हुआ करते थे। स्त्रियों के प्रति उनका भाव सर्वथा पवित्र और निर्दोष हुआ करता था। एक

अय्यार दूसरे अय्यार की हत्या नहीं करता था, न उससे कोई दुर्व्यवहार ही करता था। वह केवल उसे बन्दी बना सकता था, अथवा उसे जीत कर अपने पक्ष में कर सकता था। दूसरों के भेदों और रहस्यों का वे समुचित आदर करते थे और प्राण देकर भी उनकी रक्षा करते थे। वचन देकर हटना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था, और युद्ध से वे कभी पीछे न हटते थे। इस प्रकार के वे अय्यार थे जिनका राजपूतों का-सा उच्च और महान नैतिक आदर्श था, राजपूतों के समान ही जिनकी वीरता थी, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के समान रासायनिक थे, आधुनिक जासूसों-सी जिनकी चतुरता और सतर्कता थी, सेना-नायकों के समान जिनका रण-कौशल था, और जो आदर्श मित्र के समान स्नेह और प्रेम करते थे, उनकी अपनी एक विशेष भाषा थी जो वे ही समझ पाते थे, जैसे चन्द्रकान्ता में बद्री-नाथ 'टेटी चोटी' और 'तेजमेमचे बद्री' कहता है जिसे तेजसिंह तो समझ जाता है, लेकिन डाकू लोग नहीं समझ पाते। मध्यकालीन राजपूतों के साथ अठारहवीं शताब्दी के ठगों और आधुनिक काल के रासायनिक जासूसों का सम्मेलन कराके अय्यारों की सृष्टि हुई थी। वास्तव में अय्यार हिन्दी साहित्य के अद्‌भुत, अपूर्व आविष्कार हैं।'[२९]

डाक्टर लाल ने जो अय्यारों को अद्‌भुत और अपूर्व बतलाया है, वह केवल इस अर्थ में ही सही है कि यह सम्पूर्णरूप से एक काल्पनिक टाइप है जिसका वास्तविक जगत में कहीं पता नहीं है। हमने जो यह बतलाया था कि अय्यार Knight errant के ही एक विकृत रूप हैं, उसका स्पष्टीकरण करते हुए इस अवसर पर यह बताया जा सकता है कि ये नाइट काल्पनिक टाइप नहीं, बल्कि मध्ययुग के यूरोप में सर्वत्र

[२९] आ० हि० सा० वि० पृ० २६४-५

मौजूद थे। सरवांत (Cervantes) ने डान क्वीक्सेट नामक अमर रचना में इन लोगों का व्यंगपूर्ण चित्र खींचा है, इसी प्रकार सर वाल्टर स्काट, अल्फ्रेड ड विन्दी से लेकर एलेक्जेन्डर डुमा तक बीसियों प्रख्यात नामा उपन्यासकारों ने इनको अपने कथानकों का मध्य-विन्दु बनाया है, इन उपन्यासों में हम अवश्य उनका कुछ अतिरंजित चित्र पाते हैं, किन्तु फिर भी वह चित्र ही है। इसी प्रकार नवीन युग के जो नाइट जासूस हैं, तथा उनके पूरक अपराधी भी वास्तविक टाइप हैं। देवकी-नन्दन खत्री आदि तिलस्मी उपन्यास के लेखकों ने इन दोनों टाइपों को मिलाकर एक अजीब खिचड़ी पका दी जो भूतो न भविष्यति। इस अय्यार टाइप का अस्तित्व केवल इन उपन्यासकारों तथा उनके पाठकों की कल्पनाओं में है। फिर इन दोनों टाइपों के मिलाने के साथ-साथ इन्हें इस प्रकार का रासायनिक-वैज्ञानिक बना कर पेश किया गया है, जो वास्तविक जगत में न तो हैं, और न शायद हों। इसी अर्थ में हिन्दी साहित्य के ये अय्यार अद्भुत और अपूर्व हैं, किन्तु इसी कारण ये अय्यार हवा में उड़ते हुये नजर आते हैं, और यही हाल इस साहित्य का होता है, जो आधार रूप में इन अय्यारों और तिलस्मों को लेकर चलते हैं। इस साहित्य में समाज का प्रतिफलन है, किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं है। इस साहित्य में हम उस समय के समाज का कोई वास्तविक चित्र नहीं पाते जैसा कि हम राधाकृष्णन गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट तथा किशोरीलाल गोस्वामी में एक बड़ी हद तक पाते हैं, किन्तु फिर भी इस साहित्य से हम भली भाँति उस समय के उच्च तथा मध्य वित्तवर्ग के पाठकों की मानसिक अवस्था या जहनियत से बखूबी परिचित हो सकते हैं। यह स्वाभाविक ही था कि वास्तविकता के दबाव के आगे इस प्रकार का साहित्य ठहर न सका, और बाद के हिन्दी साहित्य ने दूसरा ही रुख ग्रहण किया, जिसकी हम एक परिपक्व परिणति प्रेमचन्द की कृतियों में पाते हैं। हमारे कहने का यह मतलब न लिया जाय, न

यह मतलब है कि इस तरह के केवल बेकारों के मनोरंजनार्थ लिखे गये उपन्यासों का आगे के हिन्दी साहित्य में बिल्कुल ही कुछ अस्तित्व नहीं रहा—सच बात तो यह है कि जासूसी उपन्यासों के रूप में तिलस्मी कथानक तथा अय्यार अब भी जीवित हैं। हमारे कहने का केवल इतना ही अर्थ है कि साहित्य में तो ये अवश्य हैं, और परिमाण की दृष्टि से देखा जाय तो देवकीनन्दन के युग से आज उनका परिमाण और विस्तार अधिक है, हमारे कहने का केवल इतना ही मतलब है कि वे साहित्य में होते हुये भी साहित्य से वहिष्कृत हैं, अर्थात् उनकी गिनती सुसाहित्य में नहीं है, वे उसी तरह लुकछिप कर जीते हैं, जैसे अश्लील साहित्य या चित्र (Pornography) साहित्य और कला में जीते हैं। इसके साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सुसाहित्य न समझे जाने पर भी तथा साहित्य के प्रकाश भवन में स्थान न मिलने पर भी वर्तमान युग में इस प्रकार के असुसाहित्य का प्रचार कम नहीं है। यह केवल हिन्दी की बात नहीं है, बल्कि सारे विश्व साहित्य की बात है। अंग्रेजी साहित्य में बर्नडशा या गैल्शवर्दी से कहीं अधिक आय एडगर वालेस को है, केवल यही नहीं एच०जी० वेल्स और जी० के० चेस्टरटन आदि प्रतिष्ठित लेखकों ने भी जासूसी उपन्यास लिखे हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि आज के समाज में जो शासकवर्ग है, उसके लिए सबसे बड़ा खतरा सोचना है। अपने सामने उसे जो खाई दिखाई दे रही है, उसे वह भूल जाना चाहता है, तभी तो उसे हर तरीके के उत्तेजक, मनोरंजक साहित्य और कला की आवश्यकता है। यह केवल शासकवर्ग की ही विशेषता नहीं है, बल्कि प्रत्यक्षरूप से उसके पिछलगुये वर्गों तथा अप्रत्यक्षरूप से शोषितवर्गों पर भी इस प्रकार के प्रभाव तथा दिलचस्पियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। बात यह है किसी समाज में वे ही साहित्य तथा कला-सम्बन्धी धारणायें प्रचारित रहती हैं जो शासकवर्ग के उस सम्बन्धी विचार होते हैं। बड़े प्रयत्नों से

शासितवर्ग को इस प्रकार के विचारों से छुटकारा प्राप्त करना पड़ता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय—यद्यपि पहले के मुकाबिले में अब भाषा में बहुत कुछ स्थायित्व आ चुका था, किन्तु फिर भी अभी कोई मानदंड स्थिरीकृत नहीं हुआ था। अलग-अलग आचार्य अपनी-अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद उठा रहे थे, कोई आचार्य अभी ऐसा सर्वमान्य नहीं हुआ था, जिसको लोग अपना आदर्श समझते, और जिसकी भाषा को लोग टकसाली समझते। डाक्टर जी० ए० ग्रीयर्सन साहेब की फरमाइश के अनुसार श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने पहले 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और बाद को 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखे। 'ठेठ हिन्दी के ठाट' की भाषा का कुछ नमूना देखिये—

'सूरज वैसा ही चमकता है, बयार वैसे ही चलती है। धूप वैसी ही उजली है, रूख वैसे ही अपने ठौरों पर खड़े हैं, उनकी हरियाली भी वैसी ही है, बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे-धीरे बहते हैं। चिड़िया वैसी ही बोल रही हैं। रात में चाँद वैसा ही निकला, धरती पर चाँदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले, सब कुछ वैसा ही है। जान पड़ता है देवबाला मरी नहीं। धरती सब वैसी ही है, पर देवबाला मर गई। धरती के लिए देवबाला का मरना-जीना दोनों एक-सा है। धरती क्या गाँव में चहल-पहल वैसी ही है। हँसना-बोलना, गाना-बजाना, उठना-बैठना, खाना-पीना, आना-जाना, सब वैसा ही है।'

कहते हैं डाक्टर ग्रियर्सन ने इस पुस्तक को बहुत पसन्द किया, और इसे सिविल सर्विस का कोर्स बनाया। उन्हीं के अनुरोध पर दूसरी पुस्तक भी लिखी गई।[३०] ये दोनों पुस्तकें उपन्यास के रूप में

[३०] हि० भा० सा० वि० पृ० ६९६

थीं, किन्तु जैसा कि द्विजजी ने लिखा है ये उपन्यास केवल भाषा का नमूना दिखाने के लिए लिखे गये थे, न कि उपन्यास कला की दृष्टि से।[31] उद्धृत नमूने से यह स्पष्ट है कि श्री अयोध्यासिंह ने जिस दिशा में प्रयत्न किया था, वह बहुत स्तुत्य था, आज हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी को लेकर जो झगड़ा चल रहा है, और जिसका कहीं अन्त होते दिखाई नहीं होता, उसके निर्णय में ये दो पुस्तकें अर्थात् उनकी भाषा एक बड़ी हद तक सहायक सिद्ध हो सकती है, ऐसा हमारा विश्वास है। अयोध्यासिंह फिर भी इस भाषा-शैली के सम्बन्ध में Serious थे, ऐसा तो ज्ञात नहीं होता, क्योंकि उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना 'प्रियप्रवास' 'ठेठ हिन्दी के ठाट' से सैकड़ों मील दूर है। इसी प्रकार उनका लिखा हुआ 'वेनिस का बाँका' में संस्कृत प्रधान हिन्दी का परिचय दिया गया है।[32] इस प्रकार 'ठेठ हिन्दी का ठाट' तथा 'अधखिला फूल' नामक पुस्तकों में एक प्रशंसनीय शैली का अनुसरण बल्कि उद्भावना करने पर भी उन्होंने जो अपनी अन्य पुस्तकों में दूसरी ही तरह की भाषा को चलाया, इससे वे भाषा में किसी निर्दिष्ट शैली के नेता नहीं हो पाये। उपन्यासों के क्षेत्र में भी उनका अनुकरण इसलिए नहीं हुआ कि उपन्यास रचना-सम्बन्धी कोई प्रतिभा उनमें नहीं थी। स्वयं उन्होंने यह स्वीकार किया है कि 'हिन्दी संसार इन ग्रन्थों (ठेठ हिन्दी का ठाट तथा अधखिला फूल) की ओर आकर्षित होकर भी उसकी ओर प्रवृत्त नहीं हुआ, और न किसी ने ऐसी भाषा लिखने की चेष्टा की।' इतना होने पर भी यह समझना गलत होगा कि भाषा के सृजन का जो प्रयास चल रहा था, उस पर उनका कोई असर ही नहीं पड़ा।

इस प्रकार अयोध्यासिंह उपाध्याय तो "अवध और बनारस के

[31] प्रे० उ० कं० पृ० ६ [32] हि० सा० सु० पृ० १५२

आस-पास के गाँववालों की भाषा का अनुकरण करके 'हसतरी', 'ऊमस', 'अमरित', 'बरखा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। फिर एक ओर देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी सरल उर्दू मिश्रित हिन्दी तथा साधारण बोल-चाल की हिन्दुस्तानी का प्रयोग कर रहे थे, जिसमें बीच-बीच में अंडस, कवाहत, चेहला, टंटा बखेड़ा, भहराना इत्यादि काशी की बोलचाल के शब्द भी आ जाते थे, दूसरी ओर लज्जाराम मेहता ब्रज की बोलचाल की भाषा मिश्रित सरल हिन्दी में उपन्यासों का ढेर लगा रहे थे। काशी के साहित्यिक लेखकगण एक भाषा का उपयोग कर रहे थे, जिसमें शुद्ध संस्कृत तत्सवों का आधिक्य था।"[33] इस प्रकार पृथक्-पृथक् क्षेत्र में भाषा-सम्बन्धी पृथक्-पृथक् प्रयोग होने पर भी सभी गद्य में खड़ी बोली को अपना चुके थे। इस सम्बन्ध में किसी को अब कोई आपत्ति नहीं थी, किन्तु अभी पद्य में ब्रजभाषा और खड़ी बोली सम्बन्धी झगड़ा बहुत दिनों तक जारी रहनेवाला था, किन्तु हमें इस स्थान पर उस झगड़े के इतिहास से मतलब नहीं है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी—महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८७०-३७) को ही यह गौरव प्राप्त हुआ कि उन्हीं के नेतृत्व में खड़ी बोली को गद्य और पद्य में विजय प्राप्त हुई। उनके साहित्य गगन में उदित होने के समय परिस्थिति यह थी कि गद्य में तो खड़ी बोली की अन्तिम विजय हो चुकी थी,—यद्यपि उसके रूप में अभी स्थिरता नहीं आई थी (यों तो भाषा के सम्बन्ध में स्थिरता शब्द केवल तुलनात्मक रूप से ही व्यवहार में लाई जा सकती है), किन्तु पद्य में अभी ब्रजभाषा का ही बोलबाला था। ब्रजभाषा के पक्ष में हिन्दी का सारा इतिहास था। सूर, केशव, बिहारी आदि की रचनायें ब्रजभाषा में ही थीं, किन्तु

[33] आ० हि० सा० वि० पृ० १५२—३

एक बहुत ही व्यवहारिक तथ्य उसके विरुद्ध पड़ता था। यह तथ्य क्या था, उसका श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने यों दिग्दर्शन कराया है—"व्रजभाषा युक्त प्रान्त के सब विभागों में तो किसी प्रकार समझ ली जाती थी, परन्तु बिहार या पञ्जाब या मध्य हिन्द में उसका समझना दुस्तर था, क्योंकि वह एक प्रान्तीय भाषा थी। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उसका विस्तार एक प्रान्त ही तक परिमित नहीं था..., फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस समय जैसी सुगमता से खड़ी बोलचाल या गद्य की भाषा को लोग पश्चिमोत्तर प्रान्त या अन्य प्रान्तों में समझ लेते थे, पर व्रजभाषा को नहीं समझ पाते थे।" श्री अयोध्यासिंह ने यह भी दिखलाया है कि इन्हीं कारणों से उर्दू के सामने हिन्दी कमजोर पड़ रही थी। 'जहाँ और कारण थे, वहाँ यह भी कारण उपस्थित था कि हिन्दी पुस्तकों की गद्य की भाषा और होती है, और पद्य की और, जिससे हिन्दू बालकों को एक प्रकार से कठिनता का सामना करना पड़ता है, और विवश होकर उन्हें (सुविधा की दृष्टि से) हिन्दी के स्थान पर उर्दू लेना पड़ता है।......हिन्दी साहित्यिकों का एक दल कटिबद्ध हो गया कि व्रजभाषा के स्थान पर वह खड़ी बोल चाल में कविता करे। इस दल के नेता पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी कहे जा सकते हैं।'[३४]

इस युग-सन्धि क्षण में द्विवेदीजी ने प्रयाग की 'सरस्वती' पत्रिका के जरिये से हिन्दी की बहुत बड़ी सेवा की। उन्होंने न केवल स्वयं खड़ी बोली में विविध रचनायें की, बल्कि उन्होंने नये लेखकों को हाथ पकड़-पकड़कर मार्ग बतलाया। डाक्टर लाल ने यह ठीक ही लिखा है कि "उन्होंने नये लेखकों को उनकी व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों की ओर ध्यान दिलाया और स्वयं बड़े परिश्रम से 'सरस्वती'

[३४] हि० भा० सा० वि० पृ० ५२७

में प्रकाशित लेखों की अशुद्धियाँ दूर की। अपने सम्पादकीय तथा अन्य लेखों द्वारा भाषा की स्थिरता की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया और उसमें स्थिरता लाने की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया।...उन्होंने प्रेम फसफसाया और शोक चर्राया जैसे अश्लील शब्दों के प्रयोग का भी विरोध किया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने १६वीं शताब्दी में गद्य की भाषा एक निश्चित साहित्यिक रूप देकर गद्य साहित्य की परम्परा चलाई थी, परन्तु वह अधिक दिनों तक स्थिर न रह सकी, और सर्वसाधारण में हिन्दी के प्रचार से वह विशृङ्खल और अव्यवस्थित हो गई थी। गोष्ठी साहित्य के उपयुक्त इस भाषा का खुली जलवायु में दम घुटने लगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साधारण जनता में प्रचार के लिए उपयुक्त भाषा को स्थिर और निश्चित रूप देकर गद्य साहित्य की एक नई परम्परा चलाई जो आधुनिक काल में निरन्तर विकसित होती जा रही है।" द्विवेदीजी भाषा को और भी जनता के करीब ले आये, इसमें सन्देह नहीं। 'यदि महावीरप्रसाद द्विवेदी को कोई बहुत ही कवित्तपूर्ण और गम्भीर बात भी कहनी पड़ती तो वे उसमें इस प्रकार का घरेलू वातावरण उपस्थित कर देते, इस प्रकार के संकेत और ध्वनि लाते, बात को इस प्रकार घुमा-फिरा कर कहते कि पाठक उसे बड़ी सरलता से समझ जाते, और उसका पूरा आनन्द उठा पाते थे।'[३५] उन्होंने नये लेखकों को विराम चिह्नों के प्रयोग तथा अपने लेख को पैराग्राफों में विभाजित करने के सम्बन्ध में उदबुद्ध किया। आज हम इन बातों को बिल्कुल स्वाभाविक रूप से दैनिक से लेकर सभी तरह के साहित्य में पाते हैं, किन्तु उस समय हिन्दी में इनको अच्छी तरह प्रचलित कर देना कितनी बड़ी सेवा थी, इसका अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने लोगों

[३५] आ० हि० सा० वि०, पृ० १७८

को व्याकरण शुद्ध भाषा लिखने के लिए भी प्रोत्साहित किया, और नवीन लेखकों का इस सम्बन्ध में पथ-प्रदर्शन किया।

इस प्रकार हिन्दी भाषा को वर्तमान रूप से प्रदान करने में द्विवेदी जी की देन बहुत बड़ी होने पर भी, यह कहना गलत होगा कि उनका यश केवल भाषा निर्माण के क्षेत्र में ही या उसी के कारण है। आधुनिक हिन्दी भाषा के सर्वश्रेष्ठ निर्माता होने के अतिरिक्त उनकी शैली भी बहुत ही हृदयग्राही तथा विषय के अनुसार अपने को बदल सकने की अद्भुत सामर्थ्य रखने वाली है। उन्होंने मुख्यतः अनुवाद या संकलन ही किये, किन्तु ये अनुवाद तथा संकलन बड़े काम के थे, फिर इन अनुवादों के कारण हिन्दी निबन्धों की अन्तर्गत वस्तु की अभिवृद्धि और उन्नति हुई। द्विवेदीजी को कदाचित् उपन्यासकार उचित न होगा, किन्तु अपने बहुत से निबन्धों में वे कहानी कहने की अद्भुत सामर्थ्य का परिचय दे जाते हैं। यदि पहले के लेखकों ने हल चला कर खड़ी बोली की जमीन से कंकड़-पत्थर निकाल कर अलग किये, उसे बहुत कुछ समतल किया, तो द्विवेदीजी को यह गौरव प्राप्त है कि उन्होंने अपनी रचनाओं तथा प्रेरणा से जमीन में खाद डाल कर उसे इस लायक बनाया कि उसमें ऐसा बीज अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो सके, जैसे प्रेमचन्दजी तथा उनके अन्य समसामयिक थे।

'सरस्वती' के जरिये से कहानी साहित्य की बहुत उन्नति हुई। लाला पार्वतीनन्दन और बङ्गमहिला ने बहुत-सी सुन्दर कहानियाँ इसमें लिखीं, किन्तु ये कहानियाँ बङ्गला कहानियों के अनुवाद या सङ्कलन मात्र थे। कई बार अनुवादित कहानी को स्थानीय रङ्ग देने की चेष्टा इतनी सफल हुई कि वह बिल्कुल नई कहानी हो गई। १६०७ की मई की 'सरस्वती' में बङ्गमहिला लिखित 'दुलाई वाली' नामक जो कहानी प्रकाशित हुई थी, उसमें स्थानीय रङ्ग तथा यथार्थवादी चित्रण

इतनी सफलता के साथ मौजूद था कि वह इस तरह की सर्वप्रथम रचना थी। अब मालूम होता था कि हिंदी के गल्प लेखकों के पैर धीरे-धीरे वास्तविक जमीन पर आ रहे हैं। सरस्वती के अतिरिक्त 'इन्दु', 'गृहलक्ष्मी' आदि पत्रिकाओं के जरिये से कहानियों का अच्छा विकास हुआ। १६११ में 'इन्दु' पत्रिका में जयशङ्करप्रसाद लिखित 'ग्राम' नामक कहानी छपी। इसी प्रकार १६१२ के अप्रेल में उनका 'रसिया बालम' छपा। प्रसादजी की कहानियों में कहानी की कला के पैरों को जमीन पर जरूर रखा गया था, किन्तु उसमें पंख लगे होने के कारण वह थोड़ी देर के लिए जमीन पर रुक कर उड़ान भरने लगता था, और यह उड़ान प्राचीन युगों की ओर होती थी। फिर भी मौलिक होने के कारण उनकी कहानियों को विशेष मर्यादा प्राप्त है। अन्य लेखकों में जिज्ञाजी, राजा राधिकारमणसिंह, पंडित विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पंडित ज्वालादत्त शर्मा तथा श्री चतुर सेन शास्त्री आदि लेखकों का इसी युग में उदय हो रहा था। इन्हीं लेखकों के बीच हिंदी साहित्य के गगन के एक कोने में एक ज्योतिष्क का उदय हो रहा था। उसके प्रथम उदय को किसी ने अभिनन्दित नहीं किया। वह अपने लिये मार्ग काट कर अग्रसर हो रहा था, इस ज्योतिष्क का नाम प्रेमचन्द था, किन्तु इसके पहले कि हम इनके विषय में कुछ लिखें, हम देखेंगे कि प्रत्यक्ष उपन्यास तथा कहानियों के अतिरिक्त किन सूत्रों तथा उत्सों से उपन्यास तथा कहानी कला अनुप्रेरणा प्राप्त कर रही थी।

अनुवाद-साहित्य—हम अब तक जिन मौलिक या अर्द्ध-मौलिक उपन्यासों को गिना चुके हैं, उनके अतिरिक्त बँगला, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं से अनुवादित उपन्यास साहित्य का भी हिन्दी उपन्यास रचना पर बहुत भारी प्रभाव पड़ा। इन दिनों हिन्दी का उपन्यास जगत विशेष कर बँगला के अनुवादों से पट-सा गया। अनुवाद को

लोग जितनी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, सचमुच अनुवाद उतने खराब नहीं कहे जा सकते। सच बात तो यह है कि तीसरे दर्जे की मौलिक रचना से पाठकों की दृष्टि से अव्वल दर्जे की पुस्तकों का अनुवाद कहीं अधिक रोचक और लाभजनक हो सकता है। साहित्य के क्षेत्र में संकीर्ण जातीयता का दृष्टिकोण एक हद तक ही मार्जनीय है। बंकिम, रमेश, रवीन्द्रनाथ, आप्टे के उपन्यासों के अनुवादों ने हिन्दी की मौलिक उपन्यास रचना कला की अभिवृद्धि तथा विकास में कितना बड़ा हिस्सा अदा किया है, इसे अभी ढंग से कूता नहीं गया है, किन्तु बिना किसी प्रतिवाद के भय के इतना तो कहा ही जा सकता है कि मराठी और बँगला, विशेषकर बँगला के उपन्यासों ने हिन्दी के उपन्यास लेखकों के सामने एक आदर्श उपस्थित किया जिसने उन्हें बहुत प्रभावित किया। बँगला में हिन्दी से पहले उपन्यास रचना की कला में इतनी वृद्धि हुई, यह कोई आकस्मिक बात नहीं है, न इससे बंगालियों की कोई विशेष प्रतिभा ही सूचित होती है, क्योंकि साफ बात तो यह है कि पहले बंगाल में अंग्रेजी राज्य तथा अंग्रेजी सभ्यता और साहित्य आया, इसलिए इस खमीर के कारण बंगाल में आधुनिक साहित्य का पहले उदय हुआ। इसलिए यदि हिन्दी के उपन्यासकार यह मान लें कि एक हद तक उन्होंने भारत के अन्य प्रान्तीय भाषाओं के विशेषकर बँगला उपन्यासकारों से सीखा है, तो इसमें कोई हेठी नहीं है, क्योंकि उन्होंने इसी प्रकार उर्दू तथा अंग्रेजी से भी सीखा है। श्री शान्तिप्रियजी ने लिखा है कि 'पहले हम अलिफलैला के देश में थे, बंगला के सम्पर्क से हम अपनी माँ, बहनों, भाई-बन्धुओं के समाज में आये। उर्दू और बँगला का प्रभाव केवल प्रारम्भिक प्रेरणा न रह कर हमारे कथासाहित्य को कुछ प्रौढ़ विकास भी दे गया है। इस प्रौढ़ विकास के दो यशस्वी कलाकार हुये—प्रेमचन्द और प्रसाद। प्रेमचन्द की टकसाली भाषा

उर्दू की देन है, प्रसाद की भावप्रवण शैली बँगला की देन।' इस सम्बन्ध में यह भी पुष्टव्य है कि शान्तिप्रियजी यह भी मानते हैं कि देवकीनन्दन खत्री केवल उर्दू से प्रभावित थे, तो किशोरीलाल गोस्वामी बँगला से भी प्रभावित थे। भारतेन्दु युग से ही बँगला का प्रभाव पड़ने लगा था, उर्दू का प्रभाव पहले ही से था। विशेषकर प्रारम्भिक में अंग्रेजी साहित्य का हिन्दी साहित्य पर कितना अधिक प्रभाव पड़ा, 'नवीन साहित्यिक रूपों के लिए नमूने और आदर्श उपस्थित हुये, नये विषयों की ओर संकेत मिला, हमारे शब्द भण्डार की वृद्धि हुई। समालोचना के लिए नये-नये सिद्धान्त मिले, और कला की भावना को प्रोत्साहन मिला,' किन्तु इसके साथ ही बँगला साहित्य का हिन्दी पर जो प्रभाव पड़ा, उसका स्वरूप क्या था, इसका डाक्टर लाल ने बहुत अच्छी तरह इन शब्दों में बताया है—

'अंग्रेजी साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी पर बँगला साहित्य का भी विशेष ऋण है। वास्तव में यह ऋण भी अंग्रेजी साहित्य का ही है, क्योंकि बँगला साहित्य ही अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित हुआ। अन्तर केवल इतना ही है कि यह ऋण अंग्रेजी सिक्कों में नहीं वरन् भारतीय सिक्कों में था, जिसके कारण हमें विनिमय की झंझटों से छुटकारा मिल गया। विदेशी भावों तथा विचारों के अनुकरण के लिए उन विचारों का पूर्णरूप से मनोनिवेश[३६] (assimilation) और अपने वातावरण में रूपान्तरित करना अत्यावश्यक होता है। बँगला साहित्य से हमें

[३६]डाक्टर लाल ने अपनी बहुतथ्यपूर्ण पुस्तक में कई ऐसे भद्दे शब्दों का निर्माण किया है जो बिल्कुल अंग्रेजी के भाव को व्यक्त नहीं करते। मनोनिवेश से बल्कि अच्छा शब्द परिपाक या सदृशीकरण होता इसी प्रकार 'लोकल कलर' को वे स्थान-चलन लिखते हैं !!!

पाश्चात्य विचार मनोनिवेशित और रूपान्तरित होकर मिले। द्विजेन्द्र-लाल के नाटकों में हमें पाश्चात्य नाटकीय विधानों का भारतीय वातावरण के अनुरूप रूपान्तर मिला, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीति-काव्यों में पाश्चात्य काव्यकला का समावेश था, और बंकिमचन्द्र के उपन्यासों में स्काट की कला भारतीय भूषा में मिली। इससे हिन्दी के लिए अनुकरण का मार्ग बहुत ही सुगम हो गया, और हमारे लेखक बँगला का अनुकरण और अनुसरण करने लगे।'

हम डाक्टर लाल के मत से जहाँ तक कि उन्होंने साधारण तौर पर बँगला साहित्य के चरण का जिक्र किया है, पूर्णरूप से सहमत हैं, किन्तु हम चीजों को इससे भी गहराई तक ले जाना चाहते हैं। बँगला में जो अंग्रेजी साहित्य की छाप पड़ी, हम यह नहीं मानते कि वह सम्पूर्णरूप से अनुकरण और अनुसरण ही था, विशेषकर जिन बँगला लेखकों का नाम डाक्टर लाल ने गिनाया है, उनके सम्बन्ध में यह मानना कठिन है कि उन्होंने केवल अंग्रेजी साहित्य का अनुसरण और अनुकरण ही किया। अवश्य जहाँ तक बंकिमचन्द्र और माइकल मधुसूदन का सम्बन्ध है (मधुसूदन का नाम डाक्टर लाल की सूची में नहीं है, किन्तु बँगला साहित्य के इतिहास में उनका दान बहुत बड़ा होने के कारण साथ ही आचार्य द्विवेदी ने उनके काव्य का अनुवाद किया था, इसलिए हम उनको इस आलोचना में घसीट लाये), उन्होने पाश्चात्य (स्मरण रहे केवल अंग्रेजी नहीं, मधुसूदन ने तो अंग्रेजी साहित्य के साथ साथ अन्य यूरोपीय साहित्यों से कितनी प्रेरणा ली, यह सभी विशेषज्ञ जानते हैं) साहित्य का बहुत कुछ अनुकरण और अनुसरण किया, किन्तु साथ ही यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने इस सफलता के साथ पाश्चात्य साहित्यिक आदर्शों को अपना लिया, और अपनाकर उसे भारतीय जमीन पर पनपाया कि वह स्वयं एक महान प्रतिभा का द्योतक है। फिर जहाँ तक रवीन्द्रनाथ और द्विजेन्द्रलाल का सम्बन्ध है,

डाक्टर लाल का यह कहना बिलकुल हास्यास्पद है कि उन्होंने पाश्चात्य साहित्य को एक भारतीय लिवास भर पहना कर पेश किया है। अवान्तर होते हुये भी हमें इस विषय पर इसलिए लिखना पड़ा कि बँगला साहित्य के ऋण को कूतते समय हम केवल इतना ही कह दें कि हमें बँगला के जरिये से भारतीय सिक्कों में अंग्रेजी साहित्य मिला, तो यह गलत होगा। हमें यह भी मिला, किन्तु इससे अधिक भी मिला। बँगला साहित्य के जरिये से हमारा सम्बन्ध अंग्रेजी साहित्य से तो हुआ ही, किन्तु साथ ही नवीन बँगला साहित्य से भी हुआ। नवीन बँगला साहित्य की जड़ें केवल स्काट, वायरन, शेक्सपियर आदि में ही नहीं थी, उसकी जड़ें विद्यापति, चंडीदास, काशीराम, कृत्तिवास, भारतचन्द्र, रामप्रसाद आदि में भी थीं। इस प्रकार नवीन बँगला साहित्य केवल भारतीय जामे में अंग्रेजी साहित्य नहीं था बल्कि वह एक सम्पूर्ण रूप से स्वतंत्र साहित्य था। बँगला का जो लेखक जितना ही प्रतिभाशाली हुआ, वह उसी हद तक बंगाल की जमीन में अधिकतर सुप्रतिष्ठित तथा अंग्रेजी साहित्य से उतना ही स्वतंत्र हुआ। रवीन्द्र और द्विजेन्द्र में यह स्वतंत्रता अपनी पूर्णावस्था में पहुँच चुकी थी। कीट्स, शेली, वायरन, शेक्सपियर को छोड़ कर रवीन्द्रनाथ अकल्पनीय हैं, यह बात सही है किन्तु रवीन्द्रनाथ इन सबसे उतने ही स्वतंत्र हैं जितने उदाहरणार्थ लीजिये कीट्स या शेली शेक्सपियर से या कालिदास से स्वतंत्र हैं। इस प्रसंग में इससे अधिक आलोचना करने की गुञ्जाइश नहीं है।

बँगला कथासाहित्य पर प्रेमचन्द—बँगला कथासाहित्य का विशेषकर प्रेमचन्दजी पर क्या प्रभाव पड़ा, यह एक बहुत ही प्रासंगिक प्रश्न है। दोनों भाषा के साहित्य के विशेषज्ञों को चाहिये कि इस सम्बन्ध में गवेषणा करें। भारतीय साहित्यों में आदान-प्रदान का क्या स्वरूप, सीमा तथा उसका क्या परिमाण है, यह एक विचार्य विषय है।

सौभाग्य से हमें यह ज्ञात है कि स्वयं प्रेमचन्दजी बँगला साहित्य के सम्बन्ध में क्या सोचते थे। जैनेन्द्र कुमार ने उनके साथ कुछ वार्तालाप किए थे, जिनका विवरण हमें प्राप्त है। इन वार्तालापों के दौरान में जैनेन्द्रजी ने प्रेमचन्दजी से पूछा था—'बँगला साहित्य हृदय को अधिक छूता है, इससे आप सहमत हैं? तो इसका कारण क्या है?'

प्रेमचन्दजी ने कहा—सहमत तो हूँ, कारण उसमें स्त्री भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है।

सुन कर जैनेन्द्रजी ने उनकी ओर देखा, पूछा—स्त्रीत्व है, इसीसे वह साहित्य को अधिक छूता है।

प्रेमचन्दजी बोले—हाँ, तो। वह जगह-जगह reminiscent (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है। विधायकता के लिए दोनों चाहिये—

कहते-कहते उनकी आँखें जैनेन्द्र से पार कहीं देखने लगी थीं, उस समय उन आँखों की सुर्खी एक दम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गयी थी। मानो अब उनकी आँखों के सामने जो हो, स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी थी।...बोले—जैनेन्द्र मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नहीं। मुझमें उतनी देन कहाँ? ज्ञान से जहाँ नहीं पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिये।

कह कर प्रेमचन्द जैसे कन्या की भाँति लज्जित हो उठे। उनकी मूछें इतनी घनी थीं कि बेहद...। बोले—जैनेन्द्र, रवीन्द्र, शरत दोनों

महान हैं। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है। शायद नहीं। हिन्दी राष्ट्र भाषा है। मेरे लिए तो वह राह नहीं ही है।[३७]

इस कथोपकथन से यह तो ज्ञात होता ही है कि स्वयं प्रेमचन्द्रजी बँगला साहित्य से सम्पूर्णरूप से स्वतंत्र मार्ग में चलना चाहते थे, रहा यह कि कहाँ तक वे इसमें सफल हुये, इसका निर्णय हम यथास्थान करेंगे। इतना तो उन्होंने खुद ही स्वीकार किया है कि रवीन्द्रनाथ के गल्पों से उन्होंने गल्प लिखने की अनुप्रेरणा ली थी।[३८]

निबन्ध और उपन्यास—हमने इन पृष्ठों में हिन्दी उपन्यास साहित्य का जो विकास दिखलाया है, उसमें अपने को उपन्यासों तक ही सीमित रखा है, किन्तु हिन्दी के उपन्यास साहित्य के विकास के इतिहास को जब हम और गहराई के साथ देखते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि निबन्ध तथा नाटक रचना से उपन्यास रचना की कला को प्रत्यक्ष रूप से सहायता मिली है। भारतेन्दु युग में निबन्ध रचना की धूम रही। उन दिनों जो नई-नई पत्र-पत्रिकायें निकल रही थीं, उनमें निबन्धों की खूब खपत थी। डाक्टर रामविलास ने तो यहाँ तक लिखा है कि जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। निबन्धों के जरिये से लेखक बिल्कुल पाठक के सामने आकर उससे खुल कर सब दुख-सुख की बातें कर सकता था। उस युग में निबन्धों में लेखक पाठक के बिल्कुल हृदय के करीब आने की कोशिश करता था, बाद के युग में जैसे निबन्ध लेखक और पाठक कुछ दूरी रख कर बात करने लगे, वैसा उस युग में नहीं था। उदाहरणार्थ प्रताप नारायण मिश्र (१८५३) का अपने पाठक से कहना—'ले भला बतलाइये तो आप क्या हैं?' निबन्ध को छोड़ कर साहित्य के और किसी अंग में सम्भव

[३७] हं० प्रे० पृ० ७७८   [३८] जीवन सार

नहीं था। उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुये अपनी बात पाठक से कह कर सन्तोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे, और एक मित्र की भाँति उससे घुल-मिल कर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे। द्विवेदी युग में लेखकों और पाठकों दोनों ही में प्रतिष्ठा की भावना बहुत अधिक आ गई। लेखक का पाठक से पूछना 'ले भला बतलाइये तो आप क्या हैं?' स्वप्न में भी प्रायः असम्भव हो गया।'[३१]

इन निबन्धों की एक विशेषता यह भी थी कि एडिसन के स्पेक्टेटर के आदर्श पर ये कहानी से मिलते-जुलते ढङ्ग पर लिखे जाते थे। राजा शिवप्रसाद लिखित 'राजा भोज का सपना' इसी प्रकार की एक रचना है। इसमें कथाच्छल से अपने वक्तव्य को स्पष्ट किया गया है। राजा भोज यह समझते हैं कि असली धर्म का तत्व मन्दिर बनाना या प्रदर्शन के लिए दान आदि देना नहीं है, कैसे उनको यह समझ आती है, इसीके वर्णन के दौरान में लेखक अपने वक्तव्य को स्पष्ट करते हैं। भारतेन्दु ने भी इसी प्रकार 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' नामक एक निबन्ध लिखा, इसका भी उद्देश्य समाज-सुधार था। इसमें कहीं तो हास्यरस है, और कहीं गम्भीर बातें कही गयी हैं। पुलिस, कचहरी, शिक्षा-प्रणाली सभी पर फब्तियाँ कसी गई हैं।

भारतेन्दु ने 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' नामक एक अत्यन्त रोचक निबन्ध भी लिखा था, जिसमें यह दिखलाया जाता है कि "स्वामी दयानन्द और केशवचन्द्र सेन दोनों ही स्वर्ग जाते हैं, परन्तु अनेक स्वर्गवासी सज्जन जो इनके नरक जाने से अधिक प्रसन्न होते, इनके स्वर्ग में प्रवेश पाने से बुरी तरह चिढ़ जाते हैं। कुछ लोग इनके पक्ष में भी हैं जिससे स्वर्ग में कंजरवेटिव और लिबरल दो दल हो जाते हैं। कंजरवेटिव लोगों में वे ऋषि मुनि हैं, जो यज्ञ

[३१] भा० प्र० पृ० ६६

करके या तपस्या में अपना तन सुखा कर स्वर्ग पहुँचे थे। लिबरल दल में वे लोग हैं जिन्होंने अपने आत्मा की उन्नति से या भक्ति से या सामाजिक कार्यों से स्वर्ग लाभ किया था। भारतेन्दु की सहानुभूति इन्हीं लिबरल लोगों के साथ है।"[४०] इसमें जो भक्ति वालों को भी लिबरल दल में मान लिया गया है। इससे भक्ति मार्ग वालों के प्रति भारतेन्दु का पक्षपात सूचित होता है, क्योंकि यज्ञ करके या तपस्या में तन सुखा कर स्वर्ग पहुँचने में और भक्ति के द्वारा स्वर्ग पहुँचने में कोई विशेष मौलिक अन्तर है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। डाक्टर रामविलास इस बात का स्पष्टीकरण न करने पर भी वे इस पक्षपात से परिचित हैं, इसमें सन्देह नहीं क्योंकि वे लिखते हैं—"भारतेन्दु कुछ विशेष कारणों से वैष्णव धर्म को उदार और रैडिकल मानते थे। हिन्दू धर्म में कबीर, दादू, नानक आदि जो विद्रोही उत्पन्न हुये थे, उनको वह वैष्णवता का ही प्रतिनिधि मानते थे। उनके निबन्ध 'वैष्णवता और भारतवर्ष' में इस सुधारक परम्परा का विशेष विवेचन किया गया है। इन सन्तों का हिन्दू समाज पर जो प्रभाव पड़ा है उसीको लक्ष्य करके उन्होंने लिखा है कि वैष्णव मत भारतवर्ष की हड्डी तक में मिल गया है।" वैष्णवता बिलायत यात्रा में वाधक नहीं है। साथ ही वे यह भी साफ कहने से नहीं चूकते कि 'जब पेट भर खाने को ही न मिलेगा, तो धर्म कहाँ बाकी रहेगा। इससे जीवमात्र को सहज धर्म उदर पूरण पर ध्यान देना चाहिये।' 'वैष्णवता और भारतवर्ष' नामक निबन्ध प्रत्यक्ष-रूप से कहानी कला से सम्बद्ध नहीं है, इसलिए इससे अधिक इस पर आलोचना करना उचित न होगा, किन्तु विचार सभा वाला निबन्ध आंशिक रूप से निबन्ध है, और आंशिक रूप से एक कहानी है।

[४०] भा० प्र० पृ० १०६

'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' नामक निबन्ध का रुख प्रगतिशील है, इसमें सन्देह नहीं। इस निबन्ध में जमीन्दारवर्ग के प्रति भी विरोध प्रकट किया गया है। यह बतलाया गया कि स्वर्ग में कञ्जरवेटिव दल का जोर इसलिए था कि स्वर्ग के जमीन्दार इन्द्र, गणेश, आदि उनके साथ मिले हुये थे, 'क्योंकि बंगाल के जमीन्दारों की भाँति उदार लोगों की बढ़ती से उन बेचारों को विविध और सर्वोपरि बलि भाग न मिलने का डर था।' इस विचार सभा में भाग लेने के लिए हिन्दू स्वर्ग, मुसलमानी स्वर्ग तथा ईसाई स्वर्ग के भी प्रतिनिधि आये थे, इस प्रकार इस निबन्ध में भिन्न-भिन्न स्वर्गों की और इसलिए भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की हँसी उड़ाई गई है। इस लेख में विधवा विवाह का समर्थन किया गया है, विवाह-सम्बन्धी कुप्रथाओं की हँसी उड़ाई गई है, धर्म परिवर्तन को महत्व नहीं दिया गया। विचार सभा की रिपोर्ट अन्त में परमेश्वर के निकट भेज दी गयी।

केशवप्रसादसिंह ने 'आपत्तियों का पहाड़' नामक एक निबन्ध इन्हीं सपनों के अनुकरण पर लिखा है। "लेखक सुकरात की एक उक्ति पर विचार करते हुये सो जाता है, और उसे एक बहुत ही रोचक स्वप्न दिखाई पड़ता है।"

एक स्थान पर सभी लोग अपनी आपत्तियों का बंडल बाँध कर फेंक रहे हैं, और इस प्रकार आपत्तियों का पहाड़ लग जाता है, फिर उस पहाड़ से सब लोग फेंकी हुई आपत्तियों के स्थान पर अपनी इच्छानुसार आपत्ति चुन ले रहे हैं। नई आपत्तियों के वर्णन करते-करते लेखक की नींद खुल जाती है, और आपत्तियां का पहाड़ तथा अन्य सभी लोगों की भीड़ अदृश्य हो जाती है .....। इस निबन्ध के अनुकरण में वेंकटेश नारायण तिवारी ने 'एक अशरफी की आत्म कहानी' (सरस्वती अक्टूबर १६०६), लक्ष्मीधर बाजपेयी ने 'विद्यारण्य'

(सरस्वती अप्रेल १९०७) और लल्लीप्रसाद पांडे ने 'कविता का दरबार' (सरस्वती फरवरी १९०९) लिखा।[४१]

गोस्वामी लिखित 'यमलोक की यात्रा' में उस युग की घटनाओं, आन्दोलनों आदि का उल्लेख है। "पच्चीस वर्ष की अवस्था में ज्वर से स्वप्नदृष्टा की मृत्यु होने लगती है, और नादिरशाह की सूरत के यमदूत उसे लेने आते हैं। उसे इस बात से विशेष खेद होता है कि विधवा विवाह को प्रचलित होते अभी नहीं देखा, 'न विलायत जाने की रोक उठी, न जाति-पाँति का झगड़ा मिटा।' इन शब्दों से लेखक का सामाजिक ध्येय स्पष्ट है और 'न हमारे जीते जी प्रेस एक्ट उठा, न लाइसेन्स टैक्स का काला मुँह हुआ'। प्रेस एक्ट से राधाचरण गोस्वामी को विशेष अप्रसन्नता थी। उस पर उन्होंने अनेक स्थलों पर छींटे कसे हैं। काबुल की लड़ाई का परिणाम देखे बिना ही दुनिया से चल देना पड़ा। जब वैतरणी पहुँचे तब यमराज के प्रधान का सामना करना पड़ा। बाकायदा उनकी कचहरी लगी हुई है। प्रधान-जी के सिर पर मारवाड़ी पगड़ी है। माथे पर रामफटाका तिलक लगाये हैं, और उनके चारों ओर बड़ी-बड़ी बहियाँ खोले उनके गुमाश्ते लोग बैठे हैं। मानो यमराज के प्रधान की कचहरी न होकर किसी मारवाड़ी सेठ की ही दूकान हो यानी जब इहलोक में मारवाड़ी सेठ की कोठी देखो तो परलोक में यमराज की कचहरी की कल्पना कर लो। वैतरणी पार करने के समय प्रधान ने पूछा—गोदान किया है? उत्तर दिया—गोदान लिये हैं, किन्तु किया एक नहीं। इस पर प्रधानजी ने उन्हें निकाल देने की आज्ञा दी। तब इन्होंने बिनती की—'साहेब प्रथम प्रश्न सुन लीजिये, गोदान का कारण क्या? यदि गौ की पूछ पकड़ कर पार उतर जाते हैं, तो क्या बैल से नहीं उतर सकते। जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की?'

---

[४१] आ० हि० सा० वि० पृ० ३५०

बात यह थी, कि इन्होंने मजिस्ट्रेट साहेब की मेम को एक कुत्ता भेंट किया था, यह सोचकर कि जब गौ यहाँ आ जाती है, तो क्या कुत्ता नहीं आवेगा, इन्होंने सीटी बजाई, और तुरन्त रतन नाम का कुत्ता कचहरी के लोगों को हटाता हुआ इनके पास आ पहुँचा। प्रधान ने इस पर इन्हें वैतरणी में ढकेल देने की आज्ञा दी। 'मैंने जी में सोचा यहाँ अन्धेर नगरी और हिन्दुस्तानी घिसघिस है, विवेक-विचार कुछ नहीं है।' इसलिए रतन कुत्ते को पुकार कर झम से वैतरणी में कूद पड़े, और उसकी पूछ पकड़े तैरते हुये नदी पार कर गये।"[४२]

यह स्पष्ट है कि इस यात्रा के विवरण को आसानी से कथासाहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। अवश्य यह भी साथ ही द्रष्टव्य है कि लेखक की यह कहानी उद्देश्यमूलक है, यह कहानी मनोरंजन के लिए नहीं कही गई है, बल्कि उसका उद्देश्य समाज की विभिन्न प्रथाओं पर ताने कसना है। और सुनिये—'यमपुर का बाजार जयपुर सा, गलियाँ बनारस की-सी, इमारतें दिल्ली और आगरे की-सी हैं। भूख लगी थी, हलवाई की दुकान में इमरतियों का थाल देख कर लालच लग आया। सोचा फिर तो मर सकते नहीं, क्यों न हाथ साफ किया जाय, इमरतियाँ लेकर भागे। एक साधु बैकुण्ठ गये थे, परन्तु वहाँ चिलम-तम्बाकू न पाकर बहुत निराश हुये। यमपुर में इन सबका प्रबन्ध है। धर्मराज की कचहरी के बाहर तिलंगे सिपाही भाँग तम्बाकू को पूछते हैं, और उन्हीं में से एक बूढ़ा यमपुर का महत्व बताते हुये कहता है—

साधु गयल बैकुण्ठ के, मन ही मन पछताय।
इहाँ रहके का करबो, इहाँ चिलम तम्बाकू नाय॥

---

[४२]वही पृ० १०२

गोरे कालों का भेद वहाँ भी था। 'गोरे जीव के आगे मेज, कुर्सी, टेबुल आदि लगी हुई, और चाय, काफी, बिस्कुट आदि धरा था। काले के वास्ते टाट और टूटी खाट, और पुराना-धुराना हुक्का और कुंडे में रोटी।"[४३]

स्पष्ट है कि ऐसे साहित्य का कहानी के साथ बिल्कुल प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

नाटक और उपन्यास—नाटक को यदि दृश्यकाव्य माना जाय तो हिन्दी नाटकों की उत्पत्ति कदाचित् उतनी ही प्राचीन हो जितनी हिन्दी भाषा है। सभी देशों में साहित्यिक नाटकों की उत्पत्ति उपन्यासों से पहले हुई। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस युग में जनता में साक्षरता कम थी, और पुस्तकों को छापने तथा वितरण करने की उस सुविधा होने की बात तो दूर रही जो आज है, जनता में अभिनीत दृश्यकाव्यों को लिखने की भी प्रथा नहीं थी, जिस युग में नाटक (यदि उन्हें नाटक कहा जाय तो) उसी प्रकार से प्रचारित होते थे, जिस प्रकार से किसी युग में वेदों के मंत्र प्रचारित होते थे, उस युग में ये अलिखित नाटक लेखक बल्कि लेखकगण और जनता के बीच संस्पर्श के बहुत बड़े जरिये होते थे। स्वाभाविक रूप से ऐसे नाटक जितनी बार अभिनीत होते थे, उतनी ही बार उनका रूप बदल जाता था, और स्थानीय कलाकार या कलाकारों की छाप उस पर पड़ती जाती थी। रामलीला, रासलीला आदि के रूप में इस प्रकार के नाटक बहुत प्राचीन काल से चलते आ रहे हैं। स्वाभाविक रूप से इस प्रकार की नाट्य कला धार्मिक रंग में रँगी हुई थी। जिस युग में धर्म यहाँ के सारे सार्वजनिक जीवन का केन्द्र विन्दु था, उस युग में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इन नाटकों के जरिये से लोगों को अपना यदि सही-सही इतिहास नहीं तो धार्मिक

---

[४३] वही पृ० १०१

इतिहास का बोध होता था, साथ ही उनकी कलात्मक प्रवृत्तियाँ भी चरितार्थ होती थीं। रामलीला को ही लिया जाय, इसमें के नायक-नायिका, खलनायक तथा अन्य सभी पात्र ऐसे होते थे, जिनसे लोग माँ का दूध पीते-पीते परिचय प्राप्त कर लेते थे। उनकी कथा को भी लोग अच्छी तरह जानते थे। राम से बढ़ कर हिन्दू जनता के लिए कौन नायक हो सकता था ? इसी प्रकार रावण के रूप में एक ऐसा खल-नायक था, जिसको लोग परिचय-मात्र ही से घृणा करने लगते थे।

दुख है कि अभी इस बात पर अच्छी तरह खोज नहीं की गई कि रामलीला का इतिहास क्या है, कैसे उसका प्रारम्भ हुआ, तथा किन किन कारणों से उसका विकास हुआ। संस्कृत नाटकों के इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि बहुत पहले ही भारतवर्ष में नाटकों की उत्पत्ति हो चुकी थी। कालिदास से भी पहले भास नामक नाटककार का पता चलता है। इसलिये जब हिन्दी भाषा की उत्पत्ति हुई होगी, और लोगों में इसी नवीन भाषा में दृश्यकाव्यों के अभिनय के रिवाज का विकास हुआ होगा, उसमें इन पूर्वरचित संस्कृत तथा प्राकृत नाटकों का कोई भी प्रभाव न रहा होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। स्वाभाविक रूप से इन संस्कृत प्राकृत नाटकों का हिन्दी दृश्यकाव्यों पर प्रभाव पड़ा होगा। जो कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि संस्कृत प्राकृत की ऐश्वर्यशाली थाती के अधिकारी होते हुये भी हिन्दी भाषा इस सम्बन्ध में कोई विशेष उन्नति नहीं कर सकी। ऐसा ज्ञात होता है कि जनता की तृप्ति तो रामलीला, रासलीला आदि धार्मिक रंग में रँगे हुये अभिनयों से हो जाती थी, और साहित्य में इसलिए नाटक लिखने की आवश्यकता अनुभूत नहीं हुई। पढ़ने के लिए लिखे जाने वाले नाटक उस युग में अकल्पनीय थे। इस प्रकार नाटक का केवल जनता वाला रूप रह गया, और चूँकि वह भी रूप धर्म के ढाँचे के अन्दर घूमता रहा, इसलिए उसका विकास असाहित्यिक रूप में ही हुआ। इन युगों

के लेखक तथा साहित्यिकगण अपनी वाणी को कविता के जरिये से ही जनता तक पहुँचाते रहे, अवश्य इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रहे कि इस युग के जो प्रतिष्ठित साहित्यिक, लेखक या कवि थ, वे साधारणतः इस बात की कोई जरूरत ही नहीं समझते थे कि जनता तक पहुँचा जाय, या जनता के लिए लिखा जाय। वे तो अपने प्रभुओं के लिए लिखते थे, यदि उनकी चीज जनता तक गई तो अच्छी बात है, नहीं तो इसकी उन्हें कोई परवाह नहीं थी।

चूँकि इन युगों में दृश्यकाव्यों का अभिनय जनता के लिए होता था, बड़े आदमियों को उच्च तथा प्रतिष्ठित कवियों को उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता था, इसीलिए उनके सम्बन्ध में और भी अधिक खोज की जरूरत है, क्योंकि उन दृश्य काव्यों की धमनियों में जो रक्त प्रवाहित होता था, उसमें हम अत्यन्त स्पष्ट रूप से जनता के हृदय की धड़कन को सुन सकते हैं। केवल इतना कह देने से ही एक इतिहासकार का कर्त्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता कि इतने सौ वर्षों तक दृश्यकाव्य रासलीला या रामलीला के दायरे में परिपुष्ट होते रहे, हमें उसके बारे में जाकर यह भी देखना पड़ेगा कि एक ही रासलीला या रामलीला का भिन्न-भिन्न युग में क्या स्वरूप रहा, उन्नततर उत्पादन-पद्धति, अभिव्यक्ति के उन्नततर तरीकों तथा यांत्रिक उन्नति का भिन्न-भिन्न युग में क्या-क्या प्रभाव पड़ता गया, यह भी हमें जानना पड़ेगा। इस प्रसंग में इस सम्बन्ध में इससे अधिक लिखना उचित न होगा। सारांश यह है कि यह युग (सम्भव है यह युग सैकड़ों वर्षों का हो) नाटकों का इतिहास-पूर्व युग है। इस युग में जनता का नाटक से प्रत्येक अर्थ में सीधा सम्पर्क था।

जब हम रामलीला, रासलीलामूलक जन-नाटक की टेकनिक की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि—

"साधारणतः रामलीला जनता के सामने केवल सम्वादों के रूप में आती है। इसमें रंगमंच तथा अन्य नाटकीय उपकरणों का एकान्त

अभाव है। इसका कथानक इतना विस्तृत है कि नाटकों के सीमित स्थान, समय और कार्य से मेल नहीं खाता। यद्यपि उन सम्वादों में काव्यत्व के साथ ही साथ चरित्र गाम्भीर्य भी विशेष मात्रा में है, परन्तु जनता वहाँ काव्य और चरित्र की आलोचना करना नहीं जानती। उसके लिए तो जितना आनन्द परशुराम और लक्ष्मण, तथा रावण और अंगद के सम्वाद में मिलता है, उतना भरत के राजत्याग के समय लम्बे भाषण तथा राम और सीता के सुन्दर चरित्र-चित्रण में नहीं मिलता। वास्तव में रामलीला केवल धार्मिक लीला के रूप में ही रह गयी, उसमें नाटकत्व का विकास बिल्कुल नहीं हुआ।"[४४]

धार्मिक दायरे के अन्दर रहते हुये, इस नाटक कला का विकास एक हद तक ही हो सकता था। बात यह है पुराणों की कहानियों में लोग विश्वास रखते थे, वे उनके निकट वेद से कम पवित्र नहीं थीं। कितना भी बड़ा कलाकार हो, उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह पुराण वर्णित कहानी को अधिक तोड़े मरोड़े। भवभूति की तरह प्रतिभा-वान नाटककार के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे रामायण की कथा को कुछ परिवर्तित करें। उन्होंने बहुत किया तो यह किया कि जहाँ पर रामायण की कहानी खतम हो जाती थी, उसे वहाँ खतम होने न देकर उसके आगे ले गये, और बाद की परस्थितियाँ दिखलाईं। इस प्रकार जिस धार्मिक संरक्षण में हिन्दी का प्रागैतिहासिक नाटक पला था, वह उसके लिए एक बेड़ी के रूप में हो गया। इस बेड़ी को तोड़ कर तभी नाटक आगे बढ़ सकता था, और यह बेड़ी तोड़ी गई।

यह द्रष्टव्य है कि हिन्दी में जब आधुनिक नाटकों का बल्कि नाटकों का सूत्रपात हुआ, तो जनता के साथ लेखक के आदान-प्रदान के जरिये

[४४] आ० हि० सा० वि० पृ० १६६

के रूप में ही उसका आविर्भाव हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में यह लिखा गया है कि उन्होंने 'नाटक लिखने की परम्परा को जन्म ही नहीं दिया, उन्होंने नाटक खेलने की परिपाटी भी आरम्भ की, और स्वयं अभिनय करके लोगों के सामने एक आदर्श स्थापित किया।' भारतेन्दु के नाटक बलिया के मेले में खेले गये थे। हम पहले ही बता चुके कि पढ़े जाने के लिए लिखे जाने वाले नाटकों की कल्पना बहुत ही आधुनिक है, और एक हद तक शायद नाट्य कला का एक विकृत रूप है, किन्तु हरिश्चन्द्र के युग तक नाटकों के सम्बन्ध में यह धारणा न थी। डाक्टर रामविलास ने यह ठीक ही लिखा है कि 'मेलो-ठेलों में नाटक खेलना आज की सभ्यता को अखरता है, परन्तु उस समय नाटक जब प्रधानतः जनता तक अपना सन्देश पहुँचाने का एक साधन था, ऐसे स्थान नाटक खेलने के लिए उचित समझे जाते थे, जहाँ काफी भीड़ मिल सके।' अभी अभी हाल में कुछ राजनैतिक दलों ने जो जननाट्य समिति आदि की स्थापना की है, वह कोई नई चीज नहीं है, यह तो केवल नाटक को उसके पहले के जनता वाले रूप में प्रतिष्ठित करने का एक प्रयत्न मात्र है।

उपन्यास के प्रसंग में नाटक के सम्बन्ध में जितना लिखना चाहिये, यह कहा जा सकता है कि हम उससे कुछ अधिक लिख गये, किन्तु यह बात नहीं। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्दजी नाटककार भी हैं, इस बात को नहीं भुला सकते। फिर नाटक तो कथासाहित्य का एक प्रधान अंग है, और उपन्यास के पहले नाटक साहित्य की उत्पत्ति होने के कारण और नाटक कथामूलक होने के कारण उपन्यासों पर नाटकों का प्रभाव स्पष्ट है। हम जब इस युग के हिन्दी उपन्यासकारों को देखते हैं तो हम साथ ही इस बात को बिना देखे नहीं रह सकते कि जिनको हमने उपन्यास साहित्य के दादा, परदादा, लकड़दादा के रूप

में पहले गिना चुके हैं, वे नाटककार भी थे। बल्कि कई तो नाटककार पहले थे, और उपन्यासकार बाद को।

हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षागुरु' के लेखक श्रीनिवासदास ने पहले 'तप्ता संवरण' नामक एक नाटक लिखा था। यह एक पौराणिक नाटक है, और इसमें तप्ता और संवरण नामक दो पौराणिक नायक-नायिकाओं का प्रेम दिखलाया गया है। उनके द्वारा रचित 'संयोगिता स्वयम्बर' नामक नाटक ऐतिहासिक है। फिर भी सर्वसम्मति से इनका सबसे अच्छा नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' है। इसी प्रकार अन्यतम यशस्वी उपन्यासकार राधाचरण गोस्वामी ने दो प्रहसन लिखे, इसका हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं।

आधुनिक साहित्य की उत्पत्ति के प्रथम युग में नाटकों के ही जरिये से लेखक पाठकों तक आसानी से पहुँच सकता था, इसी कारण प्रथम युग में उन्हीं का बोलवाला रहा। हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रधानत: नाटककार थे, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है, भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी विकास का यही क्रम रहा। पहले पुस्तकें कम उपलब्ध थीं, साक्षरता कम थी, इसलिए नाटकों का अधिक चला; किन्तु ज्यों-ज्यों देश में यत्रतत्र छापेखाने खुलते गये, और लोगों में साक्षरता की वृद्धि होती गयी, एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया जो किताब खरीद कर पढ़ सकता था, किन्तु जिसे नाटक देखने के लिए जिस फ़ुरसत की जरूरत थी, वह नहीं थी, तब उपन्यासों का बोलवाला होने लगा। एक दूकानदार के लिए यह सम्भव था कि वह अपने ग्राहकों की प्रतीक्षा करे, साथ ही साथ उपन्यास की चुस्की भी लेता जाय, इसी प्रकार कम फ़ुरसत वाले साक्षर लोगों के मनोरंजन के लिए उपन्यास एक सामाजिक आवश्यकता के रूप में हो गया, और साहित्य क्षेत्र की दौड़ में उसने नाटक को पीछे छोड़ दिया। फिर भी ये नाटक उपन्यासों पर अपना प्रभाव छोड़ते गये, सच बात तो यह है कि

इस प्रभाव के बगैर उपन्यास को उपन्यास होने में बड़ी दिक्कत होती। डाक्टर राम विलास लिखते हैं—'नाटकों में यथार्थ चित्रण और सामयिक समस्याओं के विवेचन की प्रधानता थी, इन सब बातों को उपन्यास लेखकों ने सहज ही में अपना लिया।' विशेषकर उपन्यासों में वार्तालाप के जरिये से कथानक की परिपक्वता प्रदान करने की जो प्रथा उपन्यासों में आयी, उस पर मुख्यतः हम नाटकों का प्रभाव देख सकते हैं।

प्रेमचन्द पहले उर्दू के लेखक—यों तो हम प्रेमचन्द के पहले हिन्दी उपन्यास का किस प्रकार विकास हुआ, तथा किन-किन प्रभावों से होकर वह गुजरा, यह दिखा चुके, किन्तु प्रेमचन्द की कला को समझने के लिए केवल हिन्दी उपन्यास के विकास को समझने से काम न चलेगा, क्योंकि स्मरण रहे कि प्रेमचन्द पहले उर्दू के लेखक थे, और फिर हिन्दी में आये। सच बात तो यह है कि उन्होंने बाद को ही चल कर हिन्दी का अध्ययन किया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में अपने संस्मरण में लिखा है "मुझे याद है जब प्रेमचन्दजी ने हिन्दी लिखना शुरू किया तो वे उर्दू की नकल किया करते थे। जब मैं सरस्वती में काम करता था, उनकी एक कहानी की हस्तलिपि (पांडुलिपि ?) मैंने देखी थी, जिसमें एक वाक्य था—'यह आपका बड़ा आधिक्य है'; उनका मतलब था—'यह आपकी बड़ी ज्यादती है' यह पढ़कर मुझे खूब हँसी आई थी।"[४५]

प्रेमचन्दजी ने 'मेरी पहली रचना' नामक अपने लेख में जो कुछ लिखा था, वह इस सम्बन्ध में बहुत ही प्रासंगिक है। उनकी यह पहली रचना नाटक के रूप में थी, जिसमें उन्होंने अपने मामू साहेब के चमारी प्रेम की खिल्ली उड़ाई थी।[४६] वे अपने सम्बन्ध में लिखते हैं—

[४५] हं० प्रे० पृ० ८०२ [४६] प्रे० अ० पृ० १

'उस समय मेरी उम्र कोई तेरह साल की रही होगी। हिन्दी बिल्कुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पंडित रतननाथ सरशार, मिर्जा, रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली हरदोई निवासी, उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनायें जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी, और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे, और हाथो-हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक था। स्वर्गीय हजरत रियाज़ ने जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं, और जिनका हाल में देहान्त हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था। उसी जमाने में लखनऊ के साप्ताहिक अवध पञ्च के सम्पादक स्वर्गीय मौलाना सज्जाद हुसेन ने जो हास्यरस के अमर कलाकार हैं रेनाल्ड के दूसरे उपन्यास का अनुवाद धोखा या तिलस्मी फानूस के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी जमाने में पढ़ी, और पण्डित रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी। उनकी सारी रचनायें मैंने पढ़ डाली।...दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवल किशोर प्रेस से निकले हुये पुराणों के उर्दू अनुवाद भी और तिलस्मी ग्रन्थ के १७ भाग उस समय निकल रहे थे, और एक एक भाग बड़े सुन्दर रायल के आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से क्यों न होगा। और इन १७ भागों के उपरान्त उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर २५ भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े।'

यह मार्के की बात है कि प्रेमचन्दजी ने पहले-पहल एक नाटक लिखने की चेष्टा की। स्मरण रहे कि यह १८६३ का जमाना था, चन्द्रकान्ता अभी प्रकाशित हुई थी, किन्तु प्रेमचन्दजी को उसका पता नहीं था, नहीं तो वे इस प्रसंग में उसका उल्लेख अवश्य करते।

बहुत बाद को चल कर हिन्दी उपन्यास पढ़े। उस युग में हिन्दी और उर्दू दोनों में उपन्यासों की कमी थी, इसलिए नाटककार के रूप में प्रेमचन्दजी का साहित्य क्षेत्र में अवतरित होने का प्रयत्न आश्चर्य की बात नहीं है। हमने इसके पहले नाटक के सम्बन्ध में जो मन्तव्य किये हैं, और नाटक के साथ उपन्यास का जो सम्बन्ध दिखलाया है, वह इस घटना से और भी पुष्ट हो जाता है।

हाँ, तो हम यह कह रहे थे कि प्रेमचन्द की कला के विकास के लिए हमें उर्दू के उपन्यास साहित्य को ढूँढ़ना पड़ेगा। यदि यह कहा जाय कि प्रेमचन्द पहले उर्दू के थे, और बाद को वे विशेषकर आर्थिक कारणों से हिंदी की ओर झुके तो यह अत्युक्ति न होगी। प्रेमचन्द के मन में हिंदी-उर्दू का पक्षपात बिल्कुल नहीं था। उनके लिए दोनों भाषाओं में कोई भिन्नता नहीं थी। जामिया मिल्लिया के मौलाना मुहम्मद आक़िल ने प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में अपने संस्मरण में लिखा है कि 'प्रेमचन्दजी ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मजहब पर कोई एतकाद नहीं है, पूजा-पाठ और मन्दिरों में जाने का भी मुझे शौक नहीं। शुरू से मेरी तबीयत का यहीं रंग है। बाज़ लोगों की तबीयत तो मजहबी होती है, बाज लोगों की लामजहबी। मैं मजहबी तबीयत रखने वालों को बुरा नहीं कहता, लेकिन मेरी तबीयत रस्मी मजहब की पाबन्दी को बिलकुल गवारा नहीं करती। उन्होंने कहा कि मेरी संस्कृति और तर्जे मुआशरत भी मिला-जुला है, बल्कि मुझ पर मुसलमानों की तहज़ीब का असर हिन्दुओं की तहजीब से ज्यादा पड़ा है। मैंने मकतब में मियाँ जी से फ़ारसी, उर्दू पढ़ी। हिन्दी से बहुत पहले मैंने उर्दू में लिखना शुरू किया, हिन्दी जबान मैंने बाद में सीखी, कभी मैं उर्दू में पहले लिखता हूँ, और उसका हिन्दी में अनुवाद करता हूँ, और कभी हिन्दी में लिखता हूँ, और बाद में उसका उर्दू तर्जुमा करके शाया करता हूँ।' प्रेमचन्दजी की सुयोग्य पत्नी श्री मती शिवरानी देवी ने भी लिखा

है कि 'वे किसी कहानी का अनुवाद हिंदी में करते, और किसी का उर्दू में।'

केवल नाटककार के रूप में ही नहीं, कहानीकार के रूप में भी वे पहले उर्दू में आये। उन्हीं की जबानी सुनिये।

'मैंने पहले-पहल १९०७ में गल्पें लिखनी शुरू की। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थी, और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास को मैंने १९०१ से लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १९०२ में निकला, और दूसरा १९०४ में, लेकिन गल्प १९०७ के पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। वह जमाने में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह 'सोज़े वतन' के नाम से १९०९ में छपा। उस समय वंगभंग का आन्दोलन हो रहा था। कांग्रेस में गर्म दल की सृष्टि हो चुकी थी, इन पाँचों कहानियों में स्वदेश प्रेम की महिमा गाई गई थी।'

शुरू से ही प्रेमचन्द प्रगतिशील—यद्यपि हमने इन उद्धरणों को यह प्रमाणित करने के लिए लिखा है कि प्रेमचन्द पहले केवल उर्दू के थे, किन्तु प्रसंगवश हम इस बात पर भी ध्यान देते चले कि प्रेमचन्द-जी का शुरू से ही झुकाव देशप्रेममूलक रचना की ओर था। हम बाद को यह दिखलायेंगे कि सोज़े वतन के लेखक होने के कारण उन पर क्या-क्या आफत पड़ी, तथा उसका उन्होंने कैसे सामना किया, किंतु यहाँ इस बात को तो हम देख ही लें क्योंकि प्रेमचन्दजी समसामयिक प्रगतिशील विचारधारा के साथ कदम मिलाकर चलने की चेष्टा शुरू से ही करते थे। प्रेमचन्दजी को जिन लोगों ने केवल गांधीवादी युग के उपन्यासकार करके दिखाने का प्रयत्न किया है, उन्होंने उनको छोटा ही किया है, क्योंकि जिस युग में गांधीवाद का कहीं पता नहीं

था, उस युग में ही सोज़े वतन के लेखक के रूप में प्रेमचन्दजी अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दे चुके थे। बाद के युग में चूँकि उन्हें गांधीवाद इस प्रगतिशीलधारा की मुख्य उपधारा के रूप में ज्ञात हुई, और उसकी लहरों के गर्जन के आगे अन्य सब धारायें तुच्छ जान पड़ी, इसलिए उन्होंने एक हद तक गांधीवाद को अपने उपन्यासों में चित्रित किया। हम यथासमय इस पहलू पर विस्तृत आलोचना करेंगे, किन्तु यहाँ इतना बता दें कि गोदान में वे अपने को सम्पूर्ण रूप से हृदय परिवर्तन के मोह की बेड़ी से मुक्त कर चुके थे। भारतीय राजनीति जिस समय अभी गांधीवाद की बेड़ी से मुक्त नहीं हो पाई थी, उस युग में ही उपन्यास के क्षेत्र में उससे मुक्त हो जाना, और साथ ही वस्तुवादी कलाकार वाले अपने चरित्र को कायम रख सकना, यह कितने बड़े कृतित्व की बात है, इसकी कल्पना ही की जा सकती है, वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्राक्प्रेमचन्द उर्दू उपन्यासकार—हमारे लिए यह सम्भव नहीं है कि उर्दू उपन्यास साहित्य के विकास के ब्योरे में जावें। हम अधिक से अधिक केवल इतना ही कर सकते हैं कि प्रेमचन्दजी ने जिन उर्दू लेखकों का अपने ऊपर विशेष प्रभाव बतलाया है, उनका थोड़े में परिचय दे दें। उर्दू में भी उपन्यास साहित्य का सूत्रपात अनुवादों से हुआ।

हैदरी, काज़िम अली, निहालचन्द, मजहर अली, लल्लूलाल—सैयद हैदर बख्श हैदरी न अमीर खुशरो की मशनवी का 'किस्सा लैला मजनू' नाम से अनुवाद किया। इसी प्रकार उन्होंने 'तोता कहानी' नाम से प्राचीन संस्कृत कथा का अनुवाद किया, किन्तु यह अनुवाद सीधा संस्कृत से न होकर संस्कृत के फारसी अनुवाद से तैयार किया गया था। इसीके साथ उन्होंने 'आरायशे महफिल' नाम से हातिमताई के किस्से का तर्जुमा किया। इनकी रचनायें १९वीं सदी

के प्रथम चरण में प्रकाशित हुई। पहले वे यों ही लिखा करते थे, किन्तु फोर्ट विलियम कालेज 'की इल्मी कदरदानी का हाल सुन कर हैदरी ने एक किताब लिखी और उसको डाक्टर गिलख्रिष्ट की खिदमत में पेश किया। डाक्टर साहेब ने उस किताब को बहुत पसन्द किया, और हैदरी को फौरन बुलाकर मुन्शी की जगह दे दी।'[४७] मिर्जा काजिम अली ने भी फोर्ट विलियम कालेज के संरक्षकत्व में साहित्य रचना की। कार्नल स्काट ने १८०० ई० में फोर्ट विलियम कालेज के लिए उनको चुना था। इन्होंने यों तो कुरान शरीफ आदि कई पुस्तकों का अनुवाद किया, किंतु यहाँ पर उनका उल्लेख इसलिए किया जा रहा है कि उन्होंने कालिदास की शकुन्तला का अनुवाद उर्दू में किया। इसी प्रकार निहालचन्द लाहौरी ने फोर्ट विलियम कालेज के संरक्षकत्व में 'किस्सा गुलबकावली' का फारसी से उर्दू में अनुवाद किया। १८१३ में यह अनुवाद किया गया था। मजहर अली खाँ ने भी इसी कालेज के संरक्षकत्व में बैताल पचीसी का तथा अन्य कई कहानियों का अनुवाद उर्दू में किया। यों तो लल्लूलालजी आधुनिक हिंदी के जन्मदाताओं में से थे, किंतु उन्होंने उर्दू में भी 'लताएफे हिंदी' नाम से एक पुस्तक लिखी। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज से जिस तरह आधुनिक हिंदी के उदय में बहुत बड़ा हिस्सा अदा किया, उसी प्रकार उर्दू के लिए भी किया।

मिर्जा रजब अली—मिर्जा रजबअली वेग सरुर भी उर्दू के प्रसिद्ध गद्यकारों में हो गये हैं। वे १८५६ में महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह काशी नरेश के राजकवि हुये, वहाँ पर इन्होंने 'फिसाने अजायब' की रचना की। यह एक प्रेम की कहानी है। 'हर जगह रंगीनी और दिलकश पैदा करने की कोशिश की है। किसी जमाने में

४७ ता० अ० ऊ० पृ० १२५

यह रंग पसन्द आम था, चुनांचे किताब निहायत पसन्ददीद नजरों से देखी जाती थी।' सच बात तो यह है कि इसकी भाषा पद्य और गद्य के बीच में एक खिचड़ी-सी है। यों तो पद्य नहीं है, किंतु फिर भी लेखक ने बराबर अपने भाषा में चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है, नतीजा यह है कि अनुप्रास, उपमा, उत्पेक्षा के मारे गद्य का गला घुट जाता है। हर कदम पर 'काफिया और तश्वीह (उपमा) और इश्तारे (उत्प्रेक्षा) की तलाश रहती है।......फिसाने अजायब के पढ़ने से मालूम होता है कि एक मामूली किस्सा को भी एक अच्छा इंशापरवाज (शैलीकार) दिलकश और रंगीन बना सकता है।[४८]

नजीर अहमद—नजीर अहमद (१८३६-१९१२) उर्दू के प्रथम उपन्यासकार माने जाते हैं। उन्होंने कई उपन्यास लिखे। यह दृष्टव्य है कि उर्दू के यह प्रथम उपन्यासकार भी वस्तुवादी थे, और उन्होंने समाज को जैसा देखा, वैसा चित्र है, खींचकर रख दिया। एजाज हुसेन साहेब लिखते हैं—'उन्होंने इस्लामी सोशायटी और खासकर मुसलमानों के खान्दान की अंदरूनी मुआशरत की तस्वीर ऐसी बेलाग खींची है कि आँखों के सामने नक्शा फिर जाता है। रोजमर्रे के मामूली वाकयात जो सुबह और शाम हमारी आँखों के सामने घरों में अंदर बाहर वाक़ा होते रहते हैं, उनका खूबी से बयान करना मौलाना पर खतम है।' विशेषकर स्त्रियों के चित्रण में उन्हें सफलता मिली है। उनकी भाषा में वह बनावटीपन नहीं है जो उनके पहले के लेखकों की विशेषता थी। उपमा और उत्प्रेक्षा से वे अधिक काम नहीं लेते। कहीं-कहीं उनकी भाषा में कठिन शब्द आ जाते हैं, किंतु उनका झुकाव आसान मुहावरों तथा सहज शैली की ओर है।

---

४८ वही पृ० ३३६

रतनलाल सरशार—उर्दू उपन्यासकारों में रतनलाल सरशार (जन्म १८४६ या १८४७) का जितना जबर्दस्त प्रभाव प्रेमचन्दजी पर पड़ा, इतना शायद किसी एक अन्य लेखक का नहीं पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि सरशार का उर्दू उपन्यासकारों में बहुत बड़ा स्थान है। प्रेमचन्दजी पर सरशार का कितना जबरदस्त प्रभाव था, यह इसीसे ज्ञात हो सकता है कि उन्होंने सरशाररचित फिसाने आजाद का हिन्दी में आजाद कथा नाम से संकलन किया, संकलन शब्द इसलिए प्रयुक्त हो रहा है कि उन्होंने उसका ज्यों का त्यों अनुवाद नहीं किया। केवल सार भाग को हिन्दी जगत के सामने पेश किया। प्रेमचन्द के प्रशंसक-गण अक्सर इस पुस्तक को अवज्ञा की दृष्टि से देखते हैं, क्योंकि यह अनुवाद है, किन्तु जिसे टकसाली हिन्दुस्तानी का नमूना देखना हो, उसे यह पुस्तक बहुत पसन्द आयेगी। अपने युग में सरशार का कितना असर था, यह श्रीरघुपतिसहाय के दिये हुये इन तथ्यों से जाहिर होता है। वे लिखते हैं—'आज से (१९३७) प्राय: तीस वर्ष पहले जब पण्डित रतननाथ सरशार का देहान्त हुआ था, तब मुझे जहाँ तक स्मरण है सर तेज बहादुर सप्रू ने अपने बहुमूल्य और प्रभावशाली शोकसूचक लेख के आरम्भिक वाक्य में (जो हिन्दुस्तान रिव्यु में प्रकाशित हुआ था) साहित्य सेवियों के उस शिरोमणि के सम्बन्ध में लिखा था कि सरशार की जादू का-सा काम करने वाली कलम अब सदा के लिए मौन हो गयी। वास्तव में यह बात बिल्कुल ठीक थी। फिसाना आजाद विस्तृत कहानी में जो घटनायें, कथोपकथन और परिहास आदि का क्रम लगभग चार हजार पृष्ठों पर फैला हुआ है, वह अवश्य ही बहुत प्रशंसनीय है। लेकिन उसमें बहुत-सी अस्वाभाविक तिलस्मी बातें भी जरूर हैं। कहते हैं कि सरशार ने सरवांत (Cervantes) का चरित्र डान क्वीक्सेट के साँचे में अपनी कथा को ढाला है, लेकिन क्वीक्सेट अपने हास्यास्पद अतिरेकों और

ज्यादतियों के रहते हुये भी महत्व और वीरता की अमर आत्मा का सूचक है। सरशार की रचना यद्यपि यह सूचित करती है कि उसका लेखक लेखन कला का पूर्ण पंडित था, लेकिन फिर भी वह रचना हमारे सामने एक ऐसी बात रखती है जिसमें प्रत्यक्ष अस्तित्व के विचार से कोई दृढ़ और स्थायी वास्तविकता नहीं है, बल्कि स्वप्न जगत की एक स्पष्ट फिल्मी चित्रकारी है। फिसाना आजाद में लखनऊ के अवनतिशील और जल्दी मिटने वाले शिया अमीरों और रहस्यों के जीवन के मनोविनोद की सामग्री का एक आकर्षक चित्र है। सरशार की वैभवशालिनी बुद्धिमत्ता ने सबसे बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने अपने कलम के बल से इस छायातुल्य अवास्तविक जगत को अमर बना दिया है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के रहस्यों के जीवन में एक प्रकार के अवास्तविक तिलस्म का आकर्षण अवश्य होता है। सरशार ने इसी तकल्लुफ और बनावट के जीवन के ऐसे चित्र फिसाने आजाद के चित्रों में अंकित किये हैं जो देखनेवालों को मोहित कर लेते हैं, और यह चित्र उन्होंने अपनी जादूभरी कलम से कुछ इस प्रकार अंकित किये हैं कि उसका प्रत्येक पृष्ठ स्वप्न जगत के एक जादू के महल की खिड़की की तरह मालूम होता है, जो स्वप्न की ही अवस्था में खुलती है, और अपने शोभापूर्ण दृश्य दिखलाती है।'

अवध अखबार के सम्पादक रहते समय सरशार ने फिसाना आजाद की रचना की। पुस्तक रूप में तो यह लेख बाद को प्रकाशित हुआ, पहले इसी अखबार में धारावाहिकरूप से प्रकाशित हुआ था। जिस समय यह लेख पुस्तकरूप में प्रकाशित हुये, उस समय यह हाथोहाथ बिक गये। सरशार ने फिसाना आजाद के अतिरिक्त अन्य कई पुस्तकों की रचना की, किन्तु सभी मानते हैं कि फिसाने आजाद उनकी सबसे उत्कृष्ट रचना है। एजाज हुसेन भी मानते हैं कि 'इस किताब में लखनऊ की मिटी हुई तहजीब और गिरी हुई हालत को दिखाकर इसलाह

(सुधार) की कोशिश की है।' जिसे एजाज हुसेन लखनऊ की तहजीब बताते हैं, वह भारतीय-मुस्लिम-प्रधान सामन्तवादी सभ्यता मात्र है। जो कुछ भी हो इसमें सन्देह नहीं सरशार ने इस पुस्तक में जिस रचना शक्ति का परिचय दिया है, वह बहुत ही अद्भुत है। लोग सरशार से यहाँ तक प्रभावित हुये कि वे फिसाने आजाद को ही उर्दू उपन्यास रचना की 'संगेबुनियाद' मानते हैं, किन्तु जैसा कि हम दिखा चुके हैं नजीर अहमद से ही उर्दू उपन्यास रचना का सूत्रपात होता है, फिर भी जैसा कि एजाज हुसेन ने कहा है 'इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि सरशार ने लोगों का रुझान देखकर ऐन वक्त पर नावेल नवीसी की ओर ज्यादा फरोग दिया। पुराना तरीका नईयदज़कार (वास्तविकता से हटी हुई) बातों और असखास (व्यक्तियों) को छोड़ कर रोजमर्रे के वाकयात और ऐसे असखास को लिया जो आये दिन पेशे-नजर (सामने) रहते हैं।'[४१]

फिसाना आजाद के अतिरिक्त सरशार ने सैरे कोहसार, कामिनी, पी कहाँ आदि कई अन्य पुस्तकें लिखीं। सरशार की सफलता का सबसे बड़ा परिचय यह है कि उन्होंने सैकड़ों पृष्ठों की पुस्तकें लिखीं, और वे हाथों हाथ बिक गईं। प्राक्प्रेमचन्द युग के देवकीनन्दन खत्री के अतिरिक्त किसी भी हिन्दी उपन्यासकार को इतनी सफलता नहीं मिली। सफलता की दृष्टि से देवकीनन्दन और सरशार को एक पंक्ति में रखना सम्भव होने पर भी कलाकार की दृष्टि से सरशार देवकीनन्दन से श्रेष्ठ थे, क्योंकि उनका पैर जमीन पर था, और यद्यपि वे उड़ते थे, किन्तु वे छलाँग के बाहर नहीं उड़ सकते थे। प्रेमचन्द की कला के हक में यह अच्छा ही हुआ कि उन्होंने अपनी कला के Formative या विकास के युग में सरशार को पढ़ा, और कहीं बाद को चल कर देवकी-

[४१] ता० अ० उ० पृ० ३७७

नन्दन की रचनाओं को पढ़ा। जिन हिन्दी लेखकों ने प्रेमचन्द की कला की पृष्ठभूमि को प्राक्प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास साहित्य से समझने की चेष्टा की है, वे बहुत कुछ गलत रास्ते पर हैं। केवल कला की ही दृष्टि से ही नहीं भाषा की दृष्टि से भी प्रेमचन्द प्राक्प्रेमचन्द उर्दू उपन्यासों के अधिक नजदीक हैं। अवश्य प्रेमचंद ने इन सबसे लेकर और सीख कर भी इन सबसे कहीं श्रेष्ठतर तथा गुणगत रूप से पृथक कला का निर्माण किया, यह दूसरी बात है। ऐसा तो सभी बड़े लेखक करते हैं, किंतु फिर भी जब उनकी कला के उत्सस्थल की गंगोत्री को ढूँढ़ा जायेगा, तो यह उचित ही है कि हम आशा करें कि ऐसे खोजने वाले कम से कम सही दिशा में तो ढूँढ़ेंगे।

शरर—उर्दू के एक अन्य प्रधान उपन्यासकार शरर का प्रेमचन्द-जी पर बहुत प्रभाव था, यह हम पहले ही बता चुके हैं। प्रेमचंदजी ने इनकी रचनाओं का भी प्रारम्भिक युग में अध्ययन किया था। सरशार ने अपनी कला के क्षेत्र के लिए अपने सामने के समाज को चुना था, किंतु शरर ने मुख्यत: इस्लामी इतिहास को ही लेकर अपनी कथाओं की रचना की। इनकी कला पर कुछ धार्मिक रंग है। एजाज हुसेन ने लिखा है कि 'इस्लामी इतिहास अरबी और फारसी में होने के कारण मुसलमान उसे भूल रहे थे, शरर ने नये सिरे से अपने उपन्यासों के द्वारा इस भूली हुई कहानी को फिर से दुनिया के सामने ताजा और जीवित करके पेश कर दिया, जिसके कारण ऐतिहासिक व्यक्तियों के कारनामें लोगों की दृष्टि के सामने आ गये। दिलों में एक जोश पैदा हो गया, यही नहीं बल्कि उन्होंने विश्वासी जनोचित उत्साह के साथ विशेष विशेष इस्लामी स्थान और व्यक्तियों को बहुत ऊँचा करके चित्रित किया जिसके कारण उनका नाम उर्दू के और उपन्यास-कारों से अधिक बढ़ा-चढ़ा दृष्टिगोचर होता है।' शरर की कला में धार्मिक पुनरुज्जीवन का पुट होने के कारण वह नवशिक्षित

मुसलमानों को अधिक पसंद आई। सरशार की कला के मुकाबिले में इनकी कला निकृष्ट है, फिर भी धार्मिक कारणों से उसका प्रचार यथेष्ट हुआ। उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में मुलकुल अजीज वर्जिना, मंसूर मोहना आदि हैं।

रुसवा—मुहम्मद हादी रुसवा का भी उर्दू उपन्यासकारों में बहुत बड़ा स्थान है। प्रेमचंद ने अपने प्रारम्भिक युग में इनकी रचनाओं के पढ़ने की बात लिखी है। शरर ने उपन्यास को लेकर अरब और न मालूम कहाँ-कहाँ की सैर कराई थी किंतु रुसवा ने फिर उपन्यास कला को वास्तविक जीवन में उतार लिया, और उनमें उस युग के समाज का प्रतिफलन होने लगा। रुसवा ने अपनी कला के संबंध में लिखते हुये लिखा है 'हमारे नावेल न ट्रेजडी हैं, न कामेडी, न हमारे हीरो तलवार से कत्ल होते हैं, और न उनमें से किसी ने खुदकशी की है, न हिज्र (विरह) हुआ है, न वस्ल (मिलन)। हमारे नावेलों को मौजूद जमाने की तवारीख (इतिहास) समझना चाहिये।' इससे बढ़कर और कला के लिए क्या आदर्श हो सकता है ? रहा कहाँ तक वे इस आदर्श को निभा पाये हैं, इसमें संदेह है, किंतु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनकी कला वास्तविकता के साथ कदम मिलाकर चलने की चेष्टा करती है। उनके कथानकों का क्षेत्र अक्सर लखनऊ या उसके इर्दगिर्द का स्थान रहा है, तथा वर्णित घटनायें भी रोजमर्रे के जीवन की हैं। उनको मनोविज्ञान के संबंध में भी बड़ी दिलचस्पी थी। उनके उपन्यासों में समाज के प्रत्येक स्तर का चित्रण मिलता है। नवाबों से लेकर रंडियो तक के जीवन का सही चित्रण इनके उपन्यासों से प्राप्त होते हैं। मुशायरों से लेकर मेले-ठेलों का वर्णन भी इन उपन्यासों में आते हैं। प्राकृतिक दृश्य वर्णन की ओर भी लेखक का रुझान है। कहना न होगा कि इनका प्रभाव किसी लेखक पर अच्छा ही पड़ सकता है। रुसवा के संबंध में यह ठीक लिखा गया है कि उनके

सामने मौलाना शरर और हकीम मुहम्मद अली के उपन्यास अधिक चलते थे, किंतु उनके सामने वे फीके पड़ गये।[५०]

उर्दू उपन्यास क्यों पीछे रह गये ?—ऊपर गिनाये गये उपन्यासकारों के अतिरिक्त राशिदु लखैरी आदि कई प्रसिद्ध उपन्यासकार उर्दू के प्राक्प्रेमचन्द युग में हो गये हैं उनके संबंध में ब्यौरे में जाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रसंग में यह प्रश्न उठे वगैर नहीं रहता कि क्या कारण है कि उर्दू का उपन्यास साहित्य १९वीं सदी के अंत तक बल्कि इस सदी के प्रथम दशक तक हिंदी के उपन्यास साहित्य से श्रेष्ठतर होते हुये भी बाद को वह हिंदी के मुकाबिले में पिछड़ गया। कहना न होगा कि इस प्रश्न का विशद रूप से समाधान करना हमारे दायरे के बाहर है। हम केवल इसके कारण रूप में इतना ही कह कर आगे बढ़ जायेंगे कि जब तक उर्दू केवल मुसलमानों की भाषा नहीं थी, और हिंदुओं में से एक बड़ा तबका उसे अपने भावों के प्रकाश का साधन बनाये हुये था, तब तक उसकी उन्नति होती रही, और खूब उन्नति हुई किंतु जब से वह कुछ मध्यवितवर्ग के मुसलमानों की भाषा के रूप में हो गई (ऐसा क्यों हुआ इसके कारण में हमें यहाँ नहीं जाना है), तब से उसकी उन्नति मंथर हो गई। इस प्रकार दायरे के छोटे हो जाने से उसकी उन्नति में बाधा पहुँचना तो स्वाभाविक था, किंतु इसके अलावा भी मुसलमानों की कट्टरता, दूसरे शब्दों में उनका पिछड़ापन उर्दू की उन्नति में बाधक हुआ। जब तक बिल्कुल आजादी के साथ सोचना स्वाभाविक न हो जाय, तब तक उपन्यास साहित्य की उन्नति भला कैसे हो सकती थी? उर्दू ने कविता में बहुत उन्नति की, इसका कारण यह है कि कविता के रूप में उर्दू में कुछ भी कहना यहाँ तक कि निरीश्वरवाद में आस्था प्रगट करना, रसूल

[५०] ता० अ० उ० पृ० ३९०

और कुरान में संदेह व्यक्त करना जायज था। उर्दू के गद्य में इस प्रकार की आजादी लेखक नहीं ले सकता था। स्वाभाविक रूप से ऐसी हालत में उसमें शरत्, प्रेमचंद आदि का उदय नहीं हो सकता था, और इनका उदय तब तक नहीं होगा जब तक उर्दू वाले अपने को इस प्रकार की कट्टरता से मुक्त न कर लें। धुर्जटी मुकर्जी ने लिखा है कि 'मुस्लिम पारिवारिक जीवन में हिन्दू पारिवारिक जीवन के मुकाबिले में[५१] विचित्रता तथा नाटकीय घटनायें कम हैं, मुस्लिम पारिवारिक जीवन भयंकर रूप से इकरस होता है' इसीलिए मुस्लिम उपन्यासकार कम हुये। मुस्लिम परिवार में नाटकीय घटनायें बहुत कम हैं, ऐसा तो नहीं ज्ञात होता, उनमें भी प्रेम-लीलायें होती हैं, किंतु वे इस प्रकार की होती हैं जिनसे उपन्यास अपना उपकरण ग्रहण नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ यदि अगम्य गमन या इस तरह की बातें होती हैं, तो वे उपन्यास का विषयीभूत नहीं, अपराध विज्ञान या मनोरम चिकित्सा विज्ञान के विषय हो सकते हैं। हमारे कहने का मतलब हरगिज यह नहीं है कि मुसलमानों में हिंदुओं से अधिक इस प्रकार की घटनायें होती हैं, किन्तु हमारे कहने का मतलब यह है कि 'मुसलमानों में यदि घटनायें होती हैं, तो इसी प्रकार की होती हैं। परदे की कड़ाई के कारण चरित्र-हीन, गोरा आदि की मुसलमानों में घटित होना सम्भव नहीं। परदे की कड़ाई के घटने के साथ-साथ इस सम्बन्ध में मुसलमानों में उन्नति होगी। स्मरण रहे यहाँ पर हमने ऐसा लिखा है मानों उपन्यास का उपजीव्य केवल प्रेम और आनुसंगिक बातें ही हो सकती हैं, ऐसा हमने इस बात को दृष्टि में रख कर लिया है कि बुर्जुआ उपन्यास का प्रधान उपजीव्य यही है। उर्दू में उपन्यास की उन्नति नहीं हुई। इससे हमारा मतलब यही था कि जैसे और सब भाषाओं में उपन्यास की

[५१] M. I. C. p. 172

उन्नति हुई, वैसे इसमें नहीं हुई। Proletarian या समाजवादी उपन्यासों का प्रश्न इस सम्बन्ध में नहीं उठता। यह सोचने की बात है कि प्रेमचन्दजी ने जो उर्दू को छोड़ कर मुख्य रूप से हिन्दी को अपने साहित्य का वाहन बनाया, इसमें कहाँ तक इस भावना का भी स्थान था कि उर्दू में वे एक हद तक ही स्वतंत्र विचार व्यक्त करते हुये भी जनप्रिय रह सकते थे। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्दजी को जिस प्रकार की देशभक्ति विशेषकर जिस प्रकार के सामाजिक राजनैतिक दर्शन को लेकर चलना था, उर्दू वालों में उसकी क़द्र कहाँ तक होती, इसमें भी सन्देह था। यद्यपि हमने पहले यह लिखा है कि अधिकतर पारिश्रमिक के ही कारण प्रेमचन्दजी उर्दू छोड़ कर हिन्दी की ओर झुके, फिर भी ऊपर जो कारण गिनाये गये उनका भी इस प्रकार के निर्णय में बहुत बड़ा हाथ रहा होगा। ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा। प्रत्येक लेखक चाहे वह कितना ही निस्पृह हो, वह यह चाहता है कि जनता में उसकी रचना (प्रत्येक लेखक की जनता उसके विषय तथा दार्शनिक धारणा के अनुसार अलग-अलग होती है) की कद्र हो, अधिक पुरस्कार पाने की प्रवृत्ति से शायद यह प्रवृत्ति कहीं प्रवलतर होती है।

सबसे लेने पर भी प्रेमचन्द स्वतंत्र कलाकार—हमने यह तो पहले ही दिखला दिया कि कहानी लिखने की प्रेरणा प्रेमचन्दजी ने कहाँ से ली। इस प्रकार हम हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के उपन्यास साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुये यह दिखा चुके कि प्रेमचन्द की कला के विकास पर क्या असर पड़ा होगा। फिर भी यह स्मरण रहे कि कोई भी अच्छा लेखक चाहे अपने पूर्ववर्तियों से कितना भी अधिक ले, वह अपने लिए सम्पूर्ण रूप से स्वतंत्रमार्ग निर्माण की चेष्टा करता है। शेक्सपियर को ही लिया जाय, उनकी कला के उत्स स्थल के सम्बन्ध में बहुत अधिक आलोचनायें हुई हैं, उन्होंने अपने कथानक

कहीं से लिये, उनकी एक-एक वाक्य में किस पूर्ववर्ती लेखक की रचना की झलक है, आदि बातों के ऊपर पूरी खोज हो चुकी है। फिर भी कोई शेक्सपियर को साहित्यिक चोर नहीं कहता, क्योंकि उन्होंने यदि अपने पूर्ववर्तियों से कुछ लिया भी तो उसे अपनी प्रतिभा की स्पर्शमणि से इस प्रकार परिवर्तित कर दिया कि उसमें पहले के लेखक की कोई छाया ही नहीं रह गयी। प्रेमचन्द ने अवश्य ही उर्दू उपन्यासकारों से बहुत कुछ लिया, उनके प्रारम्भिक युग की रचनाओं पर सरशार का प्रभाव बहुत स्पष्ट है, किन्तु वे जल्द ही अपने पूर्ववर्तियों के प्रभाव से मुक्त हो गये, और अपनी प्रौढ़ रचनाओं में उन्होंने एक नई शैली का सूत्रपात्र किया। इसी प्रकार प्रेमचन्दजी ने बँगला और यूरोपीय साहित्यों से भी बहुत कुछ लिया (जिस प्रकार शेक्सपियर के सम्बन्ध में यह खोज की गयी है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों से क्या-क्या लिया, उसी प्रकार प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में भी हिन्दी के विद्वानों को खोज करनी चाहिये), उन्होंने अनातोल फ्रांस तथा गैल्सवर्दी की एक एक पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में किया, इस बात को इस सम्बन्ध में याद करने की जरूरत है; फिर भी एक वस्तुवादी लेखक के नाते उन्होंने सबसे अधिक अपने इर्द-गिर्द के समाज से लिया। उन्होंने अपने पहले के उर्दू, हिन्दी, बँगला, अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय साहित्यों से सीखा, और लिया, किन्तु उन्होंने सबसे अधिक अपनी चारों तरफ के समाज से लिया। अन्तिम प्रकार से लेने में ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। वे अपने युग के बहुत बड़े प्रतीक तथा मुकुट थे, इसी- में उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। प्रकृति से उन्होंने बहुत पैनी दृष्टि पाई थी। इसी पैनी दृष्टि से उन्होंने अपने इर्दगिर्द के जगत् को, उसके अन्दर की गुत्थियों, द्वन्दों तथा संघर्षों को देखा, इसी दर्शन को उन्होंने अपने उपन्यासों में एक कलामय तरीके से पेश कर दिया। इसी बात ने प्रेमचन्द को प्रेमचन्द बनाया, इसी के कारण वे अपने पूर्ववर्तियों

से भाषा, शैली तथा एक हद तक ढाँचा लेते हुये भी वे उन सबसे स्वतंत्र तथा उनसे महत्तर रहे।

इस सम्बन्ध में यह जानना बहुत दिलचस्प होगा कि स्वयं प्रेमचन्द अपने पहले के उर्दू, हिन्दी के लेखकों को किस प्रकार कूतते हैं, तथा उनके मुकाबिले में उनका दृष्टिकोण किस प्रकार भिन्न था। वे लिखते हैं "हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी कर उसमें मनमाना तिलस्म बाँधा करते थे, कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की, और कहीं चन्द्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था, और हमारे अद्भुत रस-प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन, दोनों परस्परविरोधी वस्तुयें समझी जाती थीं। कवियों पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा हुआ था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य का आँखों को। इन्हीं शृंगारिक भावों को प्रकट करने में कविमण्डली अपनी प्रतिभा और कल्पना के चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य में कोई नई शब्द योजना, नई उपमा, उत्प्रेक्षा या नई कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था—चाहे वह वस्तुस्थिति से कितनी ही दूर क्यों न हो। आशियाना, कफ़स, वर्क़, खिरमन की कल्पनायें विरह दशाओं के वर्णन में निराश वेदना की विविध अवस्थायें इस खूबी से दिखाई जाती थीं कि सुनने वाले दिल थाम लेते थे।"

पहले के लेखकों के द्वारा अपनाये हुये व्यक्तिवाद अर्थात् केवल वैयक्तिक अनुभूतिवाद पर अवलम्बित साहित्य के सम्बन्ध में भी उनके मनोभाव क्या थे, यह भी हम उन्हीं की भाषा में जानते हैं। उनका कहना था, "शृंगारिक मनोभाव मानव जीवन का एक अंग मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसीसे सम्बन्ध रखता हो, वह उस

जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता, न उसकी सुरुचि का प्रमाण हो सकता।" मध्य युग में शृंगार भाव प्रधान साहित्य की क्यों सृष्टि हुई, इसको भी वे समझते थे। वे लिखते हैं 'कवियों के लिए उनकी रचना ही जीविका का साधन थी। और कविता की कदरदानी रईसों और अमीरों के सिवाय कौन कर सकता है। हमारे कवियों को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सचाइयों से प्रभावित होने के या तो अवसर ही न थे, या हर छोटे-बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था। हम इसका दोष उस समय के साहित्यकारों पर ही नहीं रख सकते। साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं। ऐसे पतन के काल में लोग या तो आशिकी करते हैं या अध्यात्म या वैराग्य में मन रमाते हैं। जब साहित्य पर संसार की नश्वरता का रंग चढ़ा हो, और उसका एक शब्द नैराश्य में डूबा, समय की प्रतिकूलता से रोने से भरा हो, और शृंगारिक भावों का प्रतिबिम्ब बना हो तो समझ लीजिये कि जाति जड़ता और ह्रास के पंजे में फँस चुकी है, और उसमें उद्योग तथा संघर्ष का बल बाकी नहीं रहा। उसने ऊँचे लक्ष्यों की ओर से आँखे बन्द कर लीं, और उसमें से दुनिया को देखने समझने की शक्ति लुप्त हो गई है।"[५२]

अच्छे से अच्छा अतिआधुनिक समालोचक भी इससे अच्छा क्या लिख सकता है। इसमें केवल एक शब्द 'जाति' को निकाल कर उस जगह पर 'जिस वर्ग का साहित्य है वह' लिख दिया जाय, तो यह सम्पूर्ण रूप से मान्य हो जायेगा। रहा प्रेमचन्द का मतलब वर्ग से ही है, इसमें सन्देह नहीं।

---

[५२] कु० वि० पृ० ८

मनुष्य और लेखक प्रेमचन्द

परिवार और जन्म—प्रेमचन्द का जन्म मध्यवित्त श्रेणी के सबसे गरीब तबके में हुआ था। सच बात तो यह है कि यह उस श्रेणी का वह तबका था, जो नाम मात्र के लिए मध्यवित्त है। इस तबके के सदस्य को हर समय यह भय बना रहता है कि न मालूम वह कब देहाती सर्वहारा के अन्तर्गत हो जाय। प्रेमचन्द के पिता अजायबराय बहुत ही मामूली आदमी थे। उन्होंने बनारस जिले के पांडेपूर मौजे में अपने बड़ों से उत्तराधिकार के रूप में थोड़ी-सी काश्तकारी पाई थी, किन्तु इतनी खेती निर्वाह के लिए काफी नहीं थी, 'काश्तकारी की आमदनी प्रायः नहीं के समान थी', इस कारण वे डाकखाने में नौकरी भी करते थे। श्री रघुपतिसहाय प्रेमचन्दजी के पुराने परिचितों में थे। जिस वातावरण में प्रेमचन्दजी का जन्म हुआ था, उसके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"उनके घर और खान्दान के सम्बन्ध की बातें मध्यमश्रेणी के लोगों की उसी तरह की बातों का नक्शा पेश करती हैं जिस तरह की बातों को अंग्रेजी लेखक जार्ज गिसिंग ने अपने पृष्ठों में अमर कर दिया है।"[1] ऐसे वातावरण में पैदा होने के कारण प्रेमचन्दजी स्वाभाविक रूप से गाँव के सब तबकों के जीवन से पूर्ण रूप से परिचित थे। विशेषकर जिस तबके में वे पैदा हुये थे, उसका चित्रण वे बड़ी सफलता के साथ अपनी पुस्तकों में करते हैं। किसानवर्ग के प्रति तथा उसके दुखदर्दों के प्रति उनके उपन्यासों में जो स्वच्छ और स्वाभाविक सहानुभूति की धारा बहती है, उसके लिए उन्हें कल्पना का आश्रय नहीं

---

[1] ह० प्रे० पृ० ८८४

लेना पड़ा था। यह सब तो उनकी आँखों देखी बात थी। प्रेमचन्दजी के पिता कायस्थ दूसरे श्रीवास्तव थे, इस नाते वे उस वर्ग के थे जो शायद अंग्रेजी शासन के आगमन के पहले से ही इन जिलों के Intelligentsia में शुमार किया जाता था। बारबार प्रेमचन्दजी अपनी पुस्तकों में इस पढ़े-लिखे वर्ग का वर्णन करते हैं, और बड़ी सफलता के साथ करते हैं। 'गबन' नामक उपन्यास में उन्होंने इस वर्ग की कमजोरियों, उसकी समस्याओं, उसके ढोगों तथा ढकोसलों को बहुत सुन्दर रूप से चित्रित किया है।

बचपन—उनकी पत्नी श्रीमती शिवरानी देवी ने उनके जन्म के सम्बन्ध में लिखा है—"आपका जन्म बनारस से चार मील दूर लमही गाँव में सावन बदी १०, सम्बत् १६३७ (३१ जुलाई सन् १८८० ई०) शनिवार को हुआ था। पिता का नाम अजायबराय था। माता का नाम आनन्दीदेवी। आपकी तीन बहनें थीं। उनमें दो तो मर गईं, तीसरी बहुत दिनों तक जीवित रहीं। उस बहिन से आप आठ वर्ष छोटे थे। तीन लड़कियों की पीठ पर होने से आप तेतर कहलाते थे। माता हमेशा की मरीज थी। आपके दो नाम और थे—पिता का रखा नाम मुन्शी धनपतराय, चाचा का रखा हुआ नाम मुन्शी नवाबराय। माता-पिता दोनों को संग्रहणी की बीमारी थी। पैदा होने के दो तीन साल बाद आपको जिला बाँदा जाना पड़ा। आपकी पढ़ाई पाँचवें वर्ष शुरू हुई। पहले मौलवी साहेब से उर्दू पढ़ते थे। उन मौलवी साहेब के दरवाजे पर वे सब लड़कों के साथ पढ़ने जाते थे।"[२]

भाषा दृष्टि से दो पीढ़ियों के बीच उनका लालन-पालन—१८८५ में प्रेमचन्द का उर्दू पढ़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, उस जमाने में सभी पढ़े-लिखे वर्ग के हिन्दू, विशेषकर कायस्थगण उर्दू,

---

[२] प्रे० घ० पृ० १

फारसी, अरबी आदि पढ़ते थे। सच बात तो यह है कि १६१० तक यहाँ के कायस्थों में शिक्षा का अर्थ ही उर्दू, फारसी आदि में शिक्षा प्राप्त करना था। बहुत मुश्किलों से यह धारा बाद को बदली है। हम केवल एक तथ्य का वर्णन कर रहे हैं, यह अच्छा हुआ या बुरा इससे हमें यहाँ कोई सरोकार नहीं। अब भी कायस्थों में जो पुरानी पीढ़ियों के लोग हैं वे उर्दू-फारसी आदि के अच्छे विद्वान होते हैं। नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी में विचारगत रूप से अन्य भेदों के साथ-साथ कायस्थों में यह भी एक बहुत बड़ा भेद हो गया है, पुरानी पीढ़ी वाले नई पीढ़ी वालों को अशिक्षित और अमार्जित रुचि समझते हैं, और नई पीढ़ी वाले पुरानी पीढ़ी के उर्दू-फारसी दाँ बुजुर्गों को old fool समझते हैं। प्रेमचन्द को हम इन दोनों पीढ़ियों को देख सकते हैं। प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता का यह भी एक प्रमाण है कि सम्पूर्ण रूप से उर्दू-फारसी की आबोहवा में पले होने पर भी बाद को उन्होंने उसी वाहन को अपनाया, जो उन्हें अपने विचारों के लिए सबसे अच्छा वाहन ज्ञात हुआ।

गरीबी में पले—श्रीमती शिवरानी देवी ने लिखा है कि प्रमचंद-जी लड़कपन में पढ़ने में बहुत तेज थे। उनके पिता की आमदनी बहुत थोड़ी थी, इसलिए उनका बचपन बहुत गरीबी में कटा। वे स्वयं अपने विषय में लिखते हैं "अँधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिन तक पहना है। जब तक मेरे पिता जी जीवित रहे, तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज्यादा का जूता कभी नहीं खरीदा, और न चार आने से ज्यादा गज का कपड़ा कभी मेरे लिए खरीदा गया। मैं सम्मिलित परिवार में था, इसलिए मैं अपने को अलग नहीं समझता था। मैं अपने चचेरे भाइयों को मिलाकर पाँच भाई था। जब मुझसे कोई पूछता तो मैं यही बतलाता कि हम पाँच भाई हैं।" इन चचेरे भाइयों के साथ वे भाई की तरह रहते थे। एक बार की

घटना है कि उनके "चाचा ने सन बेचा और उसके रुपये लाकर उन्होंने ताक पर रख दिये। आपने अपने चचेरे भाई से सलाह की जो उम्र में आप से बड़े थे। दोनों ने मिलकर रुपये ले लिये। आप रुपये उठा तो लाये, मगर उन्हें खर्च करना नहीं आता था। चचेरे भाई ने उस रुपये को भुनाकर बारह आने मौलबी साहेब की फीस दी, और बाकी चार आनों में से अमरूद और रेवड़ी वगैरह लेकर दोनों भाइयों ने खाई। चाचा साहेब ढूढ़ते हुये वहाँ पहुँचे, और बोले—'तुम लोग रुपया चुरा लाये हो?' आपके चचेरे भाई ने कहा—'हाँ एक रुपया भैया लाये हैं।' चाचा साहेब गरजे—'वह रुपया कहाँ है?'

—'मौलवी साहेब को फीस दे दी।'

चाचा साहेब दोनो लड़कों को लेकर मौलवी साहेब के पास पहुँचे और बोले—इन लड़कों ने आपको पैसे दिये हैं?

—'हाँ बारह आने दिये हैं।'

—'उन्हें मुझे दीजिये'। चाचा साहेब ने उनसे फिर पूछा—'चार आने कहाँ हैं?'

—'उसका अमरूद लिया।'

इस घटना का उल्लेख करते हुये एक दिन प्रेमचन्दजी ने श्रीमती शिवरानी देवी को यों कहा था—'चाचा अपने लड़कों को पीटते हुये घर लाये। मेरी शक्ल अजीब हो गई थी। मैं डरता घर आया। माँ एक लड़के को पिटता देख कर मुझे भी पीटने लगी। चाची ने दौड़ कर मुझे छुड़ाया। मुझे ही क्यों छुड़ाया, अपने बच्चे को क्यों नहीं छुड़ाया, मैं नहीं जान सका। शायद मेरी दुर्बलता पर उन्हें दया आ गई हो।'[3]

---

[3] प्रे० घ० पृ० २

जीवन पर आधारित कहानी—प्रेमचन्दजी ने अपनी एक कहानी में इस पूरे किस्से को करीब-करीब ज्यों का त्यों दिखलाया है।

मातृ-वियोग गरीबी—आगे की कहानी स्वयं प्रेमचन्द के शब्दों में ही सुना जाय—"जब मैं आठ साल का था, तभी मेरी माँ बीमार पड़ी। छः महीने तक वे बीमार रहीं। मैं उनके सिरहाने बैठा पंखा झला करता था। मेरे चचेरे भाई जो मुझसे बड़े थे, दवा के प्रबन्ध में रहते थे। मेरी बहिन ससुराल में थी। उनका गौना हो गया था। माँ के सिरहाने एक बोतल शक्कर से भरी रहती थी। माँ के सो जाने पर मैं उसे खा लेता था। माँ के मरने के आठ-दस दिन पहले मेरी बहिन आई। घर से मेरी दादी भी आईं। जब मेरी माँ मरने लगीं, तो मेरा मेरी बहिन का तथा बड़े भाई का हाथ मेरे पिता के हाथ में देकर बोलीं—ये तीनों बच्चे तुम्हारे हैं। बहिन, पिता तथा बड़े भाई सब रो रहे थे, पर मैं कुछ भी नहीं समझ रहा था। माँ के मरने के कुछ दिन बाद बहिन अपने घर चली गई। दादी, भैया और पिताजी रह गये। दो-तीन दिन बाद दादी भी बीमार होकर लमही चली आईं मैं और भैया रह गये। भैया दूध में शक्कर डाल कर मुझे खूब पिलाते थे, पर माँ का वह प्यार कहाँ? मैं एकांत में बैठ कर खूब रोता था। पाँच-छः महीनों के बाद मेरे पिता भी बीमार पड़े। वे लमही आये। मैं भी आया। मेरा काम मौलवी साहेब के यहाँ पढ़ना, गुल्ली-डंडा खेलना, ईख तोड़ कर चूसना और मटर की फली तोड़ कर खाना—चलने लगा।"

इसके अतिरिक्त भी उन्होंने अपने इस समय के जीवन के ब्यौरे लिखे हैं, किन्तु उनमें कोई विशेषता न होने के कारण हम उसे उद्धृत नहीं करेंगे। कैसे जब अजायबरायजी अपनी बेटी के यहाँ जाते तो अपने साथ प्रेमचंदजी को ले जाते, कैसे वे अपनी दादी से कहानियाँ सुनते, कैसे दादी और उनके भैया में कभी-कभी झगड़े हो जाते—ये

सब बातें कोई महत्व की नहीं हैं। इसके बाद अजायबराय की बदली जीमनपुर हुई। वहाँ उनके साथ प्रेमचंद तथा उनकी दादी गईं। प्रमचंद के भैया इन्दौर गये। इसके बाद दादी का देहान्त हुआ। इस समय वे किस प्रकार के वातावरण में पल रहे थे, उसका वर्णन उनके ही शब्दों में यों है—

"पिताजी ने जो मकान ले रखा था, उसका किराया डेढ़ रुपया था। निहायत गंदा मकान था। उसीके दरवाजे पर एक कोठरी थी, वही मुझे सोने के लिए मिली। मैं विनोद के लिए एक तम्बाकूवाले के मकान में चला जाया करता था। मेरी उम्र उस समय बारह वर्ष की थी।"

भविष्य जीवन की तैयारी—इसी युग में वे अपने भविष्य जीवन की मानो तैयारी कर रहे थे। वे हाई स्कूल में भर्ती हो चुके थे, किन्तु उनकी असली शिक्षा कहीं और हो रही थी। श्री रघुपतिसहाय इस युग के संस्मरण लिखते हुये यों लिखते हैं—"प्रेमचंदजी ने मुझे बतलाया था कि लड़कपन में उनकी दोस्ती अपने दर्जे के ऐसे लड़के से हो गई थी जो एक तम्बाकू बेचने वाले का बेटा था। नित्य वे अपने अल्पवयस्क मित्र के साथ स्कूल के बाद उसके मकान पर जाते थे, और वहाँ तम्बाकू के बड़े-बड़े काले पिन्डों के पीछे वह और उनके मित्र बैठ कर बराबर हुक्का पीते थे, और 'तिलस्म होशरुबा' पढ़ते थे, यह कभी न समाप्त होनेवाली एक लम्बी कहानी है। जो अपनी विशालता, विशदता और बहुविध कथानकों के विचार से यूरोप के मध्य युग की आध्यात्मिक कहानियों के बहुत पीछे छोड़ देती है। उसकी लम्बाई का यह हाल है कि यदि वे सब लिखी जायँ तो एन्साइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका के बराबर हो जायेगा। खैर वहीं प्रेमचन्दजी अपने अल्प-वयस्क मित्रों के साथ बैठ कर तिलस्म होशरुबा के किस्से सुनते थे। इसीमें जब संध्या हो जाती थी, तब वह अपने घर चले जाते थे।

यह क्रम प्राय: एक वर्ष तक चलता रहा। लेकिन इसी बीच में प्रेमचंद जी सदा के लिए कहानियों में डूब गये। वास्तव में उन कहानियों को उन्होंने जिस तरह मन लगा कर और शौक से सुना था, उससे उनकी वर्णनशक्ति में धारा प्रवाहिकता और सरसता के गुण आकर सम्मिलित हो गये थे, और उन मनोहर कहानियों की आत्मा उनमें प्रविष्ट हो गई थी।"

लिखने का प्रारम्भ—इसी युग में उन्होंने लिखने का अभ्यास किया। "वहीं मुझे लिखने का भी शौक हुआ था। मैं लिखता और फाड़ता, लिखता और फाड़ता। कभी-कभी मेरे पिताजी हुक्का पीते-पीते मेरी कोठरी में भी आ जाते थे। जो कुछ मैं लिख कर रखता, वे देख लेते और पूछते,—'नवाब कुछ लिख रहे हो?' मैं शर्मा कर गड़ जाता। मगर इस विषय में पिताजी को कोई दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि एक तो उन्हें काम के मारे छुट्टी नहीं मिलती थी, दूसरे इस विषय के वे जानकर भी न थे। मैं रात को चाहे जहाँ रहूँ उनसे इससे कोई बहस नहीं। मैं बाहर रहता था, वे अन्दर। शायद पहले के लोग इसे अपनी ड्यूटी नहीं समझते थे।"

जनता से घनिष्टत्व—उर्दू के रोमांसों के अध्ययन के अतिरिक्त वे अन्य तरीकों से भी आम जनता की दिलचस्पियों से अपने को परिचित करते रहते थे। उनकी रचनायें जनता के हर एक तबके को पसन्द हैं, इसका सबसे प्रधान कारण यह है कि वे स्वयं जनता के ही आदमी थे, जनता की दिलचस्पियों में उन्हें दिलचस्पी थी, जनता की समस्याओं के साथ उनका चाक्षुष परिचय था। एक बड़ी हद तक जनता के साथ उनकी तदात्मयता थी।

रामलीला में दिलचस्पी—वे अपने इस युग के संस्मरण लिखते हुये कहते हैं "मेरे पड़ोस में रामलीला होती थी। रामलीला के राम, सीता, लक्ष्मण मुझे बहुत अच्छे लगते थे। मेरे पास उस समय जो भी

चीज रहती, मैं राम के लिए लेकर दौड़ता। पैसे भी जो रहते उन्हीं को दे आता। वे अगर मुझसे बात करते तो मैं सातवें आसमान पर पहुँच जाता। बड़ी खुशी होती थी। मैं भी कैसा भोंदू था। आजकल के बच्चे मुझसे ज्यादा चालाक होते हैं।"

रामलीला कहानी में आपबीती—यह द्रष्टव्य है कि 'रामलीला' नामक अपनी कहानी में वे अपने इसी युग के संस्मरण लिख गये हैं। यों तो वह कहानी कोई विशेष महत्व की नहीं है, किन्तु उनके जीवन से इस कहानी का जो सम्बन्ध स्पष्ट दीख पड़ता है, उसके लिए इस कहानी का महत्व इस दृष्टि से बहुत अधिक हो जाता है। कहानी के प्रारम्भिक कुछ वाक्य तो संस्मरण मात्र हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं। कहानी यों शुरू होती है—

'इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बन्दरों के भद्दे चेहरे लगाये, आधी टाँगों का पायजामा और काला रंग का ऊँचा कुरता पहने आदमियों को दौड़ते, हूँ-हूँ करते देख कर अब हँसी आती है, मजा नहीं आता। काशी की लीला जगतविख्यात है। सुना है लोग दूर-दूर से देखने आते हैं। मैं भी बड़े शौक़ से गया, पर मुझे तो वहाँ की लीला और किसी वज्र देहात की लीला में कोई अन्तर न दिखाई दिया। हाँ, रामनगर की लीला में कुछ साज-सामान अच्छे हैं। राक्षसों और बन्दरों के चेहरे पीतल के हैं, गदायें भी पीतल की हैं। कदाचित् बनवासी भ्राताओं के मुकुट सच्चे काम के हों, लेकिन साज-सामान के सिवाय वहाँ भी वही हूँ-हूँ के सिवाय और कुछ नहीं। फिर भी लाखों आदमियों की भीड़ लगी रहती है। लेकिन एक जमाना वह था जब मुझे भी रामलीला में आनन्द आता था। आनन्द तो बहुत हल्का-सा शब्द है। वह आनन्द उन्माद से कम न था।"

इसके बाद इस कहानी में यह वर्णन किया गया है कि कैसे वे दोपहर से ही जाकर उस घर में बैठ जाते थे, जहाँ लीला-पात्रों का रूप

रंग भरा जाता था। 'एक ही आदमी पात्रों के शृंगार में कुशल था। वही बारी-बारी से तीनों पात्रों का शृंगार करता था। रंग की प्यालियों में पानी लाना, रामरज पीसना, पंखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता तो उस पर रामचन्द्र के पीछे बैठ कर मुझे जो उल्लास, जो गर्व, जो रामाश्च होता था, वह अब लाट साहेब के दरबार में कुर्सी पर बैठकर भी नहीं होता...... रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी। मैं अपने पाठ की चिन्ता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था, जिसमें वे फेल न हो जायँ। मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा में पढ़ते थे।" इत्यादि। पता नहीं इस कहानी में कितने अन्य उपादान हैं, किन्तु ऊपर उद्धृत अंश उनके जीवन का बिल्कुल हूबहू न हो, एक हद तक सही संस्मरण है।

लेखक की रचना से जीवन का सम्बन्ध—बँगला के उपन्यासकार शरत् बाबू की रचनाओं के सम्बन्ध में इस प्रकार की खोज लेखकों ने की है कि किस हद तक कौन-सा उपन्यास उनकी आपबीती का ही प्रतिफलन है, और उसमें उन्हें बहुत भारी सफलता मिली है। बात यह है वस्तुवादी लेखक केवल कल्पना को उपजीव्य बना कर नहीं चल सकता, उसे जीवन के साथ अपना संस्पर्श बनाये रखने के लिए अपने इर्दगिर्द की दुनिया से अनुप्रेरणा और कथानक लेना पड़ता है। जब जीवन से ही लेना है तो अपने जीवन से बढ़ कर और कौन-सा उत्स हो सकता है, क्योंकि अपने जीवन को जानने का जितना मौका लेखक को है, उसके आन्तरिक सोतों से उसे जितना परिचय हो सकता है, उतना और वह किसके जीवन को जान सकता है। कहीं हमें गलत न समझा जाय इसलिए हम यह स्पष्ट कर दें कि हम यहाँ पर आपबीती शब्द का प्रयोग केवल आत्मानुभूति के अर्थ में नहीं कर रहे हैं, बल्कि आपबीती में उन

सब घटनाओं, सम्वेदनों, संघर्षों, संग्रामों तथा घात-प्रतिघातों को लेते हैं जिनको लेखक ने अपनी आँख से दूसरे व्यक्तियों में, वर्गों में तथा समाज में देखा है। दुख है कि इस दृष्टिकोण से हमने जब प्रेमचन्द की रचनाओं की जाँच की, तो हमें बहुत कम तथ्य ज्ञात हुये। हम उनकी रचनाओं की बहुत थोड़ी बातों को उनके जीवन से सम्बद्ध कर पाये। बात यह है भारतवर्ष में जीवनी लिखने का जो तरीका है, उसमें हमें उस व्यक्ति के जीवन के अन्तद्वंन्दों से परिचय नहीं होता, न हम उसके गुप्त जीवन को ही जान पाते हैं, फिर कैसे लेखक के साथ रचना के सम्बन्ध का उद्घाटन किया जाय। यहाँ तो जीवनी लिखने में बल्कि लेखक यही कोशिश करता है कि अपने वीर को एक आदर्श रूप में दिखलावें। श्रीमती शिवरानी देवी ने प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में जो संस्मरण लिखा है, उनमें स्पष्टवादिता का कोई अभाव नहीं है, और न प्रेमचन्द को आदर्श बना कर दिखाने की चेष्टा की गई है, उन्होंने इस सम्बन्ध में बहुत सही दिशा में अपनी लेखनी का प्रयोग किया है, किन्तु उनके सामने यह दृष्टिकोण ही नहीं था कि उनकी कहानियों और उपन्यासों को उनके जीवन अर्थात् जीवन और निरीक्षण से सम्बद्ध किया जाय, नहीं तो कदाचित् वे इस सम्बन्ध में हिन्दी जगत को बहुत बहुमूल्य चीजें दे सकतीं।

बराबर गरीबी—गरीबी ने प्रेमचन्द का कभी पीछा नहीं छोड़ा। वे स्वयं लिखते हैं—"पैसों की दिक्कत तो मुझे हमेशा रहती थी। बारह आने महीने में फीस लगती थी। उस बारह आनों में से मैं एकाध आने हर महीने खा जाता था। जिस मुहल्ले में मैं था, उसमें छोटी जाति के लोग थे। वे लोग मुझसे लेकर दो-चार पैसे खा लेते थे, इसलिए फीस देने में बड़ी दिक्कत होती थी। घर में माँ तो थी नहीं, चाची से ही माँगता।"

सौतेली माँ—प्रेमचन्द के पिता ने अपनी पहली स्त्री की मृत्यु के

बाद दूसरी शादी कर ली थी। ऐसा ज्ञात होता है कि उनके साथ सौतेली माँ का व्यवहार अच्छा नहीं रहा। वे जब घर में आईं तो उनके साथ उनके भाई विजय बहादुर भी आये। वह आते ही घर की मालकिन बन गईं। वह विजय बहादुर को अधिक मानती थी, और प्रेमचन्दजी को कम। "पिताजी डाकखाने से जो भी चीज खाने के लिए लाते, चाची की इच्छा रहती कि वे उन्हें खुद खायँ। वे उनकी लाई हुई चीजों को पिता के सामने रखतीं तो पिताजी बोलते 'मैं ये चीजें बच्चों के लिए लाता हूँ।' जब चाची न मानती तो पिताजी झल्ला कर बाहर चले जाते।"

जब मैं फीस के पैसे चाची से माँगता, तो 'वे बुरी तरह झल्लातीं। पिता से कहने की हिम्मत न थी। इसलिए अपनी माता की याद मुझे बार-बार सताती थी। सच कहता हूँ झूठ बोलना भी एक फन है। सच कहने के ही कारण मैं मारा जाता।' इसके अतिरिक्त इस चाची में और भी दुर्गुण थे। वे इस बात का कोई भी ख्याल नहीं रखतीं कि प्रेमचन्दजी उनके पुत्र नहीं तो पुत्र स्थानीय हैं, इसलिए उनके सामने दूसरों से हँसी-मजाक दायरे के अन्दर ही करना चाहिये, किन्तु वे इसका कोई ख्याल नहीं रखती थीं। यहाँ पर हम इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे कि कहाँ तक बच्चों के सामने 'निशिद्ध' विषयों में बातचीत करनी चाहिये। हमने अन्यत्र इस विषय पर बहुत विस्तार के साथ लिखा है। यहाँ तो हम केवल इतना ही देखेंगे कि उनकी चाची जो इस तरह की हँसी-मजाक किया करती थीं, वह किसी मानसिक उदारता के कारण नहीं, बल्कि सुरुचि के अभाव के कारण करती थीं, इसके अतिरिक्त हम यह भी देखेंगे कि शिशु प्रेमचन्द इसे किस तरीके से लेते थे। उनके ही शब्दों में सुनिये—"जिस घर में मैं था वह एक अहिरिन का था। वह विधवा थी। उनमें और मेरी चाची में काफी हँसी-मजाक होता था। मैं भी सुनता। मुझे उनके हँसी-मजाक में मजा आता।

मुझे तेरह साल में ही उन बातों का ज्ञान हो गया था, जो कि बच्चों के लिए घातक हैं।' अक्सर ऐसा देखा गया है कि प्रतिभा के वरपुत्र-गण Sexually precocious अर्थात् यौन मामलों में अकाल परिपक्क हो जाते हैं, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि प्रेमचन्द जी कम उम्र में ही सेक्स के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। हमें यहाँ दार्शनिक तर्कों में नहीं पड़ना है, किन्तु यह जो प्रेमचन्द ने लिख दिया कि यह ज्ञान बच्चों के लिए घातक होता है, इससे हम सहमत नहीं हो सकते। स्वयं प्रेमचन्दजी का जीवन हमारे सन्मुख है, वे बहुत कम उम्र में इन 'घातक' विषयों में ज्ञान प्राप्त कर चुके थे, किंतु इसका क्या दुष्परिणाम हुआ? हमारे सामने श्रीमती शिवरानी देवी लिखित उनका जीवन-चरित्र मौजूद है, उनमें हम कोई ऐसी विपरीतता नहीं पाते जो प्रेमचन्दजी जिस वर्ग के सदस्य थे, उस वर्ग के आम सदस्यों से किसी भी अर्थ में गई-बीती हो।

'सौतेली माँ' कहानी—प्रेमचन्दजी की सौतेली माँ उनकी मृत्यु के बाद भी जीवित रहीं। उनके एक सौतेले भाई भी थे, वे भी उनकी मृत्यु के बाद जीवित रहे। सौतेली माँ तथा भाई के सम्बन्ध में उनके तजुर्बे बहुत ही बुरे रहे। 'प्रेमचन्दजी ने अपनी एक कहानी में बहुत ही प्रभावशाली और जहर में बुझे हुये नश्तर की तरह शब्दों में अपने जीवन के उन दिनों की ओर संकेत किया है जो उन्होंने अपने पिता और सौतेली माता के साथ बिताये थे।......उस कहानी का शीर्षक 'सौतेली माँ' है। उसकी बारीकी और महत्व में निःशब्द परन्तु कटु भावनायें भी हैं, लेकिन फिर भी उससे कहीं बेमजा और ओछी भावनाओं का नाम भी नहीं है, लेकिन फिर भी उसे पढ़ कर आप अपने आँसू नहीं रोक सकेंगे।'[४] इस प्रकार सौतेली

---

[४] रघुपति सहाय—प्रेमचन्द अंक ८८५

माँ नामक कहानी में हम लेखक के ही संस्मरण का एक परिष्कृत रूप पाते हैं।

कजाकी कौन था ?—अजायबराय का तबादला जमनिया हुआ। प्रेमचन्द भी साथ गये। वे लिखते हैं 'वहाँ जो हरकरा था, वह मुझे बहुत प्यार करता था। वह मुझे कन्धे पर लेकर दौड़ता। मैं उसके आने की राह देखा करता। वह बाहर से ईख, अमरूद, गाजर मेरे लिए लाता। इसीसे वह मुझे बहुत प्रिय था। एक दफा पिताजी ने उसे निकाल दिया। जब वह दूसरे दिन नहीं आया, तब मैंने चाची से पूछा—आज कजाकी क्यों नहीं आया चाची ?'

'मुझे क्या मालूम क्यों नहीं आया।'

'खैर मैं खामोश था, अन्दर से मेरा जी कुरेद रहा था। जब पिताजी रात को आये तो डरते-डरते मैंने पूछा—बाबू जी कजाकी कहाँ गया ?'

—'पाजी निकाल दिया गया।'

मैंने डरते-डरते कहा—'बाबूजी आदमी बड़ा अच्छा है।'

पिता—'गधा था।'

मैं खामोश। रात भर मुझे नींद नहीं आई। मैं सोचता बेचारा कितना भला आदमी है। मैं बड़ा होने पर ऐसे आदमी को हमेशा अपने पास रखूँगा। मैं सुबह उसके यहाँ दौड़ा गया, और बुला लाया। चुपके से भन्डारे में जाकर आटा, दाल, चावल निकाल लाया। उस साल मैं आठवीं में पढ़ता था। चाची ने भी उसे रखने के लिए सिफारिश की और मेरे हाथ से सब सामान लेकर थोड़ा-थोड़ा देने को कहा।

'कजाकी' कहानी—प्रेमचन्द ने तो इसी कजाकी पर एक कहानी ही लिख डाली, और उस कहानी का नाम भी कजाकी ही रखा। उसमें वे लिखते हैं—

"मेरी बालस्मृतियों में कजाकी एक न मिटने वाला व्यक्ति है। आज चालीस वर्ष गुजर गये, लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आंखों के सामने नाच रही है......कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही जिन्दादिल। वह रोज शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात भर रहता, और सबेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। मैं दिन भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता, ज्योंही चार बजते, व्याकुल होकर सड़क पर आकर खड़ा हो जाता, और थोड़ी देर में कजाकी कन्धे पर बल्लम रखे उसकी झुनझुनी बजाता, दूर से आता हुआ दिखलाई देता...मुझे देखकर वह और तेज दौड़ने लगता, उसकी झुनझुनी और जोर से बजने लगती, और मेरे हृदय में और ज़ोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता, और एक क्षण में कजाकी का कन्धा मेरा सिंहासन बन जाता, वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था।......संसार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता, और जब कजाकी मुझे कन्धे पर लेकर दौड़ने लगता तब तो ऐसा मालूम होता मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ। कजाकी डाकखाने में पहुँचता तो पसीने से तर रहता, लेकिन आराम करने की आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता, और कभी कहानियाँ सुनाता, उसे चोरी और डाके, मार-पीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं, मैं इन कहानियों को सुन कर विस्मयपूर्ण आनन्द में मग्न हो जाता। उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूट कर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे, मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।"

कजाकी के निकाल दिये जाने की बात भी इस कहानी में है।

इस कहानी में यह है कि 'कजाकी उसी वक्त मेरे देखते-देखते निकाल दिया गया। उसका बल्लम, चपरास और साफा छीन लिया गया, और उसे डाकखाने से निकल जाने का नादिरी हुक्म सुना दिया गया। आह ! उस वक्त मेरा ऐसा जी चाहता था कि मेरे पास सोने की लंका होती तो कजाकी को दे देता, और बाबूजी को दिखा देता कि आप के निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ।' हम इस कहानी के ब्यौरे में नहीं जायेंगे, यह एक औसत दर्जे की कहानी है। हमारे पास इस बात के लिए कोई मसाला नहीं है कि हम यह निश्चितरूप से बता सकें कि इस कहानी में जो हिरनवाली घटना है, वह कहाँ तक काल्पनिक है, और कहाँ तक सही है, सही है अथवा नहीं। हमारा यह अनुमान है कि जिस प्रकार से कजाकी नामक कहानी उनके जीवन के तथ्यों से ओत-प्रोत है, बल्कि एक तरह से संस्मरणमूलक है, उस तरीके से बहुत-सी कहानियाँ उनके जीवन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होंगी।

दाल में घी नहीं—प्रेमचन्द के बचपन की कहानी उनके परिवार की गरीबी की कहानी है। आव बहुत थोड़ी थी। स्वाभाविकरूप से शिशु प्रेमचन्द को घी-दूध खाने को नहीं मिलता था। एक रोज उनके पिता के दोस्त बड़े बाबू ने उन्हें बुलाया। वे गये, तो उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुये कहा—तू दुबला क्यों हो गया है, क्या दूध-घी तुम्हें नहीं मिलता ? इत्यादि। बड़े बाबू ने शायद इस बात का जिक्र उनके पिता से कर दिया, पिता ने शायद यह बात प्रेमचन्द की सौतेली माँ से कही। दूसरे रोज प्रेमचन्द क्या देखते हैं कि उनकी दाल में कच्चा घी डाल दिया गया है। प्रेमचन्द ने कहा—मेरी दाल में कच्चा घी क्यों डाल दिया ?

'कच्चा नहीं पक्का है।'

प्रेमचन्द ने कहा—'दाल में घी डाला ही क्यों ?'

—'तुम्हीं तो घर-घर रोते हो कि मुझे कुछ नहीं मिलता।'

—'मैंने किससे कहा?'

—'बड़े बाबू से कहा है कि मेरी चाची मुझे घी-दूध नहीं देती। और किससे कहेगा।'

—'मैंने नहीं कहा।'

—'तूने नहीं कहा तो वे वैसे ही शिकायत करते थे? खुद खाता नहीं, मुझे बदनाम करता है।'

—'मैंने कुछ नहीं कहा।'

—'झूठा मक्कार।'

प्रेमचन्द को रोना आ गया।

पाँच रुपये माहवार पर छात्र-जीवन—ऐसा और एक दृश्य लीजिये। एक साल के बाद वे बनारस भेजे गये, उस समय उनकी उम्र पन्द्रह हो चुकी थी। वे नवें में पढ़ते थे। जाते समय अजायबराय ने पूछा—धनपत तुझे कितना खर्च लगेगा?

प्रेमचन्द ने कहा—पाँच रुपया दे दिया जाया करे।

अजायबराय ने समझा सस्ते बला टली। 'और मैं बनारस जब आया तो मालूम हुआ कि दो रुपये तो फीस के ही लग जायेंगे। बाकी बचे तीन रुपये। एक रुपये का दूध। यह सब मिला कर पूरा खर्च नहीं बैठता। मैंने सोचा, प्राइवेट पढ़ूँ। दिन भर शहर में रहता। सुबह चाची गुड़ अपने पास से दे देती थी। दिन भर बनारस में रहता और पढ़ता। घर से किसी तरह के इमदाद मिलने की आशा नहीं थी, क्योंकि गरीबी का घर था। एक कुप्पी के सामने रात को बैठ कर टाट बिछा कर पढ़ता।"

भयंकर गरीबी, शादी के गुड़ खा डाले—'खैर जब इम्तहान करीब आया तो उसी बीच पिताजी ने पाँच रुपये का गुड़ खरीद कर रखने के लिए मेरे पास भेजा था, क्योंकि मेरी शादी होने वाली थी।

मैंने गुड़ तो खरीद लिया, और हमने—याने मैंने, मेरे चचेरे भाई तथा गाँव के कई मित्रों ने उस गुड़ को बारी-बारी से खाना शुरू किया। रोज ही सेर दो सेर गुड़ निकलने लगा। जब मैंने देखा कि गुड़ की सन्दूक भी काफी खाली हो चुकी है, तो मैं सोचता अब इसे न छुऊँगा। मगर गुड़ खाने की ऐसी लत पड़ गयी कि इस प्रतिज्ञा को निभा न पाता था। एक रोज मैंने सन्दूक की चाभी को दरवाजे की दराज में डाल दिया। सोचा कि अब न खाऊँगा। न रहेगी बाँस न बजेगी बाँसुरी। फिर भी जब मंडली इकट्ठी हुई तो मैं गुड़ न खाने की प्रतिज्ञा न रख सका। प्रतिज्ञा तोड़नी ही पड़ी, और दराज में से कुंजी निकाली ही गई, और उसमें से फिर खाना शुरू हुआ। जब वह आधा हो गया तब मैंने उसकी चाभी कुयें में डाल दी। जब पिताजी घर आये और चाची से गुड़ माँगा तो सन्दूक का ताला तोड़ना पड़ा। चाची गुड़ देख कर बहुत झल्लाई।'

गरीबी के चित्रण में सफलता का कारण—इस आत्म-कथा से ज्ञात होता है कि कितनी भयंकर गरीबी थी। एक तो गुड़ का शादी के लिए खरीदा जाना, दूसरा उस पर बार-बार टूटना, यहाँ तक कि अन्त में चाभी को कुँआ में डाल देना—ये सब बातें हमारे सामने गरीबी का एक ऐसा चित्र पेश करती हैं, जो कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। प्रेमचन्द ने सुंदर बैठके में बैठ कर गरीबी की कल्पना नहीं की थी, बल्कि वे वर्षों उसके जुओं के नीचे रगड़ते रहे, वे गरीबी में ही पले, और गरीबी में ही बड़े हुये। उनके उपन्यासों में गरीबी का चित्रण जो इतना सजीव तथा मर्मस्पर्शी हो सका है, उसका कारण केवल उनकी अद्‌भुत कल्पना-शक्ति नहीं, बल्कि उनकी आत्मानुभूति है।

शादी के मंडप के लिए खुद बाँस काटे—जब हम आगे चल कर प्रेमचन्द के विवाह का वर्णन पढ़ते हैं, तो उसमें यह गरीबी और भी स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने लिखा है कि जब उनकी शादी हुई तो वह

बहुत खुश थे, मंडप छाने के लिए बाँस उन्होंने खुद काटे थे। अपनी शादी के मंडप छाने के लिए बाँस उन्होंने चाहे जिस आत्मतृप्ति के रंग में रंग कर पेश किया हो, किन्तु उसका करुण पहलू स्पष्ट है। उनका यह प्रथम विवाह था। उन्होंने स्वयं इसका वर्णन किया है।

प्रथम विवाह, दुलहिन को देख कर निराशा—"मेरा विवाह बस्ती जिले के मेंहदावल तहसील में रामापुर गाँव में ठीक हुआ। वे भी अपने घर के जमींदार थे। कुछ पूरब का रीति-रिवाज ऐसा है कि जब मुझे घर में लोगों ने बुलाया तब सैकड़ों स्त्रियाँ घर में थीं। हँसी-मजाक का बाजार गरम था। पुरुषों के नाते तो मैं ही एक था। मुझे हँसी मजाक अच्छा भी लगता था। सब मुझसे हँसी-मजाक करती थीं, मैं अकेला उनसे परेशान था। खैर किसी तरह उनसे उबरा। फिर मेरी स्त्री की विदाई का समय आया। कई रोज का अरसा हो गया था। ऊँट-गाड़ी से आना पड़ा। जब हम ऊँट-गाड़ी से उतरे तो मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उम्र में वे मुझसे ज्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी, तो मेरा खून सूख गया।" यह विवाह कैसे सुखी होता जब इसका पहला दृश्य ही इस प्रकार बिगड़ गया। वह स्त्री बदसूरत होने के साथ ही साथ जबान की भी मीठी नहीं थी। जब उनकी बारात आई, मुंशी अजायबराय को मालूम हुआ कि पतोहू बहुत बदसूरत है। बेहयाई की हरकत उन्होंने बाहर ही देख ली थी। इस शादी को उनकी सौतेली माँ के पिता ने ठीक किया था। अजायबराय अपनी स्त्री से बोले—'लालाजी ने मेरे लड़के को कुयें में ढकेल दिया, अफसोस मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह स्त्री। मैं तो उसकी दूसरी शादी करता।' सौतेली माँ ने कहा देखा जायेगा। यह शादी किसी तरह निभ भी जाती, किन्तु सौतेली माँ के कारण यह शादी बहुत ही दुखद हो गई। प्रेमचन्दजी के ही शब्दों में सुना

जाय—'चाची मेरी पत्नी पर शासन करती थी। इसकी शिकायत भी चाची एकान्त में मुझसे किया करती थी। वह भी अपनी किस्मत को रोती थी। बीच में मेरी आफत थी। अगर बीच में चाची न होती तो शायद उनकी मेरी जिन्दगी एक साथ बीत भी जाती।' इस प्रकार प्रेमचन्द को अनमेल विवाह का भी तजुर्बा हासिल हो गया।

पितृ-वियोग—इस विवाह के साल भर के अन्दर ही उनके पिता का देहान्त हो गया। उस समय वे नवीं कक्षा के छात्र थे। 'घर में जो कुछ पूँजी थी वह पिताजी के छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में स्वाहा हो चुकी थी।' अब तो सारी गृहस्थी का भार एक तरह से इन पर पड़ा। उधर पढ़ने की भी धुन थी। 'काशी के क्वीन्स कालेज में पढ़ते थे, फीस माफ थी। स्कूल से पढ़ कर बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाते और छः बजे छुट्टी पाकर पाँच मील चल कर देहात तक पहुँचते। पहुँचते-पहुँचते आठ बज जाते। प्रातःकाल आठ ही बजे घर से फिर चलना पड़ता था।'[५]

गरीबी के कारण कोट बेचा—खाने-पीने की बड़ी आफत रहती थी। सभी काम उधार पर चलता था। एक मौके पर उन्होंने अपने गरम कोट को शहर में दो रुपये में बेच दिया। इस कोट को उन्होंने एक साल पहले बड़ी मुश्किलों से बनवाया था। किसी तरह इन्ट्रेन्स पास किया, किन्तु इसके बाद पढ़ने में दिक्कत पड़ी। उन्हीं दिनों हिन्दू कालेज खुला था, उन्होंने उसमें पढ़ने का विचार किया, बहुत कोशिश की कि फीस माफ हो जाय, किन्तु इसमें वे सफल न हुये। बात यह है कि उन्होंने इन्ट्रेंस का इम्तहान सेकन्ड डिवीजन में पास किया था। बहुत से फर्स्ट डिवीजन वाले फीस माफ कराने के उम्मीदार होंगे, उनके मुकाबिले में स्वाभाविक रूप से उनकी अर्जी

---

[५] प्रे० अ० पृ० ७

मंजूर नहीं हुई, उस समय कौन जानता था कि आगे चल कर यही नवयुवक हिन्दी उपन्यास साहित्य में चार चाँद लगा देंगे। जब फीस माफ नहीं हुई, तब भी वे निराश नहीं हुये, और पढ़ाई जारी । ख उनका गणित कमजोर था, इसलिए वे कई बार इन्टर में फेल हुये, यहाँ तक कि उन्होंने अन्त में इम्तहान देना ही छोड़ दिया। बहुत बाद को चल कर उन्होंने इन्टर और बी० ए० किया।

दूसरा विवाह—१६०५ के पहले उन्होंने अपनी पहली स्त्री को त्याग दिया। इसके बाद १६०५ में श्रीमती शिवरानी देवी के साथ इनकी दूसरी शादी हुई। इसके पहले ही उनकी कुछ रचनायें छप चुकी थीं। उनके अपने लिखने के अनुसार उपन्यास तो उन्होंने १६०१ से ही लिखना शुरू किया, उनका एक उपन्यास १६०२ में निकला और दूसरा १६०४ में, किन्तु गल्प १६०७ के पहले उन्होंने नहीं लिखा। श्रीमती शिवरानी देवी के अनुसार जिन दिनों वे इधर-उधर रोटी की तलाश में घूम रहे थे, और इलाहाबाद में थे, उन्हीं दिनों उन्होंने कृष्णा नामक एक छोटा-सा उपन्यास लिखा था, और इन्डियन प्रेस में छपवाया था[६]।

श्रीमती शिवरानी देवी—१६०५ में प्रेमचन्द की दूसरी शादी हुई। इस बार उनकी शादी श्रीमती शिवरानी देवी से हुई। उन्हीं के शब्दों में उनकी कथा यों है—

'मेरी पहली शादी ११ वें साल में हुई थी, वह शादी कब हुई इसकी मुझे खबर नहीं। कब मैं विधवा हुई, इसकी भी मुझे खबर नहीं। विवाह के तीन-चार महीने बाद ही मैं विधवा हुई। इसलिए मुझे विधवा कहना मेरे साथ अन्याय होगा, क्योंकि जो बात मैं जानती ही नहीं, वह मेरे माथे मढ़ना ठीक नहीं।'

---

[६] प्रे० घ० पृ० १२

खोज लिया। रही प्रथम स्त्री की बात, सो उसके लिए वे क्या कर सकते थे ? प्रेमचन्द के उपन्यास जिस प्रकार हमारे सन्मुख हमारे समाज की सैकड़ों समस्याओं को मूर्त करके सामने लाकर रख देते हैं, उसी प्रकार उनके जीवन के इस अंश से भी हमें सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में सचेत हो जाना पड़ता है। प्रेमचन्दजी के लिए यह असम्भव था कि वे तलाक का प्रवर्तन कर इस गड़बड़ी का अन्त करते, अपनी तरफ से उन्होंने तलाक दे ही दिया, इसलिए उन्होंने ऐसी अवस्था में जो उन्हें एक मात्र वैयक्तिक हल मालूम पड़ा, उसे अपनाया। जैसा कि हम देख चुके प्रेमचन्दजी ने जान-बूझ कर इश्तहार पढ़ कर एक बाल-विधवा से विवाह किया, प्रश्न यह उठता है—यद्यपि इस सम्बन्ध में न तो स्वयं प्रेमचन्दजी ने न अन्य किसी जानकार व्यक्ति ने कुछ लिखा है कि उन्होंने यह जो जान-बूझ कर एक विधवा की शादी के इश्तहार के जवाब में अपना नाम पेश कर दिया, इसके पीछे यह विचार कहाँ तक था कि नाम मात्र के लिए मेरी एक शादी पहले हो चुकी है, इसलिए मैं ऐसी स्त्री से विवाह करूँ जिसकी मेरी ही तरह नाम मात्र के लिए पहले एक शादी हो चुकी है। यह प्रश्न हमारे मन में इसलिए उठता है कि लोगों के विवेक न मालूम किस-किस तरह से काम करते हैं। वे शायद ऐसा सोचते ही हों कि उनके लिए विधवा विवाह ही उचित है, तो कौन जाने।

इस सम्बन्ध में एक बात और स्मरणीय है, वह यह कि सामाजिक गड़बड़ी के कारण वे प्रथम स्त्री को कानूनी रूप से तलाक न दे पाने पर वे उसके मरने तक बराबर नियमित रूप से उसके पास खर्च के लिए रुपये भेजा करते थे।[*] इधर तो वे ऐसा करते रहे, उधर उन्होंने अपने ससुराल वालों से यहाँ तक कि अपनी स्त्री

---

*प्रे० अ० पृ० ८८६

से यह बात छिपा रखी कि उनकी पहले की बीबी जीवित है। १६१४ में अर्थात विवाह के ६ साल बाद श्रीमती शिवरानी देवी को यह ज्ञात हुआ कि उनकी सौत जीवित है। प्रेमचन्दजी ने इस प्रकार क्यों किया, इसके पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है, जो कुछ भी हो, इससे उनके विवाह की जटिलता बढ़ती है। इस प्रकार उन्होंने इस सम्बन्ध में सामाजिक नियम को बदलने के अतिरिक्त जिस प्रकार भी जितना कर सकते थे, किया था। अवश्य इतना कर लेने पर भी कोई समालोचक यह कह सकता है कि फिर भी ठीक नहीं हुआ, कुछ न कुछ कमी रह गयी, किन्तु जब तक कोई रचनात्मक विकल्प (constructive alternative) न बताया जाय, ऐसी समालोचना का कोई अर्थ नहीं होता। जहाँ पर दोष समाज का है, वहाँ पर खामख्वाह व्यक्ति के माथे पर दोष मढ़ना सही नहीं हो सकता। जो कुछ भी हो इस सम्बन्ध में स्वयं प्रेमचन्द का जीवन एक समस्यामूलक उपन्यास के लिए अच्छा आधार हो सकता है। हाँ, इस सम्बन्ध में हम एक बात तो भूले ही जा रहे थे, जिससे जीवन का यह कथानक और भी जटिल तथा समस्यामूलक हो गया है। करीब-करीब मृत्यु-शय्या पर बैठ कर प्रेमचन्दजी ने अपनी स्त्री से यह स्वीकार किया था कि उन्होंने पहली स्त्री के जीवन-काल में ही एक और स्त्री रख छोड़ा था, और श्रीमती शिवरानी के आने पर भी उस स्त्री से उनका सम्बन्ध था। जटिलता यहीं खतम नहीं होती, बल्कि यह इस बात से और भी बढ़ जाती है कि श्रीमती शिवरानी देवी को यह बात मालूम थी।[८] अब तो यह कथानक इतना जटिल हो गया कि एक परम शक्तिशाली उपन्यासकार ही इन सारी बातों को लेकर भी कथानक का निवाह कर सकता है। हम यहाँ पर प्रेमचन्दजी के जीवन पर फैसला देने के लिए नहीं

---

[८] प्रे० घ० पृ० ३५६

बैठे हैं, हमें केवल इतना ही कहना है कि प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में जिस मध्यवित्तवर्ग के सुख-दुख, सहजोरी, कमजोरी तथा समस्याओं को हम पाते हैं, उन्हीं को हम उनके जीवन में भी प्रतिफलित पाते हैं। वे इसी वर्ग के हिस्सा वजुज थे, वे मुख्यतः इसी वर्ग के सफल उपन्यास-कार हो सके, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है।

डिप्टी इन्सपेक्टरी—फागुन में उनकी दूसरी शादी हुई, और चैत्र में वे सब डिप्टी इन्सपेक्टर हो गये। इन दिनों उनकी दिनचर्या यों थी—'सुबह चार बजे उठते थे। हुक्का पीकर पाखाना जाते, हाथ-मुँह धोते, और जो मिल जाते उसीका नाश्ता करते। चुस्ती के साथ बैठ कर लिखते। कलम मजदूरों के फावड़े की तरह तेजी से चलती थी। उसके बाद पाखाना जाना। फिर खाना खाना। दौरे पर भी साहित्य का काम उन्होंने नहीं छोड़ा।' वे सख्ती से मुआइना नहीं करते थे। मालूम होता है श्रीमती शिवरानी देवी से भी आठ साल तक उनका ढंग से नहीं पटा। शिवरानीजी इसके कारण के रूप में यह लिखती हैं कि 'मुझसे उनसे कोई आठ साल तक नहीं पटी, क्योंकि उनके घर में बम-चख बहुत था। मैं बमचख की आदी न थी। वे चाहते थे कि मैं अपने लिए खुद स्थान तैयार करूँ। उनकी बीबी के नाते घर की मालकिन बन कर बैठूँ, और मैं चाहती थी कि मैं क्यों यह झंझट बरदाश्त करूँ, मैं भी दुनिया को देखना चाहती थी।' इत्यादि।

प्रेमा, सोजे वतन की रचना—जिस साल उनका विवाह हुआ था, उसी साल उनका दूसरा उपन्यास 'प्रेमा' निकला। जिसका आगे चल कर 'विभव' नाम पड़ा। यही उपन्यास उर्दू में 'हमकुर्मा व हम-कब्राब' नाम से प्रकाशित हुआ था। प्रतिज्ञा नामक उपन्यास इसीका परिवर्द्धित संस्करण है। विवाह के एक वर्ष बाद 'सोजे वतन' नाम से उर्दू में उनका एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ। यह संग्रह कानपुर के जमाना प्रेस से प्रकाशित हुआ था। श्रीरघुपतिसहाय के अनुसार 'उन

कहानियों में कोई बात आपत्तिजनक नहीं है। वह बहुत निश्चिन्तता-पूर्वक लड़कों और लड़कियों की पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित की जा सकती है, लेकिन फिर भी तीस वर्ष की दुनिया ही कुछ और थी।' उन दिनों प्रेमचन्दजी सपरिवार महोबा में थे। कलेक्टर ने उनको बुला भेजा। दौरे पर ही थे जबकि उनके पास कलेक्टर का सन्देश पहुँचा। इस सम्बन्ध में श्रीमती शिवरानी देवी का विवरण यों है—

सोजे वतन के कारण आफत—"रातभर बैलगाड़ी पर चलने के बाद आप कुल पहाड़ पहुँचे। आप उसी दिन घर आनेवाले थे। जब दूसरे रोज मेरे पास पहुँचे तो मैंने पूछा—कल आप कहाँ रह गये।

आपने कहा—रहो बताता हूँ। बड़ी परेशानी में पड़ गया था। कल सारी रात चलता रहा।

मैं बोली—अरे, बात क्या है?

आप बोले—सोजे वतन के सिलसिले में सरकार ने मुझे बुलाया था।

मैंने पूछा—आखिर बात क्या थी?

आप बोले—कलेक्टर ने उसी सिलसिले में मुझे बुलाया था। मैं गया तो देखा कलेक्टर की मेज़ पर सोजे वतन की कापी पड़ी थी।

मैंने पूछा—क्या हुआ तब?

आप बोले—कलेक्टर ने पूछा, यह किताब तुम्हारी लिखी है? मैंने कहा हाँ। उसे पढ़ कर मैंने सुनाया भी। सुनने के बाद वह बोला—अगर अंग्रेजी राज में तुम न होते तो आज तुम्हारे दोनों हाथ कटवा लिये गये होते। तुम कहानियों द्वारा विद्रोह फैला रहे हो। तुम्हारे पास जितनी कापियाँ हों, उन्हें मेरे पास भेज दो। आइन्दा फिर कभी लिखने का नाम भी न लेना।

मैंने कहा कि आप किताबें भेज दीजियेगा?

आप बोले—वाह ! अरे यह कहो कि सस्ते छूटे। मेरा ख्याल था कि कोई बड़ी आफत आयेगी।

मैंने कहा—तो फिर लिखना भी अब बन्द ही समझो।

आप बोले—लिखूँगा क्यों नहीं ? उपनाम रखना पड़ेगा। खैर इस वक्त तो बला टली। मगर मैं सोचता हूँ अभी यह और रंग लायेगा।"

सोजे वतन आग को भेंट—कानपुर से जब सोजे वतन का पार्सल आया, उन्होंने एक कापी रख ली, और बाकी मजिस्ट्रेट को भेज दिया गया। इस प्रकार इस पुस्तक की कई सौ कापियाँ अग्नि को अर्पित की गईं। इस प्रकार सरकार ने उनकी रचना का स्वागत किया। यदि वे इन कापियों को भेजने से इन्कार करते, तो उनके लिए एक ही रास्ता था। वह यह था कि सरकारी नौकरी छोड़ देते। उस समय वे इस कदम के लिए तैयार नहीं थे। सच बात तो यह है कि अभी वे लिखने में प्रयोग भर कर रहे थे। उन्होंने अभी कलाकार के रूप में अपनी अमितशक्ति को पहचाना नहीं था। वे अभी प्रेमचन्द ही नहीं हुये थे। अभी वे धनपतराय ही थे।

नौकरी छोड़ दी—इसके बाद भी उन्होंने लिखना जारी रखा। कुछ दिनों में उन्होंने डिप्टी इन्सपेक्टरी की नौकरी पेचिस के कारण छोड़ दी, और फिर बस्ती और बाद में गोरखपुर पहुँचे। वहाँ श्री-महावीरप्रसाद पोद्दार से परिचय हुआ।

शिवरानीजी को ज्ञात हुआ उनकी सौत जीवित है—इन्हीं दिनों पहले-पहल श्रीमती शिवरानी देवी को यह ज्ञात हुआ कि उनकी सौत अभी तक जीवित है। इस पर उन्होंने प्रेमचन्दजी से कहा कि उन्हें यह उम्मीद न थी कि वे उनसे झूठ बोलेंगे। इस पर प्रेमचन्दजी बोले—'जिसको इन्सान समझे कि जीवित है, वही जीवित है, जिसे

समझे मर गया, वह मर गया।' इस पर शिवरानी देवी ने इस पर जोर डाला कि वे अपनी पहली स्त्री को ले आवें।

प्रेमचन्द—मैं तो लेने नहीं जाऊँगा।

शिवरानी—क्यों नहीं जाइयेगा? शादी हुई थी तमाशा नहीं था।

—मैंने शादी नहीं की थी, मेरे बाप ने शादी की थी।

शिवरानी—बाप ने तो अपनी जो शादी की थी, उसे आप गले बाँधे फिर रहे हैं। बाप की शादी की जिम्मेदारी तो आपके सिर है, अपनी नहीं? यह जिम्मेदारी का तुक नहीं।

—चाहे हो या न हो, मैं लाऊँगा नहीं।

शिवरानी—क्या बात है? एक स्त्री का जीवन मिट्टी में मिलाने का आपको क्या हक है?

प्रेमचन्द—हक वगैरह की कोई बात नहीं।

इस प्रकार तर्क-वितर्क के बाद श्रीमती शिवरानी ने 'प्रिय बहिन' करके अपनी सौत को एक खत लिखा, जिसमें उन्हें कहा गया था कि वे आकर यहाँ रहें। चौथे रोज जवाब आया कि जब प्रेमचन्दजी खुद लेने आयेंगे तब वे आयेंगी। न तो प्रेमचन्दजी इसके बाद वहाँ जाने पर राजी हुये, और न वह वहाँ आई। शिवरानी देवी ने लिखा है कि वे बराबर अपनी सौत को खत लिखा करती थीं, और वहाँ से जो उत्तर आया करते थे, उनको प्रेमचन्दजी को दिखला दिया करती थीं।

नौकर के साथ व्यवहार—बस्ती में रहते समय ही उन्होंने प्राइवेट एफ० ए० पास कर लिया। स्कूल में मास्टर थे, किन्तु बराबर अवसर पाने पर नियमित समय में कुछ न कुछ लेख कहानी आदि लिखा करते थे। यों तो गरीबी थी, किन्तु अब उतनी गरीबी नहीं थी। अब उनके यहाँ एक नौकर भी था, किन्तु उनके मिजाज का अजीब हाल था कि वे अपने भरसक उससे कुछ काम न लेते थे। 'नौकर दरवाजे पर बैठा रहता था, लेकिन वे अन्दर आकर पानी पीते थे। धोती भी खुद धो लेते थे,

यद्यपि नौकर खाली ही रहता।' कभी-कभी शिवरानीजी उनके इस व्यवहार पर बिगड़ जातीं और कहती कि नौकर फिर क्यों रक्खा है, किन्तु प्रेमचन्दजी इसके उत्तर में कहते—अपनी जरूरतें खुद पूरी करना आदमी का धर्म है। आज तो नौकर है, हो सकता है कि कभी नौकर न रहे, फिर मैं पाँच रुपये का नौकर तो खुद था। इस पर शिवरानीजी कहती—मैंने तो नहीं देखा। प्रेमचन्दजी इसके उत्तर में कह देते—तुम्हारे न देखने से क्या! मैं तो भुगत चुका हूँ। इसलिए इन्सान को अपनी जरूरत खुद रफा करनी चाहिये।

इन दिनों उनका हाजमा खराब हो गया, इसका इलाज होता रहा, किन्तु कुछ न कुछ खराबी बनी ही रहती। वे बराबर अपनी आमदनी का एक अच्छा हिस्सा विमाता को भेजते रहे, इसमें वे कभी नहीं चूके। जब इनकी स्वयं ही अवस्था अच्छी नहीं थी, तो ऐसी हालत में इस प्रकार नियमपूर्वक विमाता को रुपये भेजते रहना उनकी कर्त्तव्यपरायणता सूचित करता है। इसके बाद वह गोरखपुर गये। बस्ती और गोरखपुर में रहते समय ही उन्होंने 'सेवासदन' (१६१६) लिखा। उनके विचार भी उन दिनों प्रौढ़ता की ओर जा रहे थे।

हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर प्रारम्भ से ही उदार विचार—हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न के विषय में उनके विचार इन दिनों भी बहुत उदार थे, वह इस बात से ज्ञात होता है कि एक बार जब उनकी एक गाय कलेक्टर के बँगले के हाते में पहुँची तो वहाँ कुछ हिन्दू विचार वाले लोग इकत्र हो गये। इसका कारण यह था कि कलेक्टर साहेब ने यह धमकी दी थी कि वे गाय को गोली से मार देंगे। वे शान्ति से लिख रहे थे। जब शिवरानीजी ने उन्हें पता दिया कि यह किस्सा है, तब वे वहाँ भीड़ के पास पहुँचे। भीड़ में अधिकतर लड़के ही थे, ऐसा ज्ञात होता है। उन्होंने उन्हें समझाया तो लड़के बोले—बगैर गाय लिये हम नहीं जायेंगे।

आप बोले—अगर साहेब ने गोली मार दी ?

लड़के—गोली मार देना आसान नहीं है। यहीं खून की नदी बह जायेगी। एक मुसलमान गोली मार देता है तो खून की नदियाँ बहती हैं।

इस पर प्रेमचन्दजी ने जो कहा, वह बहुत मार्के का है। उन्होंने कहा—फौजवाले तो रोज गाय-बछड़े मार-मार कर खाते हैं, तब तुम लोग कहाँ सोते रहते हो ? यह तो गलती है कि मुसलमानों की एक कुर्बानी पर सैकड़ों हिन्दू मुसलमान मरते मारते हैं।[१]

प्रेस की अभिलाषा—एक बार वे १६१३ के लगभग कानपुर के 'प्रताप' कार्यालय में पहुँचे। उन्होंने वहाँ यह देखा कि श्री गणेश-शंकर विद्यार्थी छापेखाने का अधिक से अधिक काम अपने हाथों से करते हैं। जब वे वहाँ से लौटे तो शिवरानीजी से आकर गणेशजी की बहुत तारीफ की। साथ ही उन्होंने यह भी इच्छा जाहिर की कि नौकरी के फंदे से छूट कर कहीं बैठ कर एकान्त में साहित्य सेवा करें। किन्तु मजबूर थे। गोरखपुर में रहते समय उन्हें यह इच्छा हुई कि एक प्रेस खरीदा जाय। एक मारवाड़ी के साथ यह तय हुआ कि यह प्रेस साझे में लिया जाय। मारवाड़ी ने उन्हें कुछ ऐसा झाँसा दिया जिससे प्रेमचन्द नाम मात्र के ही साझेदार होते, और उसकी मिल्कियत मारवाड़ी की होती और आमदनी भी उसी की ही जेब में जाती। शिवरानीजी इस बात को ताड़ गईं और उन्होंने इस सौदे को होने नहीं दिया।

असहयोग में नौकरी छोड़ दी—अन्त में प्रेमचन्दजी ने नौकरी छोड़ दी। उन्होंने यह नौकरी असहयोग के सिलसिले में छोड़ी थी। इसी बीच में उन्होंने बी० ए० पास कर लिया था, बँधी हुई आमदनी

---

[१] प्रे० घ० पृ० ५६

थी, तरक्की की बहुत अधिक आशा थी, ऐसी अवस्था में नौकरी छोड़ना उनके लिए बड़ा भारी त्याग था, इसमें सन्देह नहीं। नौकरी छोड़ने के पहले उन्होंने शिवरानीजी से सलाह की। इस पर शिवरानीजी ने यों लिखा है—'उन दिनों जलियानवाले बाग में जो भीषण नरहत्याकांड हुआ था, उसकी ज्वाला सभी के दिल में होना स्वाभाविक था। वह शायद मेरे भी दिल में रही हो। दूसरे दिन अपनेको उन सभी मुसीबतों को सहने के लिए तैयार कर पाई, जो नौकरी छोड़ने पर आनेवाली थी। दूसरे दिन मैंने उनसे कहा—छोड़ दीजिये नौकरी। पचीस वर्ष की नौकरी छोड़ते हुये तकलीफ तो होगी ही। मगर नहीं। यह जो मुल्क पर अत्याचार हो रहे थे, उनके देखते तो यह शायद नहीं के बराबर थी। जब मैंने उनसे कहा कि छोड़ दीजिये नौकरी, क्योंकि इन अत्याचारों को तो अब सबको मिल कर मिटाना होगा, और यह सरकारी नीति अब सहन-शक्ति के बाहर है, तब आप अपनी स्वाभाविक हँसी हँस कर बोले—दूसरे का अंत करने के पहले, अपना अंत सोच लो। मैं बोली—मैंने सोच लिया।'

नौकरी छोड़ी जाय या न छोड़ी जाय, इस सम्बंध में पति-पत्नी में जो बातचीत हुई, उसमें की कुछ बातें बहुत महत्वपूर्ण होने के कारण उद्धृत की जाती हैं। बातचीत के दौरान में शिवरानीजी बोलीं कि बिना त्याग, तपस्या या बलिदान के काम नहीं बनने का। प्रेमचंदजी हँस कर बोले—जिसको तुम त्याग, तपस्या, बलिदान समझती हो, वह एक भी नहीं है। यह तो हम तुम दोनों का अपने पापों का प्रायश्चित करना मात्र है।

शिवरानीजी बोलीं—तो हम लोगों ने क्या पाप किये हैं?

प्रेमचंदजी बोले—तुमने नहीं किये, तो तुम्हारे बुजुर्गों ने किये, क्योंकि आराम के नशे में तो वे ही लोग डूबे थे, अपनी विलासिता के नशे में अंधे होकर पड़े थे, तभी मुल्क में फूट पैदा हुई। और दोनों फरीकों

को हटा करके तीसरा विजयी हुआ। मुमकिन है कि वह विलासित में डूबने वाले हमी तुम हों, और फिर से जन्म मिला हो, यह विकट पहेली कुछ समझ में भी नहीं आती। यह जो आजकल तुम्हारे ऊपर शासन कर रहे हैं, यह क्या विजयी हुये थे। उनके बड़े लोग विजयी हुये थे।[10]

ये विचार कुछ अजीब होते हुये भी, और उनमें न मालूम कहाँ-कहाँ के रहस्यवाद आदि की मिलावट होते हुये भी इनका रुझान देश-भक्ति की ओर था, और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि उन्होंने इस प्रकार नौकरी छोड़ कर त्याग का परिचय दिया। गांधी जी दौरा करते हुये गोरखपुर पहुँचे थे, उनका भाषण सुन कर ही उनके मन में नौकरी छोड़ने की भावना पहले-पहल उत्पन्न हुई थी। उन्होंने नौकरी से इस्तीफा लिख कर जब हेडमास्टर को दिया, तो उन्होंने उन्हें बहुत समझाया कि यह क्या नाहक की सनक है, १२५) रुपये पा रहे हैं, जरा इस पर सोच लीजिये।

चरखा प्रचार—नौकरी से इस्तीफा देने के बाद महावीरप्रसाद पोद्दार उन्हें अपने गाँव में ले गये। वे दरवाजे पर बैठे-बैठे चरखे बनवाते, और लिखते पढ़ते। 'दो महीना रहने के बाद तय हुआ कि पोद्दारजी के साझे में शहर में चर्खे की दूकान खोली जाय, और एक मकान वहाँ लिया गया। उसी जगह दस करघे लगाये गये। चरखा चलानेवाली कुछ औरतें भी थीं। देहात से बन कर कुछ चर्खे आते थे, वे बेचे भी जाते थे। शाम के वक्त पोद्दारजी और बाबूजी तथा और कुछ मित्रगण बैठ कर गपशप करते।'[11] यह सिलसिला अधिक दिन न चल सका, वे लमही (बनारस) गये। अब एक मात्र सहारा लेख और कहानियों की आमदनी थी। उन्होंने अपने गाँव में चरखे का भी

---

[10] प्रे० घ० पृ० ६५ [11] वही पृ० ७२

प्रचार किया। खर्च बढ़ा हुआ था, लेख और कहानियों से जो थोड़ी-बहुत आमदनी होती थी, उससे कोई काम नहीं चलता था। दाल में घी पर भी काट करनी पड़ी। इन्हीं बातों से विवश होकर जून १६२१ में उन्होंने कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय की हेडमास्टरी कबूल कर ली। उन्हें यह पद श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की सिफारिश से प्राप्त हुआ था।

दयालुता—प्रेमचन्दजी का स्वभाव इतना दयालु था कि वे दया करने में यह नहीं सोच पाते थे कि यह व्यक्ति इस योग्य है भी या नहीं कि उस पर दया की जाय। एक साहेब ने आकर कहा कि उन्हें कुछ रुपया चाहिये तो उन्होंने अपनी तंगी के बावजूद उन्हें १५) रुपये दिलवाये। वादा तो यह था कि वे जल्दी ही उस रुपये को लौटायेंगे, किन्तु पाँच-छ: रोज बाद वे महाशय फिर अपने बीबी-बच्चों को लेकर वहाँ पहुँचे, फिर तीन रोज रहे। यही नहीं उस व्यक्ति ने उनसे फिर दुबारा २०) रुपये माँगे। डरते-डरते उन्होंने शिवरानीजी से रुपये माँगे। शिवरानीजी ने कहा कि उनके पास रुपये नहीं हैं। इस पर प्रेमचन्दजी ने यह कहा कि रुपये नहीं हैं तो इतने आदमियों को खिलाओ, या जवाब दो। अन्त में शिवरानीजी को १५) रुपया देना पड़ा। उस व्यक्ति ने चार-पाँच दिन में देने का वादा किया था, जब वादे की तारीख खतम हुई तो शिवरानीजी ने पूछा—रुपये आये। प्रेमचन्दजी बोले—रुपये नहीं आये।[१२] इस प्रकार कई बार लोग मुसीबत का हवाला देकर उनसे रुपये ले जाते रहे। कई बार तो शिवरानीजी को पता भी नहीं लगता था कि इस प्रकार रुपये दिये गये हैं।

ढपोरशंख कहानी का उत्सस्थल—उनकी दयालुता की एक घटना यह है कि ग्वालियर से एक साहेब ने उन्हें यह पत्र लिखा कि

---

[१२] प्रे० घ० ७६

यदि उसे एक सौ रुपया इस समय मिल जाय तो एक सौ की जगह मिल जाय। उस व्यक्ति ने पत्र में यह लिखा था कि वह ५०) रुपये करके दो महीने में इस ऋण को अदा कर देगा। शिवरानीजी ने इस पर अविश्वास किया, किन्तु जब प्रेमचन्दजी का इस सम्बन्ध में अत्यधिक आग्रह देखा तो उन्होंने कहा कि खैर देने-लेने की इच्छा न करो, उसे दे दो, उसका भला हो जाय, उसका जीवन शायद सुधर जाय। बैङ्क से १००) रु० निकलवा कर उस व्यक्ति को रुपये भिजवा दिये गये। कुछ दिनों बाद वह व्यक्ति स्वयं प्रेमचन्दजी के घर आकर डट गया। वह टलने का नाम ही नहीं लेता था। दो-तीन दिन के बाद शिवरानीजी ने कहा कि उन्हें किसी होटल में ठहरा दिया जाय। होटल में भी वे महाशय बारह रोज तक रहे। रुपये अभी वापस नहीं दिये गये थे। फिर कुछ दिनों बाद वे आये, और पन्द्रह दिन तक ठहरे। जब वह हजरत जाने लगे तो फिर ५०) रु० माँगे। प्रेमचन्दजी ने शिवरानीजी से छिपा कर ये रुपये दे दिये। "उसके बाद उस व्यक्ति ने पटने में अपनी शादी तय की। उन्होंने प्रेमचन्दजी को खबर दी। इस पर आपने उसकी बीबी के लिए हाथ की सोने की चार चूड़ियाँ, गले की जजीर, कर्णफूल और दो-तीन रेशमी साड़ियाँ खरीद कर उसे दी और १००) रु० उसे नगद बारात के खर्च के लिए दिये, और खुद पटने तक गये भी। वह अपनी बीबी ब्याह कर लखनऊ (उन दिनों प्रेमचन्दजी लखनऊ में थे) आया। तीन रोज के बाद पुलिस उसे ढूँढ़ती हुई पहुँची। यह फरार आदमी था। तब उससे आप बोले—'तुम यहाँ नहीं रह सकते।' वह अपनी बीबी लेकर चला गया।"

इस प्रकार उस व्यक्ति पर प्रेमचन्दजी कई सौ रुपये खर्च किये। मजे की बात यह है कि उन्होंने जो गहने तथा कपड़े उस व्यक्ति की शादी के लिए लिये थे, वे सब उधार पर लिये गये थे, और उसके कारण उन पर सोनार और बजाज का तकाजा होने लगा। प्रेमचन्दजी ने उन रुपयों

के लिए शिवरानीजी से छिप कर लिख-लिख कर रुपये मँगा कर भरे। कोई डेढ़ साल में वे पूरे रुपये भर पाये। अपनी इस आपबीती को ले कर उन्होंने 'ढपोरशंख' नाम की कहानी की रचना की। इस प्रकार जिस बात को उन्होंने जीवन में अनुभव किया था, उसीको उन्होंने कहानी के रूप में रख दिया। ऐसी ही और कितनी ही घटनायें हैं। उनके उपन्यासों में यत्र-तत्र मनुष्य-चरित्र का अच्छा से अच्छा विश्लेषण मौजूद है, किन्तु व्यवहारिक जीवन में वे स्वयं ठगों के शिकार हो जाते थे, इस बात को सोचने में बहुत आश्चर्य होता है। क्या इस प्रकार ठगों के द्वारा ठगे जाने से उनकी कमजोरी जाहिर होती है ? इसके विपरीत ऐसा समझने का कारण है कि वे स्वयं बहुत तरह की दुरवस्थाओं, विशेषकर आर्थिक तंगी के कारण कष्ट भोग चुके थे; इसलिए वे इस प्रकार के लोगों को जहाँ तक हो सके, मदद देना चाहते थे।

ठगे गये—बाद की एक घटना है, जिस समय शिवरानीजी जेल में थीं, उसी समय इसी तरह एक बार एक और दूसरे महाशय आये, और दो सौ रुपये बैंक से निकलवा कर लिये। जेल से छूट कर जब शिवरानीजी आईं, तो एक दिन उन्होंने प्रेमचन्दजी से रुपयों का हिसाब पूछा। हिसाब बता ले गये, किन्तु हिसाब में दो सौ रुपये घटे। इसके बाद की कहानी शिवरानीजी की जबानी —"मैंने पूछा, रुपये कहाँ गये ? आप बोले—खर्च हो गये कहीं।"

मैं—झाँसा न दीजिये। बताइये, कहाँ गये।

मजबूर हो जाने पर बोले—एक सज्जन आये थे, ले गये। उन्हें सख्त जरूरत थी।

मैं—सभी की जरूरतों का तुमने ठेका ले लिया है।

—'क्या करूँ, जानबूझ कर थोड़े ही विपत्ति में फँसता हूँ। नहीं रहा जाता।'

मैं—आप तो तभी अच्छे थे, जब आपको टकेटके की पड़ी रहती थी। कोई किसी की किस्मत नहीं बना सकता। आप फिर उसी हालत में रहना चाहते हैं। रुपये उतनी आसानी से आप जमा करें तो आपको पता चले। चौबीसों घंटे की किफायत से रुपया जमा होता है।"[13]

इस अवसर पर प्रेमचन्दजी ने यह जो छोटी-सी बात कह दी—नहीं रहा जाता—उससे उनकी सारी मनोवृत्ति का चित्र हमारे सामने आ जाता है।

लिखने की अदम्यनीय स्पृहा—इधर उनका साहित्यिक जीवन बराबर जारी रहा। उन्होंने 'प्रेमाश्रम' का एक बड़ा भाग बीमारी की हालत में लिखा। उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी किन्तु लिखने की धुन इतनी जबरदस्त थी कि बीमारी में ही लिखते थे। शिवरानीजी की सख्त ताकीद थी कि वे बीमारी में न लिखा करें, किन्तु जब वे सो जातीं, तो 'रात को धीरे से उठ कर अपनी कापी, कलम, दावात उठा लाते। जाड़े के दिन थे। चारपाई पर रजाई ओढ़े लिखने लगते...।" प्रेमचन्दजी में न केवल उपन्यास लिखने की प्रतिभा थी, बल्कि वे साहित्य क्षेत्र में उस प्रतिभा का एक ऐश्वर्य लेकर उतरे थे। तभी तो वे इतना बड़ा साहित्य तैयार कर गये, जब कि उनके बाद के उपन्यासकार-गण दो-चार उपन्यास ही लिख कर रह गये। उनको रचना करने की बहुत अधिक धुन थी, तभी तो वे बीमारी में भी लिखना नहीं छोड़ते थे। एक बार तो इस प्रकार की नौबत आ गई कि शिवरानीजी ने कलम ही तोड़ कर फेंक दी।

अन्य कई नौकरियाँ—मारवाड़ी विद्यालय के अधिकारियों से कुछ झगड़ा हो गया, और उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। उन दिनों काशी से बाबू सम्पूर्णानन्द के सम्पादकत्व में 'मर्यादा' निकलती

---

[13] वही पृ० ८२

थी। "उसी दिन पत्र आया आर आकर सम्पादन कीजिये, १५०) रु० वेतन मिलेंगे। उसके बाद उन्होंने इस्तीफा दे दिया। स्कूल में मास्टर चाहते थे, इनकी बिदाई में एक जलसा किया जाय, और इनको एक अभिनन्दन-पत्र दिया जाय। काशीनाथ (मालूम होता है यह उस विद्यालय की मैनेजिंग कमेटी का मंत्री आदि कोई रहा होगा) को यह अच्छा न लगा, पर मास्टरों ने न माना। लड़कों की भी यही इच्छा थी। जलसा हुआ। अभिनन्दन-पत्र दिया गया। इसीके कारण चार-पाँच मास्टर और निकाले गये। पचीस-तीस लड़के स्वयं हट गये।" इस प्रकार प्रेमचन्दजी मारवाड़ी विद्यालय से विदा हुये। उसके बाद वे बनारस गये, और 'मर्यादा' में काम करने लगे। डेढ़ साल तक 'मर्यादा' में काम करते रहे।

काशी विद्यापीठ में अध्यापक—इसके बाद काशी विद्यापीठ के विद्यालय विभाग के हेडमास्टर हो गये। वेतन १३५) रु० था। उन दिनों विद्यापीठ की निजी इमारत नहीं थी। भदैनी के एक मकान में विद्यापीठ था। वे रोजाना भदैनी इक्के से जाते। राष्ट्रीय विद्यालय होने पर भी वहाँ का वातावरण उनकी मुक्त प्रतिभा के लिए कुछ विशेष अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। लेखक द्वय में से एक उन दिनों विद्यापीठ में छात्र था, वह निजी अनुभव से यह बतला सकता है कि विद्यापीठ के अधिकारियों से जहाँ तक हो सके, कम मिलते थे, अपने काम से काम रखते थे। छात्रों में वे बहुत प्रिय थे। विशेषकर उच्च कक्षा के छात्र यह जानते थे कि वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास लेखक प्रेमचन्दजी हैं, और इस पर उनको गर्व था। उस समय तक 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' दो ही उपन्यास तथा कुछ गल्पसंग्रह प्रकाशित हुये थे, किन्तु इन्हीं दो पुस्तकों की बदौलत वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार मान लिये गये थे। अवश्य इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद भी था, और विरुद्ध आवाजें उठ रही थीं। श्री इलाचन्द जोशी उन दिनों हिंदी

साहित्य में एक समालोचक के रूप में आये, और पहले ही वे प्रेमचन्द पर बड़े जोरों के साथ बरस पड़े।

प्रेमाश्रम की कटु समालोचना—उनके उस लेखन से हिन्दी जगत में जो तहलका मच गया था, वह अभूतपूर्व था। कहाँ दूसरे समालोचक तो प्रेमचन्दजी को न भूतों न भविष्यति के रूप में रख रहे थे, और कहाँ श्री इलाचन्द ने यह कह दिया कि वे कुछ भी नहीं हैं।

अपनी स्मृति पर निर्भर न कर हम इलाचन्द की जबानी ही इस कहानी को सुनेंगे। प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद 'हंस' के प्रेमचन्द-स्मृति अंक में लिखते हुये जोशीजी ने १९३७ में लिखा था—"प्राच्य तथा पाश्चात्य कला के प्राचीन तथा नवीन भावों के अध्ययन और मनन के बाद मेरे विचारों की धारा एक विचित्र उल्टी सीधी गति से तरंगित हो रही थी। अतएव मेरी ऐसी मानसिक अवस्था में जब प्रेमचन्द का 'प्रेमाश्रम' दीर्घ ६०० पृष्ठ-व्यापी विस्तृत तथा विशालकाय रूप में प्रकाशित होकर सामने आया तो मैं अपने फेवरिट लेखक की इस नई कृति को अत्यन्त उत्सुकता से पढ़ने लगा।" प्रेमचन्द जोशीजी के क्यों फेवरिट थे, यह बात तभी समझ में आयेगी, जब हम यह देखें कि 'सेवासदन' के विषय में उनकी क्या राय थी। इसी लेख में उन्होंने 'सेवासदन' के विषय में उद्धृत अंश के पहले ही लिखा था—"हिंदी के उपन्यास साहित्य में वह निर्विवाद रूप में युगान्तकारी रचना थी। इसमें पात्रों के सुन्दर मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त एक नवीन आदर्श की अवतारणा कलाकार की आन्तरिक सम्वेदना के साथ अभिव्यक्त की गयी थी। इस उपन्यास ने मेरे मन में एक नई अनुभूति और अनोखी प्रेरणा उत्पन्न कर दी।"

जोशीजी ने अपने परिवर्तित विचारों के कारण प्रेमाश्रम को पढ़ कर क्या सोचा, यह, द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं, "मुझे खेद हुआ जब

मैंने उक्त रचना अपने मन के आशाओं के अनुरूप नहीं पाई। इस रचना से मुझे लेखक की प्रतिभा के विराटरूप से परिचय अवश्य हुआ, पर उसमें कला का निर्वाह मैंने अप ने मन के अनुरूप न पाया। उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया खून जोश मार रहा था। 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्यालोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं रह न सका और अत्यन्त प्रबल आक्रोश के साथ परिपूर्ण-शक्ति से मैं उन पर बरस पड़ा। इस पर आलोचना-प्रत्यालोचना का जो लम्बा चक्कर चला, उससे तत्कालीन साहित्य के ऐतिहासिक गगन में जो क्रान्तिकारी बवंडर मचा था, उससे उस युग के पाठक भली भाँति परिचित हैं। आज मैं अपनी उस असहनशीलता के कारण लज्जित हूँ, पर यदि विचारपूर्वक, उदार दृष्टि से देखा जाय तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रान्तिकारी युग में मेरे भीतर कला-सम्बन्धी प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों के विचित्र सम्मिश्रण से रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने जो तहलका मचा रखा था, उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता तथा असहनशीलता आनी अनिवार्य थी।"

जोशीजी ने इसी लेख में यह जो लिखा है कि वे प्रेमचन्दजी के प्रतिभा की विराटता को बराबर मानते थे, यह बात बिल्कुल गलत है। उन्होंने उन दिनों 'प्रेमाश्रम' की जो समालोचना लिखी थी, उसमें उन्होंने इस प्रकार की कोई भी बात नहीं कही थी। प्रेमचन्दजी ने अपनी ऐश्वर्यशाली रचनाशक्ति के द्वारा जोशी ऐसे समालोचकों से अपनी प्रतिभा की विराटता को स्वीकार करवा लिया।

जो कुछ भी हो जब जोशीजी की ओर से प्रेमचन्द पर यह हमला हुआ, तब स्वाभाविक रूप से 'माधुरी' सम्पादक यह चाहने लगे कि प्रेमचन्दजी इसका कोई उत्तर दें, किन्तु उन्होंने स्वयं कोई उत्तर नहीं दिया। विद्यापीठ की उच्च कक्षा के एक छात्र श्री जनार्दन झा ने इसका उत्तर तैय्यार किया। इसमें जनार्दनजी ने जो कुछ लिखा

था, उसको प्रेमचन्दजी ने ठीक किया, इसके बाद यह लेख 'माधुरी' में छपा। जोशीजी ने यह ठीक ही लिखा है कि उन दिनों इस वाद-विवाद से हिन्दी जगत में काफी तहलका मचा था।

उनके अध्यापन का तरीका—उनके अध्यापन के सम्बन्ध में भी दो शब्द। वे छात्रों को भूगोल पढ़ाते थे और बहुत योग्यता के साथ पढ़ाते थे। उनकी जबान से भूगोल बहुत ही दिलचस्प हो जाता था। वे जब स्कूल आते थे तो साथ में कोई न कोई अंग्रेजी उपन्यास ले आते थे, और यदि कोई घंटा खाली हो जाता था तो वे उसे उस समय पढ़ते थे। कुछ पढ़ते थे, फिर सोचते जाते थे। वे अपने कथानक के स्वप्न में ऐसे डूबे रहते थे कि यदि कोई उन्हें अकस्मात् चुपचाप अकेले में बैठे देख लेता तो वे उसे एक अफीमची या स्वप्नदृष्टा ज्ञात होते। वे अपने अन्तर्जगत में ही निवास करते थे। अवश्य जैसा कि हम बता चुके वे अपने चरित्र के इस स्वप्नदृष्टत्व को अपने काम के बीच में नहीं आने देते थे। कभी किसी छात्र को यह शिकायत नहीं हुई कि उन्होंने पढ़ाने में कम ध्यान दिया। हेडमास्टर कहने से जिस प्रकार हौये का बोध होता है, उनके व्यवहार से उस प्रकार की कोई बात नहीं टपकती थी। यह शायद उनका सबसे बड़ा सत्गुण था। केवल क्लास के घंटों में ही नहीं, बल्कि इनसे बाहर भी यदि कोई छात्र अपना अधकचरा लेख आदि लेकर उनके पास पहुँचता था तो वे बड़े चाव से उसे सुनते थे, और अपने सुझाव पेश करते थे। विद्यापीठ के छात्रों के लिए यह दुर्भाग्य की बात रही कि किसी टेकनिकल मामले को लेकर उनमें और विद्यापीठ के अधिकारियों में मतभेद हो गया, और वे इस्तीफा देकर वहाँ से अलग हो गये।

ग्राम-जीवन—विद्यापीठ की नौकरी के बाद वे कुछ दिनों अपने गाँव में जाकर रहे। प्रेमचन्दरचित साहित्य में गाँवों के जीवन का

बहुत अच्छा चित्रण है। इसका कारण केवल यही नहीं था कि वे स्वयं गाँवों में पले थे, बल्कि इसका कारण यह भी था कि बराबर वे गाँव में जाकर अपनी उस पुरानी अभिज्ञता को ताजी करते जाते थे। गाँव में किस प्रकार रहते थे, उसका विवरण शिवरानीजी ने इन शब्दों में लिखा है—

"आप गाँव में रहते, तो अपने दरवाजे पर हमेशा झाड़ू लगाते। कभी-कभी मैं उन्हें रोकती। छोटे बच्चों को दरवाजे पर बैठा कर चार बजे शाम को उनके पास मिट्टी इकट्ठा कर देते, पत्तियाँ इकट्ठी कर देते, सिकटे इकट्ठा कर देते, और लड़कों को खेलने का ढंग सिखाते। उसके बाद जब गाँव के काश्तकार इकट्ठा होते तो उनसे बातें करते, झगड़ा निपटाते, बच्चों से खेलते भी जाते। कोई नये कायदे कानून बनते तो उन काश्तकारों को समझाते। उन सबों के साथ तो वे बिल्कुल काश्तकार हो जाते थे। उम्र की बड़ाई के लिहाज से जिसका जैसा सम्बन्ध होता, सदा वैसा आदर देते। चाहते थे कि गाँव एक किला बन जाय। उपन्यासों के चित्रों की तरह सजीव कर देना चाहते थे। काश्तकारों की कमजोरी देख कर उनको बड़ा दुख होता। काश्तकारों की स्त्रियों से भाभी, चाची, बहिन, बेटी का जैसा सम्बन्ध होता, सदा उसी तरह का व्यवहार करते। उनमें बड़ों को वे सलाम करते थे। जो भाभी लगती थी, अगर वे मजाक कर देती तो हँस देते, और बुरा न मानते थे।"[१४]

अलवर राज का निमंत्रण अस्वीकृत—हमने अब तक जो कुछ लिखा है उससे इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि प्रेमचन्दजी अपनी आन तथा सिद्धान्त के सामने पद तथा रुपयों को कुछ नहीं समझते थे। किन्तु एक घटना से उनकी कलाकार सुलभ निस्पृहता जितनी स्पष्ट

---

[१४] प्रे० घ० पृ० ९२-९३

हो जाती है, उतना किसी घटना से नहीं होता। हमने यह दिखलाया है कि वे कठिन बीमारी में भी लिखने का काम नहीं छोड़ते थे, किन्तु इस घटना का यह अर्थ बखूबी लगाया जा सकता है कि वे उसी प्रकार लिखते थे जिस प्रकार दूसरे लोग और और धन्धे करते हैं—अर्थात् वे रुपयों के लिए लिखते थे। किन्तु यह बात नहीं। सन् १६२४ का युग था। "आप लखनऊ में थे। 'रंगभूमि' छप रही थी। अलवर रियासत से राजा साहेब की चिट्ठी लेकर पाँच-छः सज्जन आये। राजा साहेब ने अपने पास रहने के लिए बुलाया था। राजा साहेब उपन्यास कहानियों के शौकीन थे। राजा साहेब ने ४००) प्रति मास नकद, मोटर, बँगला देने को लिखा था। सपरिवार बुलाया था। उन महाशयों को यह कह कर कि मैं बहुत बागी आदमी हूँ, इसी वजह से मैंने सरकारी नौकरी छोड़ी, राजा साहेब को एक खत लिखा—'मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि आपने मुझे याद किया। मैंने अपना जीवन साहित्य सेवा के लिए लगा दिया है। मैं जो कुछ लिखता हूँ, उसे आप पढ़ते हैं, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ। आप जो पद मुझे दे रहे हैं मैं उसके योग्य नहीं हूँ। मैं इतने में ही अपना सौभाग्य समझता हूँ कि आप मेरे लिखे को ध्यान से पढ़ते हैं। अगर हो सका तो आपके दर्शन के लिए कभी आऊँगा।

एक साहित्य सेवी
धनपतराय'

इस घटना से ज्ञात होता है कि यद्यपि लिखना उनकी जीविका का साधन हो चुका था, फिर भी वे एक आदर्श के लिए लिखते थे। भले ही उस आदर्श से कोई पूर्णरूप से सहमत न हो, उस आदर्श के लिए उन्होंने त्याग स्वीकार किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। बहुत कम साहित्यिक ऐसे हैं जो इस प्रकार किसी-न-किसी दाम पर बिकने के लिए तैयार न हों। उस युग तक प्रेमचन्दजी बराबर

मुनाफाखोर प्रकाशकों के शिकार थे, उनकी पुस्तकें कागज के दामों पर प्रकाशक खरीद रहे थे, फिर भी इस प्रकार अपने स्वाभिमान को कायम रख कर ४००) नकद, मोटर और बँगला का लोभ छोड़ देना, उनके लिए बहुत बड़े त्याग की बात थी। वे किसी राजा महाराजा के लिए नहीं लिखते थे, बल्कि पढ़ी-लिखी जनता के लिए लिखते थे, इसीलिए यह स्वाभाविक ही था कि वे किसी राजा के हाथों बिकना नहीं चाहते थे। भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक फटे-हाल होते हैं, उनके लिए इतना बड़ा प्रलोभन बहुत भारी था। केवल यही नहीं बहुत बड़े-बड़े देश भक्तों की देशभक्ति इतने दामों पर बिक जाते।

उनके जीवन में पत्नी का अच्छा प्रभाव—उनके जीवन पर श्रीमती शिवरानी देवी का प्रभाव बहुत अच्छा रहा। कोई मामूली स्त्री तो अलवर राज के निमंत्रण को ठुकराने के लिए पति से लड़ बैठती, भला कौन स्त्री यह नहीं चाहती कि उसके पति और पुत्र सुख से रहें, किन्तु शिवरानीजी ने उनके द्वारा अलवर राज के प्रस्ताव के प्रत्याख्यान का समर्थन किया, और उनकी तरीफ ही की कि उन्होंने इस झगड़े से अपना छुटकारा कर लिया। केवल यही नहीं शिवरानी देवी ने उनका शराब पीना छुड़ा दिया। स्मरण रहे कि कायस्थों में विशेषकर पुरानी चाल के कायस्थों में शराब पीना कोई ऐसी अनहोनी बात नहीं है। ब्याह, शादी तथा अन्य शुभ अवसरों पर बच्चों से बुड्ढों तक सभी शराब पीते हैं, और इसे कोई बुरी दृष्टि से नहीं देखते। इसी सन् १६२४ की बात है प्रेमचंदजी 'माधुरी' आफिस की कुछ किताबों को बोर्ड द्वारा मंजूर कराने के लिए वेदार साहेब के यहाँ प्रयाग में गये। वेदार साहेब शराबी थे। उन्होंने प्रेमचंदजी को शराब पिला दी। पीते-पीते वे इतना पी गये कि नशे में चूर हो गये। वहाँ से लौटे तो भी नशे में ही थे। रात को घर पहुँचे

तो सब लोग सो गये थे। बड़ी देर तक किवाड़े खटखटाने के बाद लोग जागे, किन्तु भीतर से ही शिवरानी देवी समझ गयीं कि वे नशा पिये हुवे हैं। शिवरानी देवी ने दरवाजा नहीं खोला। दूसरे दिन मियाँ-बीबी में शराब पीने पर बहुत खटपट रही। प्रेमचंदजी सफाई में यह कहते रहे कि बेदार साहेब नहीं माने।

शिवरानी—आप बच्चे तो थे नहीं कि बेदार साहेब ने जबरदस्ती आपके मुँह में उड़ेल दिये। आइन्दा अगर आप फिर पीकर आयेंगे तो मैं जागती हुई भी दरवाजा न खोलूँगी।

इस प्रकार दोनों में तकरार होती रही। इसके पाँच-छः रोज बाद प्रेमचंदजी फिर बेदार साहेब के यहाँ गये, और वहाँ शराब पीकर फिर नशे में चूर हो गये। उस दिन वे सरेशाम ही लौट आये। इसके बाद की कहानी श्रीमती शिवरानीजी के शब्दों में यों है—"रात को दो बार कै हुई। मैं तो उठी नहीं। मेरी भावज ने उठ कर पानी-वानी दिया। रात ही को कै भी साथ की। सुबह जब नशा उतरा तो बोले—रात को मेरी यह हालत थी। तुम कहाँ थी?

मैं बोली—मैं इन आदतों के फेर में पड़ने वाली नहीं। मैं उसी दिन आपसे कह चुकी हूँ।

आप बोले—बेचारी दुलहिन न होती तो मुझे पानी देने वाला कोई नहीं था।

'मैं इसके लिए पहले ही बता चुकी हूँ।'

'तुम्हारा दिल बड़ा कड़ा है।'

'आज आपने समझा?'

"फिर उस दिन से उन्होंने कभी शराब नहीं पी।"

जमीन मेरी गद्दी है—इस युग में वे लखनऊ में 'माधुरी' के सम्पादक थे। उन्हीं दिनों काला काँकर के राजा उनके घर आये।

उनको बैठाया गया, और पान-इलायची दी गई, किन्तु वहाँ जो बैठने का प्रबन्ध था, वह बहुत मामूली था। कुर्सियाँ भी नहीं थी। इस पर मेहमानों के चले जाने के बाद शिवरानीजी ने कहा कि यह बहुत भद्दी बात है कि बड़े आदमी आपसे मिलने आवें, और आप बैठने के लिए उन्हें कुर्सी तक न दे सकें, इसलिए अच्छा है कि आप कुर्सियाँ मँगा कर रख लें। इस पर प्रेमचन्दजी बड़े जोर से हँसते हुये बोले—तो फिर मैं राजा लोगों के लिए थोड़े ही इन्तजाम करता हूँ। मैं तो मजदूर हूँ। जो मोटा-मोटा खाने-पहनने को मिला, खाया-पहना। मेरी गद्दी तो जमीन है। अब उन लोगों को अच्छा न लगे, तो इसके लिए मैं क्या करूँ।

बहुत कह-सुन कर शिवरानीजी ने ५०) रुपये का फर्निचर मँगवा कर उससे कमरा सजा दिया, किन्तु 'वे हमेशा जमीन पर बैठते। जमीन पर एक डेस्क रख लेते, और एक डेस्क बच्चे के लिए होती। उस बच्चे को रोज सुबह आप ही पढ़ाते।...रोजाना उस कमरे की सफाई स्वयं वे करते। मैं अपने दिल में सोचती, मैंने नाहक फर्निचर मँगा कर और उनकी बला बढ़ा दी। झाड़ना-पोंछना उनका वक्त खराब करने लगा।'

हिन्दुस्तानी पर प्रेमचन्द—हमने इस अध्याय में मुख्यतः शिवरानीजी की पुस्तक की सहायता से ही घटनाओं का वर्णन किया है, यह स्वाभाविक ही है क्योंकि स्त्री से बढ़ कर कौन उनकी छोटी-छोटी बातों को जान सकता है? यह कहना कठिन है कि शिवरानीजी ने प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में सभी सत्यों को नग्नरूप में रख दिया है, किन्तु उनकी पुस्तक को पढ़ने से यही छाप पड़ती है कि उन्होंने मोटे तौर पर पाठक को उस महान उपन्यासकार के जीवन का एक सही चित्र पाठकों के सन्मुख पेश करने का प्रयत्न किया है। हमें इस पुस्तक में कई स्थान पर प्रेमचन्दजी के अन्तरंग विचारों का परिचय होता है।

उदाहरणार्थ इन दिनों हिन्दुस्तानी तथा हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर उनके विचार कैसे हो चुके थे, इसका परिचय मिलता है। स्मरण रहे कि ये उनके सार्वजनिक रूप से कहे हुये विचार मात्र नहीं थे, बल्कि स्त्री से कहे हुये विचार थे। प्रेमचन्दजी महात्माजी से बातचीत कर वर्धा से लौटे थे, वे बहुत प्रभावित थे। बात—महात्मा गांधी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिला कर हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।

शिवरानी—आप कैसे बनाते हैं हिन्दुस्तानी ?

आप बोले—जो कुछ मैं लिखता हूँ, वह हिन्दुस्तानी में लिखता हूँ।

शिवरानी—तो आपके लिखने से हिन्दुस्तानी हो गई।

आप बोले—जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनों मानें, जिसको आम जनता समझे वह है हिन्दुस्तानी, और मेरा ख्याल है कि राष्ट्रभाषा जब कभी बनेगी तो वह हिन्दी-उर्दू को मिला कर।

शिवरानी—यह तो हिन्दुस्तान है। यहाँ तो आम भाषा हिन्दी होनी चाहिये थी।

आप बोले—यह हिन्दुस्तान नाम कैसे पड़ा, तुमको मालूम है ? यहाँ जब पहले मुसलमान आकर आबाद हुये तभी इसका नाम पड़ा था हिन्दुस्तान। नाम तो पड़ गया हिन्दुस्तान, किन्तु भाषा के लिए अभी झगड़ा मचा हुआ है। यह झगड़ा तभी हटेगा, जब हिन्दू और मुसलमान ठंडे दिल से सोच लेंगे कि हम दोनों को साथ ही साथ रहना है।......

'उर्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तानी' 'राष्ट्रभाषा और उसकी समस्यायें,' 'कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार' आदि लेखों में उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने सुचिन्तित विचार पेश किये हैं। इस सम्बन्ध में हम ब्यौरे में नहीं जायेंगे। संक्षेप में उनके विचार ये थे—'उर्दू और हिन्दी में क्यों इतना सौतियाडाह है, यह मेरी समझ में नहीं आता। अगर

एक समुदाय के लोगों को उर्दू नाम प्रिय है, तो उन्हें इसका इस्तेमाल करने दीजिये। जिन्हें हिन्दी नाम से प्रेम है, वह हिन्दी ही कहें।'[१५] इस प्रकार राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत ही उदार हैं। इस प्रश्न का अभी अंतिम हल नहीं हुआ है, इतने बड़े एक भाषामर्मज्ञ के इस संबंध में क्या विचार हैं, यह जान लेना बहुत ही उचित और हल काढ़ने में सहायक हो सकता है।

हिन्दू मुस्लिम प्रश्न—शिवरानी देवी से उनकी जिस बातचीत का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसीके दौरान में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर रोशनी डालते हुये यह कहा था—'मैं एक इन्सान हूँ। मेरे लिए राम, रहीम, बुद्ध, ईसा, सभी श्रद्धा के पात्र हैं, और इन सभों को महापुरुष समझता हूँ। जो इंसानियत रखता हो, इंसान का काम करता हो, मैं वही हूँ, और उन्हीं लोगों को चाहता हूँ—

इस पर शिवरानीजी ने कहा—कैसे दोनों बराबर हैं? मुसलमान गाय की कुर्बानी करते हैं, और उसी कुर्बानी के पीछे हजारों हिन्दू-मुसलमानों की जाने जाती हैं।

आप बोले—इसका दोषी एक ही वर्ग नहीं है। अगर मुसलमान कुर्बानी करता है, एक बुढ़ी-चेढ़ी गाय को लेकर जिस पर कि दोनों कौमों में झगड़ा होता हो, तो जब अंग्रेजों के यहाँ सैकड़ों गायें और बछड़े मारे जाते हैं तब क्यों नहीं हिन्दुओं के खून उबलते? .... कौन-सा ऐसा देवी का मन्दिर है जहाँ बकरों की कुर्बानी न होती हो? क्या बकरा जीव नहीं है?......स्त्रियों पर सबसे ज्यादा ज्यादती हिन्दू ही करते हैं। जरा-सी भूल हो गई, उसको घर से निकाल बाहर किया। हिन्दू अपने पैर में आप कुल्हाड़ी मारते हैं, उस पर कहते हैं कि हिन्दू को मुसलमान बना लिया गया। औरत को जब घर से निकाल देते हैं

---

[१५] कु० वि० पृ० १८६

तब यह नहीं सोचते कि आखिर वह जायेगी कहाँ ? आखिर वह मुसलमान ही होगी, तब उसको क्यों घर में नहीं रहने देते। औरत से जो गलती हो जाती है, उसकी गुनहगार अकेली औरत ही नहीं है, पुरुष भी है। बल्कि मैं तो कहता हूँ कि पुरुष औरत से दूना गुनहगार नहीं तो ड्योढ़ा जरूर है। फिर स्त्री को ही क्यों बाहर निकाला जाता है, पुरुष को क्यों नहीं निकाला जाता ? उसका क्यों नहीं बहिष्कार किया जाता......।

४००००) रु० की आतशबाजी—सन् २८ के नवम्बर के लगभग किसी समय लखनऊ में गवर्नर पधारे। यह मालूम हुआ कि ४००००) रु० आतशबाजी और रोशनी में खर्च होगा। इस खबर की उनके मन पर क्या प्रतिक्रिया हुई, यह द्रष्टव्य है। उन्होंने अपनी स्त्री से कहा--जो राजे-महराजे हर साल यहाँ आते हैं, वे कुछ न कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते हैं कि जब जब वाइसराय और युवराज यहाँ पधारें तब तब वह उनके स्वागत में खर्च हो। और जो कमी पड़ती है, वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारों से वसूल किया जाता है। उन गरीबों के खून की कमाई कूड़ा घास की तरह आतशबाजी में फूँक दी जाती है। जिस मुल्क में आदमी की कमाई औसतन छः पैसे रोज हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक है कि एक-एक शहर में ४०-४० और ५०-५० हजार आतशबाजी में फूँका जाय ? जहाँ पर तन ढकने को कपड़ा न हो, दोनों जून रूखी रोटियाँ भी न मिलें, उस मुल्क में इस बेरहमी से पैसा फूँका जाय, और इसलिए कि वाइसराय साहेब खुश होंगे, और इन मोटे आदमियों को खिताब देंगे।

गरीबों से सहानुभूति—इस प्रकार वे यहाँ की गरीब जनता के दुख को अनुभव करते थे, जिसका परिचय हम उनके उपन्यासों में देख सकते हैं। उनके ये विचार केवल आविल भावुकता के रूप में ही नहीं थे बल्कि वे इस सम्बन्ध में रचनात्मक तरीके से अपने ढंग से सोचते

थे कि वर्तमान पद्धति को नष्ट करने पर ही इन समस्याओं का हल होगा। उनको इस बात पर बड़ा क्रोध आता था कि कैसे मुट्ठी भर लोग करोड़ों भारतवासियों पर अपना राज्य कायम किये हुये हैं। वे यह समझते थे कि जब लोगों की मरता क्या न करता वाली हालत हो जायेगी, तभी वे सब कुछ करने को तैयार होंगे, और तभी इन सारे दुखों का अन्त होगा। उनका कहना था 'जब तक इन्सान को थोड़ा-सा भी सुख मिलता जाता है, तब तक उससे सुख का मोह छोड़ा नहीं जाता, लालसा आगे को बनी रहती है। जब इन्सान समझ लेता है कि इन्सान मरने वाला है, मरने के सिवाय कोई चारा नहीं है तो मरने के लिए तैयार होता है।'

स्वराज्य का स्वरूप और रूस—शिवरानीजी ने इस पर सन्देह जाहिर किया कि जब स्वराज्य हो जायगा तो क्या चूसना बन्द हो जायगा। आपने कहा—'चूसा तो थोड़ा हर जगह जाता है कि कमजोर को शहजोर चूसे। हाँ, रूस है जहाँ पर कि बड़ों को मार-मार कर दुरुस्त कर दिया गया, और अब वहाँ गरीबों को आनन्द है। शायद यहाँ भी कुछ दिनों के बाद रूस जैसा ही हो।'

इस प्रकार से रूस के सम्बन्ध में सोचना यह भी उनकी प्रगतिशीलता का एक परिचय था। अवश्य वे यह समझ नहीं पाये कि रूस में जो क्रान्ति हुई है उसका क्या स्वरूप है और कैसे वर्गयुद्ध के द्वारा ही इस प्रकार की क्रान्ति की जा सकती है, किन्तु इतना समझना ही उनके लिए कम श्रेय की बात नहीं थी कि कथिक लोकतंत्रों से रूस कहीं आगे बढ़ा हुआ है, तथा वहाँ लोग लोकतंत्रों से कहीं अधिक सुखी हैं। शिवरानीजी ने जब यह प्रश्न किया कि आप किसका साथ देंगे। तो उन्होंने कहा कि वे मजदूरों और काश्तकारों का साथ देंगे। उन्होंने कहा—'मैं पहले सबसे कह दूँगा कि मैं तो मजदूर हूँ। तुम फावड़ा चलाते हो, मैं कलम चलाता हूँ। हम दोनों बराबर ही हैं।'

इस प्रकार वे अपने को कलम का मजदूर समझते थे। शिवरानीजी ने हँस कर पूछा कि आप के कहने से थोड़े ही आप मजदूर मान लिये जायँगे। वे बोले—'क्या रूस में लेखक नहीं हैं? वहाँ के लेखकों की हालत यहाँ के लेखकों की हालत से अच्छी ही नहीं, कई गुना अच्छी है। मैं तो उस दिन के लिए मनाता हूँ कि वह दिन जल्दी आवे।'

शिवरानीजी बोलीं—तो क्या रूसवाले यहाँ भी आयेंगे?

वे बोले—रूसवाले यहाँ नहीं आवेंगे, बल्कि रूसवालों की शक्ति हम लोगों में आयेगी।

शिवरानी—वे लोग अगर यहाँ आते तो शायद हमारा काम जल्दी हो जाता।

वे बोले—वे लोग यहाँ नहीं आवेंगे। हमी लोगों में वह शक्ति आवेगी। वही हमारे सुख का दिन होगा, जब यहाँ काश्तकारों, मज़-दूरों का राज्य होगा। मेरा ख्याल है कि आदमियों की जिन्दगी औसतन दूनी हो जायेगी।

शिवरानी बोलीं—यह कैसे होगा?

आप बोले—सुनो वह इस तरह होगा कि अभी हमको रात-दिन मेहनत करने पर भी भरपेट आराम से रोटियाँ नहीं मिलतीं। रात-दिन कुछ न कुछ फिक्र हमेशा रहती है।

शिवरानी—फिक्र हम लोग अपने आप ही तो करते हैं। मजदूरों का राज्य होने पर क्या हमको फिक्रों से छुट्टी मिल जायेगी?

आप बोले—क्यों नहीं छुट्टी मिलेगी? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद भी हमारी बीबी, बच्चों को कोई तक-लीफ नहीं होगी, और इसकी जिम्मेदारी हमारे सिर पर नहीं, बल्कि राष्ट्र के सिर पर है, तो हमारा क्या सिर फिर गया है कि हम अपनी जान खपाकर दिन-रात मेहनत करें, और आमदनी का कुछ न कुछ

हिस्सा काट कर अपने पास जमा करने की कोशिश करें ? हमको आज मालूम हो जाय कि हमारे मरने के बाद हमारे बाल-बच्चों को कोई तकलीफ नहीं होने पायेगी, तो ऐसा कौन आदमी है जो आराम से खाना-पीना नहीं चाहेगा ?[१६]

खिताब अस्वीकृत—जब लेखक रूप में प्रेमचन्दजी की ख्याति बहुत बढ़ गयी, तो सरकार ने उन्हें रायसाहबी का खिताब देना चाहा। यह अच्छा मजाक था, क्योंकि 'सोजे वतन' की कापियाँ तो जला दी गईं, और प्रेमचन्दजी की प्रतिभा का गला घोंट कर मारने की प्रत्येक चेष्टा की गई, उनको इन्हीं कारणों से परेशान होकर नौकरी छोड़नी पड़ी, और अब उन्हें खिताब दिया जाने लगा। उन दिनों सर माल्कम हेली युक्तप्रान्त के गवर्नर थे, अपने एक हिन्दुस्तानी मित्र के जरिये से उन्होंने प्रेमचन्दजी को यह खबर दी कि वे यदि रायसाहेबी का खिताब स्वीकार करें, तो सरकार उन्हें खिताब देने के लिए तैयार है। जिस प्रकार उन्होंने अलवर राज के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया था, उसी प्रकार उन्होंने खिताब स्वीकार करने में भी असमर्थता प्रकट की। उन्होंने कहा यदि मैं रायसाहेबी स्वीकार करता हूँ, तो फिर मैं जनता का आदमी न रह कर एक पिट्ठू रह जाऊँगा—'अभी तक मेरा सारा काम जनता के लिए हुआ है, तब गवर्नमेन्ट मुझसे जो लिखवायेगी, लिखना पड़ेगा।' नतीजा यह है कि उन्होंने सरकार को कहला दिया कि 'मैं जनता का तुच्छ सेवक हूँ, अगर जनता की रायसाहेबी मिलेगी तो सिर आँखों पर, गवर्नमेन्ट की रायसाहेबी की इच्छा नहीं।' इस प्रकार वे रायसाहेबी की बला से बचे। रायसाहेबी देने का जो प्रस्ताव आया था, उसमें बात केवल रायसाहेबी देने तक ही नहीं थी, सरकार किसी न किसी और तरीके से भी उन्हें खरीदना चाहती थी, किन्तु

[१६] प्रे० घ० पृ० १४६-५०

जब रायसाहेबी के प्रस्ताव को ही उन्होंने ठुकरा दिया तो आगे किसी बात का प्रश्न नहीं उठा।

शिवरानीजी की जेल-यात्रा—१९३० के आन्दोलन के जमाने में वह 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे। प्रेमचन्दजी स्वयं जेल जाने का इरादा कर रहे थे, किन्तु उनका स्वास्थ्य खराब होने के कारण शिवरानीजी यह नहीं चाहती थीं कि वे जेल जायँ, किन्तु वे यह समझती थीं कि इस राष्ट्रीय यज्ञ में पति-पत्नी में से किसी-न-किसी की आहुति होनी आवश्यक है। तदनुसार वे धड़ल्ले से काम करने लगीं। वे विदेशी वस्त्रों की दूकानों पर पिकेटिंग करती हुई गिरफ़्तार कर ली गईं। इन दिनों प्रेमचन्दजी क्या सोचते थे, इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं जैनेन्द्रजी को जो एक पत्र लिखा था, उससे सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं। उन्होंने लिखा था 'मेरी पत्नी जी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सज़ा पा गई हैं, कल फैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिन से इसीमें परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था, पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया।'[१७] उन दिनों प्रेमचन्दजी 'गबन' उपन्यास लिख रहे थे। जैनेन्द्रजी ने उल्लिखित पत्र को अपने संस्मरण में प्रकाशित करते हुये यह लिखा है कि 'यह भाग्य ही हुआ कि वे जेल नहीं गये, जेल के बाहर रहना ज्यादा कठिन तपस्या थी।' यह क्यों, यह बात समझ में नहीं आई। अवश्य लिखना बहुत बड़ी बात थी, किन्तु जेल के अन्दर भी यह लिखना जारी रह सकता था। हम इस सम्बन्ध में जब शिवरानीजी के संस्मरण को पढ़ते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि अपनी पत्नी के इस प्रकार जेल चले जाने से उनको बहुत परेशानी हुई, उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया, तथा वे वजन में भी घट गये, किन्तु ऐसा तो ज्ञात नहीं

[१७] प्रे० अ० पृ० ७८१

होता कि इस अर्थ में जैनेन्द्रजी ने कठिन तपस्या वाली बात लिखी हो।

'आज' में लेख, लेखक का कर्त्तव्य—प्रेमचन्दजी ने 'आज' में एक लेख लिखा जिससे हिन्दू जनता जिनमें अधिकतर कांग्रेसी थे, उन पर बहुत नाराज हुई। शिवरानीजी ने लिखा है कि वहाँ उन दिनों हिन्दू सभा का जोर था, कांग्रेसी भी हिन्दू-सभा का पक्ष लेते थे। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि अधिकांश कांग्रेसी साम्प्रदायिक विचार रखते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। जानकारों को यह मालूम है कि कांग्रेस के दफ़्तरों में बैठ कर लोग हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की बात करते हैं, किन्तु बाहर आपसी रूप से साम्प्रदायिकता भरी बातें करते हैं। शिवरानीजी लिखती हैं कि इस लेख के कारण "कई महाशय आये, और बोले—'आपने जो लेख लिखा है, उससे काशी के हिन्दू आपसे बहुत नाराज हैं।' उन आने वालों में अधिकतर कांग्रेसी थे।

बाबूजी जब अन्दर आये तो मैं बोली—ये लोग क्या कह रहे हैं?
—'कुछ नहीं, जी। वह लेख बड़ा सुन्दर है।'
मैं—'मारने की धमकी आखिर क्यों दे रहे हैं'?
—'यह सब हिन्दू सभा वालों का काम है।'
—'ये सब तो कांग्रेसी थे।'
—'आजकल ये लोग भी उसी के पक्षपाती हैं।'[१८]

इस पर शिवरानीजी बोलीं—ऐसा लेख आप क्यों लिखते हैं कि लोग दुश्मन बनें। कभी गवर्नमेन्ट, कभी पब्लिक, कोई न कोई तुम्हारा दुश्मन रहता ही है। आप ढाई हड्डी के तो आदमी हैं।

---

१८ प्रे० घ० पृ० २००

इस पर प्रेमचन्द्र ने जो कुछ कहा वह उनके विचार में लेखक का जो कर्त्तव्य है, उस पर रोशनी डालता है। उन्होंने कहा—लेखक को पब्लिक और गवर्नमेण्ट अपना गुलाम समझती है। आखिर लेखक भी कोई चीज है। वह सभी की मर्जी के मुताबिक लिखे, तो लेखक कैसा? लेखक का भी अस्तित्व है। गवर्नमेन्ट जेल में डालती है, पब्लिक मारने की धमकी देती है, इससे लेखक डर जायँ, और लिखना बन्द कर दें।

शिवरानी—सब कुछ करें, मगर अपनी जान का दुश्मन तैयार न करें।

आप बोले—लेखक जो कुछ लिखता है, अपनी कुरेदन से लिखता है।

—यह बात तो ठीक है, लेकिन रोज का झगड़ा ठीक नहीं।

—यह दुनिया ही झगड़े की है, यहाँ घबड़ा कर भागने से काम नहीं चलता। यहाँ मैदान में डटे रहना चाहिये।[१९]

लेखक के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी ने जो बातें कहीं हैं वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इसी बात-चीत में प्रेमचन्द ने और भी कहा—'लेखक हर आदमी की बात कैसे सोच सकता है? वह तो जी हूजूरी हुई। लेखक उसमें कहाँ रहा। लेखक किसी की परवाह किये बिना ही अपने विचार देगा, और हृदय से जनता उन विचारों को लेगी भी। और फिर जनता भेड़ भी तो है। जिसे माना उसीके इशारे पर चलती रही, यह कोई अच्छी बात नहीं। मेरी राय है जनता स्वयं अपना भला-बुरा निर्णय करे। यहाँ तो लोगों को लीडरी की पड़ी रहती है, तब भला वे कैसे जनता के हित की ही बात सोचें। हिन्दू-मुसलमान की लड़ाइयों में तो ये अपनी लीडरी चमकाते हैं।'

---

[१९] वही २०१

भले ही ऊपर कही हुई सब बातों से कोई सहमत न हो, किन्तु इन बातों में स्वतंत्रता की जो छाप है, उसे एक बहुमूल्य निधि मानना ही पड़ेगा। सरासर यह कहना जनता भेड़ है, ठीक नहीं, किन्तु जब इसके साथ पिछड़ी हुई शब्द का प्रयोग किया जाय तो यह मन्तव्य सही मालूम होता है। पिछड़ी हुई जनता अवश्य ही भेड़ की तरह होती है, इसका प्रमाण हम सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक कदम पर पा सकते हैं। लेखक लोकशिक्षक भी है, इसलिए वह न तो दमनकारी सरकार और न मूर्ख, अज्ञ, पिछड़ी हुई जनता के ही द्वारा परिचालित हो सकता है। प्रेमचन्दजी का जितना जीवन हम देख चुके हैं, उससे वे न तो कोई देवता ही ज्ञात होते हैं, और न दूध के धुले हुये ही साबित होते हैं, किन्तु एक लेखक के रूप में उन्होंने हमेशा अपनी स्वतंत्रता कायम रखी, किसी के हाथों बिकने से अस्वीकार किया, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द की कला में जो पुरुषत्व और ओज है, जो निर्भीकता है, वह उनके चरित्र का ही प्रतिफलन है। आज वाले लेख में उन्होंने क्या लिखा था, यह हमें ज्ञात नहीं है, किन्तु अपने मत को उन्होंने लल्लोपचो बिना किये रखा होगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रकाशक के रूप में—यों तो उनका असली काम लिखना ही रहा, किन्तु अब वे आगे चल कर प्रकाशक भी हो गये। वे बहुत पहले से ही एक प्रेस लेने की बात सोच रहे थे, यह हम पहले ही बता चुके हैं। एक लेखक के दिमाग में यह इच्छा क्यों उत्पन्न हुई, यह समझना उस हालत में कठिन न होगा जब कि हम इस बात को स्मरण रखें कि उनकी जिन किताबों से प्रकाशकों ने हजारों रुपये कमाये, उन पुस्तकों के लिए उन्हें नाम मात्र के पुरस्कार मिले। स्वाभाविक रूप से ऐसी हालत में एक लेखक के मन में यह इच्छा उठनी स्वाभाविक है कि वह अपनी पुस्तकें स्वयं प्रकाशित करे, जिससे उसे ढंग

से खाने के लिए रोटी तो मिल जाय। यदि हम यूरोप के लेखकों को देखें, तो देखेंगे कि वहाँ कोई लेखक प्रकाशन के पचड़े में पड़ना पसन्द नहीं करता। यह बात नहीं कि वहाँ के पूँजीवादी प्रकाशक लेखकों का शोषण नहीं करते, किन्तु यह शोषण हिन्दी से कहीं कम होता है, इसमें संदेह नहीं है। जो कुछ भी हो, इस प्रकार जो प्रेमचंदजी को प्रेस आदि लेना पड़ा, उससे साहित्य को हानि ही हुई, वह इस अर्थ में कि उन्हें अपने समय का एक भाग प्रेस चलाने के पचड़े में देते रहना पड़ा। जब प्रेस हुआ तो उसकी आनुसंगिक जितनी बातें थी, वे भी हुईं। एक बार इनके प्रेस में हड़ताल हुई। हड़ताल के कारण वे मैनेजर पर नाराज हुये। शिवरानीजी से बोले—'मैनेजर की ही सब शरारत है। कभी घड़ी को सुस्त कर देता है, कभी तेज कर देता है। मैंने एकान्त में बीसों बार समझा दिया कि बाबा ऐसा मत किया कर, पर माने तब न। फिर प्रेस में तो तरह-तरह के घाटे हैं, क्या इन्हीं मजदूरों के बल पर घाटे पूरे होंगे? हम लोगों को तो ज्यादा रुपये मिलते हैं, फिर भी खर्चे को पूरा नहीं पड़ता। तब गरीबों को कैसे पूरा पड़ेगा।......इन लोगों की तनख्वाह तब नहीं कटती जब ये हफ़्तों गायब रहते हैं, तब क्यों मजदूरों की ही तनख्वाह देर से आवें तो कट जाय? जरा भी गलती कहीं हुई कि चट निकाल कर दूसरे को बुला लिया।' इस प्रकार उनके विचार बहुत उदार थे, किन्तु विचार उदार होकर क्या करते? अब तो वे खुद ही शोषक के स्थान पर हो गये थे। प्रचलित समाज प्रकृति में उनकी भावुकता किसी काम की नहीं थी।

'हंस' और 'जागरण'—हाँ, हम कुछ अपने विषय से बहक गये। प्रेस लेने के कारण उनको नाहक की फिक्र हो गई, और उनके लिखने में बाधा पहुँचने लगी। इन दिनों वे 'हंस' और 'जागरण' भी निकालने लगे थे। बड़ी आशाओं के साथ उन्होंने इन पत्रों को

चलाया था, किन्तु उन्हीं के मुँह से उनकी परेशानियों का हाल सुना जाय—

"'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेन्स के साथ जमानत भी समाप्त हो जायेगी, पर नया आर्डिनेन्स आ गया, और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहेब जब नया डिक्लेरेशन देने गये तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत माँगी। अब मैंने गवर्नमेन्ट को एक स्टेटमेन्ट लिख कर भेजा है; अगर जमानत उठ गई, तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायेगी। छप, कट, सिल कर तैयार रखी है, अगर आज्ञा न दी गई, तो समस्या टेढ़ी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं, न प्रामसरी नोट, न सिक्युरिटी। किसी से कर्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है। चार-पाँच सौ बी०पी० आ जाते, कुछ रुपये हाथ आते, लेकिन वह नहीं होना है। इस बीच में 'जागरण' को ले लिया है। 'जागरण' के बारह अंक निकले, लेकिन ग्राहक संख्या दो सौ से आगे नहीं बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया, किन्तु पत्र नहीं चला। उन्हें उस पर लगभग १५००) का घाटा रहा। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया है। साप्ताहिक रूप से निकालने का विचार किया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा।...धन का अभाव है, 'हंस' में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ, लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका, कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हजारों का घाटा ही होगा। पर करूँ क्या, यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह कुछ चल जायेगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा।"[२०]

---

[२०] प्रे० अ० पृ० ७८२

फिल्म कम्पनी में—'हंस' और 'जागरण' से जब अधिक घाटा हुआ, तो इसकी फिक्र होने लगी कि कैसे यह घाटा पूरा किया जाय। इतने में बम्बई से एक फिल्म कम्पनी की ओर से वे बुलाये गये। शिवरानीजी ने इसका यह कह कर विरोध किया कि बम्बई की आबोहवा अच्छी नहीं है, उनका हाजमा खराब है, इसलिए उन्हें इस प्रस्ताव को न मानना चाहिये, किन्तु 'हंस' और 'जागरण' कैसे चलता। उन्होंने उन्हीं दिनों जैनेन्द्रजी को यह पत्र लिखा—

'बम्बई की एक फिल्म कम्पनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कन्ट्रेक्ट की बात है। ८०००) साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ, जब मेरे लिए इसके सिवाय कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहाँ चला जाऊँ, या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूँ।...... कम्पनीवाले हाजिरी की कोई कैद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूँ, जहाँ चाहे लिखूँ, उनके लिए चार-पाँच सीनरियाँ तैयार कर दूँ। मैं सोचता हूँ कि एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कन्ट्रेक्ट कर लूँगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हजार रुपये मिल जाया करें। उससे 'जागरण', 'हंस' दोनों मजे में चलेंगे, और पैसों का संकट कट जायेगा।'

फिल्म से निराशा—अन्त में वे बम्बई गये। कुछ दिनों के तजुर्बे से उन्हें ज्ञात हुआ कि वे फिल्मवालों के विचारों के साथ कदम रख कर नहीं चल सकते। वहाँ से उन्होंने जैनेन्द्रजी को लिखा—

'मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर (फिल्म निर्माता) जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उस लीक से जौ भर नहीं हट सकते। Vulgarity (इतरता) को ये Entertainment value (मनोरंजनमूल्य) समझते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र,

नकली लड़ाई, बोसेबाजी, ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फिल्म करते सन्देह होता है कि चले या न चले। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं।'

इन्हीं दिनों वे 'गोदान' लिख रहे थे। पत्र में लिखा कि 'गोदान के अन्तिम पृष्ठ लिखने को बाकी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। जी चाहता है यहाँ से छुट्टी पा कर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूं। वहाँ धन नहीं है, मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है जीवन नष्ट कर रहा हूँ।' कहाँ वे चलते समय शिवरानीजी से यह कह कर चले थे कि 'वहाँ जाने पर जो खास फायदा होगा, वह यह कि उपन्यास और कहानियाँ लिखने में जो फायदे नहीं हो रहे हैं उससे कहीं ज्यादा फिल्म दिखला कर हो सकता है। कहानियाँ और उपन्यास जो लोग पढ़ेंगे, वही तो उनसे लाभ उठा सकेंगे, फिल्म से हर जगह के लोग फायदा उठा सकते हैं'; और कहाँ जैनेन्द्र को लिखे हुये ये उद्‌गार।

उनके फिल्म—'मजदूर' नाम से उनका एक फिल्म निकला। उसके सम्बन्ध में उन्होंने जैनेन्द्रजी को लिखा—

"मजदूर तुम्हें पसन्द न आया, यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता हूँ। इसके बाद ही एक रोमांन्स जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मजदूर' में भी मैं इतना ज़रा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर। फिल्म में डाइरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डाइरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में लेखक की हुकूमत नहीं चल सकती। उसकी हुकूमत माने तभी लेखक रह सकता

है । वह यह कहने का [illegible]
आप नहीं जानते ।' इसके विरुद्ध डाइरेक्टर जोर से कहता है—'मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है । और हम यहाँ जनता की इस्लाह करने नहीं आये हैं । हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारा गरज है । जो चीज जनता माँगेगी, वह हम देंगे ।' इसका जवाब यही है—'अच्छा साहेब, हमारा सलाम लीजिये, हम घर जाते हैं ।' वही मैं कर रहा हूँ । मई के अन्त में काशी में अन्दा उपन्यास लिख रहा होगा । और कुछ मुझमें नई कला न सीख सकने की भी सिफत है । फिल्म में मेरे मन को सन्तोष न मिला । सन्तोष डाइरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झक मारकर पड़े रहते हैं मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो । इसलिए चला जा रहा हूँ । मैं जो प्लाट सोचता हूँ उसमें आदर्शवाद घुस आता है, और कहा जाता है उसमें entertainment value नहीं होता । इसे मैं स्वीकार करता हूँ । मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो न हिन्दी जाने न उर्दू । अंग्रेजी में अनुवाद करके उनको कथा का मर्म समझाना पड़ता है, और काम कुछ नहीं बनता । मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है । जो चाहा लिखा ।"

इंगलैंड नहीं गये—वे पहले तो बम्बई में अकेले गये थे, किन्तु कुछ दिनों बाद वहाँ अपने परिवार को भी लेते गये । बम्बई में उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा, फिर भी वे बराबर काम करते जाते थे । इसी बीच में स्टुडियोवालों ने उनसे यह कहा—'हमारे साथ आप एक साल के लिए इंगलैड चलिये ।' इस घटना के सम्बन्ध में शिवरानीजी लिखती हैं—"आप आकर के मुझसे कहने लगे, मुझसे स्टुडियोवाले कहते हैं कि एक साल के लिए इंगलैंड चलिये, वहाँ फिल्म तैयार करेंगे, और फिर एक साल वहाँ रहकर लौटने के बाद मैं चाहे जहाँ काम करूँ, मुझे दस हजार रुपया साल देते रहेंगे । पाँच फिल्मों के

लिए मुझे कहानियाँ तैयार करनी होंगी, एक तरह से ठेका समझ लो।" इस पर शिवरानीजी राजी नहीं हुईं, क्योंकि उन्हें डर था कि उनका स्वास्थ्य शायद विदेश यात्रा बर्दाश्त न कर सके। नतीजा यह हुआ कि वे इंगलैंड नहीं जा सके। प्रेमचन्दजी के जीवन में यह मौका बहुत अनोखा था। यह दुर्भाग्य की बात है कि प्रेमचन्द इंगलैंड नहीं जा पाये नहीं तो सम्भव है कि उनकी लेखनी से कोई नई तरह का उपन्यास साहित्य जगत के सामने आता।

बराबर बीमार—इसके बाद प्रेमचन्दजी बराबर कुछ न कुछ बीमार ही रहे। फिर भी आपका जीवन कर्म व्यस्त रहा। अमस्था कुछ न कुछ करना ही पड़ता था। कहीं इधर से बुलावा आता तो कहीं उधर से, एकाध जगह जाना पड़ता।

आम लोगों का संस्पर्श—१६३५ में वे बम्बई से अन्तिम बार गाँव में आये। मकान की छतें बुरी तरह टपक रही थीं। यह तय हुआ कि छत की मरम्मत से काम नहीं चलेगा बल्कि पूरी छत बनाई जाय। आप स्वयं बैठे-बैठे छत बनवाते रहे। कोई ऊपर से देखता तो यह ही मालूम होता कि यह मजदूरों पर चौकसी कर रहे हैं, पर वे असल में उन लोगों से बैठे-बैठे बातें किया करते थे। जो व्यक्ति सभ्य समाज के निमंत्रणों से उकताकर भागता था, उसके लिये इस प्रकार अनपढ़ मजदूरों से घंटों बातचीत करना आश्चर्यजनक होने पर भी कतई आश्चर्यजनक नहीं था। इन्हीं लोगों से जो बातचीत होती थी, उसीसे उनको अपने कथानकों को रूप देने तथा सजीव बनाने में मदद मिलती थी। उनके उपन्यासों में आम लोगों के जीवन का जो चित्रण मिलता है उसका उत्सस्थल यहीं पर है। हमें इस सम्बन्ध में गोर्की और एक हद तक शरत् बाबू की याद आती है। ये लोग भी कथानक की कल्पना नहीं करते थे, बल्कि लोगों में जाकर कथानक ढूँढ़ते थे क्योंकि तथ्य उपन्यास से भी आश्चर्यजनक होते हैं।

कौंसिल जाने से इनकार—१६३५ में चुनाव होने वाला था। शिवरानीजी ने कहा कि जब चुनाव हो तो आप खड़े हो जाइये। इस पर उन्होंने कहा कि उनके जीवन का ध्येय कौंसिल में जाने का नहीं है। शिवरानीजी ने पूछा कि फिर जीवन का ध्येय क्या है। इस पर आप हँसते हुए बोले—मेरा काम कौंसिल में काम करने वालों की समालोचना करना है।

इस पर शिवरानीजी बोलीं—क्या आपने समालोचना करने का ठेका ले लिया है कि घर में बैठे-बैठे सबकी समालोचना करते रहें।

प्रेमचन्दजी बोले—जो लेखक का काम है वही काम मैं करूँगा। आखिर वह लोग जो काम करेंगे तो उनकी समालोचनायें कौन करेगा?......तुम समझती हो कि जो नेता होता है उसमें गुण ही गुण होते हैं, अवगुण उसमें होता ही नहीं है! मैं तो समझता हूँ कि शायद ईश्वर भी निर्दोष न होगा। सच्चा समालोचक सबसे ज्यादा मूल्यवान काम करता है।

इससे ज्ञात होता है कि लेखक के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत उदार थे।

इसके बाद आप दिल्ली में और उसके बाद लाहौर में कहानी सम्मेलन में गये।

बीमार, पर फिर भी काम न रुका—१६३६ सोलह जून की बात है कि आप एकाएक घर लौटे तो यह शिकायत करने लगे कि पेट में दर्द हो रहा है। शिवरानीजी ने उन्हें उल्टी करवाई। फिर उनको पान इलायची दी गई। वे पान मुँह में डालने ही को थे कि फिर उन्हें कै आ गई। फिर एक और कै हुई। तिबारा जब कै होने लगी तो शिवरानीजी घबड़ा गईं। उसी दिन उन्हें खून के दस्त आने

लगे। उस दिन से न उन्होंने भर पेट खाना खाया, न नींद भर सोये। पहले होमियोपैथी दवा हुई फिर ऐलियोपैथी हुई। इस पर वे कुछ सँभले। फिर भला उनसे काम कैसे रुकता।

'आज' आफिस में गोर्की की मृत्यु पर सभा होने वाली थी। इसके लिये वे अपना भाषण तैयार करने लगे। जब शिवरानीजी ने इस पर आपत्ति की तो भी वे नहीं माने। बोले—लेखक के पास तो उसकी तपस्या ही होती है, वही वह सबको दे सकता है। उससे सब लोग लाभ भी उठाते हैं। लेखक तो अपनी तपस्या का कुछ भी अंश अपने लिये नहीं रख छोड़ता। और लोग जो तपस्या करते हैं वह तो अपने लिये। लेखक जो तपस्या करता है उससे जनता का कल्याण होता है। वह अपने लिये कुछ भी नहीं करता।

गोर्की पर भाषण—गोर्की के सम्बन्ध में उन्होंने इस अवसर पर कहा था कि भारतवर्ष के लोग तो अपनों को भी नहीं जानते, पर जब घर-घर शिक्षा का प्रचार हो जायेगा तो वे भी तुलसी सूर की तरह चारों ओर पूजे जायेंगे। इससे उनकी उदार हृदयता का पता मिलता है। गोदान लेखक के लिये गोर्की के प्रति यह प्रेम कोई आश्चर्य की बात नहीं है। 'गोर्की' के मरने की चर्चा वे कई दिनों तक करते रहे। जब-जब गोर्की के विषय में बातें करते, तब-तब उनके हृदय में एक प्रकार का दर्द-सा उठता दिखाई पड़ता। गोर्की के प्रति उनके दिल में असीम श्रद्धा थी। वही उनका अन्तिम भाषण था। गोर्की का कोई समकक्ष लेखक उनकी निगाह में नहीं आता था। गोर्की की चर्चा वे अक्सर उन दिनों करते।[२१]

इस अवसर पर उन्होंने जो भाषण दिया था, वही उनका अन्तिम भाषण साबित हुआ। उनकी तबीयत खराब रही, यहाँ तक कि खून के

---

[२१] प्रे० घ० पृ० २४३

कै भी जब कभी हो जाते थे। पर शिवरानीजी ने लिखा है कि एक दिन भी वे नहीं बैठे। उसीमें उन्होंने मंगल सूत्र के कितने ही सफे लिख डाले। 'गोदान' के बाद वे इसी उपन्यास को लिख रहे थे कि उसे सम्पूर्ण न कर पाये और इस दुनिया से चल बसे। अवश्य ही यह उपन्यास एक बहुत ही ऊँचे दर्जे का उपन्यास होता। तन्दुरुस्ती साथ नहीं दे रही थी। उनकी तबीयत गाँव जाने को कर रही थी, पर शिव-रानीजी ने जो यह देखा कि गाँव में जाने पर शायद इलाज न हो सके, इसलिये वह राजी नहीं हुई। फिर भी जब प्रेमचन्दजी ने अधिक जोर दिया तो शिवरानीजी हिचकिचाने लगीं। बीमारी अधिक रहने लगी, नया मकान बन रहा था। प्रेस भी उसी में लग रहा था। आप भी उसीमें काम करते थे।

अन्तिम दिन—उनके अन्तिम दिन का वर्णन जितने ब्यौरे के साथ लिखा जाना चाहिये, उतने ब्यौरे में नहीं लिखा गया है। फिर भी शिवरानीजी ने जितना लिखा है उसे मैं उद्धृत करता हूँ—

एक दिन बेहोशी दूर हुई तो बोले—शिवप्रसादजी गुप्त ने एक मातृ मन्दिर बनवाया है, महात्माजी उसका उद्घाटन करेंगे; उसे देखने के लिये लाखों की भीड़ वहाँ जमा होगी।

मैंने कहा—आप अगर तब तक अच्छे हो जायेंगे तो मैं भी आपके साथ चलूँगी।

आप हँस कर बोले—मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि रानी, तुम्हारी बातें सच निकलें। पर मैं देखता हूँ रानी, तुम्हारी इस जन्म की तपस्या सफल होती नहीं दीखती।

मैंने कहा—आप मन को क्यों छोटा करते हैं। हमने किसी का क्या बिगाड़ा है, भगवान हमारी आशा सफल करेंगे।

आप बोले—रानी, तुम मेरे पास से कहीं भी मत जाया करो।

तुम पास बैठी रहती हो तो मेरा धैर्य नहीं टूटता। कल तुमने जो मांस की यखनी खिला दी थी, वह मुझे नहीं पची। तुम ऐसी चीजें क्यों मुझे खिलाती हो ?

मैं बोली—डाक्टर की राय से मैंने वह चीज़ आपको खिलाई है। डाक्टर की राय मानूँ कि आपकी ?

आप हँस कर बोले—डाक्टर को तो तकलीफ नहीं है, तकलीफ तो मुझे है।

मैंने कहा—उससे आपको नुकसान क्या हो गया ?

आप बोले—रानी, देखा नहीं तुमने, कितने जोर का दस्त मुझे हुआ था।

मैं बोली—इससे तो फायदा ही है। सब पानी निकल जायगा।

आप चिन्ता के स्वर में बोले—पानी के साथ सब कुछ निकला जा रहा है रानी ?

मैं उनके ये शब्द सुन कर रो पड़ी। टप्-टप् कर के मेरे आँसू जमीन पर लुढ़क पड़े। यद्यपि मैं बड़ी कोशिश में रहती थी कि आपके सामने मेरी आँखों से आँसू न निकले। पर इस बार मेरा मन विवश हो गया। मेरे धैर्य का बाँध टूट पड़ा।

दूसरे दिन फिर आपको बेहोशी हुई। बहुत जोर का पाखाना भी हुआ। मैं उसे साफ करने के लिये बढ़ रही थी कि भाई ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा—बहन, वे अब नहीं रहे! कहाँ जाती हो ?

इस प्रकार सर्वकाल का एक महान कलाकार इस जगत से चला गया। जिस समय वे गये, उस समय हिन्दीवालों ने उन्हें नहीं पहचाना, आज भी पहचाना है या नहीं इसमें सन्देह है।

—————

वरदान

मुंशी शालिग्राम बनारस के पुराने रईस थे। जीवन वृत्ति वकालत थी, और पैतृक सम्पत्ति भी अधिक थी। उदार ऐसे थे कि साधु-ब्राह्मणों के खर्च में पच्चीस-तीस हजार की वार्षिक आय भी पूरी नहीं पड़ती थी। उनके चित्त की प्रवृत्ति वैराग्य की ओर थी। उन्हें बच्चों से बहुत प्रेम था। पहले अपना बच्चा नहीं था, पर जब से पुत्र पैदा हुआ मुंशीजी संसार के सब कार्यों से अलग हो गये, कहीं वे लड़के को हिंडोले पर झुला रहे हैं, और प्रसन्न हो रहे हैं। एक क्षण के लिये भी उसे अपने पास से अलग नहीं करते थे।

उनकी स्त्री सुवामा ने लड़के का नाम प्रतापचन्द्र रखा। लड़का अत्यन्त प्रतिभाशाली और रूपवान था।

इस प्रकार हँसते-खेलते ६ वर्ष व्यतीत हो गये। छठीं वर्षगाँठ आ पहुँची। मुंशी शालिग्राम का सांसारिक सम्बन्ध केवल दिखावटी था। वह निष्काम जीवन व्यतीत करते थे।

माघ का महीना था। प्रयाग में कुम्भ का मेला लगा हुआ था। मुंशी शालिग्राम का मन भी ललचाया। सुवामा न जाना ही चाहती थी न मुंशीजी को जाने ही देना चाहती थी। पर जब देखा कि मुंशीजी रोके न रुकेंगे, तब विवश होकर मान गई। उसी दिन मुंशीजी ग्यारह बजे रात को प्रयागराज चले गये। पर एक दिन बीता, दो दिन बीते, चौथा दिन आया और गत हो गया, यहाँ तक कि पूरा सप्ताह बीत गया, पर मुंशीजी न आये। तब तो सुवामा को आकुलता होने लगी। तार दिये। आदमी दौड़ाये, पर कुछ पता नहीं चला। दूसरा सप्ताह

भी इसी प्रयत्न में समाप्त हो गया। मुंशीजी के लौटने की जो कुछ आशा शेष थी वह सब मिट्टी में मिल गयी।

मुंशीजी का अदृश्य होना उनके कुटुम्ब मात्र के लिये ही नहीं, वरण सारे नगर के लिये एक शोकपूर्ण घटना थी। हाटों में, दूकानों में, चारों तरफ यही वार्त्तालाप था।

वैसे तो मुंशीजी का गुप्त हो जाने का रोना सभी रोते थे। परन्तु सबसे गाढ़े आँसू उन आढ़तियों और महाजनों के नेत्रों से गिरते थे जिनके लेन-देन का लेखा अभी नहीं हुआ था। उन्होंने दस-बारह दिन जैसे के तैसे काटे, पश्चात् एक एक करके लेखा के पन्ने दिखाने लगे। किसी ब्रह्मभोज में दो सौ रुपये का घी आया है और मूल्य नहीं दिया गया, कहीं से दो सौ का मैदा आया हुआ है, बजाज का सहस्रों का लेखा है। मन्दिर बनवाते समय एक महाजन से बीस सहस्र ऋण लिया गया था, वह अभी वैसे ही पड़ा हुआ है। लेखा की तो यह दशा थी। सामग्री की यह दशा है कि एक उत्तम गृह और तत्सम्बन्धिनी सामग्रियों के अतिरिक्त कोई वस्तु न थी, जिससे कोई बड़ी रकम खड़ी हो सके। भू सम्पत्ति बेचने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय न था, जिससे धन प्राप्त करके ऋण चुकाया जाय।

कुल पुरोहित पंडित मोटेराम शास्त्री ने आकर सुवामा से यह कहा कि कानूनी पेंच बता कर कर्जदारों के रुपये मार दिये जायँ, पर सुवामा ने ऐसा करने से इन्कार किया। उसने यह भी कहा कि नगर के भद्रपुरुष मुंशीजी का कर्ज चुकाने को तैयार हैं। बात की बात में पचास हजार रुपयों का बन्दोबस्त हो जायगा। बोले—सच तो यह है कि रुपया रखा हुआ है, तुम्हारे मुँह से हाँ निकलने की देर है।

सुवामा बोली—करमुक्ति के लिये प्रार्थना-पत्र मुझसे न लिखवा।

जा सकेगा और न मैं अपने स्वामी के नाम ऋण ही लेना चाहती हूँ। मैं सबका एक-एक पैसा अपने गाँव बेचकर चुका दूँगी।

ऐसा ही किया। पन्द्रवें दिन इलाका नीलाम पर चढ़ा। पचास सहस्र रुपये प्राप्त हुए। कुल ऋण चुका दिया गया। घर का अनावश्यक सामान बेच दिया गया। मकान में भी सुवामा ने भीतर से ऊँची-ऊँची दीवारें खिंचवा कर दो अलग-अलग खंड कर दिये। एक में आप रहने लगी, और दूसरा भाड़े पर उठा दिया।

मुंशी संजीवनलाल ने सुवामा का घर भाड़े पर लिया था। बड़े विचारशील मनुष्य थे। पहले एक प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त थे, पर स्वतंत्र विचारों के कारण इस्तीफा देकर अलग हो गये थे। उनका कुटुम्ब बड़ा न था। वह, उनकी पत्नी सुशीला और केवल एक पुत्री बृजरानी थी। थोड़े दिन में प्रताप और बृजरानी में बहुत मेल-जोल बढ़ गया। आखिर बिल्कुल बच्चे ही थे।

सुवामा के घर में केवल एक बुढ़िया महरी रह गई थी। ऊपर का काम-काज वह करती, और रसोई सुवामा स्वयं बना लेती। उस बेचारी को ऐसा कठिन परिश्रम के कारण रात को ज्वर आने लगा। जब तक प्रताप घर पर रहता था, तब तक वह मुखाकृति को तनिक भी मलिन नहीं होने देती। पर ज्योंही वह स्कूल चला जाता, त्योंही वह चद्दर ओढ़ कर पड़ी रहती। प्रताप बुद्धिमान लड़का था। माता की दशा प्रति दिन बिगड़ती देख कर ताड़ गया। वह एक दिन जाकर डाक्टर बुला लाया। इस प्रकार वह कुछ अच्छी हो गई। उधर विरजन बड़ी होने लगी और वह मन ही मन चाहने लगी कि प्रताप से उसका विवाह हो जाय। उसने एक दिन सुवामा से भी यह बात कह दी। मुंशी संजीवनलाल विरजन को संस्कृत पढ़वाते थे, पर वह प्रताप से चोरी-चोरी हिन्दी पढ़ने लगी, और जल्दी हिन्दी सीख गई।

डिप्टी श्यामाचरण की धाक सारे नगर में छाई हुई थी। उनकी पत्नी प्रेमवती एक दिन मिलने के लिये आई और बृजरानी को देखकर ऐसी मुग्ध हो गई कि उसे बहू बनाने के लिये तैयार हो गई। इस प्रकार संयोग ने आज उस विषैले विष का वृक्ष बोया जिसने तीन ही वर्ष में कुल का सर्वनाश कर दिया। भविष्य हमारी दृष्टि से कैसा गुप्त रहता है।

विवाह की तैयारियाँ होने लगी। सुवामा और सुशीला अब इसीमें समय काटने लगीं। मुंशी संजीवनलाल प्रातःकाल से साँझ तक हाट की धूल छानते, और विरजन जिसके लिये यह सब तैयारियाँ हो रही थीं अपने कमरे में बैठी हुई दिन-रात रोया करती। किसी को इतना अवकाश भी न था कि क्षण भर के लिये अपना मन बहलावे। यहाँ तक कि प्रताप भी अब उसे निठुर जान पड़ता था। प्रताप का मन भी इन दिनों बहुत मलिन था। जब कभी विरजन आती हुई दिखाई देती, तो चुपके से सरक जाता।

विवाह के केवल पाँच दिन रह गये। विरजन व्याकुल होकर अपने कमरे से निकली और प्रताप के कमरे में जा पहुँची। चतुर्दिक सन्नाटा छाया हुआ था। विरजन कमरे में गई तो क्या देखती है कि लालटेन जल रही है और प्रताप एक चारपाई पर सो रहा है। वस्तुयें सब इधर-उधर बेढंगी पड़ी हुई हैं। पुस्तकें फैली हुई हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस कमरे को महीनों से किसीने नहीं खोला। यह वही प्रताप है जो स्वच्छता को प्राणप्रिय समझता था। विरजन ने चाहा उसे जगा दूँ। पर कुछ सोच कर भूमि से पुस्तकें उठा-उठा कर आलमारी में रखने लगी। मेज पर से धूल झाड़ी, चित्रों पर से गर्द का पर्दा उठा दिया। अचानक प्रताप ने करवट ली और उसके मुँह से यह वाक्य निकला 'विरजन मैं तुम्हें भूल नहीं सकता।' फिर थोड़ी देर के पश्चात्—'विरजन! विरजन!! कहाँ जाती हो? यहीं बैठो।' फिर

करवट बदल कर 'न बैठोगी ? अच्छा जाओ। मैं भी तुमसे न बोलूगा।'

फिर कुछ ठहर कर—'अच्छा जाओ, देखें कहाँ जाती हो?' विरजन ने उसके हाथ में हाथ रख दिया। उसकी आँख खुल गई। एक मिनट तक उसकी भावशून्य दृष्टि विरजन के मुँह की ओर गड़ी रही। फिर वह चौंक कर उठ बैठा, और विरजन का हाथ छोड़ कर बोला—तुम कब आई? विरजन! मैं अभी तुम्हारा ही स्वप्न देख रहा था।

विरजन ने बोलना चाहा, परन्तु कंठ रुँध गया, और आँखें भर आईं।

—प्रताप—विरजन तुम मुझे भूल क्यों नहीं जाती?

विरजन ने आर्द्र नेत्रों से देख कर कहा—क्या तुम मुझे भूल गये?

प्रताप ने लज्जित होकर मस्तक नीचा कर लिया। थोड़ी देर दोनों चुप रहे। फिर विरजन ने पूछा—तुम मुझसे क्यों रुष्ट हो? मैंने कोई अपराध किया है?

प्रताप—न जाने क्यों अब तुम्हें देखता हूँ, तो जी चाहता है कि कहीं चला जाऊँ।

विरजन—क्या तुमको मेरी तनिक भी छोह नहीं लगती? मैं दिन-भर रोया करती हूँ। तुम्हें मुझ पर दया नहीं आती? तुम मुझसे बोलते तक नहीं। बतलाओ मैंने तुम्हें क्या कहा कि तुम रूठ गये।

प्रताप—मैं तुमसे रूठा थोड़े ही हूँ।

विरजन—तो मुझसे बोलते क्यों नहीं?

प्रताप—मैं चाहता हूँ कि तुम्हें भूल जाऊँ। तुम धनवान हो, तुम्हारे माता-पिता धनी हैं, मैं अनाथ हूँ। मेरा तुम्हारा क्या साथ?

विरजन—अब तक तो तुमने कभी यह बहाना न निकाला था।

यह कह कर विरजन रोने लगी। प्रताप बोला—हमारा-तुम्हारा

बहुत दिनों तक साथ रहा अब वियोग के दिन आ गये। थोड़े दिनों में तुम यहाँ वालों को छोड़ कर अपने ससुराल चली जाओगी। उस समय मुझे अवश्य ही भूल जाओगी। इसलिये मैं भी चाहता हूँ कि तुम्हें भूल जाऊँ। पर कितना ही चाहता हूँ कि तुम्हारी बातें स्मरण में न आवें, पर वे नहीं मानतीं। अभी सोते-सोते तुम्हारा ही स्वप्न देख रहा था।

प्रतापचंद ने विरजन के घर आना-जाना विवाह के कुछ पूर्व से ही त्याग दिया था। वह विवाह के किसी भी कार्य में सम्मिलित नहीं हुआ। यहाँ तक कि महफिल में नहीं गया। यहाँ तक कि मलिन मुँह किये मुँह लटकाये अपने घर बैठा रहता। विरजन की तो परछाँई से भागता। यदि कभी उसे अपने घर में देख पाता तो भीतर पग न देता। विरजन का पति कमलाचरण प्रतापचंद के स्कूल में ही पढ़ता था। प्रतापचंद को अब यह भावना हो गयी कि जिन लोगों ने मेरी स्वप्नवत भावनाओं का नाश किया है, उन लोगों को जलाऊँ और सुलगाऊँ। शनैः शनैः उसकी यह दशा हो गई कि जब स्कूल से आता, तो कमलाचरण के सम्बन्ध की कोई घटना अवश्य वर्णन करता। विशेष कर जब सुशीला बैठी होती थी। आज महाशय कमलाचरण तिपाई के ऊपर खड़े थे, मस्तक गगन स्पर्श करता था। परन्तु निर्लज्ज इतने बड़े कि जब मैंने उनकी ओर संकेत किया तो खड़े-खड़े हँसने लगे। आज बड़ा तमाशा हुआ। कमला ने एक लड़के की घड़ी उड़ा दी। मास्टर ने पकड़ लिया, और कोई तीन दर्जन बेतें लगायीं सड़ासड़।

समय-समय पर मुंशी संजीवनलाल ने भी कई बार प्रताप की कथाओं की पुष्टि की। कभी कमला हाट में बुलबुल लड़ाते मिल जाता, कभी गुंडों के संग सिगरेट पीते, पान चबाते, बेढंगेपन से घूमता हुआ दिखाई देता। मुंशीजी जब जमाता की यह दशा देखते तो घर आते

ही स्त्री पर क्रोध निकालते—यह सब तुम्हारी ही करतूत है। सुशीला को इससे बड़ा दुःख होता।

वृज रानी अभी मायके में ही थी। जिस दिन उसे ज्ञात हो जाता कि आज प्रताप बिना भोजन किये स्कूल जा रहा है, उस दिन वह सब काम छोड़ कर उसके घर दौड़ जाती, और भोजन के लिये आग्रह करती, पर प्रताप उससे बात तक न करता, उसे रोते छोड़ बाहर चला जाता। वह उस सम्बन्ध को जो ६ महीने में टूट जाने वाला था पहले ही से तोड़ देना चाहता था।

एक दिन प्रताप स्कूल से घर आया तो विरजन ने उसे खबर दी कि सुशीला मृत्यु-शय्या पर है। प्रताप यह सुन कर स्तब्ध हो गया। दौड़ा हुआ विरजन के घर गया और सुशीला की चारपाई के समीप खड़ा होकर रोने लगा। हमारा अन्त समय कैसा धन्य होता है! वह हमारे पास ऐसे-ऐसे अहितकारियों को खींच लाता है जो कुछ दिन पूर्व हमारा मुख नहीं देखना चाहते थे, और जिन्हें इस शक्ति के अतिरिक्त संसार की कोई शक्ति पराजित नहीं कर सकती थी। सुशीला की आँखे बन्द थीं। वह बोली—न जाने क्यों तुम मुझसे रुष्ट हो। ईश्वर जानता है मैं तुमको अपना लड़का समझती रही।

दो-तीन दिन में सुशीला चल बसी।

कमलाचरण के मित्रों की संख्या अपरिमित थी। सब शोहदे और गुंडे उसके दोस्त थे। ये लोग जब देखो तब लुंगाड़ेपन में ही वक्त बिताते। कहीं कबूतरबाजी करते थे, तो कहीं तीतर-बटेर लड़ाते थे।

कमलाचरण एक दिन अपने ही घर में सेंध डालता हुआ पाया गया। डिप्टी साहब ने यह समझा कि यह बहू के गहनों को चुराने गया था। बस उन्होंने उसे छात्रालय में भेज दिया। कमलाचरण का

दिल भला वहाँ कैसे लगता। वह वहाँ चोरी से निकल भागने लगा। कनकौश्रों की लड़ाई देख कर उसकी तबीयत में आई कि घर से मँगाऊँ और अपने हाथ की सफाई दिखाऊँ। पर भेजा हुआ आदमी घर से खाली हाथ आया, तब तो उसकी देह में आग-सी लग गई। हन्टर लेकर दौड़ा, और घर पहुँचते ही कहारों को एक ओर से सटर-सटर पीटना शुरू किया। कहारों का भली भाँति सत्कार करके अपने घर में पहुँचा, पर वहाँ देखा कि पतंग फटे हुए थे, चर्खियाँ टूटी हुई थीं, माँझे की लच्छियाँ उलझ पड़ी थीं। समझ गया कि माताजी की करतूत है। माँ पर बिगड़ा। विरजन ने इस समय एक रुक्का भेजा जिसमें लिखा था—मैंने अपराध किया है। अपराधिनी मैं हूँ, जो चाहे दंड दीजिये।

यह पत्र देखते ही कमला भीगी बिल्ली बन गया। बस उसने फौरन सब कनकौवे फाड़ डाले। कबूतर उड़ा दिये, चर्खियाँ तोड़ डालीं। प्रेमवती छाती पीट रही थीं कि लड़का न जाने क्या करने पर उतारू है। जब वृजरानी ने यह हाल देखा तो उसने फिर लिखा—प्रियतम, यह कोप किस पर है? और केवल इसलिये कि मैंने दो तीन कनकौवे फाड़ डाले? यदि मुझे ज्ञात होता कि आप इतनी-सी बात पर ऐसे क्रुद्ध हो जायेंगे, तो कदापि उन पर हाथ न लगाती। पर अब तो अपराध हो गया है क्षमा कीजिये। यह पहला कसूर है।

आपकी वृजरानी।

कमलाचरण यह पत्र पाकर बहुत खुश हुआ। वह चाहता था कि इसका उत्तर दें। पर एक सीधा-सा पत्र लिखना भी उसे कठिन मालूम हुआ।

शाम को जब डिप्टी साहब घर लौटे तो उन्होंने देखा कि आग का अलाव जल रहा है, पूछा तो मालूम हुआ कि दरबा जल रहा है।

फिर पूछा तो ज्ञात हुआ कि कमलाचरण दरवाजा भीतर से बंद किये बैठा है। बस डिप्टी साहब ने समझा कि लड़के ने विष खा लिया है। वे दौड़े, और बड़ी देर में उन्हें इतमीनान हुआ कि उसने विष नहीं खाया है।

प्रतापचन्द ने तय किया कि वह प्रयाग में रह कर पढ़ेगा। उसने सोचा कि विरजन से मिल कर तब जाऊँ। पर रास्ते में ही उसने तय किया कि नहीं मिलेगा, एक पत्र छोड़ आया। विरजन को यह बात मालूम हुई कि इस प्रकार वह दरवाजे के पास आकर लौट गया। स्टेशन के पास जाकर मिलने के लिये विरजन ने गाड़ी जुतवायी, पर वह भी कुछ सोच कर मिलने नहीं गई। जब विरजन ससुराल में रहने लगी और अपने प्राणनाथ पति को प्रतिक्षण देखने लगी तो शनैः शनैः चित्तवृत्ति में परिवर्तन होने लगा। ज्ञात हुआ कि मैं कौन हूँ, और मेरा क्या कर्त्तव्य है, और क्या उसके निर्वाह की रीति है। अगली बातें स्वप्नवत जान पड़ने लगीं। यह सब था। कमलाचरण भी प्रेम करता था, और वृजरानी भी प्रेम करती थी। परन्तु प्रेमियों के संयोग से जो हर्ष होता है, उसका विरजन के मुख पर कोई चिह्न दिखाई नहीं देता था। वह दिन बदिन दुबली और पीली होती जाती थी।

उधर प्रतापचन्द का जी प्रयाग में लगने लगा था। खेलों में उसका चित्त खूब लगता था। एक दिन क्रिकेट का मैच हो रहा था। प्रताप ने पचास रन किये। उसी पर उसके पक्षवालों की आशा थी, इतने में उसे एक तार मिला। बस तार मिलते ही वह फौरन मैच छोड़ कर चला गया। मालूम हुआ कि विरजन बहुत बीमार है। प्रताप उससे मिलने चला। माधवी बैठी पंखा झल रही थी। औषधियों की शीशियाँ इधर-उधर पड़ी हुई थीं। और विरजन चारपाई पर पड़ी हुई थी। जिस रोग को बड़े-बड़े वैद्य और डाक्टर अपने औषधि तथा उपाय से अच्छा न कर सके थे, उसे अश्रु बिंदुओं ने क्षण

भर में अच्छा कर दिया। विरजन अच्छी होने लगी। रोगी जब बीमार रहता है तो उसे सुध नहीं रहती, पर बीमारी अच्छी हो जाने के बाद विरजन को कमला का परिश्रम और उद्योग स्मरण हुआ और यह चिंता हुई कि इस अपार उपकार का प्रत्युत्तर क्या दूँ। वे तो ऐसे सच्चे दिल से मेरा प्रेम करें, और मैं अपना कर्त्तव्य भी न निभा सकूँ। ईश्वर को क्या मुख दिखाऊँगी। कमला और बृजरानी में दिन-दिन प्रीति बढ़ने लगी। एक प्रेम का दास था दूसरी कर्त्तव्य की दासी। दिवस आनन्द व्यतीत हो रहे थे। दोनों यही चाहते थे कि प्रेम-क्षेत्र में मैं आगे निकल जाऊँ। पर दोनों के प्रेम में अन्तर था। कमलाचरण प्रेमोन्माद में अपने को भूल गया। पर इसके विरुद्ध विरजन का प्रेम कर्त्तव्य की नींव पर स्थित था। हाँ यह आनन्दमय कर्त्तव्य था।

तीन वर्ष और व्यातीत हो गये। कमला स्कूल जाते पर पढ़ते नहीं। अन्त में डिप्टी साहब ने यह कहा—तुम्हारे भाग्य में विद्या लिखी नहीं है मेरी मूर्खता है, सो मैं उससे लड़ता हूँ। बृजरानी ने जब यह बात सुनी तो उसने कहा कि तुम प्रयाग जाकर पढ़ो।

इसके बाद कमला प्रयाग चला गया। इस बीच में उनमें बहुत दीर्घ पत्र-व्यवहार हुआ। दोनों तरफ से प्रेम की बातें होती थीं।

कमलाचरण जिस समय प्रयाग पहुँचा तो प्रतापचन्द ने उसका बड़ा आदर किया। समय ने उसके चित्त से द्वेष की ज्वाला शांति कर दी थी जिस समय वह विरजन की बीमारी का समाचार पाकर बनारस पहुँचा था, और उससे भेंट होते ही विरजन की दशा सुधर चली थी। उसी समय से प्रतापचन्द को विश्वास हो गया था कि कमलाचरण ने उसके हृदय में वह स्थान नहीं पाया है जो मेरे लिए सुरक्षित है। यह विचार द्वेषाग्नि को शांत करने के लिये काफी था। इसके अतिरिक्त वह यह भी समझता था कि उसीने सुशीला को कठोर बाणियों से मार डाला। इस कारण उसने कमलाचरण के साथ छोटा

भाई का-सा व्यवहार शुरू किया, पर कमलाचरण बन्धनहीन होने के कारण और भी उच्छृंखल हो गया। बोर्डिंग हाउस से मिली हुई एक सेठ की वाटिका थी, और उसकी देखभाल के लिए एक माली नौकर था। उस माली के सरयू नाम की एक कुआरी लड़की थी। बस कमला इस लड़की पर डोरे डालने लगा। वह एक दिन संध्या समय जब कोई नहीं था तो सरयू के पास पहुँचा, उसी समय माली आ गया और कमलाचरण भागा। सड़क पर ट्राम जा रही थी, उस पर जा बैठा और हाँफते-हाँफते अशक्त होकर गाड़ी के पटरे पर गिर पड़ा। वह प्रत्येक मनुष्य के आने-जाने पर चौंक कर दृष्टि डालता था, मानो सारा संसार शत्रु हो गया है। स्टेशन पर गया तो घबराहट के मारे गाड़ी पर जाकर बैठ गया, टिकट लेना भूल गया और टिकट कलेक्टर को देख कर गाड़ी से कूद पड़ा। बस वह मर गया।

डिप्टी श्यामाचरण ने एक मुकद्दमें में डाकुओं को सजा दे दी। बस डाकुओं में से जो बच गये थे, उन्होंने श्यामाचरण के वक्षस्थल पर गोली चला दी इस प्रकार वे भी मर गये।

प्रतापचन्द ने कमलाचरण की मृत्यु की बात सुन कर यह चाहा कि उसे अब बनारस जाना चाहिये। उसका हृदय विरजन से मिलने के लिये आकुल हो रहा था। प्रताप रेल से उतरा। उसका कलेजा बाँसो उछल रहा था, और हाथ-पाँव काँप रहे थे। जीवन में पहला ही अवसर था कि उसे पाप का अनुभव हुआ। सोचता-विचारता घंटे भर में मुन्शी श्यामाचरण के विशाल भवन के सामने रात में जा पहुँचा। यदि किसी ने देख लिया तो? कहीं ऐसा न हो कि मेरा यह व्यवहार मुझे सदा के लिये उसकी दृष्टि से गिरा दे। परन्तु इन सब संदेहों पर पिशाच का आक्रमण सफल हुआ। धर्म ने अपना सारा बल लगा दिया, पर मन का प्रबल वेग रुक न सका।

वह मकान में घुस कर दरार में आँख लगा कर भीतर का दृश्य

देखने लगा। विरजन एक सफेद साड़ी पहने, बाल खोले, हाथ में एक लेखनी लिये भूमि पर बैठे-बैठे कुछ लिखती जा रही थी। विरजन के पीले बदन पर एक ऐसा तेज था जो उसके हृदय की स्वच्छता और विचार की उच्चता का परिचय दे रहा था। उसके मुखमंडल की उज्ज्वलता और दृष्टि की पवित्रता में वह अग्नि थी, जिसने प्रताप की दुश्चेष्टाओं को क्षणभर में भस्म कर दिया। पिशाच यहाँ तक लाया, पर आगे न ले जा सका। वह उलटे पाँव फिरा, और ऐसी तीव्रता से वाटिका में आया और चहारदीवारी से बाहर कूदा, मानो कोई उसका पीछा करता है।

विरजन की कविता कमला नाम की पत्रिका में छपी तो धूम मच गई।

माधवी ने प्रताप को दो-चार बार देखा था। इसीमें वह उस पर आशक्त हो गई। विरजन ने उसकी यह दशा देखी तो उसे रुलाई आती कि यह आग मेरी ही लगाई हुई है।

प्रताप साधु हो गया और उसका चारों तरफ बहुत नाम हुआ। सुवामा चाहती थी कि प्रताप माधवी को लेकर घर बसावे, पर वहाँ तो वैराग्य आ चुका था। बृजरानी ने भी यह चाहा। माधवी एक रात को जब बालाजी अर्थात् प्रताप इधर पधारे थे तो उनके कमरे के सामने पहुँची। हृदय धड़क रहा था, पर भीतर जाने की हिम्मत न थी। इतने में माधवी ने देखा कि कमरे में आग-सी लग गई है। बस वह भीतर पहुँची और उसने आग बुझा दी। बालाजी जगे तो दोनों में बातचीत होने लगी। जब बातचीत होने लगी तो माधवी ने बताया कि मेरा ब्याह हो गया है।

बालाजी—और तुम्हारा पति ?

माधवी—उन्हें मेरी कुछ सुध ही नहीं है। इस प्रकार थोड़ी देर में

बालाजी को जाहिर हो गया कि माधवी उन्हीं पर आशक्त है। बोले—तुम जैसी देवियाँ भारत का गौरव हैं। मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ कि तुम्हारे प्रेम जैसी अनमोल वस्तु इस प्रकार मेरे हाथ आ रही है। यदि तुमने मेरे लिये योगिनी बनना स्वीकार किया है, तो मैं भी तुम्हारे लिये इस संन्यास और वैराग्य को त्याग सकता हूँ। जिसके लिये तुमने अपने को मिटा दिया है, वह तुम्हारे लिये बड़े से बड़े बलिदान करने में भी नहीं हिचकिचायेगा।

पर माधवी ने कहा—मैं संन्यास ले लूँगी और आपके साथ रहूँगी। पर आपका संग न छोड़ूँगी।

दूसरे दिन बालाजी एक गोशाला का शिलारोपण करने के लिये गये तो वहाँ देखा कि पंडितों के दो गिरोह में लड़ाई होने वाली है। बालाजी ने इन्हें शान्त किया। बालाजी ने एक परम प्रभावशाली व्याख्यान दिया। बालाजी जहाँ ठहरे थे वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कि सदिया में नदी का बाँध फट गया है और दस हजार आदमी बे-घर-द्वार हो गये। बस वे सब मोह-ममता त्याग कर वहाँ के लिये चल दिये।

माधवी योगिनी हो गई। और वह बालाजी के नाम पर कवितायें कहने लगी। इस योगिनी पर दृष्टि पड़ते ही दर्शकों के नेत्र पवित्र हो जाते हैं।

वरदान की आलोचना—'वरदान' प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में से है। सच तो यह है कि इसमें हम प्रेमचन्द का एक मामूली कथाकार के रूप में देखते हैं। इसकी कथा के साथ श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय के 'देवदास' की कथा की कुछ समता है। दोनों में से एक भी लेखक परस्पर से परिचित न होते हुए भी दोनों की कथाओं का सार भाग एक इसलिये हो सका है कि दोनों ने एक ऐसे विषय को लिया है जो बहुत आम है। एक युवक का एक युवती से प्रेम होता है।

किसी कारण से, सामाजिक कारण से दोनों का विवाह नहीं हो पाता। लड़की का विवाह दूसरे व्यक्ति से हो जाता है। अब इसके बाद क्या जटिलतायें उत्पन्न होती हैं, यही इन दोनों पुस्तकों में दिखलाया गया है।

यदि 'देवदास' के साथ हम 'वरदान' की तुलना करें तो हमें कहना पड़ेगा कि 'देवदास' एक परिपक्व कलाकृति है, जब कि 'वरदान' बहुत ही अजीब भटकती हुई कहानी है। 'देवदास' और 'वरदान' में ऊपर जो कुछ समता बताई गई उसके अतिरिक्त और भी बहुत सी समता है।

'देवदास' में देवदास और पार्वती में प्रेम है। शरत्‌बाबू ने इस प्रेम के चित्रण में हमारे सामने कई ऐसी तस्वीरें लाकर खड़ी कर दी हैं जो बहुत सुन्दर है और कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। जिस स्थान पर देवदास ने पार्वती को छड़ी से मारा है, और फिर उन्हीं के नीले दागों को परीक्षा करते हुए कहा है—बहुत लगा है, क्यों पारू?

पार्वती ने कंधा हिलाते हुए कहा—हाँ।

—तो तू क्यों ऐसा करती है, आहा इसीलिये तो क्रोध आ जाता है, इसीलिये तो मारता हूँ।

फिर बाद को पार्वती ने यह बताया था कि ये दाग मानो इन दोनों के प्रेम का इतिहास है जिसे देवदास ने लिख दिया है।

'वरदान' में इस प्रकार का कोई दृश्य नहीं आता। प्रेम को जितना गहरा करके दिखलाया जायगा, बिछोह उतना ही भयंकर होगा इस बात को 'वरदान' में निभाया नहीं गया।

अब हम 'देवदास' और 'वरदान' की कथा की एक विशेष एकता पर आते हैं। विवाह के केवल पाँच दिन पहले एक दिन रात को जिस समय चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था, उस समय विरजन प्रताप के कमरे में गई। इसी प्रकार जब पार्वती की शादी अन्यत्र होने लगी तो

वह भी एक बजे रात देवदास के पास पहुँची। विरजन जाकर देखती है कि प्रताप सोया हुआ है और उसका कमरा अस्त-व्यस्त पड़ा है, वह उसे साफ करने लगती है, पर पार्वती ने जाकर देखा कि देवदास सोया हुआ है और उसके सिरहाने कोई किताब खुली हुई रखी है। देखने से ऐसा मालूम हुआ कि देवदास अभी सोया है। पार्वती ने विरजन की तरह कमरा साफ नहीं किया, उसने बत्ती तेज कर दी और देवदास के पैर के पास बैठ गई। जिस समय विरजन कमरे में है उसी समय प्रताप ने करवट ली और उसके मुँह से कई बार विरजन का नाम निकला। विरजन का हाथ उसके हाथ में गया। साथ ही आँख खुल गई।

पर पार्वती ने देवदास के पैर के ऊपर हाथ रखकर धीरे से पुकारा—देवूदा।

इस प्रकार देवदास की नींद खुली। यह एक मजे की बात है कि प्रेमचन्द और शरत्‌चन्द्र दोनों ने यह दिखलाया है कि स्त्री ही आगे बढ़ कर उपचायिका बन कर अपने प्रेमिक के पास पहुँचती है। विरजन पहुँचती है तो प्रताप घबड़ाता नहीं है, क्योंकि इन दोनों में आने-जाने का रब्त-जब्त था। पर देवदास घबड़ा जाता है। बात यह है कि पार्वती बहुत रात करके आई है, और बहुत दूर चली है।

देवदास ने भय तथा उद्वेग से कहा—रास्ते में डर नहीं लगा ?

पार्वती ने मुस्करा कर कहा—मुझे प्रेतों का भय नहीं लगता।

प्रेतों का भय न लगे पर मनुष्य का तो भय लगता है ? क्यों आई हो ?

पार्वती ने उत्तर नहीं दिया। पर उसने मन ही मन कहा—इस समय शायद मुझे वह भी नहीं है।

—मकान में कैसे घुसी ? किसी ने देखा तो नहीं ?

—दरबान ने देखा है।

देवदास ने बिस्तरे पर से कूद कर किवाड़ा बन्द कर दिया, फिर उसने पूछा—किसी ने तुमको पहचाना ?

इस पर पार्वती ने कहा कि शायद किसी ने पहचाना हो, तब देवदास बोला—क्या कहती हो ? ऐसा काम तुमने कैसे किया पारू ?

पार्वती ने मन ही मन कहा—सो तुम कैसे समझोगे ?

देवदास ने कहा—तो कल तुम्हारा मस्तक लज्जा से कट नहीं जायगा ?

प्रश्न सुन कर पार्वती ने तीव्र साथ ही करुण दृष्टि से देवदास के चेहरे की तरफ कुछ देर तक ताक कर बिना किसी सङ्कोच के कहा—मस्तक तो जरूर कट जाता यदि मुझे यह निश्चय न होता कि तुम हमारी सारी लज्जा को ढँक दोगे।

हम यहाँ पर देवदास की पूरी कहानी न देंगे, पर यह स्पष्ट है कि पार्वती का प्रेम विरजन के प्रेम से कहीं अधिक तगड़ा है। यहाँ तक कि पार्वती का प्रेम देवदास के प्रेम से भी तगड़ा है। देवदास अभी अपने को समझ नहीं पाता है इसलिये जब पार्वती उससे यह कहती है कि पिता-माता की आज्ञा न मान कर मुझे ग्रहण कर लो, तो वह कोई निश्चित बात नहीं कह पाता। पर विरजन कोई बात कहने नहीं आई है। वह किसी प्रस्ताव को लेकर नहीं आई है, इस प्रकार विरजन की यह नैश यात्रा केवल इसलिये है कि अन्तिम बिदाई ली जा रही है। इस प्रकार विरजन का चरित्र पार्वती के मुकाबले में बहुत कमजोर है, और इसलिये उसमें दिलचस्पी कम पैदा होती है।

विरजन की शादी कमलाचरण नामक एक दुश्चरित्र नौजवान से होती है। पर पार्वती की शादी एक धनी दुआह से होती है। देवदास तथा प्रताप दोनों प्रेम करते हुए भी समाज के विरुद्ध विद्रोह नहीं करते। दोनों हट जाते हैं। देवदास आवारगी अख्तियार करता है, और प्रताप दूर पढ़ने चला जाता है। फिर जब कमलाचरण मर जाता

है तो प्रताप समझता है कि अब उसके लिये रास्ता खुल गया है, पर उसकी हिम्मत नहीं पड़ती। वह रात को विरजन के कमरे के किवाड़े तक जाकर लौट आता है, इसके बाद संन्यासी हो जाता है।

प्रेम में निराश होकर संन्यासी हो जाना भी स्वाभाविक है और आवारा हो जाना भी ठीक ही है। शरत्चन्द्र देवदास की आवारगी में ही चन्द्रमुखी के अनोखी चरित्र की सृष्टि करते हैं, पर 'वरदान' में हम ऐसा नहीं देखते।

'वरदान' का सबसे हलका हिस्सा वह है जिसमें वृजरानी के सम्बन्ध में यह दिखलाया गया है कि वह कमलाचरण से प्रेम से मिलती है और प्रेमपत्र लिखती है। यहाँ तो प्रेमचंद ने वृजरानी के चरित्र की बिल्कुल हत्या कर डाली है। यह मैं नहीं कहता कि परिवर्त्तन असम्भव है, पर जिस पृष्ठभूमि में यह परिवर्त्तन दिखलाया गया है वह जँचता नहीं है। इस बीच में यह भी दिखला दिया गया है कि वृजरानी प्रताप के प्रेम के कारण बहुत बीमार हो गई, और प्रताप के आने से ही अच्छी हुई। फिर भी उसी साँस में फौरन ही यह दिखलाया जाता है कि वृजरानी के नयनों में कमला के लिये प्रेमरस भरा हुआ था। यह कैसे हो सकता है। कमला के नाम विरजन के जो पत्र हैं, वे तो बिल्कुल ही विरजन को कमला की प्रेम भिक्षुका के रूप में दिखलाते हैं। विरजन लिखती है—तुम्हारी प्रेम पत्रिका मिली। छाती से लगाई ......कभी-कभी बेसुध हो जाती हूँ......तुम पाषाण हृदय हो, कठोर हो, स्नेहहीन हो, निर्दई हो, अकरुण हो, झूठे हो......। फिर वह हर पत्र में प्यारे यहाँ तक कि मेरे प्राणाधिक प्रियतम करके कमला को सम्बोधित करती है।

पार्वती भी अपने पति के पास जा कर रहती है और वहाँ घर देखती है, पर अपने पति के प्रति वह केवल एक कर्त्तव्य निभाती है। यह प्राणाधिक प्रियतमवाला किस्सा वहाँ कतई नहीं है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विरजन का चरित्र बिल्कुल हवा में उड़ता हुआ है। उसमें कोई सिर-पैर है ही नहीं। प्रताप का चरित्र बहुत कुछ निभा है पर अन्त में जाकर वह भी बिगड़ जाता है। पाँच मिनट माधवी से बात होते ही प्रताप, इस समय बालाजी यह जो कहता है कि यदि तुमने मेरे लिये योगिनी बनना स्वीकार कर लिया है, तो मैं भी तुम्हारे लिये इस संन्यास और वैराग्य को त्याग सकता हूँ। याने दूसरे शब्दों में वह माधवी से शादी करने के लिये तैयार हो गया। इस दृष्टि से देखा जाय तो 'वरदान' और 'देवदास' में कोई भी समता नहीं है। 'देवदास' तो तब तक जब तक कि प्रेम पर सामाजिक रोक रहेगी, एक अमर उपन्यास समझा जायेगा। इसके मुकाबिले में 'वरदान' तो प्रेम का एक तरीके से परिहास मात्र है।

इस पुस्तक में प्रेमचन्द अभी अपनी वस्तुवादी आत्मा को पहचान नहीं पाये हैं। वह खुद भटक रहे हैं। उनके पात्र-पात्रियाँ भी भटक रही हैं। लेखक आदर्शों की सृष्टि करना चाहते हैं, पर जैसा कि हम दिखा चुके कि आदर्श परिहास मात्र हो कर रह जाते हैं। वे अभी डर रहे हैं। कमलाचरण के मर जाने पर भी वे विरजन और प्रताप में मिलन नहीं कराते, और प्रताप तैयार होने पर भी माधवी को रोक देते हैं, इस प्रकार हमारे सामने जो उपन्यास आता है, वह वास्तविकता से बहुत दूर है। पर जैसा कि सारे प्रेमचन्द साहित्य में हमें मिलता है कि उनके सारे आदर्शवाद में भी छिपे रूप से वस्तुवाद अपना सिक्का जमा देता है। हम इसी बात को इस पुस्तक में भी पाते हैं।

'वरदान' की टेकनिक में कई तरह की गलतियाँ है। जिस समय डिप्टी श्यामाचरण की पत्नी प्रेमवती विरजन की शादी तय कर जाती है, उस समय लेखक कहते हैं 'इस प्रकार संयोग ने आज उस विषैले विष का बीज बोया जिसने तीन ही वर्ष में कुल का सर्वनाश कर दिया।' इस तरह से लेखक ने एक तरह से कथा भाग का अन्तिम

परिणाम बतला दिया। मैं यह नहीं कहता कि किसी भी हालत में लेखक अन्तिम परिणाम की ओर इशारा न करे, पर मेरा वक्तव्य यह है कि ऐसा उसी हालत में मार्जनीय है जब कि अन्तिम परिणाम बता देने से कहानी में तीक्ष्णता आ जाती हो।

'वरदान' में जहाँ यह दिखलाया गया है कि प्रताप जिस समय कमला की मृत्यु के बाद विह्वल होकर रात का विरजन के पास पहुँचा है, उस समय विरजन के तेज को देख कर वह उलटे पाँव चला गया। यह तेज क्या-क्या है। यदि इस प्रकार का कोई तेज होता तो दुष्टों की दाल न गलती। लेखक उसे मनावैज्ञानिक तरीके से दिखला सकते थे।

जिस समय लेखक किसी स्थान का नाम ले रहे हैं, उस समय उन्हें चाहिये कि उस स्थान से सम्बद्ध बातों को वस्तुवादी तरीकों से दिखलावे। यदि कोई उपन्यासकार कराँची का वर्णन करते समय यह दिखलावें कि वहाँ गंगाजी बह रही है तो यह हास्यास्पद होगा। लेखक ने इसी प्रकार जो इलाहाबाद में ट्राम दिखलाया है यह उचित नहीं कहा जा सकता।

इस पुस्तक में हम प्रेमचन्द को एक बार थानेदार का वर्णन करते पाते हैं और वहाँ हम देखते हैं कि थानेदार साहब एक डाके का तहकीकात करने गये और एक ही रस्सी में सारे गाँव को बाँध कर ले गये। इस प्रकार उनकी अन्य पुस्तकों में थानेदारों का जो काला चित्रण है उसकी एक झलक हम इसमें भी पाते हैं। इसके अतिरिक्त हमें इसमें 'गोदान' लेखक प्रेमचन्द की कोई बात दिखाई नहीं देती। यह विश्वास करने का जी नहीं चाहता कि जिसने 'गोदान' लिखा उसी ने 'वरदान' लिखा।

प्रतिज्ञा

अमृतराय और दाननाथ काशी के आर्य-मन्दिर में व्याख्यान सुनने गये। अमृतराय वकील हैं और दाननाथ अध्यापक। नगर में इस सभा की बड़ी धूम थी। सुप्रसिद्ध वक्ता पण्डित अमरनाथ ने विधवा विवाह पर भाषण दिया। उन्होंने विशेषकर विधुरों से यह प्रार्थना की कि वे कम से कम विधवा विवाह करें। पहले तो वक्ता ने उन लोगों से हाथ उठवाया जो विधुर हैं, तो मालूम हुआ कि सभा में बहुत से विधुर हैं। पर जब उन्होंने इन विधुरों में से उन लोगों को हाथ उठाने के लिये कहा जो विधवा विवाह करना चाहते हैं तो केवल अमृतराय ने ही हाथ उठाया। अमृतराय की पहली शादी उस वक्त हुई थी, जब वे कालेज में पढ़ते थे। एक पुत्र भी हुआ था, लेकिन स्त्री और पुत्र दोनों प्रसवकाल में ही संसार से प्रस्थान कर गये। अमृतराय की बहिन थी सो उसका ब्याह हो गया। पिता-माता भी हैजा से चल बसे। दो साल तक देशाटन करते रहे। लौटे तो होली के दिन उनके ससुराल में उनका न्यौता हुआ। छोटी साली प्रेमा सयानी हो गई थी। उनके ससुर साहब यह चाहने लगे कि उससे उनका ब्याह हो जाय। प्रेमा भी उन्हें चाहती थी।

इधर दाननाथ प्रेमा पर आसक्त थे, पर यह जान कर कि प्रेमा उन्हें नहीं चाहती, अमृतराय को चाहती है, वे इससे अलग थे। पर जब उन्होंने यह सुना कि अमृतराय मैदान से अलग हो गये, तो उनके मन में आशा का अंकुर फिर जग उठा। जिस आशा को उन्होंने हृदय को चीर कर निकाल डाला था जिसकी इस जीवन में वह कल्पना भी न

कर सकते थे, जिसकी अन्तिम ज्योति बहुत दिन हुए शान्त हो गई थी, वही आशा आज उनके मर्मस्थल को चंचल करने लगी।

लाला बद्रीप्रसाद ने (अमृतराय के ससुर) जब यह बात सुनी कि अमृतराय ने ऐसी प्रतीज्ञा कर ली है, तो बहुत उधेड़-बुन में पड़ गये। प्रेमा का हृदय काँप उठा। तीन साल अमृतराय को अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित कर के वह पूजा करती चली आती थी। उस मूर्त्ति को उसके हृदय से कौन निकाल सकता था।

प्रेमा का भाई कमलाप्रसाद अजीब आदमी था। वह अपनी स्त्री सुमित्रा से प्रेम नहीं करता था। उसने जो अमृतराय की बात सुनी तो बोला—है बिल्कुल सनकी। मैं तो समझता था कि कुछ समझ होगी, पर निरा पोंगा निकला।—वह विधवा विवाह की हँसी उड़ाने लगा। लोगों ने उसके वचन पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

पड़ोस की एक स्त्री पूर्णा से प्रेमा का बहुत प्रेम था। वह अक्सर प्रेमा के पास आती, और घंटों दोनों सखियों में घुटती रहती। होली का दिन था। पूर्णाके पति वसन्त कुमार भङ्ग की तैयारी कर रहे थे। भाँग छान कर वसन्तकुमार नहाने गये। घर से वादा करके चले थे कि जल्दी नहा कर आयेंगे, पर हवा ऐसी धीमी-धीमी चल रही थी कि जी ललचा गया। सहसा उन्हें बीच धार में कोई लाल चीज दिखाई दी। गौर से देखा तो कमल थे। सूर्य की किरणों में चमकते हुए वे ऐसे सुन्दर मालूम होते थे कि वसन्तकुमार का जी मचल गया। सोचा, अगर ये मिल जायँ, तो पूर्णा के लिये झूमक बनाऊँ। उसके हर्ष का अनुमान करके उनका हृदय नाच उठा।

जवानी की दीवानी में वे आगे बढ़ते गये। आखिर वह फूल मिल गया पर इतने थक गये थे कि जल समाधि हो गई। इस प्रकार पूर्णा विधवा हो गई।

बद्रीप्रसाद ने पूर्णा को असहाय देख कर यह तय किया कि किसी अच्छे बैंक में उसके नाम से चार हजार रुपये रख दिये जायँ। उन्होंने अपने पुत्र कमलाप्रसाद से ऐसा ही कहा। कमलाप्रसाद ने ऊपर से हामी भरी, पर भीतर से उसे बड़ा क्रोध आया। पर पिता की राय देख कर उसने लट्ठमार तरीके से इन्कार करना उचित न समझा। उसने खुद यह भार अपने ऊपर ले लिया और पूर्णा के पास पहुँचा। गया तो था वह इसलिये कि पूर्णा को मैके में भेजने की प्रेरणा दे, पर विधवा की सरल, निष्कलंक दीनमूर्ति देख कर उसे अपनी कुटिलता पर लज्जा आई। कौन प्राणी ऐसा हृदयहीन है जो किसी कोमल पुष्प को तोड़ कर भाड़ में झोंक दे। जीवन में पहली बार उसे सौंदर्य का आकर्षण हुआ। अँधेरे में दीपक जल उठा। उसने यह इरादा किया कि इसे घर ले चला जाय, और फिर...।

कमला ने उसके निकट सुमित्रा की बुराई की। बोला—इस स्त्री के कारण मेरी जिन्दगी खराब हो गई। मुझे मालूम ही न हुआ कि प्रेम किसे कहते हैं। मैं संसार में सबसे अभागा प्राणी हूँ।...

इस प्रकार की बातें बना कर वह पूर्णा को अपने घर ले आया। पूर्णा को यह आना कुछ अच्छा न लगा, फिर भी मजबूर थी। पति के मर जाने से वह बिल्कुल असहाय हो गई थी।

लाला बद्रीप्रसाद ने दाननाथ से ही प्रेमा का विवाह करने का निश्चय किया। उनकी पत्नी देवकी ने भी कोई आपत्ति नहीं की। प्रेमा ने इस विषय में उदासीनता प्रगट की। अब उसके लिये सभी पुरुष समान थे, वह किसी के साथ जीवन का निर्वाह कर सकती थी। दाननाथ को लालाजी का सन्देशा मिला, पर इस पैगाम को पाते ही वे फूल नहीं उठे। उनके मन में कुछ सन्देह था कि वे प्रेमा को सुखी कर सकेंगे या नहीं। उन्होंने इस प्रस्ताव को एकाएक स्वीकार नहीं

किया। अंत में अमृतराय ने उनको राजी किया और एक खत लिख कर लाला बद्रीप्रसाद को भेज दिया।

प्रेमा का विवाह दाननाथ के साथ हो गया। अमृतराय वनिता आश्रम खोलने के लिये चारों तरफ चन्दा करते फिर रहे थे। वे अपनी इसी धुन में मस्त थे।

पूर्णा के आने से कमला और सुमित्रा एक दूसरे से और भी अलग हो गये। कमलाप्रसाद लम्पट न था। सबकी यही धारणा थी कि उसमें चाहे और कितने ही दुर्गुण हों, पर यह ऐब न था। किसी स्त्री पर ताक-झाक करते उसे किसी ने नहीं देखा था। फिर पूर्णा के रूप ने उसे कैसे मोहित कर लिया, यह रहस्य कौन समझ सकता है। कदाचित् पूर्णा की सरलता, दीनता और आश्रयहीनता ने उसकी कुप्रवृति को जगा दिया। पूर्णा के विषय में उसे कोई भय नहीं था। पर यहाँ एक बाधा खड़ी हो गई वह सुमित्रा थी। सुमित्रा पूर्णा को एक क्षण भी अलग नहीं छोड़ती थी। इससे उसका मौका नहीं लगता था। उसने सुमित्रा से कहा कि कहाँ दिन भर तुम इसके साथ रहा करती हो, यह तुम्हारे सङ्ग के उपयुक्त नहीं है, पर उस दिन से सुमित्रा और भी परछाँही की तरह पूर्णा के साथ रहने लगी।

पूर्णा के लिये कमला व्याकुल हो रहा था। एक दिन वह बाजार से बंगाली मिठाई ले आया, और सुमित्रा को देते हुए बोला कि जरा अपनी सखी को भी चखाना। पर सुमित्रा ने एक भी मिठाई उसे न दी। दूसरे दिन कमला ने पूछा कि पूर्णा ने मिठाई पसन्द की होगी। इस पर सुमित्रा ने कहा—बिल्कुल नहीं, वह तो कहती थी कि मुझे मिठाई से कभी प्रेम नहीं रहा।

कई दिनों बाद कमला दो साड़ियाँ ले आया। और एकाएक जहाँ दोनो थीं वहाँ घुस कर बोला—एक तुम ले लो, एक पूर्णा को दे दो।

सुमित्रा ने ऐसा ढङ्ग किया कि साड़ी पूर्णा को नहीं मिली। ऊपर से उसने कुछ बुरे मन्तव्य किये। पूर्णा को सुमित्रा की कठोरता बुरी मालूम हुई। एकान्त में कमलाप्रसाद सुमित्रा को भले ही जलाते हों पर इस समय तो सुमित्रा ही उसे जला रही थी। कमला ने पूर्णा से अनुरोध किया कि वह साड़ी ले ले पर उसने कमला को विवश नेत्रों से देखा।

पूर्णा को यह सन्देह हुआ कि पति-पत्नी दोनों भिन्न-भिन्न कारणों से नाराज हो गये।

पूर्णा इस बात का अवसर ढूँढ़ने लगी कि कमलाप्रसाद से कुछ अलग बातचीत हो तो अपनी परिस्थिति साफ कर दे। दस-बारह दिन बीत गये। एक दिन आधी रात के बाद पूर्णा को सुमित्रा के कमरे का द्वार खुलने की आहट मिली तबसे कमलाप्रसाद बाहर सोते थे। सुमित्रा अपने कमरे से दबे पाँव निकल कर सशंक नेत्रों से ताकती हुई मर्दाने कमरे की ओर चली जा रही थी। पूर्णा समझ गई कि आज रमणी का मान टूट गया, सुमित्रा ने आज पति को मना लेने का संकल्प किया था पर एकाएक कमलाप्रसाद की आवाज सुन कर लौटी। सुमित्रा ने कमरे में जाकर दीपक बुझा दिया, कमरा बन्द कर लिया और सो गई। पूर्णा को इससे सौभाग्य के दिनों की एक बात याद आ गई। इसलिये उसने तय किया कि कमला को समझावे कि भाभी को ज्वर आया है आप अन्दर जाइये। पूर्णा इसी आवेश में कमला के कमरे के द्वार पर पहुँची। आहट पाते ही कमला ने द्वार खोल दिया। फिर पूर्णा समझाने लगी। कमला ने उसे कलाई पकड़ कर अन्दर खींच लिया और द्वार की सिटकिनी लगा दी। पूर्णा उसके स्पर्श से काँप उठी। कमला समझ कर अलग हो गया, और यह कहने लगा कि साड़ी लौटा देने पर उसे बड़ा दुख हुआ। फिर वह प्रेम निवेदन करने लगा। पूर्णा ने उसे मना किया। कहने-

सुनने पर कुर्सी पर बैठ गई। फिर उसे एकाएक साड़ियों की याद आई, जो उसकी संदूक में रखी थी। अब उसने वह साड़ी निकाली और पूर्णा से आग्रह किया कि वह पहने। फिर बहुत अनुरोध पर उसने साड़ी पहनी। अन्त में द्वार खोल कर वह आँगन की ओर चली। कमला ने उसे रोकने का साहस न किया। इतनी ही देर में पूर्णा के मनोभावों में कितने रूपान्तर हुए वह खड़ा यही सोचता रहा। पहले रोष, फिर हास्यविलास, फिर विराग।

प्रेमा पति के घर आकर पति की हो गई थी। पर दाननाथ को अब भी यह शंका बनी हुई थी कि प्रेमा को अमृतराय से प्रेम है। इस कारण अब दाननाथ को अमृतराय से द्वेष हो गया। अब दाननाथ ने प्रेमा के निकट अमृतराय की निंदा की तो प्रेमा को बुरा मालूम हुआ। इस पर दाननाथ और भी बुराई करने लगा। अब दाननाथ को व्याख्यान देने का सूझा सो वे कट्टरपन के पक्ष में बोले। दाननाथ को अब यहाँ तक क्रोध सवार हुआ कि वह इस बात की चेष्टा करने लगा कि अमृतराय की योजना फेल हो जाय।

कमलाप्रसाद तो अमृतराय से बिगड़ा हुआ था ही, उसने एक बार यह तय किया कि अमृतराय जिस सभा में बोलने वाले हैं उसमें कोलाहल मचवा कर उसे खतम कर दिया जाय। दाननाथ भी साथ हो लिया। प्रेमा ने यह तय किया कि अमृतराय के घर चलें और वहाँ उसे कहें कि आप सभा में न जायँ। घर जाने पर ज्ञात हुआ कि अमृतराय टाउन हाल में चले गये। तब वह हाल के अन्दर गई। भीड़ इतनी थी और इतने शोहदे जमे थे कि प्रेमा को मंच की ओर जाने का साहस नहीं हुआ। गुंडों ने खूब शोर मचाया। जब ज्यादा शोर बढ़ा तब प्रेमा आगे बढ़ी, और उसने अमृतराय के पक्ष में जोर का व्याख्यान दिया। लोगों के विचारों में क्रान्ति हो गई। जो विघ्न डालने आये थे वे भी पग उठे। जब प्रेमा ने चंदे के लिये

अपील की तो गुंडों ने भी चंदा दिया। सभा विसर्जित हुई तो अमृतराय ने प्रेमा से कहा—यह तुमने क्या अनर्थ कर डाला, प्रेमा! दाननाथ तुम्हें मार ही डालेगा।

प्रेमा ने हँस कर कहा—जब इन उजड्डों को मना लिया, तो उन्हें भी मना लूँगी।

अमृतराय ने कहा—अपनी भूल पर पछताता हूँ—प्रेमा ने कठोर होकर कहा कि आप अपने ही हाथों तो।

एक दिन पूर्णा के सामने ही सुमित्रा और कमलाप्रसाद में झगड़ा हो गया। जब कमला चला गया तो पूर्णा उसे समझाने लगी कि इस प्रकार झगड़ने से कोई फायदा नहीं, पर वह उससे भी लड़ बैठी। दिन भर पूर्णा मन मारे बैठी रही। अन्त में पूर्णा ने यह निश्चय किया कि घर छोड़ दिया जाय। तदनुसार वह कमलाप्रसाद से बिदा माँगने गई। कमला ने तपाक से स्वागत कर पूछा—कहाँ जाना चाहती हो।

इस पर पूर्णा बोली— कहीं न कहीं ठिकाना लग ही जायगा। और कुछ होगा तो गंगाजी तो हैं ही।

—तो पहले मुझे थोड़ा-सा संखिया देते जाओ।

इस पर पूर्णा ने तिरस्कारभाव दिखाया तो कमला ने हाथ पकड़ लिया और उसे कमरे के भीतर बन्द कर दिया। फिर कमला प्रेमप्रदर्शन करने लगा। उसने आत्महत्या की भी धमकी दे दी। उसने बड़ी-बड़ी बातें कह डाली, पर अन्त में पूर्णा उससे बच कर चली गई।

सुमित्रा ने एक दिन पूर्णा से कहा—मुझे सब मालूम हो चुका है। तुम उससे कहो कि तुमसे विवाह कर लें।

तब पूर्णा रो पड़ी तो सुमित्रा बोली कि इसे खूब दुत्कार दो। सहसा कमलाप्रसाद हाथ में एक पत्र लिये हुए आया, और बोला कि प्रेमा

ने उसे बुलाया है। पूर्णा ताँगे पर सवार हो गई तो कमला उसे बहका कर न जाने कहाँ ले गया। यह एक बँगला था। यहाँ से पूर्णा भागने लगी, तो कमला ने उसका हाथ पकड़ लिया। इस पर पूर्णा ने एक कुर्सी उठा कर उसे मारा और वह भाग गई। वह गंगा में डूबना चाहती थी, पर एक बूढ़े ने उसे अमृतराय के वनिता-आश्रम में पहुँचा दिया।

प्रेमा दाननाथ की खूब सेवा करती। पर दाननाथ प्रेमा की ओर से फिरे हुए थे, और प्रेमा पर भी उनके भाव अच्छे न थे। पर यहाँ यह गुल खिला कि लोग पूर्णा के सम्बन्ध में दानू को दोषी बताने लगे। अमृतराय ने एक लेख लिख कर परिस्थिति साफ की, और दानू को जनता की निन्दा से बचा लिया। फिर दानू और अमृतराय में सुलह हो गई। अमृतराय ने विवाह नहीं किया, कह देते थे कि वनिता-आश्रम के साथ विवाह किया है। पूर्णा आश्रम में कृष्ण-भक्ति करने लगी।

प्रतिज्ञा की आलोचना—'वरदान' की तुलना में प्रतिज्ञा एक सुलझा हुआ उपन्यास है, पर यह भी मध्यवित्तवर्ग के प्रेम आदि को लेकर लिखा गया है। यह 'वरदान' जैसे बिल्कुल हवा में उड़ता हुआ तो नहीं है, पर यह भी शासकवर्ग के उस eternal theme परकीया प्रेम को लेकर लिखा गया है। यों तो लोग कहने के लिये प्रेम को चिरन्तन विषय कहते हैं, पर क्या मध्ययुग क्या इस युग में असली eternal theme तो परकीया-प्रेम है। स्वकीया-प्रेम का तो इनके काव्यों तथा उपन्यासों में कोई स्थान नहीं है।

'वरदान' और 'प्रतिज्ञा' को साथ पढ़ते हुए एक बहुत मजे की बात सामने आती है। वह यह कि 'वरदान' में यह दिखलाया गया कि जब प्रताप कमला की मृत्यु के बाद विह्वल होकर रात को विरजन के पास पहुँचता है, उस समय विरजन के चेहरे पर के तेज को देख कर प्रताप

वापस चला गया। पर 'प्रतिज्ञा' में ऐसी कोई बात नहीं होती। कमलाप्रसाद बारबार पूर्णा का हाथ पकड़ता है, अन्तिमबार तो वह करीब-करीब उस पर बलात्कार कर देता है। वह ऐसा नहीं कर पाता इसका कारण यह नहीं कि वह पूर्णा की नैतिक-शक्ति के सामने परास्त हो जाता है, बल्कि इसका कारण यह है, कि वह उठा कर कुरसी दे मारती है जिससे उसके दाँत टूट जाते हैं और वह बेहोश हो जाता है। अवश्य यह कहा जा सकता है कि पूर्णा के मन का स्खलन हो चुका था, इस कारण उसके चेहरे पर ज्योति नहीं थी, पर ऐसा कहना तो बात को टालना ही होगा। इस प्रकार प्रेमचन्द इस पुस्तक में अधिक वस्तुवादी आधार पर हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'प्रतिज्ञा' न केवल 'वरदान' से बल्कि प्रेमचन्द की बहुत-सी पुस्तकों से श्रेष्ठतर है। इसमें मनुष्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म मनोभावों का सुन्दर चित्रण किया गया है। अवश्य आर्थिक मनुष्य नहीं, प्रेमिक मनुष्य। केवल पूर्णा के जीवन में ही हमारे सामने एक आर्थिक समस्या आती है। वह समस्या यह है कि जिस समाज में स्त्रियों का उत्पादन में कोई हिस्सा नहीं, और न उपार्जन का कोई जरिया है, उस समाज में विधवाओं की कितनी दुर्दशा होती है। विधवा की समस्या केवल सतीत्व की आध्यात्मिक समस्या नहीं बल्कि रोटी-दाल की समस्या है। यह 'प्रतिज्ञा' में बहुत अच्छी तरह सामने आ जाती है। यदि पूर्णा के सामने रोटी की समस्या न होती, तो वह कदापि बद्रीप्रसाद के घर में न आती, इस प्रकार कमलाप्रसाद से उसका पाला ही नहीं पड़ता। इस उपन्यास में यह साफ दिखाई पड़ रहा है कि पति पर रोटी के लिये निर्भर होना और अपनी कोई स्वतंत्र जीविका न होना, यह कितना खतरनाक है। इससे स्पष्ट ही यह निष्कर्ष निकलता है कि स्त्रियों का कुछ उपार्जन होना चाहिये।

अवश्य इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी जो पूर्णा को ले जाकर वनिता-

आश्रम में पटक देते हैं यह न तो वैधव्य का कोई हल है न पूर्णा की आर्थिक पराधीनता का कोई हल है। पर फिर भी समस्या तो आ ही जाती है। यह कोई कम सफलता नहीं है।

पूर्णा, कमलाप्रसाद और सुमित्रा के चरित्रों का अन्तर्द्वन्द्व लेखक ने दिखलाया है, वह बहुत ही सुन्दर है। प्रेमचन्द का कमजोर बिन्दु मनोविज्ञान बताया गया है, पर इसमें वे सफल उतरते हैं।

—: ० :—

सेवासदन और उसके बाद के उपन्यास

सेवासदन—यह उपन्यास इस प्रकार शुरू होता है—"पश्चात्ताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं; लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचन्द्र अपनी भलाई पर पछता रहे थे।" कृष्णचन्द्र एक ईमानदार दारोगा के रूप में चित्रित हैं। दारोगावर्ग में वे अपवाद-स्वरूप हैं, इस प्रकार पुलिस वालों पर छींटाकशी से इस उपन्यास का सूत्रपात होता है। दारोगाजी अपनी इमानदारी के कारण कुछ कमा नहीं पाये। पच्चीस वर्ष दारोगागीरी करने के बाद जब अपनी लड़की सुमन के विवाह करने की बात उनके सामने आती है, तब उनको अफसोस होता है कि क्यों न बेईमानी से धन इकट्ठा किया। आमतौर से समालोचकों ने, न तो पुलिसवालों पर न इस भयंकर छींटाकशी पर ही ध्यान दिया है, और न इस ओर ही उनका ध्यान गया है कि यह जो पच्चीस वर्ष बाद दारोगाजी यह कह रहे हैं कि 'धर्म का मजा चख लिया, सुनीति का हाल भी देख लिया, अब लोगों के खूब गले दबाऊँगा, खूब रिश्वत लूँगा'—इस कथन से वर्तमान समाज-पद्धति की कितनी बड़ी निन्दा छिपी हुई है, इसको किसी समालोचक ने देखा।

'दारोगाजी के हल्के में एक महन्त रामदास रहते थे। वह साधुओं की एक गद्दी के महन्त थे। उनके यहाँ सारा कारोबार श्री बाँकेबिहारी जी के नाम पर होता था। श्री बाँकेबिहारीजी लेनदेन करते थे, और ३२) रुपया सैकड़े से कम सूद न लेते थे। वही मालगुजारी वसूल

करते थे, वही रेहननामें बैनामें लिखते थे। श्री बाँकेबिहारीजी की रकम दबाने का साहस किसी का न था, और अपनी रकम के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे अधिक कड़ाई नहीं कर सकता था। श्री बाँकेबिहारीजी को रुष्ट करके इस इलाके में रहना कठिन था, महन्त रामदास के यहाँ दस-बीस मोटे-ताजे साधु स्थायी रूप से रहते थे। वह अखाड़े में दंड पेलते, भैंस का ताजा दूध पीते, संध्या को दुधिया भंग छानते, और गाँजे-चरस की चिलम तो कभी ठंडी न हो पाती थी। ऐसे बलवान जत्थे के विरुद्ध कौन सिर उठाता। महन्तजी का अधिकारियों में खूब मान था। श्री बाँकेबिहारीजी उन्हें खूब मोतीचूर के लड्डू और मोहनभोग खिलाते थे, उनके प्रसाद से कौन इन्कार कर सकता था। ठाकुरजी संसार में आकर संसार की रीति-नीति पर चलते थे।'

जिस समय दारोगाजी घूस लेने के लिए तैयार बैठे थे, उस समय श्री बाँकेबिहारीजी के अखाड़े के साधुओं ने चेतू नामक एक व्यक्ति को मारते-मारते इसलिए मार डाला कि उसने यज्ञ के लिए इलाके के प्रत्येक आसामी से हल पीछे जो पाँच रुपया चन्दा उगाहा जा रहा था, उसे देने से इन्कार किया था। इस हत्या की रपट लिखी गई थी। दारोगाजी ने बहुत सोच-विचार के बाद घूस लेकर इस मामले को दबा दिया, किन्तु वे इस कार्य में अभिज्ञ नहीं थे, इसलिए उन्होंने अपने नीचेवालों को इस रकम का हिस्सा नहीं दिया। नतीजा यह हुआ कि इसकी खबर ऊपर तक पहुँच गई। दारोगाजी गिरफ़्तार हुये। उनको पाँच वर्ष की कैद हुई। महन्तजी सात वर्ष के लिए और उन दो चेलों को जिन्होंने चेतू को मारा था आजन्म काले पानी का दण्ड मिला।

कृष्णचन्द्र की कैद हो जाने के बाद उनकी स्त्री गंगाजली अपनी दो लड़कियों सुमन और शान्ता को लेकर भाई उमानाथ के यहाँ चली

गई। सुमन बड़ी हो चली थी, किन्तु बिना रुपये के कहाँ शादी होती? अन्त में उसका विवाह पन्द्रह रुपये के नौकर गजाधरप्रसाद नामक एक दुआह से हो गया। इसी लड़की की शादी कराने के मन्सूबे के कारण घूस लेकर कृष्णचन्द जेल गये थे, अब उसका यह हाल हुआ। गंगाजली दामाद को देख कर बहुत रोई।

सुमन गृहकार्य में कुशल नहीं थी, उसे ही चौका-बर्तन करना पड़ता, वह चटोरी थी, खर्च करने की आदी थी। गजाधरप्रसाद गरीब थे, इसलिए सूम थे। जो कुछ भी हो इन दोनों में इन्हीं सब कारणों से कम बनती थी। फिर गजाधर के किराये के मकान के सामने भोली नामक एक गौनहारिन वेश्या रहती थी, पहले-पहल तो सुमन एक गृह-वधु के सहजात के कारण उसे बहुत नीच समझती थी, किन्तु जब उसने एक दिन उसके घर के जशन में अच्छे-अच्छे लोगों को बैठे देखा, तब उसमें जो पूँजीभूत असन्तोष था, उसके कारण उसने आँखें खोल कर देखा। उसने अपने पति को भी उस भीड़ में देखा था।

जब पति घर लौटा तो उसने पूछा कि यह सब कौन लोग बैठे हुये थे!

गजाधर—मैं सबको पहचानता थोडे ही हूँ, पर भले-बुरे सभी थे। शहर के कई रईस भी थे।

सुमन—क्या ये लोग वेश्या के घर आने में अपना अपमान नहीं समझते?

गजाधर—अपमान समझते तो आते ही क्यों?

सुमन—तुम्हें तो वहाँ जाते हुये संकोच हुआ होगा?

गजाधर—जब इतने भलेमानुष बैठे हुये थे, तो मुझे क्यों संकोच होने लगा। वह सेठजी भी आये थे जिनके यहाँ मैं शाम को काम करने जाया करता हूँ।

सुमन ने विचारपूर्ण भाव से कहा कि मैं समझती थी कि वेश्याओं को लोग बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

सुमन के मन में भोली के प्रति जो संकोच भाव था, वह जाता रहा। वह समझ गई कि वेश्याओं के प्रति यह घृणा केवल बनावटी है। पहले सुमन अपनी माँ को जो पत्र लिखती थी, उसमें वह लिखा करती मेरी चिन्ता मत करना, मैं बहुत आनन्द से हूँ। पर अब उसके उत्तर अपनी विपत्ति की कथाओं से भरे होते थे। गजाधरप्रसाद के साथ उसका बर्ताव पहले से कहीं रूखा हो गया। एक दिन गजाधर ने सुमन को भोली के साथ बातचीत करते हुये देख लिया, बस वह आगबबूला हो गया। सुमन ने कहा—क्यों भोली के घर जाने में कोई हानि है? उसके घर तो बड़े-बड़े लोग आते हैं, मेरी क्या गिनती है?

गजाधर—बड़े-बड़े भले ही आवें लेकिन तुम्हारा वहाँ जाना बड़ी लज्जा की बात है......। तुम क्या जानती हो कि जो बड़े-बड़े लोग उसके घर आते हैं, वह कौन लोग हैं? केवल धन से कोई बड़ा...... इत्यादि।

सुमन के मन में बात आ गई। उसमें धर्मनिष्ठा जागृत हो गई। भोली पर अपनी धार्मिकता का सिक्का जमाने के लिए उसने नित्य गंगा-स्नान करना शुरू किया। रामायण पढ़ने तथा सुनाने लगी। रामनौमी के दिन वह एक बड़े मन्दिर में जन्मोत्सव देखने गई। मन्दिर के आँगन में तिल रखने की जगह नहीं थी। सुमन ने खिड़की से झाँका तो क्या देखती है कि वही उसकी पड़ोसिन भोली बैठी हुई गा रही है। सभा में एक से एक बड़े आदमी बैठे हुये थे। कोई वैष्णव तिलक लगाये, कोई भस्म रमाये, कोई गले में कंठी माला डाले, और रामनाम की चादर ओढ़े, कोई गेरुयेवस्त्र पहने...। भोली जिसकी ओर कटाक्षपूर्ण नेत्रों से देखती थी, वह मुग्ध हो जाता था। सुमन ने घर पर आकर रामायण बस्ते में बाँध कर रख दी, गंगास्नान तथा व्रत से उसका मन फिर गया। भोली से

फिर उसका मेल बढ़ा, और गजाधरप्रसाद ने एक दिन भोली को अपने घर बैठे हुये सुमन से बात करते हुये देखा, फिर मियाँ-बीबी में इस पर बहस हुई। भोली की महफिलों में बैठनेवाले जिन लोगों को गजाधरप्रसाद ने पहले भले-बुरे दोनों का सम्मिश्रण बतलाया था, अब उसने उनके सम्बन्ध में जो मन्तव्य किये, वे ध्यान योग्य हैं। गजाधर बोला—आज-कल धर्म तो धूर्तों का अड्डा है। इस निर्मल सागर में एक से एक मगर-मच्छ पड़े हुये हैं। भोले-भाले भक्तों को निगल जाना उनका काम है। लम्बी-लम्बी जटायें, लम्बे-लम्बे तिलक छापे और लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ देख कर लोग धोखे में आ जाते हैं, पर वे सबके सब महा-पाखंडी...।

फिर एक बार सुमन सम्हली, गंगा नहाने जाने लगी। एक दिन वह गंगा नहा कर थकान के मारे एक बाग के एक बेंच पर बैठ गई तो वहाँ के चौकीदार ने उसे गवारिन समझ कर वहाँ से उठा दिया, किन्तु दूसरे ही क्षण जब दो वेश्यायें आईं तो उसी चौकीदार ने उनका स्वागत कर उन्हें बैठाया, और उनको सैर कराया। सुमन ने जो यह बात देखी, तो वह एकदम से उस चौकीदार से लड़ पड़ी। न मालूम इस लड़ने का क्या नतीजा होता, इतने में पद्मसिंह वकील तथा उनकी स्त्री सुभद्रा अपनी फिटन पर गंगा नहा कर लौट रहे थे। इन दोनों की दृष्टि सुमन पर पड़ी और सुमन को उन्होंने बचा लिया। वह फिटन पर घर लौटी। जब गजाधर ने यह देखा तो वह जलभुन गया, और स्त्री पर सन्देह करने लगा।

सुमन अब सुभद्रा के यहाँ अक्सर आने जाने लगी। पद्मसिंह म्युनिसिपल्टी के मेम्बर चुने गये, इसकी खुशी में तय हुआ कि होली के दिन उनके मकान पर भोली का मुजरा हो। सुमन भी रात तक वहाँ रही। उसने जो देखा कि भोली की बड़ी इज्जत हुई, तो वह फिर उधेड़-बुन में पड़ी। उसने खूब सोच कर देखा कि भोली से वह कहीं अधिक

खूबसूरत है, फिर भी उसकी कोई कदर नहीं। 'वह इस परिणाम पर पहुँची कि वह स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ हैं, उसकी दूकान खुली हुई है, मेरी बन्द है।...वह डालियों पर स्वच्छन्दता से चहकती है, मैं पिंजड़े में बन्द तड़पती हूँ। उसने लज्जा त्याग दी है, मैं उसे पकड़े हुये हूँ।'

जब सुमन घर पहुँची तो देखा गजाधर डंडा हाथ में लेकर सो गया है, बड़ी मुश्किलों से किवाड़े खुले। गजाधर ने उसको मै गहने के बक्स के निकाल बाहर किया, उसने जाकर सुभद्रा का आश्रय लिया। इधर गजाधर को जब यह मालूम हुआ कि सुमन ने वकील साहेब के यहाँ आश्रय लिया, तब उसने सबसे जा-जाकर वकील साहेब के चरित्र पर दोष लगाया। वकील साहेब को जब बाजार में अपनी बदनामी की बात मालूम हुई तो उन्होंने नौकर से कहलवा कर सुमन को घर से निकलवा दिया। यहाँ पर इस घटना से प्रेमचन्दजी समाज की ताकत का अच्छा दिग्दर्शन करते हैं। सुमन निकाली जा कर भोली के पंजे में फँसती है। भोली की भी कहानी सुमन से मिलती थी। उसकी कहानी उसीकी जबानी यों है—मेरे मा-बाप ने भी मुझे एक बूढ़े मियाँ के गले बाँध दिया था। उसके यहाँ दौलत थी, और सब तरह का आराम था, लेकिन उसकी सूरत से मुझे नफरत थी। मैंने किसी तरह छः महीने तो काटे, आखिर निकल खड़ी हुई। जिन्दगी जैसी नियामत रो-रोकर दिन काटने के लिए नहीं दी गई है। जिन्दगी का कुछ मजा ही नहीं मिला तो उससे फायदा ही क्या ? पहले मुझे भी डर लगता था कि बड़ी बदनामी होगी। लोग मुझे जलील समझेंगे। लेकिन घर से निकलने की देर थी, फिर तो मेरा वह रंग जमा कि अच्छे-अच्छे खुशामद करने लगे।

भोली के मुँह से गाने की लोग क्या कदर करते हैं, यह भी सुन लिया जाय। वह सुमन से कह रही है—यहाँ गाने का कौन पूछता है;

ध्रुपद और तिल्लाने की जरूरत ही नहीं, बस चलती हुई गजलों की धूम है। दो-चार ठुमरियाँ और कुछ थियेटर के गाने आ जायँ और बस—फिर तुम्हीं तुम हो।

सुमन एकबारगी गौनहारिन होने को तैयार नहीं होती, सिलाई से गुजारा करना चाहती है, किन्तु भोली के समझाने पर वह उसीके मार्ग की पथिक हो जाती है।

पद्मसिंह के एक बड़े भाई मदनसिंह थे। इन्होंने ही बड़े दुःख सह-सह कर पद्मसिंह को वकील बनाया था। इसलिए जब उनका लड़का सदन शहर में रहने आया तो पद्मसिंह ने उसकी बड़ी आवभगत की। उसके पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध किया गया, तथा उसकी हवाखोरी के लिए बहुत मुश्किल के रुपये निकाल कर एक घोड़ा खरीदा गया। सदन को दालमंडी और चौक की लत पड़ गई, और वह घूमते-घामते सुमन बाई के यहाँ पहुँचा। सुमन उसको चाहने लगी, क्या होता पता नहीं, किन्तु उसे मालूम हो गया कि सदन पद्मसिंह का भतीजा है। सदन को तो इस बात की पड़ी थी कि सुमन को खुश किया जाय, वह समझता था कि सुमन इसलिए उस पर प्रसन्न नहीं हो रही है कि वह उसे भेंट नहीं चढ़ा पाता, तदनुसार उसने अपने पिता के यहाँ पत्र लिख कर २५) रुपये मँगाये, एक साड़ी खरीद कर सुमन को पेश किया। इससे भी जब उसका मनोरथ सिद्ध न हुआ, तब उसने अपनी चाची का एक कंगन चुरा लिया, और उसे सुमन को पेश किया।

विट्ठलदास पद्मसिंह के मित्रों में थे। वे अपराजेय समाज-सुधारक थे, कहीं विधवा-आश्रम तो कहीं कुछ यही उनका काम था। ये वेश्याओं के मुजरा कराने के सख्त विरोधी थे, इसलिए जब मेम्बरी की खुशी में पद्मसिंह ने मुजरा करवाया था तो वे उससे बहुत नाराज हो गये थे। जब सुमन जाकर वकील साहेब के घर पर टिकी थी, उस समय गजाधर ने पहुँच कर विट्ठलदास को यह बताया था कि

देखिए वकील साहेब ने मुझ गरीब की स्त्री को लोभ दिखा कर अपने यहाँ बिठा लिया। विट्ठलदास नाराज तो थे ही, उन्होंने आव देखा न ताव इसको सत्य समझ लिया, और चारों तरफ वकील साहेब की बदनामी उड़ाने लगे। जब सुमन को पद्मसिंह ने घर से निकाल दिया, और वह सोन बाई होकर चौक में बैठ गई, उस समय पद्मसिंह ने एक पत्र लिख कर विट्ठलदास को इस घटना की सूचना दी, और यह बतलाया कि 'अब आपको भली-भाँति ज्ञात हो जायेगा कि इस दुर्घटना का उत्तरदाता कौन है, और मेरा उसे आश्रय देना उचित था या अनुचित।' यह पत्र विट्ठलदास के मुँह पर थप्पड़-सा पड़ा। वे तुरन्त सुमन के यहाँ पहुँचे, और उसे वहाँ से उबारने की चेष्टा करने लगे। विट्ठलदास में और सुमन में इस अवसर पर जो बातचीत हुई है, वह विशेष ध्यान योग्य है।

विट्ठलदास बोले—...जब हमारी पूज्य ब्राह्मण महिलायें ऐसे कलंकित मार्ग पर चलने लगीं, तो हमारे अधः पतन का अब वारापार नहीं है। सुमन तुमने हिन्दू जाति का सिर नीचा कर दिया।

सुमन ने गम्भीरभाव से उत्तर दिया—आप ऐसा समझते होंगे, और तो कोई ऐसा नहीं समझता। अभी कई सज्जन यहाँ से मुजरा सुन कर गये हैं। सभी हिन्दू थे, लेकिन किसी का सिर नीचा नहीं मालूम होता था। वह मेरे यहाँ आने से बहुत प्रसन्न थे। फिर इस मंडी में मैं ही एक ब्राह्मणी नहीं हूँ.....जब हिन्दू जाति को खुद ही लाज नहीं है, तो हम जैसी अबलायें रक्षा कहाँ तक कर सकती हैं।

विट्ठलदास ने बदनामी आदि का डर दिखलाया, सुमन ने बात काट कर कहा—मेरा तो यह अनुभव है जितना आदर मेरा अब हो रहा है, उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर

खड़ी भींगती रही, किसी ने भीतर जाने न दिया, लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ता था मानो मेरे चरणों से वह मन्दिर पवित्र हो गया।

अन्त में सुमन ने विट्ठलदास से यह कहा—'मैंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि अपने सत्य की रक्षा करूँगी, और ईश्वर चाहेंगे तो मैं अपने प्रण को पूरा करूँगी, गाऊँगी, नाचूँगी पर अपने को भ्रष्ट न होने दूँगी।' सुमन ने यह भी कहा कि यदि उसके गुजारे के लिए ५०) रुपये का प्रबन्ध हो जाय, तो वह यहाँ से हट जायेगी; किंतु विट्ठलदास बहुत दौड़-धूप करने के बाद भी इसका इन्तजाम करने में समर्थ न हो सके। फिर इस सहायता में से भी अधिकांश पद्मसिंह की आत्म-ग्लानिजनित दान था। विट्ठलदास बड़ी लगन के साथ कई रईसों के यहाँ गये, किन्तु सभी ने मुँह मोड़-सा लिया। इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने यह भी दिखलाया है कि कथित समाज के नेता न तो एक पतिता स्त्री को समाज में फिर से लेने के लिए तैयार हैं, न उसके गुजारे का प्रबन्ध करना चाहते हैं, फिर कुछ भी हो उस पर वह कलंक तो लगा ही रहता है, और यह कलंक वह शक्ति है जिसके कारण एक बार की पतिता चिरकाल के लिए पतिता होने पर बाध्य हो जाती है। इन अवसरों पर प्रेमचन्दजी ने यह भी दिखलाया है कि कैसे समाज के स्तम्भ-गण वेश्याओं के यहाँ जाते हैं, और उन पर कोई उँगली नहीं दिखाता, सारी आफत स्त्रियों की ही है। सुमन समाज की आँखों में पतिता है, यद्यपि वह शरीर से भ्रष्टा नहीं है, किन्तु चिम्मनलाल आदि वेश्यागामी होते हुये भी समाज के स्तम्भ हैं। प्रेमचन्दजी ने इस पहलू को सज्ञान रूप से दिखाया है, ऐसा शायद कहना उचित न होगा, किन्तु उन्होंने जो कथा कही है, उसमें से यह ध्वनि ही नहीं, बल्कि निष्कर्ष अवश्य है।

जो कुछ भी हो सुमन विट्ठलदास के समझाने पर मंडी से निकल

आई। हम यह बताना भूल गये कि सुमन ने वह कंगन वकील साहब को लौटा दिया था, किन्तु वह कैसे उसके हाथ लगाता, यह नहीं बताया था। जब सदन ने अपनी चाची के हाथ में फिर वह पुराना कंगन देखा तो वह घबड़ा गया, और सुमन के यहाँ जाने की हिम्मत नहीं हुई और वह कुछ दिनों में गाँव वापस चला गया। इस प्रकार सुमन जिस दिन मंडी छोड़ रही थी, उस दिन सदन वहाँ न पहुँच सका। प्रेमचन्दजी ने यह दिखलाया है कि सुमन जिस दिन मंडी छोड़ रही है, वह उस दिन अपने प्रेमिकों का कैसे मजाक उड़ा कर अलग हो रही है। उसने म्युनिसिपल कमिश्नर अबुलवफा की दाढ़ी में सिगरेट लगाने के बहाने आग लगा दी, सेठ चिम्मनलाल को तीन टाँग की कुर्सी में बैठा कर उसकी दुर्गति की। दीनानाथ पर वारनिश डाल दिया। ये दृश्य प्रेमचन्दजी की कला की अपरिपक्वता को ही सूचित करते हैं, अवश्य इसमें समाज के स्तम्भों की निन्दा का रुख भी स्पष्ट है।

सदन जब घर पर पहुँचा तो उसके पिता मदनसिंह ने उसके विवाह की तैयारी की। जिस लड़की से उसका विवाह तय हुआ, वह और कोई नहीं, हमारी पूर्वपरिचित शान्ता अर्थात सुमन की बहन थी। इस बीच में कृष्णचन्द्र अपनी सजा काट कर छूट गये थे, उनका अजीब हाल था। रात को चारपाई पर करवटें बदल-बदल कर यह गीत गाया करते—

अगिया लागी सुन्दर बन जर गयो

कभी-कभी यह गाते—

लकड़ी जल कोयला भयी और कोयला जल भयो राख।
मैं पापिन ऐसी जली कि कोयला भयी न राख॥

जाड़े के दिन में कृषकों की स्त्रियाँ हाट में काम करने जाया करती थीं, कृष्णचन्द्र भी हाट की ओर निकल जाते और वहाँ स्त्रियों से

दिल्लगी किया करते। वास्तव में कृष्णचन्द्र काम सन्ताप से जले जाते थे। वे नित्य सन्ध्या समय 'नीच' जाति के आदमियों के साथ चरस की दम लगाते दिखाई देते थे। उस असभ्य मडली में बैठे हुये वे अपने जेल के अनुभव वर्णन किया करते। वहाँ उनके कंठ से अश्लील बातों की धारा बहने लगती थी। बहनोई के इन कृत्यों से झल्ला कर उमानाथ ने एक दिन उन्हें चेतावनी दी तो वे उसको गालियाँ देने लगे, वे बोले—'तुमने मेरी स्त्री को मारा, मेरी एक लड़की को न जाने किस लम्पट के हाथ बाँध दिया (वे यह नहीं जानते थे कि सुमन पति के घर से निकल गई, गौनहारिन बनी, फिर इस समय आश्रम में है) और दूसरी लड़की से मजदूरिन की तरह काम ले रहे हो'—किसी तरह कृष्णचन्द्र शान्त हुये, किन्तु उमानाथ के मन में दाग रह ही गया।

शहर की म्युनिसिपिल्टी के सामने यह प्रस्ताव पेश होने वाला था कि वेश्याओं को नगर से बाहर निकाल दिया जाय। म्युनिसिपिल्टी की मीटिंग के पहले ही मुसलमान सदस्यों की अलग सभा हुई। कैसे इस प्रश्न में भी साम्प्रदायकता लाई गई इसका एक वस्तुवादी कलाकार के नाते प्रेमचन्दजी ने अच्छा चित्रण किया है, आश्चर्य यह है कि किसी भी समालोचक ने उनकी इस खूबी की ओर दृष्टि आकर्षित नहीं की है। हाजी हाशिम ने इस सभा में कहा—बिरादराने वतन की यह नई चाल आपने देखी? वल्लाह, इनको सूझती खूब है। बगली घूंसे मारना कोई इनसे सीख ले।......

अबुलवफा ने कहा—मगर अब खुदा के फजल से हमको भी अपने नफे-नुकसान का एहसास होने लगा। यह हमारी तायदाद को घटाने की शरीह कोशिश है। तवायफें ९० फीसदी मुसलमान हैं, जो रोजे रखती हैं, हजादारी करती हैं, मौलूद और उर्श करती हैं, हमको उनके जाति फेलों से कोई बहस नहीं है।

यह नहीं कि मुसलमानों में सभी इस तरह के हैं, तेगअली कहते हैं—मगर उनकी तायदाद क्या इतनी ज्यादा है कि उससे हमारे मजमूई वोट पर कोई असर पड़ सकता है।

एक दूसरे साहेब हकीम शोहरत खाँ बोले—जनाब मेरा बस चले तो तवायफों को हिन्दुस्तान से निकाल दूँ, इनसे एक जजीरा अलग आबाद करूँ......अगर मेरे मजहबी अकायद में फर्क न आये तो मैं यह कहूँगा कि तवायफें हैजे और ताऊन का अवतार हैं। हैजा दो घंटे में काम तमाम कर देता है, प्लेग दो दिन में, लेकिन यह जहन्नुमी हस्तियाँ रुला-रुलाकर और घुला-घुला कर जान मारती हैं। कितनी ही बीबियाँ उनकी बदौलत खून के आँसू रो रही हैं, कितने ही शरीफजादे उनकी बदौलत खस्ता और ख्वार हो रहे हैं। यह हमारी बदकिस्मती है कि बेस्तर तवायफें अपने को मुसलमान कहती हैं।

हिन्दू मेम्बरों में भी एक से एक कूढ़मग़ज हैं, वे भी इसे साम्प्रदायिक रंग देते हैं, किन्तु असल में उनका इसमें आर्थिक स्वार्थ है। मुसलमान मेम्बरों की सभा की बात सुन कर हिन्दू मेम्बरों की भी एक सभा हुई। उसमें चिम्मनलाल बोले—मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि हमारे मुस्लिम भाइयों ने हमारी गर्दन बुरी तरह पकड़ी है। चावल मंडी और चौक के अधिकांश मकान हिन्दुओं के हैं, यदि बोर्ड ने यह स्वीकार कर लिया, तो हिन्दुओं का मटियामेट हो जायेगा। छिपे-छिपे चोट करना कोई मुसलमानों से सीख ले। अभी बहुत दिन नहीं बीते कि सूद की आड़ में हिन्दुओं पर आक्रमण किया था। जब वह चाल पट पड़ गई तो यह नया उपाय सोचा। खेद है कि हमारे कुछ हिन्दू भाई उनके हाथों की कठपुतली बने हुए हैं। वे नहीं जानते कि अपने दुरुत्साह से अपनी जाति को कितनी हानि पहुँचा रहे हैं।

केवल इस पुस्तक में ही नहीं सारे प्रेमचन्द साहित्य में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध में यह स्वास्थ्यकर दृष्टिकोण हमें मिलता है,

और इस कारण इस साहित्य का पाठ एक बहुत ही मानसिक सतह को ऊँचा ले जानेवाला कृत्य हो जाता है।

सदन की बारात यथासमय शान्ता के यहाँ आती है, किन्तु ऐन मौके पर मदनसिंह को यह मालूम हो जाता है कि शान्ता की बहिन सुमन कुलत्यागिनी हो चुकी है, और दालमंडी में कोठे पर बैठती है। बस क्या था, बारात लौटने लगी। कृष्णचन्द्र को यह बात मालूम हुई कि बारात लौट रही है तब वह मदनसिंह के पास गये। जब उन्होंने बहुत जिद्द की कि उन्हें यह बताया जाय कि किस लिए यह शादी टूट रही है तो मदन ने उनसे बताया—अच्छा तो सुनिये, मुझे दोष न दीजियेगा। आपकी लड़की सुमन, जो इस कन्या की सगी बहिन है, पतित हो गई है, आपका जी चाहे तो उसे दालमंडी में देख आइये।

अब कृष्णचन्द्र को पहली बार सुमन के सम्बन्ध में असली बात मालूम हुई। आधी रात होते-होते डेरे-खेमे सब उखड़ गये।

वेश्याओं को शहर से निकालना चाहिये, इस पर अच्छी खासी बहस शहर भर में होने लगी, तथा क्वीन्स पार्क में रोज पक्ष-विपक्ष में भाषण भी होने लगा। एक वक्ता ने वेश्याओं को शहर में रखे जाने के पक्ष में यों भाषण दिया—'सच तो है कि यदि इनको निकाल दिया गया तो देवताओं की स्तुति करनेवाला भी कोई न रहे। वेश्यागृह ही वह स्थान है जहाँ हिन्दू-मुसलमान दिल खोल कर मिलते हैं, जहाँ द्वेष का वास नहीं है, जहाँ हम जीवन-संग्राम से विश्राम लेने के लिए, अपने हृदय में शोक और दुख भुलाने के लिए शरण लिया करते हैं। अवश्य उन्हें शहर से निकाल देना उन्हीं पर नहीं, वरन सारे समाज पर घोर अत्याचार होगा।

कृष्णचन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि सुमन वेश्या हो गई है, तो उन्हें यही उत्तम साधन मालूम हुआ कि चल कर तलवार से उसको

मारूँ और तब पुलिस में जाकर आप ही इसकी खबर दूँ। अन्त तक उन्होंने यह विचार छोड़ दिया, और नदी में डूब कर आत्महत्या कर ली। यदि हम कृष्णचन्द्र के जीवन पर यहाँ केवल इन तथ्यों को सामने रख कर विचार करें कि दारोगा रहते हुये, वे पचीस साल तक इमानदार रहे, फिर एक बार घूस लिया, उसके फलस्वरूप एक लड़की वेश्या हुई, एक लड़की की शादी टूटी, स्त्री बड़ी दयनीय दशा में मरी, स्वयं उन्होंने आत्महत्या की तो अजीब ही विचार मन में आते हैं। यह क्या है, पाप का फल ? हम आगे इस पर विचार करेंगे।

शान्ता को प्रेमचन्दजी ने इस रूप में दिखलाया है, कि शादी टूटने पर भी वह सदन को मानसिक रूप से अपना पति समझने लगती है। हद तो यह है कि उसने इसी आशय का एक पत्र पद्मसिंह को लिख भेजा। इसमें यह था कि 'शीघ्र सुधि लीजिये, एक सप्ताह तक आपकी राह देखूँगी, फिर आप इस अबला की पुकार न सुनेंगे।' पद्मसिंह ने जब यह पत्र पढ़ा तो विट्ठलदास की सलाह ली, यह तय हुआ कि जाकर इस लड़की को बचाया जाय, तदनुसार ये लोग उस लड़की को ले आये और उसे सुमन के आश्रम पहुँचा दिया। उस समय सुमन बहुत बीमार थी।

बोर्ड के प्रस्ताव के सम्बन्ध में बड़ी चहल-पहल रहती है, और अखबार वाले भी इसके पक्ष-विपक्ष में लिखते हैं। इस सम्बन्ध में 'जगत' के सम्पादक प्रभाकर राव एक विवेकहीन पेशेदार सम्पादक के रूप में सामने आता है। यह प्रभाकर राव पद्मसिंह के विरुद्ध लिखता है। सदन ने अपने चचा के पक्ष-समर्थन के लिए दो एक लेख 'जगत' में भेजे, किन्तु वे नहीं छपे, तब वह मोटा-सा सोटा लेकर वहाँ पहुँचा तो उसे सम्पादक से ज्ञात हुआ कि वह तो पद्मसिंह पर बड़ी रियायत कर रहा है। उसने कहा कि आप से कहने में कोई हानि नहीं है, कि उन्होंने कई महीने हुये सुमन बाई नामक वेश्या

को गुप्त रीति से विधवा-आश्रम में प्रविष्ट करा दिया, और लगभग एक मास से उसकी छोटी बहिन को भी आश्रम में ठहरा रखा है। मैं अब भी चाहता हूँ कि मुझे गलत खबर मिली हो, लेकिन मैं शीघ्र ही किसी और नियत से नहीं तो उनके प्रतिवाद कराने के लिए ही इस खबर को प्रकाशित कर दूँगा।

सदन यहाँ से आश्रम में पहुँचा। सुमन ने उसे शान्ता के सम्बन्ध में बहुत कायल किया। वह बगलें झाँकने लगा, मानो अपना मुँह छिपाने के लिए कोई स्थान खोज रहा है। उस दिन यह मामला यहीं तक रहा। सदन बड़ी उधेड़ बुन में पड़ गया। वह कुछ यों सोचता है—'मैं मानता हूँ कि माता-पिता की आज्ञा पालन करना मेरा धर्म है।......किन्तु उनके दुराग्रह पर मैं इस रमणी का तिरस्कार नहीं कर सकता, जिसकी रक्षा करना मेरा धर्म है।' उसने निश्चय किया कि पहले अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाय, अपना झोपड़ा बनाया जाय, तदनुसार वह इसी की फिक्र में हो गया। उसके पास एक मोहनमाला थी, उसे बेच कर उसने कुछ पूँजी इकट्ठी की। सदन ने एक नाव खरीद ली, और लोगों को पार उतारने का कारोबार करवाने लगा। सदन मल्लाहों का नेता हो गया। उसने अफसरों से लिखा-पढ़ी करके उन्हें आये-दिन की बेगारी से मुक्त करा दिया।

प्रभाकर राव ने अन्त में अपने पत्र में सुमन की बात छाप दी, आश्रम में हलचल मच गई, नतीजा यह हुआ कि विधवायें आश्रम छोड़कर भागने लगीं। सुमन और शान्ता ने यह तय किया, कि आश्रम छोड़ कर चल दिया जाय तदनुसार वे नदी पार करने गई तो वहाँ सदन से भेंट हो गई, सदन ने उनको अपने झोपड़े में रोक लिया। सदन ने शान्ता को ग्रहण करने की बात कही, शान्ता पर इस घटना का इतना असर पड़ा कि वह बेहोश हो गई। शान्ता को बेहोश देख कर सुमन बरस पड़ी वह बोली—तुमने उसके साथ जो अत्याचार किया, उसी का यह

फल है। तुमने उसके साथ यह अत्याचार केवल इसलिए किया कि मैं उसकी बहिन हूँ, जिसके पैरों पर तुमने वर्षों नाक रगड़ी, जिसके तलवे तुमने वर्षों सहलाये हैं...आज तुम आकाश के देवता बने फिरते हो। अँधेरे में जूठा खाने को तैयार, पर उजाले में निमंत्रण भी स्वीकार नहीं...कोई और स्त्री होती तो तुम्हारी बातें सुन कर फिर तुम्हारी ओर आँख उठा कर न देखती, तुम्हें कोसती...।

शान्ता के साथ सदन का विवाह हो गया। पद्मसिंह उसी दिन घर गये और उन्होंने भाई मदनसिंह को सब समाचार बताया। मदनसिंह आग बबुला हो गये, उनकी स्त्री ने कहा कि आज ही जाती हूँ, समझदार लड़के को वापस लाती हूँ।

सदन के स्वभाव में अब काया-पलट हो गया। वह प्रेम का आनन्द भोग करने में तन्मय हो रहा है। सुमन घर का सारा काम भी करती है, और बाहर का भी। शान्ता और सदन उससे उदासीन हो गये। शान्ता उस पर अविश्वास करती थी, उसके रूप लावण्य से डरती थी। सदन इस प्रकार सुमन से बचता था जैसे हम कुछ रोगी से बचते हैं। दोनों चाहते थे कि यह आस्तीन-साप आँखों से दूर हो जाय। सुमन पर यह रहस्य शनैः खुलता जाता था। धीरे-धीरे मल्लाहों को यह पता लग गया कि सुमन कभी दाल मंडी में बैठ चुकी है। अब मल्लाहों ने इस सारे घर का पानी पीना बन्द कर दिया। दूसरा साल जाते-जाते नौबत यहाँ तक पहुँची कि सदन जरा-जरा सी बात पर सुमन पर झुंझला जाता। अन्त तक एक दिन शान्ता ने सुमन के पूछने पर कह ही दिया—...लेकिन, बात यह है कि उनकी बदनामी हो रही है। लोग मनमानी बातें उड़ाया करते हैं। वह कहते थे कि सुभद्रा जी यहाँ आने को तैयार थीं, लेकिन तुम्हारे रहने की बात सुन कर नहीं आईं, और बहिन, बुरा न मानना जब संसार में यही प्रथा चल रही है तो हम क्या कर सकते हैं।

बहुत दिनों तक मदनसिंह लड़के पर नाराज रहे, किन्तु धीरे-धीरे पुत्र का प्रेम जोर करने लगा, अन्त तक वे उसके घर पर आये, सुमन ने बाहर से यह सुन लिया कि उसके सम्बन्ध में चर्चा हो रही है, और सदन की माँ भामा कह रही है कि 'मैं उसे यहाँ सोने न दूँगी, ऐसी स्त्री का क्या विश्वास।' अब वह उलटे पाँव लौट पड़ी, और उसकी भेंट स्वामी गजानन्द से हुई। यह उसी के पति गजाधर प्रसाद थे जो तब से साधु हो गये थे। गजानन्द ने सुमन को सेवाधर्म का उपदेश दिया। इस बीच में वेश्याओं की लड़कियों को लेकर एक अनाथालय खोला गया था, इसमें पचास कन्यायें थीं। गजानन्द ने सुमन से कहा कि वह इस अनाथालय के लिए एक पवित्र आत्मा की खोज में था, किन्तु उसे कोई ऐसी महिला न मिली, जो इस काम को सेवा तथा प्रेम भाव से करे। वह बोला—वात्सल्य के बिना यह उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता...मेरी प्रार्थना स्वीकार करोगी।

सुमन ने इस कार्य को स्वीकार कर लिया। इसी आश्रम का नाम सेवासदन है। सुमन इसी आश्रम के सेवा कार्य में अपना जीवन व्यतीत करने लगी।

\+ \+ \+

इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या कुछ और है, किन्तु इसका प्रारम्भ भरती में मौजूद बृटिश पुलिस पद्धति की निन्दा से होता है। जिसे हम सरकार कहते हैं, उसमें सबसे मुख्य वस्तु पुलिस, फौज और कचहरी है, क्योंकि सरकार इन्हीं की बदौलत अपने हुक्मों को मनवाती है, इसलिए पुलिस पद्धति पर हमला बृटिश शासन पर सीधा-सीधा हमला है। यह जो दिखाया गया है कि पुलिस विभाग में रहकर कोई आदमी भला नहीं रह सकता, और यदि अपवाद के तौर पर कोई भला भी रहे, घूस न ले, झूठी गवाहियाँ न दें, तो पनप नहीं सकता, इससे बढ़ कर बृटिश-भारतीय पुलिस की निन्दा और क्या हो सकती है?

ईमानदार दारोगा कृष्णचन्द्र इस पद्धति की चक्की में पड़ कर स्वयं जेल जाता है, अन्त तक आत्महत्या करता है, उसकी स्त्री बिलख-बिलख कर मर जाती है, उसकी एक कन्या कोठे पर बैठती है, उसकी दूसरी कन्या के यहाँ बरात आकर लौट जाती है—यदि इन बातों को ध्यान से देखा जाय तो यह पुलिस पद्धति की ही निन्दा है। आगे के उपन्यासों में विशेष कर कर्मभूमि में प्रेमचन्द बृटिश-भारतीय पुलिस पद्धति का पर्दाफाश करते नजर आते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने भारतीय जनता में आमतौर से प्रचलित, और सही कारणों से उद्भूत पुलिस विद्वेष का प्रतिफलन किया है।

बृटिश-भारतीय पुलिस पद्धति पर यह बौछार और वे फौरन ही महन्तों पर आक्रमण बोल देते हैं। ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि यह हमला केवल, ठलुआ, परोपजीवी, दुश्चरित्र लम्पट, कुकर्मी महन्त-वर्ग पर ही नहीं है, न यह हमला केवल धर्म पर है—जो उसका बाहरी रूप मात्र है, बल्कि यह हमला बीसवीं सदी में मौजूद सामन्तवाद पर है। बांके-बिहारी जी सेवार्थ जो पट्ठे रहते थे, दुबिया भाँग छानते थे, और कसरत करते थे, उनको हम महन्तजी या दूसरे शब्दों में धार्मिक भेष में अवस्थित और शायद सुरक्षित सामन्त सरदार के गुर्गों के रूप में पाते हैं। इन लोगों ने चेतू को जिस निर्दयता के साथ मार डाला, उसमें हम महन्तों के सामन्तवादी रूप को देख सकते हैं। चेतू की मृत्यु में हम वर्ग संघर्ष के सामन्तवादी रूप को मूर्त पाते हैं। अवश्य यह स्मरण रहे कि यह रूप विशुद्ध रूप से सामन्तवादी नहीं है, इसमें पूँजीवाद का भी पुट आ गया है, क्योंकि चेतू को मार डालने के तुरन्त बाद ही महन्तजी को दारोगाजी के शरणापन्न होकर घूस देने के लिए तैयारी करनी पड़ी। सामन्तवाद के के स्वर्णयुग में अर्थात् उसके अपने युग में उस पर यह सब बखेड़ा नहीं था। सामन्तवादी प्रभु अपने इलाके में बसे हुये अर्द्ध-गुलाम किसान को जानोमाल का सम्पूर्णरूप से

मालिक होता था। कुछ गहराई से देखने पर महन्तजी के सामन्तवादी अत्याचार में और अन्य सामन्तवादियों के अत्याचार में एक विशेष प्रभेद ज्ञात होगा। वह यह कि साधारण जमींदार या ताल्लुकेदार का अपने किसान पर जो कुछ भी रोब होता है, वह ऐहिक अर्थात् डंडे का और मुकदमें का रोब है, जेल भिजवा सकने, पिटवा सकने तथा बेदखल करने का रोब है, किन्तु बाँके बिहारीजी को इन शक्तियों के अलावा नरक भेजने का भी अख्तियार था। श्री बाकेबिहारीजी लेन देन में ३२) रु० सैकड़े से कम सूद नहीं लेते थे, सख्ती से मालगुजारी वसूल करते थे, विपत्तिग्रस्त किसान से रेहननामे बैनामें लिखाते थे, उनकी रकम दबाने का साहस किसी को नहीं होता था, और न अपनी रकम के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे रण मोल ले सकता था। कौन भला जानबूझ कर अपना इहलोक और उससे भी कहीं अधिक परलोक बिगाड़े। प्रेमचन्द ने जो इस पहलू का चित्रण किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार धर्म, परलोक का भय सम्बन्धी धारणायें उच्चवर्ग के स्वार्थ को सिद्ध करती हैं, और शोषित वर्ग को painlessly कष्टहीन रूप से लुटवाने में समर्थ होती हैं। सेवासदन में हम प्रेमचन्द के सम्बन्ध में केवल यह अनुमान ही कर सकते हैं कि वे धर्म, जन्मान्तर आदि मत के वर्ग चरित्र को समझते थे, किन्तु बाद को चलकर 'कर्मभूमि' में इस अनुमान की पुष्टि हो जाती है। उसमें हम चमारों के चौधरी को यह कहते पाते हैं कि पूर्व जन्म सम्बन्धी विचार इसलिए हैं 'जिससे गरीबों पर अपनी दशा पर सन्तोष रहे, और अमीरों के राग-रंग में किसी तरह की बाधा न पड़े, लोग समझते रहे कि भगवान ने हमको गरीब बनाया।'

बृटिश-भारतीय पुलिस पद्धति अर्थात् साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति तथा धर्म और सामन्तवाद पर चढ़ाई के साथ इस उपन्यास का सूत्रपात होने पर भी इस पुस्तक की केन्द्रीय समस्या

वेश्याओं का प्रश्न है। सुमन जिन परिस्थितियों में धीरे-धीरे कोठे पर जा बैठती है, उसका चित्रण अच्छा हुआ। पिता का जेल चले जाना, एक दुआह से शादी होना, फिर सामने समाज द्वारा 'भोली' की इज्जत होते देखना, साथ ही गरीबी, और रोटियों के लाले पड़ना, इन सब बातों के परिणाम स्वरूप वह यदि वेश्या जीवन स्वीकार करने के लिए बाध्य होती है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रहे कि सुमन का पालन एक मध्यवित्तवर्ग की लड़की की तरह हुआ था। उसमें उपार्जन की क्षमता नहीं थी, उसको जो कुछ भी शिक्षा दी गई थी, वह केवल इतनी ही थी कि वह जिस पुरुष के भी गले से बँध जाय, उसकी लौंडी बनकर रह सके। कुमारी अवस्था में पिता की, यौवन में पति की, और उसके बाद पुत्र की अधीनता में रहने के लिए जो और जितनी शिक्षा उपयुक्त है, वह और उतनी ही शिक्षा उसे मिली थी। वह स्वतंत्ररूप से अपने पैरों पर खड़ी नहीं हो सकती थी। ऐसी हालत में जब पति ने उसको निकाल दिया, फिर जहाँ आश्रय लेकर गई, वहाँ से भी निकाल दी गई तो उसके लिए इसके अतिरिक्त और क्या चारा रहा कि या तो वह आत्महत्या कर ले, या वेश्या जीवन ग्रहण करे। प्रेमचन्द ने बहुत खूबी के साथ सुमन के इस विकास को दिखलाया है। 'भोली' के सम्बन्ध में पहले उसके विचार बहुत भिन्न थे, किन्तु बाद को जब उसने देखा कि बड़े-बड़े माला-तिलकधारी उसकी इज्जत करते हैं, तो यह स्वाभाविक था कि उसके सम्बन्ध में सुमन के विचार बदल जाते। हमारे वर्तमान-समाज में सुमन की तरह प्रत्येक कुलवधू को यह देखने का मौका मिलता है कि वही समाज जो ऊपर से वेश्याओं को न मालूम क्या-क्या करता, भीतर से और दिल से उनकी कितनी इज्जत करता है, किन्तु फिर भी उनमें वह परिवर्तन नहीं होता जो सुमन में हुआ था, इसका कारण एक तो यह है कि पिता का एकबार बेइमानी करने के कारण जेल भेज दिये जाने से उसके

नजदीक सब नैतिक बन्धन बहुत कुछ शिथिल हो चुके थे, क्योंकि दिन-रात बेईमानी करने वाले दूसरे दारोगाओं का कुछ नहीं होता, और कृष्णचन्द्र को एक ही बार में जेल जाना पड़ा; दूसरी बात यह है कि उसे एक ऐसा पति मिला, जो उसको समझ नहीं सकता था; तीसरी बात यह है कि उसे अपने पतिगृह से निकाले जाने पर कहीं आश्रय नहीं मिला, फिर चौथी बात यह है और यह मुख्य बात है कि वह स्वयं अपनी रोटी चला नहीं सकती थी।

सुमन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने यह दिखलाया है कि वह वेश्यालय में पहुँच कर भी अपने हाथ से भोजन बनाती है। इस पर श्री जनार्दन झा ने यह कहा कि यह अस्वाभाविक है। वे कहते हैं 'सुमन उस विलास की जगह पर पहुँच कर भी अपने हाथ से भोजन बनाने का कष्ट क्यों और किस तरह वहन कर रही थी, यह समझ में नहीं आता।' झा जी का यह मन्तव्य मनोविज्ञान की अनभिज्ञता सूचित करता है। झा जी मनुष्य स्वभाव से यह आशा करते हैं कि जब एक क्षेत्र में उसके सब बन्धन—taboo या inlubrition टूट गये, तो प्रत्येक क्षेत्र में उसके सब बन्धन टूट जाने चाहिये। यह यांत्रिक तर्क का तकाजा अवश्य है, किन्तु जीवन की द्वन्दवादी वास्तविकता से परिचित लोग इसमें कोई भी अस्वाभाविकता नहीं देखेंगे। कुमारी एलगाकर्न नामक एक जर्मन विदुषी ने वर्लिन के वेश्यालयों की वेश्याओं के सम्बन्ध में में जाँच की तो उन्हें ज्ञात हुआ कि बहुत सी वेश्यायें नित्य ईश प्रार्थना करती हैं, यहाँ तक कि उपवास आदि भी रखती हैं, यद्यपि जहाँ तक पेशा करने का सम्बन्ध है, वे उसे बराबर करती हैं। यांत्रिक तर्कशास्त्र का तकाजा तो शायद यह हो कि वे ऐसा न करतीं, किन्तु वास्तविक रूप से जो तथ्य था, उसका हमें जो वर्णन मिला है, वह उसी प्रकार था जैसा हम बता चुके हैं। सुमन को इस प्रकार वेश्यालय में रहते हुये भी अपने अपने हाथ से भोजन पकाती हुई दिखा

कर प्रेमचन्द ने मनोविज्ञान के ज्ञान का ही परिचय दिया है; न कि इसके विपरीत।

सुमन का चरित्र इस प्रकार बहुत सफल रूप से चित्रित हुआ है, किन्तु कृष्णचन्द्र जेल से आकर जिस प्रकार स्त्रियों में बैठ कर फोश मजाक करते हैं, गाँजा, भाँग आदि पीते हैं, यह परिवर्तन उतनी अच्छी तरह चित्रित नहीं हुआ है। अतएव इस क्षेत्र में भी हमें यह समझ में आता है कि एकबार घूस लेते ही सजा पा जाने के कारण कृष्ण-चन्द्र की कुछ मानसिक विकृति हो जाती है, और उसकी अब तक की २+२=४ वाली धारणायें सब बिखर कर उड़ जाती हैं। चरित्र का अर्थ ही है अनुशासित इच्छा, किन्तु जब एक भयंकर धक्के से अनु-शासन की रीढ़ ही टूट जाती है, तो उस समय पहले की चरित्र सम्बन्धी मान्यतायें कैसे टिक सकती हैं! इस रूप में देखने पर कृष्णचन्द्र की परिणति तो ठीक ज्ञात होती है, किन्तु पूर्व धारणा और बाद की परिणति की बीच की सीढ़ियाँ गायब हो जाने से चरित्र में कुछ अस्वाभाविकता आ जाती है। कृष्णचन्द्र के चरित्र को इस प्रकार चित्रित करना चाहिये था, जिससे उस पर पाठक की सहानुभूति का उद्रेक हो, किन्तु इसके बजाय पाठक उसके बाद के जीवन को उदासीनता के साथ ऐसे देखता है, मानो वह कोई freak of nature या अस्वाभाविक व्यक्ति हो। यों तो सुमन के चरित्र का विकास अच्छी तरह कदम-ब-कदम दिखलाया गया है, किन्तु सुमन के प्रति भी पाठक की सहानुभूति नहीं उत्पन्न हो पाती। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द शरत बाबू के मुकाबिले में घटिया साबित होते हैं। हमने विशेषकर इस सम्बन्ध में शरत बाबू का नाम इसलिए लिया कि शरत बाबू के उपन्यासों में वेश्याओं का जितना सजीव और सहानुभूति पूर्ण चित्रण है, इतना विश्व-साहित्य में भी कम उपलब्ध हैं। कृष्णचन्द और सुमन के जीवन को कार्य कारण परम्परा को बहुत बड़ी हद तक सफलता के साथ दिखा जाने पर भी इस

न्यूनता के कारण सेवासदन में जीवन का संचार कम होता है। यहीं पर प्रेमचन्द की कला उनके विचारों की उदात्तता, उनके विद्रोह की तीव्रता, समाज पत्र के उनके आन्तरिक ज्ञान तक पहुँच नहीं पाती। सदन के चरित्र में उन्होंने जो परिवर्तन दिखलाया है कि कहाँ तो वह एक अल्हड़ नौजवान था, और कहाँ वह एकदम समाज को तिरस्कार कर शान्ता से शादी कर लेता है, इस परिवर्तन का यथेष्ट कारण नहीं दिखलाया गया।

इस उपन्यास का सबसे कमजोर, शिथिल, और असम्बद्ध हिस्सा वह है जिसमें म्युनिसिपिलिटी के सदस्यों की तथा अन्य सार्वजनिक वक्ताओं की तथा उनके तर्कों की बात चित्रित है। यह हिस्सा बहुत कुछ उखड़ता हुआ, तथा मुख्य कथानक से अपरिहार्य-रूप से सम्बद्ध नहीं ज्ञात होगा, फिर भी वस्तु-दर्शी कलाकार के नाते उन्होंने जीवन में जो कुछ देखा था, उसका मित्र आ जाने के कारण वर्णन कहीं कहीं बहुत ही वस्तु अनुयायी हो जाता है। देवताओं की स्तुति करने के लिए वेश्याओं की जरूरत है, एक वक्ता ने इस तर्क को सुन कर भले ही हमें हँसी आवे, किन्तु जिन जिन देशों में देवदासी प्रथा रही है, उनमें इसी प्रकार की धारणा प्रचलित थी। इसी प्रकार के अन्य कई दिल-चस्प अंश इसमें हो हुये भी इन स्थानों पर यह कहानी निसन्देह रूप से पतली पड़ गई है।

प्रेमचन्दजी ने स्वयं लिखा है कि 'उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना वैचित्र्य से रोचक बनायें, लेकिन शर्त यह कि प्रत्येक घटना असली ढाँचे से निकट सम्बन्ध रखती हो, इतना ही नहीं बल्कि उसमें इस तरह घुल मिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाय, अन्यथा उपन्यास की दशा उस घर की-सी

हो जायगी जिसके हर एक हिस्से अलग-अलग हों।'[१] यद्यपि उन्होंने ऐसा लिखा है, किन्तु सब जगह वे इसको निभा नहीं पाये।

श्री रामरतन भटनागर इसलिए प्रेमचन्द पर बहुत गरम हुये हैं कि सेवासदन में वेश्या समस्या की कोई हल नहीं है। वे कहते हैं 'सुमन समाज में स्वीकृत नहीं हो सकी है, पद्मसिंह अब भी उससे बचे-बचे रहते हैं, शान्ता और सदन का परिश्रम समस्या का कोई हल उपस्थित नहीं करता। यदि दो-चार उत्साही युवक वेश्याओं से विवाह भी कर लें तो भी परिस्थिति का अन्त नहीं हो जाता। प्रस्ताव तो समस्या को और भी पीछे छोड़ देता है। जब वेश्यायें रहेंगी ही, तो बात क्या हुई? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द समस्या के आर्थिक या मनोवैज्ञानिक पहलू के भीतर नहीं घुसते। वे मध्यवर्ग की सुधारवादी प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते।' क्या उपन्यासकार का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक समस्या को एक हल पेश कर दे? फिर हल पेश करने के तरीके भी तो हो सकते हैं। यदि उपन्यासकार यह दिखादे कि किन कारणों से समस्या का रूप यों है, इसके पीछे कौन से आर्थिक-मनोवैज्ञानिक कारण हैं, दूसरे शब्दों में वह यदि रोग का निदान कर दे, और रोग मुक्ति किस दशा में हो सकती है, इसका इशारा कर दे, तो क्या हम यह न समझेंगे कि उसने अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया? दार्शनिक-सामाजिक निबन्धकार तो हल पेश करते ही रहते हैं, कलाकार क्या उसी प्रकार से प्रत्येक समस्या को हल पेश करेगा, या उसके हल में और दूसरों के पेश किये हुये हल में कुछ फर्क होगा? यदि हाँ तो वह फर्क क्या हैं। इस बात पर यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि कलाकार को हल इस रूप में पेश करना पड़ेगा कि हल तो आ जाय, किन्तु यह जरूरी नहीं कि वह दूसरों की तरह लट्ठ मार तरीके से आवे। सच तो यह है कि

---

[१] कु० वि० ६६

हल जितने ही सूक्ष्म तरीके से आवेगा, (अवश्य सूक्ष्मता का अर्थ यह नहीं है कि इन भुज पकीरो हो, या हल ही लुप्त हो जाय), उतना ही कला का परिपाक अच्छा होगा। यों तो प्रत्यक्ष हल देने के लिए party literature या दल का साहित्य काफी है, फिर balles letters या सुकुमार साहित्य की आवश्यकता क्या है ?

यदि इस दृष्टि से देखे तो हम यह कदापि नहीं कह सकते कि सेवा-सदन में वेश्या-समस्या का हल नहीं है। रहा उन्होंने जो अन्त में सबको आश्रम में डाल दिया है, वह उनका एक प्रिय ढंग है, किन्तु यह ढंग उन्हें जितना भी प्रिय रहा हो, हम जानते हैं कि वह कोई हल नहीं है। बहुत सम्भव है कि वे स्वयं इसी को एक टालू हल समझते हों, किन्तु एक वस्तुवादी लेखक जितना अपनी रचना में सज्ञान रूप से रखने देना चाहता है, उससे कहीं अधिक उसमें हो सकता है। सेवा-सदन का आश्रम भले ही सज्ञान प्रेमचन्द के निकट इस विकट समस्या का एक हल ज्ञात हुआ हो, किन्तु उनकी रचना ही पुकार-पुकार कर कह रही है कि यह कोई हल नहीं है। उनकी रचना से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि इस समाज के आमूल परिवर्तन के बगैर किसी भी हालत में वेश्या-समस्या का हल नहीं हो सकता। अन्त में जो सुमन के सामने सब जगह से निकाले जाकर यह परिस्थिति आई, कि वह या तो आत्महत्या कर ले, या वेश्या बने, किन्तु तीसरा हल स्वतन्त्र हो कर अपने उपार्जन पर रहना, यह जो उसके दिमाग में नहीं आया, और आता भी तो वह उसे कार्यरूप में परिणत नहीं कर सकती—इन बातों का ईशारा इसी तरफ है कि जब तक स्त्रियाँ आर्थिक रूप से पुरुष के समकक्ष नहीं होगी, तब तक न वेश्या-समस्या का हल होगा, न स्त्रियों को स्वतंत्रता का प्रश्न हल होगा।

—:०:—

प्रेमाश्रम

लखनपुर की जमीन्दारी के मालिक ज्ञानशंकर तथा उनके चाचा प्रभाशंकर हैं। प्रभाशंकर के तीन लड़के हैं, बड़ा लड़का दयाशंकर पुलिस में नौकर है। जमीन्दारी में ज्ञानशंकर का आधा हिस्सा है, किन्तु संयुक्त-परिवार होने के कारण प्रभाशंकर की शाखा के आठ व्यक्ति इसी जमीन्दारी पर मजा करते हैं, किन्तु ज्ञानशंकर की शाखा के केवल तीन प्राणी हैं। इन बातों को सोच कर ज्ञानशंकर कुढ़ता रहता है, संयुक्त परिवार के टूटने के आसार दृष्टिगोचर हैं। एक नौकर चाचा का काम करता तो दूसरे को खामख्वाह अपने किसी न किसी काम में वे उलझा रखते। इसी फेर में पड़े रहते कि चाचा के आठ प्राणियों पर जितना व्यय होता है, उतना मेरे तीन प्राणियों पर हो। भोजन करने जाते तो बहुत सा खाना जूठा करके छोड़ देते। इन पर सन्तोष न हुआ तो दो कुत्ते पाले। यहाँ तक कि प्रभाशंकर डाक्टर के यहाँ से कोई दवा लाते तो आप भी उतने ही मूल्य की औषधि अवश्य लाते, चाहे उसे फेंक ही क्यों न दें।

इसी बीच में ज्ञानशंकर के मित्र ज्वालासिंह इस इलाके के मजिस्ट्रेट हो गये, दयाशंकर पहले ही से अन्धेर मचाये हुये थे, अब तो वे पूरे बादशाह हो गये। प्याला लबालब हो गया। नतीजा यह हुआ कि ज्वालासिंह को तहकीकात करनी ही पड़ी, और दयाशंकर, हिरासत में ले लिये गये। इस गिरफ़्तारी के बाद प्रभाशंकर, ज्ञानशंकर से मिले, और उनसे कहा कि तुम जाकर ज्वालासिंह से सिफारिश कर दो, किन्तु वे यह कह कर टाल गये कि ऐसा करना उचित न होगा। असल में वे इस बात से खुश थे कि दयाशंकर गिरफ़्तार हो गये।

ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या एक बहुत ही सुशीला लड़की है। वह एक बड़े तालुकेदार की लड़की है, किन्तु उसमें सरलता कूट-कूट कर भरी है, वह पति के अलगौझे वाली बात से खुश नहीं है। विद्या ने भी ज्ञानशंकर से कहा कि यदि चचाजी ने सिफारिश करने को कहा तो कोई बुरी बात नहीं कही, ऐसे ही गाढ़े दिन तो ज्ञात होता है कि कौन अपना है, और कौन पराया है। जो कुछ भी हो वे ज्वालासिंह के यहाँ पहुँचे किन्तु इसलिए नहीं कि दयाशंकर की सिफारिश करें, किन्तु असल में वे ज्वालासिंह को इस बात से आगाह करने गये थे कि वे यह न समझें कि वे किसी प्रकार उन्हें कुमार्ग के पक्ष ग्रहण के लिए कहेंगे। ज्ञानशंकर ने कहा—मैं मनुष्यत्व को भ्रातृ प्रेम से उच्चतर समझता हूँ। मैं उन आदमियों में हूँ कि यदि ऐसी दशा में आपको सहृदयता की ओर झुका हुआ देखूँ तो आपको उससे बाज रखूँ।

ज्वालासिंह मनोविज्ञान के ज्ञाता थे, वे समझ गये कि दाल में कुछ काला है। उन्होंने अन्त में बताया—मैं अपने फैसले में दयाशंकर को पहले ही निरपराध लिख चुका हूँ, और सब को यह भलीभाँति मालूम है कि मैं किसी की नहीं सुनता।

ज्ञानशंकर का चेहरा पीला पड़ गया। पारिवारिक जीवन में इस प्रकार रुख रखने के अतिरिक्त ज्ञानशंकर किसानों को सताने में भी एक नम्बर है। प्रभाशंकर कुछ रियायत करना चाहते हैं, किन्तु ज्ञान-शंकर इसके बिल्कुल विरुद्ध हैं। ज्ञानशंकर को यह भी झक सवार है कि जल्दी से जल्दी बटवारा हो जाय।

मनोहर एक अच्छा खाता पीता किसान है, वह पुरानी चाल का आदमी है, किन्तु उसका लड़का बलराज हर बात में अन्याय का सामना करने के लिए हर तरीके से तैयार है। बलराज के दिमाग में कुछ रूस की बातें भी घुसी हुई हैं। यह उपन्यास १६२२ में प्रकाशित है, इस बात को देख कर रूस का इस प्रकार उल्लेख प्रेमचन्द के मन की

प्रगतिशीलता का सूचक है। बलराज कहता है—'तुम लोग तो ऐसी हँसी उड़ाते हो जानो कास्तकार कुछ होता ही नहीं। वह जमींन्दार की बेगार भरने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि कास्तकारों का ही राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं। उसी के पास कोई और देश बलगारी है, वहाँ अभी हाल की बात है कास्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है, और अब किसानों और मजूरों की पंचायत करती हैं।' बलगारी और रूस को एक कोष्ठक के अन्दर रखने पर भी १६२२ में प्रकाशित पुस्तक में रूस के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख ही बहुत मार्के की बात है।

अधिकारियों के दौरों के समय गाँव वालों का क्या हाल होता है, इसका प्रेमचन्दजी ने अच्छा दिग्दर्शन कराया है। 'अधिकारियों के पे दौरे सदिच्छा प्रेरित होते हैं। उनका अभिप्राय है जनता की वास्तविक दशा का ज्ञान प्राप्त करना, न्याय को न्यायप्रार्थी के द्वार तक पहुँचाना, प्रजा के दुखों को सुनना। उनकी आवश्यकताओं को देखना, उनके कष्टों का अनुमान करना, उनके विचारों से परिचित होना।' किन्तु वास्तविक रूप से क्या होता है यह मनोहर की जबानी यः है—ये लोग बड़ा अन्धेर मचाते हैं, आते हैं इन्तजाम करने, इन्साफ करने लेकिन हमारे गले पर छुरी चलाते हैं। इससे कहीं अच्छा तो कहीं यही था कि दौरे कहीं बन्द हो जाते। यही न होता कि मुकदमें वालों को सदर जाना पड़ता। इस सासत से तो जान बचती।

कुछ किसान यह समझते हैं कि जो कुछ धाँधली होती है, वह हुक्कामों के कारण नहीं बल्कि लश्कर वालों की धाँधली है। किन्तु मनोहर साफ कर देता है—यह सब मिली भगत है। हाकिम का इशारा न हो मजाल है कि कोई लश्करी पराई चीज पर हाथ डाल सके। सब कुछ हाकिमों की मर्जी से होता, और उनकी मर्जी क्यों न होगी? सेंत का माल किसको बुरा लगता है?

दौरे के जमाने में गाड़ियाँ बेगार में पकड़ी जाती है, पुआल घास ले ली जाती है, चारा काट लिया जाता है, या काटा ही क्यों जायगा, कटा-कटाया ले लिया जाता है, और सो भी चारे के मालिक को उसे ढोकर पहुँचाना पड़ता है, और ऊपर से हर पाँच रुपये के चपरासी को सलाम बजाना पड़ता है। हाकिम तथा उनके पिछ-लगुओं के लिए दूध पहुँचाना पड़ता है इत्यादि। इस काम में जमीं-दार के करिन्दे हाकिम के लश्कर के साथ पूर्ण सहयोग करते हैं।

मनोहर का लड़का बलराज हिम्मती तो था ही, एक दिन ज्वाला-सिंह के पास पहुँचा, और गाड़ियों के बेगार पर लिये जाने की शिकायत करने लगा। पहले तो ज्वालासिंह ने उसकी बात अनसुनी कर दी, किन्तु जब उसके तेवर बदल गये तो उन्हें सुनना पड़ा। किसान अन्त तक यही सोचता है कि अहलकार जुल्म करते हैं। बलराज ने कहा—...'हुजूर यहाँ धर्म के आसन पर बैठे हैं, और चपरासी लोग परजा को लूटते फिरते हैं। मुझे आपसे यह बिनती करने का हौसला हुआ, तो इसलिए कि मैं समझता था कि आप दीनों की रक्षा करेंगे। अब मालूम हो गया कि हम अभागों का सहायक परमात्मा के सिवाय कोई नहीं है।' ज्वालासिंह ने बेगार आदि बन्द होने का हुक्म दे दिया।

किसी न किसी रूप में ज्ञानशंकर में और प्रभावशंकर में बटवारा हो गया। विद्या इस पर खुश नहीं हुई। ज्ञानशंकर अपनी पत्नी से भी इस कारण नाराज रहते थे कि उनके ससुर ने उनको कोई जायदाद नहीं दी। पति और पत्नी में इन दिनों इस सम्बन्ध में तकरार हो जाया करते थे। विद्या कहती मैं तुम से कोई रुपये तो माँगती नहीं। ऐसे ही एक दिन तकरार हो रहा था कि एक तार आया जिसमें यह लिखा था कि विद्या के एक मात्र भाई का स्वर्गवास हो गया। इस खबर को सुनते ही ज्ञानशंकर मन ही मन बहुत खुश हुये क्योंकि वे इस प्रकार अपने ससुर की सारी जायदाद के मालिक बनते

नजर आये, किन्तु ऊपर से उन्होंने बहुत समवेदना प्रकट की। वे इतने बेताब हुये कि फौरन एक बैरिस्टर साहब के यहाँ इस बात का पता लगाने चले कि कानूनन परिस्थिति क्या है।

ज्ञानशंकर ससुराल पहुँचे तो वहाँ अपनी विधवा साली गायत्री से उनका परिचय हुआ। गायत्री एक भोली-भाली लड़की थी, और सरलता से उनसे मिलती थी। उसका विकसित लावण्यमय सौन्दर्य उनके हृदय को खींचता जाता था, और वह पतिंग की भाँति परिणाम से बेखबर इस दीपक की ओर बढ़ते चले जा रहे थे। उन्हें गायत्री प्रेमाकांक्षा की मूर्ति दिखाई देती थी। गायत्री का पति एक दुराचारी मनुष्य था, पर गायत्री को कभी उस पर सन्देह नहीं हुआ, वह उसके मनोभावों की तह तक कभी नहीं पहुँची थी, और यद्यपि उसे मरे हुये तीन साल बीत चुके थे, पर वह अभी तक आध्यात्मिक श्रद्धा से उसकी स्मृति की आराधना किया करती थी। उसका निष्कपट हृदय वासनायुक्त प्रेम के रहस्यों से अनभिज्ञ था। गायत्री भोली सही, अज्ञान सही, पर शनैः शनैः उसे ज्ञानशंकर से लगाव होता जाता था। यदि कोई भूल कर भी विष खाले, तो उसका असर क्या कुछ कम होगा? धीरे-धीरे ज्ञानशंकर उससे अपनी लगावट बढ़ाता गया। घनिष्टता बढ़ती गई। एक तरफ से सरलता थी, दूसरी तरफ से योजनात्मक वासना का आक्रमण। एक दिन दोनों को बिल्कुल एकान्त में रहने का अवसर हुआ। ज्ञानशंकर ने अपने घुटने से गायत्री की जाँघ में एक ठोका दिया। गायत्री ने तुरंत पैर समेट लिया, उसे कुचेष्टा की लेशमात्र भी शंका नहीं हुई। किन्तु एक क्षण के बाद ज्ञानशंकर ने अपने जलते हुये हाथ से उसकी कलाई पकड़ कर धीरे से दबा दी। गायत्री ने चौंक कर हाथ खींच लिया, मानो किसी विषधर ने काट खाया हो। गायत्री ने भयभीत नेत्र से ज्ञानशंकर को देखा। उसका चित्त स्थिर हो गया, आँखों में अन्धेरा छा गया, सारी देह पसीने से तर हो गई। उसने

कातर नेत्रों से बाहर की ओर झाँका।......वह संज्ञा शून्य हो गई। उसकी वह वस्तु लुट गई जो उसे प्राणों से भी अधिक प्रिय थी। थोड़ी देर में गायत्री सम्हल गई। वह रोने लगी, उसकी सिसकियाँ सुन कर ज्ञानशंकर के हृदय में चोट-सी लगी। अन्तरात्मा जाग्रत हो गई, शर्म से गर्दन झुक गई। यह घटना गाड़ी में हुई थी। दोनों प्राणी खिड़कियों से सिर निकाल रोते रहे, यहाँ तक कि गाड़ी घर पहुँच गई। गायत्री को इसका बड़ा अफसोस हुआ, और उसने सोच लिया कि अब यहाँ से चल देना चाहिये। तदनुसार वह अपनी जमीन्दारी गोरखपुर में चली गई।

ज्ञानशंकर को अब अपने ससुर की जमीन्दारी की फिक्र रहने लगी, और जब उसने देखा कि रायसाहेब बहुत अधिक खर्च करते हैं तो उसे बहुत दुःख होने लगा। उसे यह भी भय रहने लगा कि कहीं ससुर साहब फिर से शादी न कर लें, तो सब आशाओं पर पानी ही फिर जाय। साथ ही उसे यह हिम्मत भी नहीं होती थी कि खुल्लमखुल्ला ससुर साहब से इस सम्बन्ध में पूछताछ करे। एक दिन उसने हिम्मत की, और ससुर साहब के यहाँ पहुँच गया, किन्तु वहाँ उसे इस बात का साहस नहीं हुआ कि अपने असली मतलब को स्पष्ट रूप से कहे। रायसाहब बहुत बुद्धिमान व्यक्ति होने के कारण ताड़ गये कि दामाद साहब का क्यों आना हुआ है, उन्होंने साफ साफ यह बता दिया कि जिन गप्पों को सुन कर ज्ञानशंकर शंकित हुये हैं, वे निस्सार हैं।

बलराज के कहने पर जब ज्वालासिंह ने लश्करियों को गाड़ी आदि बेगार में पकड़ने से तथा पुआल दूध आदि जबरदस्ती लेने से मना कर दिया, तब तो इन लश्करियों में हाहाकार मच गया। प्रेमचन्दजी ने यह दिखलाया है कि ये अनपढ़ तथा नाममात्र शिक्षित अहलकार तथा चपरासी किस प्रकार अपने मतलब से डिप्टीसाहब को भी उल्लू बना लेते हैं। गौस खाँ ने इस अवसर पर जातीय द्वेषभाव से किस प्रकार काम

बनाया यह देखने लायक है। उसने ज्वालासिंह को बताया कि आप हिन्दुस्तानी हैं, इसी कारण ये गाँव वाले बेगार देने से भड़क रहे हैं, 'अँग्रेज हुक्काम आते हैं तो कोई चूँ भी नहीं करता। अभी दो हफ़्ते होते हैं पादरी साहब तशरीफ़ लाये थे, और हफ़्ते भर रहे लेकिन सारा गाँव हाथ बाँधे खड़ा रहता था।'

यह बातें निशाने पर बैठ गईं, और ज्वालासिंह अकड़ कर बोले— 'अच्छा यह बात है तो मैं भी दिखा देता हूँ कि मैं किसी अंग्रेज से कम नहीं हूँ।' इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने जो बिलकुल अन्दरुनी हाल लिखा है, और जिस प्रकार से मनुष्य चरित्र की आन्तरिक परिचालिका शक्तियों का उद्घाटन किया है, वह द्रष्टव्य है।

जब ज्वालासिंह से यह इशारा मिल गया कि वे अब न्यायान्याय के झंझट में न पड़ेंगे, तो उनके नीचे के कर्मचारियों ने एक कार्यक्रम तय कर लिया। यह तय हुआ कि यदि बलराज को ठीक किया जाय तो सब ठीक हो। शाम को दारोगाजी उस गाँव में पहुँचे। ज्योंही बलराज दिखाई पड़ा, वह पकड़ लिया गया। बलराज को दारोगाजी इस अभियोग पर फाँसना चाहते थे कि उसने सरकारी काम में मुदाखिलत बेजा की है, तथा उसमें बाधा पहुँचा कर फौजदारी करने पर तैयार है। गाँव वालों का इस सम्बन्ध में बयान लिया गया, किन्तु कोई ऐसी बात तो थी नहीं, तथा गाँववाले हिन्दू-मुसलमान सब एक थे, इसलिये बलराज के विरुद्ध कोई मुकदमा नहीं बन पाया, और उसे छोड़ देना पड़ा। जब दारोगाजी इस प्रकार निराश हुये तो वे चौपाल से उठ कर अन्दर के कमरे में जा बैठे, और वहाँ मुखिया लोगों को बुला कर सबसे अपना-अपना बयान बदलने के लिए कहने लगे, और धमकाने लगे कि यदि तुम लोगों ने बयान न बदला तो एक-एक से मुचलका ले लूँगा। इस पर कई आदमी फौरन बयान बदलने पर तैयार हो गये, गाँववालों पर पुलिस का कितना प्रभाव है, यहाँ इसे हम अच्छी तरह

देख सकते हैं। जो कुछ भी हो अन्त तक फिर नाव सम्हली और दारोगाजी झल्ला कर मुचलका लेकर चले गये।

ज्ञानशंकर के बड़े भाई प्रेमशंकर बहुत सालों से अमेरिका में प्रवास कर रहे थे। किसी को पता नहीं था कि वे कहाँ हैं। एक दिन वे लौट आये, ज्ञानशंकर को पहले तो बड़ी खुशी हुई, किन्तु जब उसे यह बात याद आई कि सम्पत्ति का आधा हिस्सा प्रेमशंकर का है, तो उनकी प्रफुल्लता एक ही क्षण में लुप्त हो गई।

रायसाहब ने ज्ञानशंकर से दो लेख लिखने के लिए कहे, एक बजट के सम्बन्ध में और एक गायत्री देवी के सम्बन्ध में। ज्ञानशंकर ने ऐसा ही किया, और इन दोनों लेखों में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। पहले लेख के कारण ज्ञानशंकर की धाक विद्वानों में जम गई, और दूसरे लेख के कारण गायत्री को बाद को चल कर रानी का खिताब मिला। गायत्री के मन में फिर से ज्ञानशंकर के लिए प्रशंसात्मक भाव उत्पन्न हुये, और अन्त में ज्ञानशंकर उनके स्टेट के मैनेजर हो गये।

प्रेमशंकर घर लौटे तो चचासाहब ने उनका जी भर कर स्वागत किया, गले से लिपटे और फूट-फूट कर रोने लगे। प्रेमशंकर को यह उम्मीद थी कि उनकी स्त्री श्रद्धा उनका स्वागत करेगी, सच बात तो यह है उसी के कारण वे लौटे थे, किन्तु श्रद्धा कहीं दिखाई न पड़ी। बात यह है वह पति के प्रति श्रद्धाशील होते हुये भी विदेश यात्रा को प्रायश्चित योग्य समझती थी। यह केवल श्रद्धा की बात नहीं थी, सारे समाज का ही प्रेमशंकर के प्रति यह रुख रहा। मजे की बात यह है कि प्रेमशंकर ने अमेरिका में रहते समय दर्शनशास्त्रों पर कितने ही व्याख्यान दिये, अपने रस्म रिवाज और वर्णाश्रम धर्म के समर्थन करने मे सदैव तत्पर रहे, यहाँ तक कि पर्दे की रस्म की भी सराहना करते रहे। वे यह मानने को तैयार न थे कि अमेरिका जाने से वे विधर्मी

हो गये, बल्कि उनका दावा था कि मैं अपने धर्म और मत का वैसा ही भक्त हूँ जैसा पहले था, बल्कि उससे ज्यादा। इस सफाई के बावजूद समाज टस से मस नहीं हुआ, क्योंकि लोगों की विदेशयात्रा पर जो अश्रद्धा है, यह किसी तर्क या सिद्धान्त के अधीन नहीं है। 'तिलक' एक स्थानीय समाचारपत्र था, उसमें ज्ञानशंकर के प्रायश्चित न करने के विरुद्ध रोज लेख निकलते थे। ज्ञानशंकर नित्य यह पत्र लाकर अपने भाई को सुनाते थे, और यह सब केवल इसलिए कि वह निराश और भयभीत हो कर यहाँ से भाग खड़े हों, और ज्ञानशंकर की जायदाद में कोई हिस्सा बाँट न हो। प्रेमशंकर दीवानखाने में रहते और गाँव वालों से कृषि आदि की उन्नति पर बातचीत करते। इस बीच में प्रेमशंकर को ताल्लुकेदारों के एशोसियेशन की ओर से इस बात के लिए निमंत्रण मिला कि वे आकर कृषि की उन्नति पर कोई लेख सुनावें, किन्तु जब ये वहाँ पहुँचे, तो देखा कि वहाँ का रंग ही निराला है। फिर किसी तरह यह भनक लोगों के कानों तक पहुँच गई कि प्रेमशंकर कुछ राष्ट्रीय विचार रखते हैं, बस फिर क्या था, उनको लेख पढ़ने तक का मौका नहीं दिया गया, और वह वहाँ से निराश होकर लौटे। प्रेमशंकर गाँववालों की तरह-तरह से मदद करते रहे, और गाँववालों पर इसकी धाक जम गई कि वे किस प्रकार निस्वार्थ सेवा के लिए तैयार रहते हैं।

ज्ञानशंकर ने लखनपुर गाँव में इजाफा लगान करने का इरादा किया, और इस सम्बन्ध में कानूनी कारवाई शुरू कर दी। इस अर्जी के फैसले का भार ज्वालासिंह पर पड़ा। ज्वालासिंह की स्त्री तथा ज्ञानशंकर की स्त्री विद्या में मित्रता थी। ज्ञानशंकर ने चाहा कि विद्या इस मित्रता का फायदा उठा कर शीलमणि से कहे कि वह अपने पति से इस अर्जी पर अनुकूल राय देने के लिए कहे। विद्या ने इन्कार किया, तब एक दिन ज्ञानशंकर ने ही शीलमणि से मुलाकात की, और

कहा कि आप इस में सिफारिश कर दें। शीलमणि राजी हो गई, और पति से जाकर इस बात की सिफारिश की। ज्वालासिंह इस अर्जी पर फैसले के सिलसिले में एक दिन मौका देखने के लिए लखनपुर पहुँचे। वहाँ पर प्रेमशंकर से उनकी भेंट हुई। प्रेमाशंकर के मुँह से कुछ ऐसे विचार इस समय व्यक्त किये गये हैं जो समाजवादी विचार कहे जा सकते हैं। प्रेमशङ्कर कहते हैं—'मेरा सिद्धान्त है कि मनुष्य को अपनी मेहनत की कमाई खानी चाहिये। यही प्राकृतिक नियम है। किसी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों की कमाई को अपनी जीवन वृत्ति का आधार बनावे।'

ज्वालासिंह—तो यह कहिये कि आप जमींदारी के पेशे ही को बुरा समझते हैं।

प्रेमशंकर—'हाँ, मैं इसका भक्त नहीं हूँ। भूमि उसकी है जो उसे जोते।' किन्तु इसके बाद प्रेमशंकर जो कुछ कहते हैं उससे उनके विचार कुछ स्पष्ट न होकर केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे जमींदारी प्रथा के विरोधी हैं। वे कहते हैं—'शासक को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है, जिसके बिना खेती हो ही नहीं सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नहीं है।' यहाँ पर तीसरे वर्ग का मतलब स्पष्ट नहीं होता, एक वर्ग तो किसान का हुआ, क्या सरकार ही एक दूसरा वर्ग कहा जा सकता है? यदि हाँ तो फिर भूमि उसकी है जो उसे जोते। नियम में फर्क आ जाता है। अवश्य १९२२ में लिखित एक उपन्यास से इन सब प्रश्नों पर स्पष्ट विचार प्राप्त करना कठिन है, किन्तु फिर भी बीजाणु के रूप में प्रेमशंकर के शब्दों में यत्र-तत्र जो क्रान्तिकारी विचार बिखरे हुये हैं, उनसे इन्कार नहीं किया जा सकता।

ज्वालासिंह ने जो गाँव का दौरा किया तो चारो तरफ भूख बीमारी आदि देखी, लौट कर उन्होंने शीलमणि से बताया कि 'लखनपुर में प्लेग

का भयंकर प्रकोप हो रहा है। लोग तबाह हुये जाते हैं..ज्ञानशंकर डिग्री पाते ही जारी कर देंगे, किसी के बैल नीलाम होंगे, किसी के घर बिकेंगे, किसी की फसल खेत में खड़ी-खड़ी कौड़ियों के मोल बिकेगी। यह दीनों की हाय किस पर पड़ेगी?' शीलमणि ने यह हाल सुना तो उसने अपनी सिफारिश वापस ले ली और कहा कि आप वही कीजिये जो न्याय और सत्य कहे, मैं गरीबों की आह लेना नहीं चाहती। ज्वालासिंह ने ज्ञानशंकर के विरुद्ध फैसला दे कर उनका दावा खारिज कर दिया। ज्ञानशंकर ने अपील की, किन्तु प्रेमशंकर के जरिये से आर्थिक मदद मिल जाने के कारण गाँव वालों की ओर मुकदमें की अच्छी पैरवी हुई, और इनका दावा ऊपर से भी खारिज हो गया। जबसे ज्वालासिंह ने ज्ञानशंकर का दावा खारिज किया था, तब से ज्वालासिंह के विरुद्ध ज्ञानशंकर ने लेखों का ताँता लगवा दिया, यहाँ तक कि उन्हें असत्चरित्रों का राजा बतलाया।

ज्ञानशंकर गायत्री के स्टेट में मैनेजर होकर गये तो उनको वहाँ बड़ी सफलता मिली। आय में वृद्धि और व्यय में कमी यह ज्ञानशंकर के सुप्रबन्ध का फल था। गवर्नर साहब ने गायत्री के यहाँ दरबार किया, जिसमें उन्हें रानी उपाधि से भूषित किया गया, इस अवसर पर भी ज्ञानशंकर ने खूब नाम कमाया। उन्होंने सब अफसरों को खुश कर दिया, और एक ऐसा मानपत्र लिखा जिसकी अंग्रेज लोग भी तारीफ करने लगे। ज्ञानशंकर को, उसकी बीबी विद्या को तथा लड़के माया को पुरस्कार तथा उपहार मिले।

ज्ञानशंकर जिस समय गोरखपुर में थे, उस समय लखनपुर में एक वारदात हो गई, जिसके कारण वे लखनपुर लौटने पर मजबूर हुये। बात यह है लखनपुर में एक बहुत बड़ा तालाब था, गाँव भरके पशु उसमें पानी पीते थे, नहाने धोने का काम भी उससे चलता था। ज्ञान-शंकर के कारिन्दा गौस खाँ ने यह तय किया कि अब यह तालाब सार्व-

जनिक न रहे। बात की बात में आदमी जमा हो गये, किन्तु वे असहाय थे, क्या करते। गौस खाँ गाँव वालों पर नित्य नया जुल्म ढाने लगा, सुक्खू चौधरी को बिना कारण चालान कर दिया गया, और पूरे दो साल की सजा हो गई। गौस खाँ के अत्याचार तो थे ही, ऊपर से लश्करियों का अत्याचार था, इसी बीच में पुलिस के आई० जी० दौरा करने आये, उनके लश्कर में सौ सवा सौ आदमी थे। टिड्डीदल की तरह यह गिरोह गाँव पर टूट पड़ा। दुकानें खाली हो गईं। बेगार की समस्या इससे कठिन थी। पाँच बड़े-बड़े घोड़ों के लिए हरी घास छिलना सहज नहीं था। गाँव के सब चमार इस काम में लगा दिये गये। कई नोनिये पानी भर रहे थे। चार आदमी नित्य सरकारी डाक लेने के लिए सदर दौड़ाये जाते थे। कहारों को कर्मचारियों की खिदमत से सिर उठाने की फुरसत नहीं थी। इसलिए जब दो बजे साहब ने हुक्म दिया कि मैदान में घास छीलकर टेनिसकोर्ट तैयार किया जाय तो वे लोग भी अब पकड़ गये, जो अब तक अपनी वृद्धा अवस्था या जाति सम्मान के कारण बचे हुये थे। इस प्रकार बड़े-बड़े लोग पकड़ गये। किसान ऐसे समय कैसे सोचता है, वह कादिर खाँ के मुँह से सुन लें—'अरे जो अल्लाह को यही मंजूर होता कि हम लोग इज्जत-आबरू से रहें, तो कास्तकार क्यों बनाता? जमीन्दार न बनाता, चपरासी न बनाता, थाने का कानस्टेबिल न बनाता कि बैठे-बैठे दूसरों पर हुक्म चलाया करते। नहीं तो यह हाल है कि अपना कमाते हैं, अपना खाते हैं, फिर भी जिसे देखो धौंसे जमाया करता है। सभी की गुलामी करनी पड़ती है। क्या जमीन्दार, क्या सरकार क्या हाकिम सभी की निगाह हमारे ऊपर टेढ़ी है, और शायद अल्लाह भी नाराज है।'

घास छीलने के बाद टेनिसकोर्ट को लिपने की बारी आई, तो दुखरन भगत ने इन्कार कर दिया, इस पर तहसीलदार ने उसे खड़े-खड़े जूते लगवाये। प्रेमशंकर उस समय आये, बीच में पड़े, किन्तु तहसील-

दार ने उलटा उन्हीं को डाटा कि 'आपके ही इशारे से इन बदमाशों ने सरकशी अख्तियार की है। इसके जिम्मेदार आप हैं। मैं समझ गया आप किसी किसान सभा से तालुक रखते हैं।

इस स्थान पर प्रेमशंकर कुछ विशेष अच्छे रंग में नज़र नहीं आते। उन्होंने देखा कि गाँव वाले का चेहरा रोष से विकृत हो रहा है, 'प्रतिक्षण शंका होती थी कि इनमें से कोई प्रतिकार न कर बैठे', बस उन्होंने गाँव वालों से यह कहा कि 'तहसीलदार साहब का हुक्म मानो, एक आदमी भी यहाँ से न जाय। सब आदमियों को मुहमाँगी मजूरी दी जायेगी। इसकी कुछ चिन्ता न करो।' बल्कि थोड़ी देर बाद जब तहसीलदार साहब अपनी बातें कहने लगे तो उनको तहसीलदार से सहानुभूति होती गई। तहसीलदार ने कहा—'......अगर अभी साफ कह दूँ कि बेगार में मजदूर नहीं मिलते, तो नालायक समझा जाऊँ, आखों से देखता हूँ कि मजदूरों को आठ आने रोज मिलते हैं...आइये बैठिये, आपको ऐसी सैकड़ों दास्तानें सुनाऊँ जिनमें तहसीलदारों को कायदे के मुताबिक अमल करने के लिए जहन्नुम भेज दिया गया है। मेरे ऊपर खुद एक बार गुजर चुकी है।' प्रेम शंकर इस पर समझ गये कि यह बेचारे विवश हैं। इस वर्णन से खैर यह तो मालूम हो ही गया कि व्यक्तिगत रूप से तहसीलदार पर सारी जिम्मेदारी नहीं है, पद्धति ही जिम्मेदार है, किन्तु प्रेमशंकर यह बात कहाँ देख पाते हैं, वे तो केवल तहसीलदार की मजबूरी ही देखते हैं, पद्धति की खराबी को न तो देख पाते हैं, और यदि देख पाते हैं तो उसके विरुद्ध वे कुछ करते दिखाई नहीं पड़ते। इस प्रकार प्रेमशंकर एक सुधारवादी परोपकारी पेटीबुर्जुआ रूप में ही हमारे सन्मुख आता है।

दुखरन भगत जब जूतों से पिट कर गये तो वे गाँव के आदमियों के बीच में खड़े हाथ में शालिग्राम की मूर्ति लिये उन्मत्तों की भाँति

बहक-बहक कर कह रहे थे—यह शालिग्राम हैं। अपने भक्तों पर बड़ी दया रखते हैं, सदा उनकी रक्षा किया करते हैं, उन्हें मोहनभोग बहुत अच्छा लगता है। कपूर और धूप की महक बहुत अच्छी लगती है। पूछो इनकी मैंने कौन सेवा नहीं की। आप सत्तू खाता था, बच्चे चबेना खाते थे, इन्हें मोहन भोग का भोग लगता था, इनके लिए जाकर कोसों से फूल और बेलपत्र लाता था, अपने लिए तम्बाकू चाहे न रहे, पर उनके लिए कपूर और धूप की फिकिर करता था, इनका भोग लगा कर तब दूसरा काम करता था। घर में कोई मरता ही क्यों न हो पर इनकी पूजा अर्चा बिना किये कभी न उठता था। कोई दिन ऐसा न हुआ कि ठाकुर-द्वारे में जाकर चरणामृत न पीआ हो, आरती न ली हो, रामायण का पाठ न किया हो। यह भक्ति और सर्घा क्या इसलिए की कि मुझ पर जूते पड़ें, मैं नाहक मारा जाऊँ, चमार बनूँ? धिक्कार है मुझ पर कि फिर ऐसे ठाकुर का नाम लूँ या इन्हें अपने घर में रखूँ, और फिर इनकी पूजा करूँ...। बोलो मनोहर क्या कहते हो, इन्हें कुयें में फेकूँ या घूरे पर डाल दूँ, जहाँ इन पर रोज मनो कूड़ा पड़ा करे या राह में फेक दूँ जहाँ भोर से साँझ तक इन पर लात पड़ती रहें।

मनोहर—'भईया तुम जान कर अनजान बनते हो, वह संसार के मालिक हैं, उनकी महिमा अपरम्पार है।' अन्त तक दुखरन ने यह कहा कि 'आज आँखों के सामने से पर्दा हट गया, यह निरा मिट्टी का ढेला है, यह लो महराज जाओ। जाओ जहाँ तुम्हारा जी चाहे, तुम्हारी यही पूजा है। तीस साल की भगती का तुमने मुझे यह बदला दिया, मैं भी तुम्हें इसका बदला देता हूँ, और शालिग्राम की प्रतिभा को जोर से फेक दिया। फिर पूजा की पिटारी ली और उसे भी फेक दी। तीस वर्ष की धर्मनिष्ठा और आत्मिक-श्रद्धा नष्ट हो गई। धार्मिक विश्वास की दीवार हिल गई, और उसकी ईंटे बिखर गई।

समाजवादी-साहित्य में यह दिखलाया जाता है कि किस प्रकार मजदूरों की उत्पत्ति उन किसानों से हुई जो किसी न किसी कारण से अपनी खेती छोड़ कर भाग कर शहर में कमाई करने के लिए मजदूर हुए। गौस खाँ के मुँह से उसका विवरण सुन लीजिये—'बेचारे सुबह से पकड़ लिये जाते थे, शाम को छुट्टी मिलती थी, कुछ खाने को पा गये तो पा गये, नहीं तो भूखे ही लौट जाते थे। आखिर सब के सब भाग खड़े हुये। कोई कलकत्ता गया, कोई रंगून। अपने बालकों को भी लेते गये।'

बलराज की मा और मनोहर की बीबी बिलासी चरावर पर अपने जानवरों को चरा रही थी, इतने में गौस खाँ पहुँचा, और उसने उससे कहा कि वह अपने जानवरों को निकाल ले जायँ।

बिलासी—क्यों निकाल ले जाऊँ ? चरावर सारे गाँव का है। जब सारा गाँव छोड़ देगा तो हम भी छोड़ देगे ?

गौस खाँ—जानवरों को ले जाती है कि खड़ी-खड़ी कानून बघारती है।

बिलासी ने हटने से इन्कार किया, नतीजा यह हुआ कि गौस खाँ ने सब जानवरों को कानी हौद भिजवा दिया, और जब बिलासी ने इसका विरोध किया तो गौस के पिछलगुओं ने उसे जोर से धक्का दिया, और वह जमीन पर गिर पड़ी। बिलासी इसी हालत में वहाँ पर पहुँची, जहाँ उसके पति और पुत्र काम कर रहे थे। मनोहर खून का घूँट पी कर रह गया, किन्तु रात को वह उठा, और जाकर गड़ासे से गौस खाँ का काम तमाम कर दिया। इस काम में बलराज ने भी उसका साथ दिया था, किन्तु वह अकेले थाने पहुँचा और सब दोष अपने ऊपर ले लिया। इस हत्या के सम्बन्ध में बलराज तो खैर गिरफ़्तार हुआ ही, अन्य कई व्यक्ति, यहाँ तक कि प्रेमशंकर गिरफ्तार हो गये। प्रेमशंकर बाद को अपने चचा की कोशिश से छूट गये। हिरासत में बैठ कर

आपस में जो वार्तालाप होता है, उससे किसान का intellectual या पढ़े लिखे वर्ग पर क्या विचार है, यह ज्ञात होता है। कादिर प्रेमशंकर से कह रहा है—इतनी उम्र गुजर गई, सैकड़ों पढ़े लिखे आदमियों को देखा, पर आप को छोड़ कर कोई ऐसा न मिला जिसने हमारी गर्दन पर छुरी न चलाई हो। विद्या की सारी दुनिया बड़ाई करती है। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि विद्या पढ़ कर आदमी और भी छली-कपटी हो जाता है। वह गरीबों का गला रेतना सिखा देती है ...।

प्रेमशंकर चाहते हैं कि श्रद्धा से उनका पुनर्मिलन हो जाय। किन्तु श्रद्धा समझती है कि उनसे मिलने में अधर्म है, और अधर्म के भय से उसका हृदय काँप उठता है।

प्रेमशंकर—यह शङ्का कैसे शान्त होगी।

श्रद्धा—आप जान कर मुझसे क्यों पूछते हैं ?

प्रेमशंकर—तुम्हारे मुँह सुनना चाहता हूँ।

श्रद्धा—प्रायश्चित्त से।

प्रेमशंकर—वही प्रायश्चित जिसका विधान स्मृतियों में है ?

श्रद्धा—हाँ, वही।

प्रेमशंकर—क्या तुम्हें विश्वास है कि कई नदियों में नहाने से, कई लकड़ियों के जलाने से, घृणित वस्तुओं के खाने से, ब्राह्मणों के खिलाने से मेरी अपवित्रता जाती रहेगी ? खेद है कि तुम इतनी विवेक शील होकर इतनी मिथ्यावादिनी हो।

नतीजा यह हुआ कि दोनों में मेल न हुआ। श्रद्धा के लिए शास्त्र वचन अकाट्य थे। श्रद्धा के रूप में हम सनातन-धर्म की एक कट्टर स्त्री को देख सकते हैं।

डाक्टर प्रियनाथ चोपड़ा के रूप में प्रेमचन्द ने एक ऐसे डाक्टर को चित्रित किया है जो अपने विज्ञान को रुपयों के कारण धनी के हाथ

बेच देता है। जब गौस खाँ की लाश चीर फाड़ के लिए चोपड़ा के पास गई तो उन्हें लाश देख कर पूरा विश्वास हुआ कि यह एक व्यक्ति का काम है, एक ही बार में काम तमाम हुआ है, किन्तु जब ज्ञानशङ्कर ने घुमाफिरा कर उनको गायत्री देवी के यहाँ से बराबर आमदनी की आशा दिखलाई, ५०० रुपये का पारितोषिक, १०० रोज फीस, साल में हजार दो हजार मिलते रहने की आशा दिलाई, फिर पुलिस की खुशनूदी मिलने की उम्मीद हुई तो डाक्टर चोपड़ा ने यह राय दे दी कि कई आदमियों ने मिल कर गौस खाँ को हत्या की।

जब मनोहर ने देखा कि उसके इकबाल करने पर भी गाँव के सब अच्छे आदमी फँसे हुये हैं, और अन्त तक उन्हे सजा होती दिखाई पड़ी, तो उसे बहुत आत्मग्लानि हुई, और उसने उधेड़बुन में पड़ कर आत्महत्या कर ली। मनोहर की आत्महत्या से बिलासी को बहुत कष्ट पहुँचा, वह अब घर से बाहर भी नहीं निकलती थी। गौस खाँ की जगह फैजुल्ला जो व्यक्ति नियुक्त हुआ था, वह उससे भी खराब था। माल गुजारी, लगान देने की लोगों में सामर्थ्य नहीं थी। फैजुल्ला ने सख्ती करनी शुरू की, किसी को चौपाल के सामने धूप में खड़ा करता, किसी को मुश्कें कस पिटवाता। दीन नारियों के साथ और भी पाशविक व्यवहार किया जाता, किसी की चूड़ियाँ तोड़ी जाती, किसी के जूड़े नोचे जाते। इन अत्याचारों को रोकने वाला अब कौन था? यहाँ पर प्रेमचन्दजी ने एक ऐसा मन्तव्य किया है जो उनके सम्बन्ध में यह जो कहा जाता है कि वे साहित्य में गांधीवाद के प्रतिनिधि हैं, इसे सन्देह में डाल देता है। वे कहते हैं 'सत्याग्रह में अन्याय को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रान्ति पूर्ण सिद्ध हुआ।' इस प्रकार वस्तुवादी होने के नाते उन्होंने तथ्य का सही-सही चित्रण कर दिया; और यह दिखा दिया कि गाँव वाले यद्यपि सत्य पर डटे रहे, किन्तु उनकी हालत दिन व दिन बिगड़ती गई। फिर भी

इसके बाद ही जब फैजुल्ला सारे गाँव पर बेदखलीका दावा दायर करता हैं, उस समय जो घटना होती है, उसमें प्रेमचन्द वस्तुवाद से हटते हुये भाववाद में गिरते नजर आते हैं। एकाएक जब मुकदमें का फैसला होने ही वाला है, उस समय पहले के सुक्खू चौधरी जो इस समय साधु बने हुये हैं, आते हैं, और गाँव वालों की ओर से रुपया देकर सब हिसाब बेवाक कर देते हैं। साधारण जीवन में ऐसी बात नहीं होती। केवल इतना ही नहीं उन्होंने इस स्थान पर सुक्खू के और भी कर्त्तव्य दिखाये हैं। वे फैजुल्ला के एक पिछलगुयें कर्तार की ओर रुपये की एक थैली फेंक देते हैं। कर्तार ने थैली को ध्यान से देखा, वह रुपयों से भरी हुई थी। चौधरी ने कहा—'देख तो तेरे भाग में धन है या नहीं? तेरा मन इतना पापी हो गया कि तू सोना भी छुये, तो मिट्टी हो जायेगा। थैली छूकर देख ले अभी ठीकरी हुई जाती है।'—कर्तार ने डरते-डरते थैली उठाई, किन्तु उसके छूते ही एक अत्यन्त विस्मयकारी दृश्य दिखाई दिया। रुपये ठीकरे हो गये। कहना न होगा यहाँ पर प्रेमचन्द बिल्कुल तिलस्म में चले जाते हैं।

प्रेमशंकर पक्का पैटी बुर्जुआ परोपकारी ढंग का बुद्धिवादी जीव है। उसकी हालत अजीब है। उसके सामने कोई कार्यक्रम नहीं है, समाज के रोग की उसे अनुभूति है, किन्तु उसका स्वरूप क्या है, उसका निदान क्या है, इसे वह नहीं समझता, नतीजा यह है कि वह एक सदिच्छाओं का गट्ठर होते हुये भी अपाहिज और अकर्मण्य है। मनोहर की आत्महत्या की बात सुनकर वह जेल के फाटक पर जाता है, किन्तु वहाँ पुलिस के प्रधान अफसर ने जेल से निकल कर कहा, तुम्हीं ने शेष अपराधियों को बचाने के लिए आत्महत्या कराई। इस तिरस्कार से वे विचार-मग्न हो गये। प्रेमचन्द ने यहाँ प्रेमशंकर के विषय में लिखा है 'अभी कुछ समझ में न आता

कि जीवन का क्या लक्ष्य बनाया जाय।' हम आगे भी उनके चरित्र को देखेंगे।

जब भी कोई अच्छा काम होता है तो उसके नाम से धोखेबाज लोग कमाते खाते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रश्न का फायदा उठा कर सैयद ईजाद हुसेन ने एक इत्तहादी यतीमखाना खोल रखा है। इसमें उन्हीं की पुत्री, दो भान्जियाँ, दोनों बहनों के पुत्र आदि थे, किन्तु इस यतीम खाने के नाम पर वे खूब कमाते खाते थे। गायत्री देवी के स्टेट में सनातन-धर्म महासभा हुई, उसमें ईजाद हुसेन तशरीफ ले गये, और ५००० कमा कर लौटे। उन्होंने स्वयं सफलता की कुंजी का इन शब्दों में वर्णन किया है—'तकरीर पर तो जिन्दगी का दारोमदार है। न किसी के नौकर न किसी के गुलाम। बस दुनिया में कामयाबी का नुस्खा है तो वह शतरंजबाजी है। आदमी जरा लस्सान (वाकचतुर) हो, जरा मर्दुमसनारा (मनुष्य चरित्र विशेषज्ञ) हो, और जरा गिरहबाज (पट्टी पढ़ाने वाला) हो, बस उसकी चाँदी है। दौलत उसके घर की लौंडी है।'

रायसाहब कमलानन्द ने एक अन्तर्राष्ट्रीय संगीत-सम्मेलन निमंत्रित किया। इसका कुल खर्च पाँच साढ़े पाँच लाख बैठता था। इस पर ज्ञानशङ्कर ने आपत्ति की। रायसाहब ने एक न सुनी। उसने रायसाहब को भलाबुरा कहा कि वह वारिसों का कुछ नहीं सोचते, तो इस पर उन्होंने और भी जलीकटी सुनाई। अन्त तक रायसाहब ने उनसे यह पूछा कि उन्होंने यह जो गायत्री के स्टेट में कृष्णलीला आदि फैला रखी है, और स्वयं कृष्णभक्त हो गये हैं, उसका असली उद्देश्य क्या है। रायसाहब ने पूछा—तुमने यह जाल किसके लिए फैलाया है ?

ज्ञानशङ्कर—गायत्री के लिए।

रायसाहब—तुम उससे क्या चाहते हो ?

ज्ञानशङ्कर—उसकी सम्पत्ति और उसका प्रेम।

रायसाहब ने यह जो बात पूछली, इसे भी प्रेमचन्द ने इस प्रकार दिखलाया है मानो रायसाहब किसी अलौकिक शक्तिवस उसके हृदय के इस अन्तरतम सत्य को पूछ लेने में समर्थ हुये, ज्ञानशङ्कर पर एक अर्द्ध-विस्मृति की दशा छा गई, यह दिखाया गया है। यह कहाँ तक स्वाभाविक है, क्या दुर्जनों के हृदय-संकल्प को इतनी आसानी से पूछ लिया जा सकता है। अवश्य काले से काले हृदयवाला व्यक्ति भी परिस्थितियों में आत्मदोष स्वीकार करता है, किन्तु उसके लिए जो मनोवैज्ञानिक परिस्थिति होनी चाहिये, उसे न दिखाकर इस प्रकार अलौकिक शक्ति का आश्रय लेना वस्तुवाद के साथ कहाँ तक न्याय है। इस स्वीकारोक्ति के बाद रायसाहेब बहुत नाराज हुये, और ज्ञानशङ्कर से कहा कि वह कभी गायत्री की तरफ कदम न उठावे। ज्ञानशङ्कर रोने लगे। थोड़ी देर में वे कहाँ से उठे, और गोमती में आत्महत्या करने को चले, किन्तु वे जब पानी में घुसे, तो मरने को जितना सहज समझा था, उससे वह कहीं कठिन ज्ञात हुआ। उन्हें विचार हुआ मैं कैसा मन्द-बुद्धि हूँ कि एक जरा-सी बात के लिए प्राण देने पर तत्पर हो रहा हूँ। इसके बाद ज्ञानशङ्कर ने रायसाहब को खाने में जहर दे दिया, किन्तु रायसाहब खाना खाते ही ताड़ गये। उन्होंने कहा—तुम सिंह का शिकार बाँस की तीलियों से करना चाहते हो... यद्यपि यह थाल बीस पचीस आदमियों को सुलाने के लिए काफी है, शायद एक कौर खाने के बाद उन्हें दूसरी कौर की नौबत न आ गई।......

यह कहते-कहते रायसाहब ने थाल से कई कौर उठा कर जल्द-जल्द खाये। अकस्मात ज्ञानशङ्कर तेजी से लपके, थाल उठा कर भूमि पर पटक दिया, और रायसाहब के पैरों पर गिर कर बिलख-बिलख कर रोने लगे। रायसाहब की योगसिद्धि ने आज उन्हें परास्त कर दिया।

आगे हम प्रेमशङ्कर के अजीबोगरीब भावुक और अकर्मण्य चरित्र का परिचय पाते हैं। डाक्टर चोपड़ा को गाँववाले एक दिन मौके से पा जाते हैं, और वे उन पर मारपीट करने को उतारू हो जाते हैं, इतने में प्रेमशङ्कर आ कर उन्हें बचाते हैं। हमेशा ऐसे मौके पर प्रेमचन्द प्रेमशङ्कर को ला देते हैं। अबकी बार उनके ऊपर शायद धोखे में एक लाठी पड़ जाती है। वे लड़खड़ा कर जमीन पर गिर जाते हैं। फिर बहुत दिनों में अच्छे हो पाते हैं।

गौस खाँ के हत्या के सम्बन्ध में जो मुकदमा चल रहा था, उसमें सबको लम्बी-लम्बी सजायें हुईं। प्रेमचन्द ने दिखलाया है कि कई महीने बीत चुके लेकिन प्रेमशंकर अपील दायर करने का निश्चय न कर सके। यहाँ कुछ वर्णन में गड़बड़ी जरूर है क्योंकि अपील दायर करने की भी एक मियाद होती है, और उसके बाद अपील दायर नहीं हो सकती। जो कुछ भी हो जिस बिसेसर साह ने पुलिस की भभकी में आ कर अभियुक्तों के विरुद्ध बयान दिया था, वह जब पश्चाताप ग्रस्त होकर अपील का सारा खर्च उठाने पर तैयार हुआ तो अपील दायर की गई।

ज्ञानशङ्कर अपने ससुर द्वारा दुतकारे जा कर लखनऊ पहुँचे और उन्हें हिम्मत न हुई कि गायत्री के पास जायँ। फिर उन्होंने गायत्री को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने यह लिखा—'मरने लगूँ तो उसी मुरली-वाले की सूरत आखों के सामने हो और यह सिर राधिका की गोद में हो। इसके अतिरिक्त मुझे कोई और इच्छा और लालसा नहीं है। राधिका की एक तिरछी चितवन, एक मृदुल मुस्कान, एक मीठी चुटकी, एक अनोखी छटा पर मैं समस्त संसार की सम्पदा को न्योछावर कर सकता हूँ—इसके बाद ज्ञानशंकर ने इसी पत्र में यह लिख दिया कि रायसाहब मुझ पर नाराज हैं और मुझ पर बेजा सन्देह करते हैं। कृष्णलीला आदि का स्वांग रचकर ज्ञानशंकर ने गायत्री की हालत

ऐसी कर दी थी कि यद्यपि सामने रहते तो वह अनुभव नहीं करती थी, किन्तु ज्ञानशंकर के चले जाने के बाद उसको एक-एक क्षण काटना दुस्तर हो गया था। गायत्री इसी विकलता की दशा में कभी ज्ञानशङ्कर के दीवानखाने की ओर जाती, कभी ऊपर, कभी नीचे, कभी बाग में, पर कहीं जी न लगता, वह गोपिकाओं की विरह-व्यथा की अपने वियोग दुख से तुलना करती है, सूरदास के उन पदों को गाती जिनमें गोपिकाओं का विरह वर्णन किया गया है। ऐसी हालत में जब ज्ञानशङ्कर का पत्र पहुँचा तो उसने आग में घी का काम किया, और उसने ज्ञानशङ्कर को तार दिया 'मैं आ रही हूँ।' और शाम की गाड़ी से मायाशङ्कर को साथ लेकर बनारस चली। बनारस में ज्ञानशङ्कर ने कृष्णलीला की रचना की। स्वयं कृष्ण बने और गायत्री राधा बनी। अन्तिम नतीजा यहाँ तक हुआ कि गायत्री आत्मसमर्पण कर ज्ञानशङ्कर को कृष्ण समझ कर उसके पैरों पर गिर पड़ी। ज्ञानशङ्कर ने उसको तुरन्त उठा कर छाती से लगा लिया। ऐसे समय में अकस्मात कमरे का द्वार धीरे से खुलता है, और विद्या अन्दर कदम रखती है। विद्या ने काफी भला-बुरा कहा। गायत्री रोने लगी। ज्ञानशङ्कर ने विद्या के सामने ही गायत्री को बहकाने की चेष्टा की, किन्तु सफल नहीं हुये। गायत्री पर इन सब बातों का यह असर पड़ा कि उसने तय कर लिया अब सारी जायदाद कहीं अर्पण कर अलग जा कर बैठेगी। उसने यह तय किया कि ज्ञानशङ्कर के लड़के मायाशङ्कर को सारी जायदाद दे। बाकायदा हवन आदि के साथ गायत्री ने मायाशङ्कर को गोद ले लिया। विद्या को इस बात से बहुत ही चोट लगी, और वह बीमार पड़ गई। इसी हालत में उसने विष खा लिया और मर गई।

गायत्री और ज्ञानशंकर के बीच मन मुटाव रहने लगा, ज्ञानशंकर हर समय यह शंकित रहते थे कहीं ऐसा न हो कि राय साहब इधर ध्यान दें, और सब मामला पलट जाय, इसलिए वे गायत्री की चिट्ठियाँ

भी खोल कर पढ़ लेते। वे यथा साध्य गायत्री को स्त्रियों से मिलने-जुलने का भी अवसर न देते। ये बातें गायत्री पर खुल गईं, और उसने एक दिन ज्ञानशंकर से इन बातों का जवाब तलब किया, ज्ञानशंकर बात बनाकर बच गये। फिर भी उन्होंने यह जो कोशिश की कि गायत्री को फिर से कृष्णलीला और राधा के नाम से फसाया जाय, उस में वे असफल रहे। श्रद्धा और गायत्री में इन दिनों बहुत मेल-जोल बढ़ा, और गायत्री दिल खोलकर श्रद्धा से बातचीत करती थी। गायत्री ने अन्त तक यह अनुभव किया कि उसी में कुछ विकार था, तभी ज्ञानशंकर उसको इस प्रकार हर मामले में उल्लू बनाने में समर्थ हुआ। उसने श्रद्धा से कहा—मच्छर के डंक से सबको ताप और जूड़ी नहीं आती। यह वाह्य उत्तेजना केवल भीतर के विकार को उभाड़ देती है। ऐसा न होता तो आज एक भी स्वस्थ प्राणी दिखाई न देता। मुझमें यह विकृत पदार्थ था—इत्यादि।

इस उपन्यास में अन्त में ज्वालासिंह ने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। यह इस्तीफा जिस मनोवृत्ति के कारण दिया, उसमें गांधीवादी असहयोग की छाप स्पष्ट है। उनकी स्त्री शीलमणि कहती है—पहले जब वे इस्तीफा देने की चर्चा करते, तो मैं समझती थी काम से जी चुराते हैं। राजी न होती थी। लेकिन इन तीन वर्षों में मुझे अनुभव हो गया कि इस नौकरी के साथ आत्म-रक्षा नहीं हो सकती। जाति के नेतागण प्रजा के उपकार के लिए जो उपाय करते हैं, सरकार उसी में विघ्न डालती है...। नेताओं ने देश को दरिद्रता के चंगुल से छुड़ाने के लिए जो चर्खों और कर्घों की व्यवस्था की, सरकार उसमें बाधा डाल रही है। स्वदेशी कपड़े का प्रचार करने के लिए दूकानदारों और ग्राहकों को समझाना अपराध ठहरा दिया गया है। नशे की चीजों का प्रचार कम करने के लिए नशेबाजों और ठेकेदारों से कुछ कहना-सुनना भी अपराध है। अभी पिछले सालों जब यूरोप में

लड़ाई हुई थी तो सरकार ने प्रजा से कर्ज लिया। कहने को तो कर्ज था, पर असल में जबरी टैक्स था। अधिकारियों ने दीन-दरिद्र प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार किये, तरह तरह के दबाव डाले, यहाँ तक कि उन्हें अपने हल-बैल बेचकर सरकार को कर्ज देने पर मजबूर किया। जिसने इन्कार किया, उसेतो पिटवाया या कोई झूठा इल्जाम लगा कर पिंटवा दिया। बाबू जी ने अपने इलाके में किसी के साथ सख्ती नहीं की। कह दिया जिसका जी चाहे कर्ज दे, जिसका न जी चाहे न दे। नतीजा यह हुआ कि और इलाके में तो लाखों रुपये वसूल हुये, इनके इलाके से बहुत कम मिला। इस पर जिले के हाकिम ने नाराज होकर उनकी शिकायत कर दी। उनसे यह ओहदा छीन लिया गया। दर्जा घटा दिया गया। जब मैंने यह हाल देखा तो आप ही जिद् करके इस्तीफा दिलवा दिया।

ज्ञानशंकर की मानसिक अवस्था बिगड़ती ही गई। गायत्री उससे फिरन्ट थी, वह सोचती थी 'मैंने अपनी आत्मा की, कर्म की, नियमों की हत्या की और एक सती-साध्वी स्त्री के खून से अपने हाथों को रंगा, पर प्रारब्ध पर विजय न पा सका...इत्यादि।

हाईकोर्ट ज्योंही दशहरे की छुट्टियों के बाद खुला, अपील दायर हो गई। फिर शहादतें तलब हुईं। बिसेसर साह, प्रियनाथ चोपड़ा आदि ने बयान उलट दिये। आगे चल कर इसका नतीजा यही हुआ कि सब अभियुक्त बरी हो गये।

जब मायाशङ्कर को ऐश्वर्य में तैरते हुये देखा तो उसके सहपाठी और साथ के खेलने वाले तेजशङ्कर और पद्मशङ्कर (प्रभाशङ्कर के लड़के) बहुत जलने लगे, और उन्होंने चाहा कि मन्त्र के जोर से सब ऐश्वर्य प्राप्त किये जाँय। तदनुसार इन दोनों ने कई दिन तक एक तन्त्र-ग्रन्थ से कुछ मन्त्र ढूढ़ निकाले, और उनको कंठस्थ किया, इनको यह ख्याल हो गया कि मन्त्र के कारण वे अमर हो चुके हैं। मन्त्र

जगाने के चालीसवें दिन अमावस्या की रात को वे स्नान कर नदी किनारे बैठे और मन्त्र का जप करने लगे। रात्रि के आखिरी हिस्से में सहसा तेजशङ्कर बोल उठा—जय भैरवी की। पद्मशङ्कर ने भी कड़क कर कहा—जय भैरवी की।

तेजशङ्कर—तलवार हाथ में ले लो मैं सिर झुकाये हूँ।

पद्म—नहीं, पहले तुम चलाओ मैं सिर झुकाता हूँ।

अन्त में तेजशङ्कर ने तलवार हाथ में ली, उसे तौला, दो तीन-बार पैतरे बदलें, और तब जय भैरव की कह कर पद्मशङ्कर की गर्दन पर तलवार चलाई। हाथ भरपूर पड़ा, तलवार तेज थी, सिर धड़ से अलग जा गिरा, रक्त का फौवारा छूटने लगा। तेजशङ्कर ने बहुतेरा मन्त्र पाठ किया, किन्तु कोई नतीजा नहीं हुआ। अन्त में उसने निराश होकर वही तलवार अपने गले पर फेर दी। नतीजा यह हुआ कि वह भी मर गया।

गायत्री भी मर गई। ज्ञानशङ्कर की उच्चाकांक्षा तृप्त न हुई थी, वे राजसभा के चुनाव के लिए खड़े हुये, और बड़ी दौड़-धूप के बाद उसमें सफल भी हुये। इधर प्रेमशङ्कर ने एक आश्रम-सा खोल रखा था, जिसका नाम प्रेमाश्रम था। प्रेमशङ्कर भी लोगों के कहने पर खड़े हुये थे, और वे बिना अधिक दौड़धूप किये सफल हो गये। जब ज्ञानशङ्कर को यह बात ज्ञात हुई तो अपनी बुद्धि और कौशल पर फिर सन्देह हुआ। इसके बाद इस पुस्तक में यह दिखलाया गया है कि प्रेमशङ्कर कौंसिल में सुधार के प्रस्ताव आदि रखते रहे।

मायाशङ्कर के अट्ठारहवें साल की पूर्ति के उपलक्ष्य में अर्थात उनको बालिग होकर अपनी रियासत पर अधिकार प्राप्ति के उपलक्ष्य में एक बहुत बड़ा उत्सव मनाया गया। इस अवसर पर मायाशङ्कर ने

 एक अपने सब अधिकार त्याग दिये। गर्वनर के सामने ही माया-

शङ्कर कहते हैं—'विज्ञ सज्जनों, मुझे यह मिथ्याभिमान नहीं है कि मैं इन इलाकों का मालिक हूँ। पूर्व संस्कार और सौभाग्य ने मुझे ऐसी पवित्र उन्नत और दिव्य आत्माओं की सत-संगति से उपकृत होने का अवसर दिया है कि अगर यह भ्रम, यह ममत्व एकक्षण के लिए भी मेरे मन में आता तो मैं अपने को अधम और अक्षम्य समझता। भूमि या तो ईश्वर की है, जिसने इसकी सृष्टि की, या किसान की, जो ईश्वरीय-इच्छा के अनुसार उसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है, चाहे प्रत्यक्ष-रूप में ले या उससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्द वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य-पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान समाज व्यवस्था का कलंक चिह्न समझना चाहिये...मेरी धारणा है कि मुझे किसानों की गर्दनों पर अपना जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं है...। मैं आप सब सज्जनों के सम्मुख उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग करता हूँ जो प्रथा, नियम और समाज व्यवस्था ने मुझे दिये हैं। मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ, वे न मेरे असामी हैं, न मैं उनका तालुकदार हूँ। वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं, आज से वे अपनी जोत के स्वयं जमीदार हैं...। मैं बैरिस्टर डाक्टर इरफान अली से प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरी इस विषय में सहायता करें और जाब्ते और कानून की समस्याओं के तय करने की व्यवस्था करें।...

ज्ञानशङ्कर को मायाशङ्कर के इस त्याग से बहुत ही दुख पहुँचा। 'जो तिमंजिला भवन मैंने एक युग में अविश्रान्त उद्योग से खड़ा किया, वह क्षणमात्र में इस भाँति भूमिस्थ हो गया, मानो उसका अस्तित्व न था, उसका चिह्न तक नहीं दिखाई पड़ता।...सम्पत्ति,

मान, अधिकार किसी का शौक नहीं। इनके बिना भी आदमी सुखी रहता है, बल्कि सच पूछो तो सुख इनसे मुक्त होने में है। शोक यह है कि मैं अल्पांश में भी इस यश का भागी नहीं बन सकता।... प्रारब्ध ने कैसा गुप्त आघात किया। अब क्यों जिन्दा रहूँ...हाँ विद्या, मैंने तेरे साथ कितने अत्याचार किये, तू सती थी, मैंने तुझे पैरों तले रौंदा...।' जीवन की घटना सिनेमा चित्रों के सदृश्य उनके सामने मूर्तिमान हो गई।...उनके मन ने प्रश्न किया क्या मरने के सिवाय कोई उपाय नहीं है नैराश्य ने कहा नहीं कोई उपाय नहीं है। वह घाट के एक पीलपाये पर जाकर खड़े हो गये। दोनों हाथ तौले, जैसे चिड़िया पर तौलती है। पर पैर न उठे। मन ने कहा, तुम भी प्रेमाश्रम में क्यों नहीं चले जाते ? ग्लानि ने जवाब दिया, कौन मुँह लेकर जाऊँ, मरना तो नहीं चाहता, पर जीऊँ कैसे ? हाय मैं जबरन मारा जा रहा हूँ। यह सोचकर ज्ञानशङ्कर जोर से रो उठे...। वे एक अचेत शून्य दशा में उठे और गंगा में कूद पड़े। शीतल जल ने हृदय-दाह को शान्त कर दिया।

प्रेमाश्रम चलता रहा। किसी न किसी रूप में ज्वालासिंह, इरफानअली आदि सभी इससे संयुक्त रहते हैं।

× ×

'प्रेमाश्रम' प्रेमचन्द का द्वितीय उपन्यास है। यह बताया गया है कि 'प्रेमाश्रम हिन्दी का ही नहीं, भारत का पहला राजनेतिक उपन्यास है',[1] किन्तु इस कथन में कुछ अत्युक्ति है, क्योंकि इसके बहुत पहले बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' की रचना की थी। अवश्य 'आनन्दमठ' और 'प्रेमाश्रम' की विषयवस्तु में विभिन्नता है। 'आनन्दमठ' में केवल विदेशी शासक के विरुद्ध संग्राम या संघर्ष की बात घुमाफिरा कर वर्णित

[1] प्रे० आ० पृ० ५६

है, किन्तु 'प्रेमाश्रम' में विदेशी-शासन के विरुद्ध संघर्ष के साथ-साथ उसी के समान्तराल में चलने वाले दूसरे संघर्ष अर्थात जमींदार किसान के संघर्ष की बात भी दिखलाई गई है। इस प्रकार 'प्रेमाश्रम' का कथानक राजनैतिक दृष्टि से 'आनन्दमठ' के कथानक से कहीं अधिक विस्तृत तथा वास्तविक जीवन का अधिक अच्छा दर्पण है, क्योंकि जब से भारतवर्ष में विदेशी-शासन का प्रारम्भ हुआ है, तब से ये दो संघर्ष अर्थात् विदेशीपूँजीशाही के विरुद्ध संघर्ष और साथ ही साथ और अपने यहाँ के जमीन्दार तथा पूँजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष साथ-साथ चल रहे हैं। जब 'आनन्दमठ' के साथ हम 'प्रेमाश्रम' की तुलना कर रहे हैं, तो एक बात और बता दें, वह यह कि 'आनन्दमठ' में गोरे तो शत्रु के रूप में चित्रित हैं ही, साथ ही साथ भारत के मुसलमान भी शत्रु के रूप में चित्रित हैं। हम इस विषय में ब्योरे में जाने का साहस नहीं कर सकते, किन्तु संक्षेप में यह देख लेना अनुचित न होगा कि इस विषय में बंगला को मातृभाषा मानने वाले बंगाली-मुसलमान इस सम्बन्ध में क्या सोचते हैं। शमशुलआनम खाँ नामक बंगला लेखक का कहना है कि बंकिम साहित्य में हिन्दू-मुसलमान दोनों के चित्र अगलबगल खींचे गये हैं। हिन्दू चरित्र तो स्वर्गीय चरित्र से उद्भासित होकर सुमेरु के उच्च शिखर पर शोभायमान होता है, किन्तु मुसलमानों का चित्र उतर कर गम्भीर पंकिल पाताल-पूरी में पहुँच जाता है।[१] 'आनन्दमठ' में ही 'बन्देमातरम्' गीत आता है, इसके सम्बन्ध में बाद में मुसलमानों ने जो यह नारा बुलन्द किया है कि इसमें बुतपरस्ती की गई है; वह कहाँ तक उचित है, उसके विचार का स्थान यह नहीं है, किन्तु बंकिम-साहित्य में मुसलमानों का चित्र हिन्दुओं के मुकाबिले में निकृष्ट दिखलाया गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

मोहमदी १३५१ कार्तिक

बंकिमचन्द्र के सामने हिन्दू-मुसलिम एकता का कोई प्रश्न नहीं था। इसके विपरीत प्रेमचन्द अपने विराट-साहित्य में एकाध अपवाद के अतिरिक्त प्रत्येक अवसर पर हिन्दू-मुसलमान एकता के प्रबल उपासक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इस उपन्यास में भी वे यह दिखलाते हैं कि एक तरफ कादिर खाँ और बलराज तथा मनोहर आदि का हित एक है, और दूसरी तरफ गौस खाँ, ज्ञानशङ्कर तथा हिन्दू-मुसलमान हाकिमों का हित एक है। वे इस उपन्यास में यह भी दिखलाते हैं कि हिन्दू-मुसलमान एकता के नारे का दुरुपयोग भी होता है। सैयद इजाद हुसेन इसी प्रकार हिन्दू-मुसलमान एकता का नारा देकर अपना उल्लू सीधा करते हुये दिखलाये गये हैं। प्रेमाश्रम इस प्रकार भारतवर्ष का पहला राजनैतिक उपन्यास तो नहीं है, किन्तु यदि यह कहा जाय कि इसके पहले हिन्दी में ही नहीं बँगला में भी वर्ग संघर्ष को प्रधान उपजीव्य बनाकर कोई उपन्यास नहीं लिखा गया। अवश्य केवल वर्ग-संघर्ष को केन्द्र बना कर उपन्यास लिखने पर ही वह उपन्यास श्रेष्ठ नहीं हो जाता, सबसे पहले तो हमें इस बात को देखने जाँचने की जरूरत है कि लेखक की रचना उपन्यास हो भी पाई या नहीं। यदि कोई उपन्यास और दृष्टियों से ऊँचे दर्जे की रचना न हो, किन्तु वर्ग-संघर्ष को केन्द्र बना कर लिखा गया हो, तो उससे केवल उस रचना के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है कि लेखक Subjectively अर्थात द्रष्टगत रूप से प्रगतिशील है। इससे अधिक नहीं। अगले पृष्ठों में हम देखेंगे कि प्रेमाश्रम कहाँ तक सफल उपन्यास रहा है।

प्रेमाश्रम की कथा आरम्भ जिस प्रकार जमींदार के चपरासी गिरधर महाराज के द्वारा घी के लिए रुपये बाटने से होता है, वह गाँव के जीवन से अभिज्ञों के लिए एक सुपरिचित बात है। लखनपुर की रंगभूमि पर मनोहर, दुखरन भगत, सुक्खु, गिरधर, बिलासी, बलराज, कल्लू, कादिर, गौस खाँ, डपटसिंह, बिसेसरसाह, बिलासी आदि

जितने भी पात्र तथा पात्रियाँ हैं, वे सभी बहुत साधारण चरित्र हैं। लेखक ने इनका बहुत ही सजीव चित्र खींचा है। प्रेमचन्दजी ग्राम-जीवन से बहुत अच्छी तरह परिचित थे, इसीलिए इन चरित्रों के वर्णन को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि लेखक ने जो कुछ आखों से प्रत्यक्ष किया था, उसी को लिख भर दिया, फिर भी कथानक का जिस तरह गुम्फन किया गया है, और एक-एक चरित्र हमारे सामने जिस प्रकार खुलता जाता है, वह लेखक के कृत्तित्व का परिचायक है। जमींदार तथा उनके कारिन्दों का मनमाना, दौरे के नाम पर अफसरों के साथ गाँवों पर चपरासियों तथा छोटे नौकरों के टिड्डी दल का टूट पड़ना, उनकी ज्यादती, उनकी चोरी और सीनाजोरी, साहूकारों की लूट, और अपनी बारी में अफसरों के द्वारा साहूकारों की लूट, हिंसा अहिंसा—ये सभी बातें इस उपन्यास में अपना जौहर दिखाती हैं। किसानों की दयनीय दशा का जितना अच्छी तरह बोध इस उपन्यास से होता है, उतना बीसियों समाजवादी ट्रस्टों से नहीं हो सकता। ग्राम-जीवन से अनभिज्ञ पाठक भी गाँव वालों के जीवन की समस्याओं से भली-भाँति परिचित हो जाता है। यही लेखक की बड़ाई है। प्रेमचन्द के पहले किसी भी हिन्दी लेखक ने ग्राम-जीवन का ऐसा चित्र नहीं खींचा। कुछ लोगों में ग्राम-जीवन को एक प्रकार का स्वर्ग करके समझने, कल्पना करने की प्रवृत्ति है। किन्तु प्रेमचन्द यह दिखलाते हैं कि यह स्वर्ग केवल ऐसे लोगों की कल्पनाओं में है, असल में किसानों का जीवन बहुत ही दुख और बेबसी का जीवन है। बलराज जो यह कहता है कि 'किसी का दिया खाते हैं, कि किसी के घर माँगने जाते हैं, अपना तो एक भी पैसा नहीं छोड़ते, तो हम क्यों धौंस सहें' यह बात तो ठीक है, बहुत तर्क संगत है, किन्तु जमींदार कारिन्दा तथा सरकारी चपरासियों के आगे, यह तर्क चलता कब है? वहाँ तर्क की गुंजाइश ही कहाँ है? वहाँ

तो केवल जबरदस्ती है, वर्ग स्वार्थ है, अत्यन्त घृणित, नग्न वर्ग स्वार्थ—जिसके पीछे सरकार का वरदहस्त, उसका बल, युगयुगान्तर के कुसंस्कार तथा धर्म और सदाचार की धारणा है। बलराज का तर्क नहीं चलता। उधर से जबरदस्ती ही जबरदस्ती होती है। बेगार चलती है, मार पड़ती है, अदालत के जरिये से भी नये-नये जुल्म ही होते हैं। बलराज खुद ही हिरासत में ले लिया जाता है। फिर किसी प्रकार छूटता है। वह नवयुवक है, उसने समाजवादी रूस के सम्बन्ध में सुन रखा है, मन ही मन वह यह कहता है कि जब रूस में मजदूर किसानों का राज्य है, तो यहाँ क्यों मनमानी सहें। अन्त में एक दिन उसकी माँ का अपमान होता है। पृष्ठ-भूमि में आर्थिक कारण है, किन्तु ऊपर से भावुकता की सतह पर यह कारण ही निकलता है। अब तक जो गाड़ी खड़ी थी, वह आगे खिसक पड़ती है। वह लाठी लेकर बदला लेने के लिए विह्वल हो जाता है, किन्तु उसका पिता मनोहर इससे भी कहीं भयंकर बात अपने मन में ठान चुका है, वह अर्थपूर्ण तरीके से आज्ञामूलक इंगित करता है। बलराज रुक जाता है। रात को बाप बेटा मिल कर गौस खाँ का काम तमाम कर डालते हैं, फिर मनोहर जाकर थाने में हाजिर हो जाता है। गाँव के बहुत से आदमी बँध जाते हैं, तथा मनोहर ने जो अपने बेटे को बचाने के लिए इकबाली गवाह बनना स्वीकार किया था, वो बलराज भी फंस जाता है।

Individualistic action या वैयक्तिक आतंकवादी हमला क्रान्तिकारी विद्रोह का प्रथम सोपान है। उसे कोई भले ही बुरा कहे—और जिस समय जब आन्दोलन सम्भव है, और जारी है, उस समय उसको बुरा कहना भी चाहिये, उस समय वह निश्चितरूप से हानिकर है,—किन्तु प्रारम्भिक युग में जिस समय एक जाति या वर्ग अँगड़ाई लेकर अपने सताने वाले के विरुद्ध आ रहा है, उस समय यह सोपान

एक अपरिहार्य ऐतिहासिक सोपान है। किसान इस सोपान में किसी एक जमीन्दार को, उसके कारिन्दे को या चपरासी को मारता है, रात में चोरी से उसके घर में आग लगा देता है, इत्यादि, मजदूर इस सोपान में किसी पूँजीपति को, मैनेजर को, फोरमैन को मारता है, या मशीन तोड़ डालता है, मानो इन निर्जीव मशीनों ने ही इसका कुछ बिगाड़ा हो। 'प्रेमाश्रम' में हम किसानों को इसी सोपान में देखते हैं। इसके आगे जो जन-संगठन का सोपान है, जिसमें विज्ञान-संगठित तरीके से विद्रोह करते हैं, उसका इस उपन्यास में पता नहीं है। हम यह नहीं कहते कि प्रेमचन्द के लिए इस बात की मजबूरी थी कि वे किसानों के सब सोपानों को इसी पुस्तक में दिखला देते, ऐसा बिलकुल नहीं। हम तो केवल एक तथ्य की ओर पाठक की दृष्टि आकर्षित कर रहे हैं।

स्वाभाविकरूप से बलराज-मनोहर की इस वैयक्तिक क्रिया का जो परिणाम होना था वह हुआ। गाँववाले और भी बुरी तरह दबा दिये गये। जिस बिलासी को धक्का देने के कारण गौस खाँ की जान गई, वही बिलासी बाद को इससे कहीं अधिक अपमानित हुई। इसी प्रकार सब गाँववालों का पहले से अधिक अपमान हुआ। फैजुल्लाह नाम से जो नया कारिन्दा आया, वह गौस खाँ से बढ़ कर बदमाश निकला। इससे यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि असल में दोषी पद्धति है न कि कोई विशेष व्यक्ति। स्वाभाविक रूप से इसमें समाधान की ओर भी इंगित है, और वह इंगित यह है कि पद्धति को नष्ट करना चाहिये, उसके एक व्यक्ति को मारने से कुछ लाभ सम्भव नहीं।

गाँव वालों पर फैजुल्लाह जुल्म करने लगा, फिर भी लगान वसूल नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में लगान बन्दी हुई, फिर भी कुछ फायदा नहीं हुआ। गाँव-वालों की प्रतिरोध-शक्ति पहले से घटी हुई थी, इसलिए उनको लगान-बन्दी के कारण और भी कष्ट उठाना पड़ा। इस स्थान पर प्रेमचन्द चिढ़ कर लिख देते हैं—'सत्याग्रह में अन्याय

को दमन करने की शक्ति है, यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण सिद्ध हुआ।' इस दृश्य पर टीका करते हुये डाक्टर रामविलास लिखते हैं—"यदि प्रेमाश्रम सम्वत् १९७८ में न लिखा जाकर बारह वर्ष बाद लिखा गया होता, तो भी शायद वह इसी वाक्य में समाप्त हो जाता, परन्तु प्रेमचन्द को उसे सुखान्त बनाना था, उनका आदर्शवाद संघर्ष के इस कटु परिणाम के लिए तैयार न था। दूसरे शब्दों में उस समय की जनता बिना इस आदर्शवाद के मुलम्मे के इस नग्न-यथार्थता को देखने के लिए तैयार न थी। प्रेमचन्द ने अपने युग की माँगों के अनुसार उसे सुखान्त बना दिया है।"[1] डाक्टर साहब के इस कथन से यह ध्वनि निकलती है मानो प्रेमचन्दजी को इसका असली समाधान ज्ञात था, उन्होंने केवल उस समय की जनता की माँग के अनुसार आगे यह दिखलाया कि अभियुक्त अपील से छूट जाते हैं, मायाशंकर रियासत त्याग देता है, इत्यादि; किन्तु हमें इसमें बहुत भारी सन्देह है। कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि वे इस कटु-परिणाम रूपी उलझन को सुलझाने के व्यवहारिक क्रान्तिकारी रूप से परिचित थे। शायद डाक्टर साहेब यह समझते हैं कि इस प्रकार उन्होंने प्रेमचन्द की बड़ी प्रशंसा की है, किन्तु यदि यह प्रशंसा है तो निन्दा क्या है। यह तो समझ में आ सकता है कि प्रेमचन्द को स्वयं मायाशङ्कर के हृदय परिवर्तन वाला सुझाव पसन्द था, इसलिए उन्होंने इस धारणा के वशवर्ती होकर बाद का हिस्सा लिखा है। इसे हम भले ही अव्यवहारिक तथा स्वाप्निक कहें, किन्तु इससे प्रेमचन्द के artistic enterity अर्थात् कला सम्बन्धी सचाई पर आँच नहीं आती, किन्तु यदि डाक्टर साहब की बात मानी जाय, तब तो प्रेमचन्द कोई क्रान्तिकारी या प्रगतिशील

---

[1] प्रे० डा० पृ० ८६

लेखक नहीं, बल्कि जनता की गलत धारणाओं के इशारे पर नाचने वाले टकैया लेखकों में हो जाते हैं। जिस कलाकार में कलात्मक सचाई नहीं है, जो अपनी अनुभूतियों के प्रति वफादार नहीं है, जो अपनी अनुभूतियों का गला घोंट कर कलम उठाता है, उसके लिए 'टकैया' शब्द कोई बहुत भद्दा नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द की सारी रचनाओं की सम्मिलित गवाही यही है कि प्रेमचन्द इसी प्रकार के सुलझाव को पसन्द करते थे। 'गोदान' में जो एक नई प्रवृत्ति है, उसके सम्बन्ध में हम बाद को आलोचना करेंगे, किन्तु अपनी अन्य सब रचनाओं में उनका रूप 'प्रेमाश्रम' में दृष्ट-रूप ही है। ऐसी हालत में डाक्टर साहेब की यह आलोचना केवल काल्पनिक है। अवश्य डाक्टर साहेब ने उद्धृत मन्तव्य उनकी प्रशंसा में ही किये हैं, किन्तु हम देख चुके कि किस प्रकार इस तरह की प्रशंसा उनकी सबसे बड़ी निन्दा हो जाती है। हम डाक्टर साहेब के सम्बन्ध में अलबत्ता यह कह सकते हैं कि उन्होंने जो मन्तव्य किये हैं तथा उन्होंने जिस प्रकार से जहाँ कोई प्रशंसनीय बात नहीं हैं, वहाँ प्रेमचन्दजी की प्रशंसा की है, उसमें अवश्य वे अपने समय की जनता की माँग के द्वारा परिचालित हुये हैं, न कि निस्पृह, शुभ्र, स्वच्छ, पक्षपातहीन आलोचक-दृष्टि से, जैसा कि उन्हें होना चाहिये था।

मायाशङ्कर ने अपनी अट्ठारहवीं वर्ष गाँठ पर रियासत को त्यागते हुये तथा किसानों में सारी जमीन बाँटते हुये जो व्याख्यान दिया है, वह बिलकुल असम्भव नहीं है। ऐसा हो सकता है कि कोई व्यक्ति, या कोई दो व्यक्ति इस प्रकार का कार्य करें, किन्तु इससे सामाजिक समस्या—किसान के शोषण की समस्या हल नहीं होती। फिर भी यह कहना कि मायाशङ्कर के चरित्र की सृष्टि प्रेमचन्दजी के दिमाग में ही हुई, यह गलत होगा। पूरी बात तो यह है कि मायाशङ्कर के चरित्र की सृष्टि प्रेमचन्द के दिमाग से कहीं पहले गाँधीजी के दिमाग में हुई, और

उससे भी पहले अन्य अनेक स्वाप्निक-समाजवादियों के दिमाग में हुई। जिस समय प्रेमाश्रम हिन्दी संसार में आया है, उस समय का वातावरण मायाशङ्कर की कल्पना से ओतप्रोत था। यह कल्पना इतना प्रबल-रूप धारण कर गई थी कि वह रक्त-माँस-मय शरीर-धारी मनुष्य से अधिक वास्तविक हो गई थी। सच बात तो यह है कि इन वर्षों में निरन्तर इस कल्पना के ऊपर व्यवहारिक, वैज्ञानिक-समाजवादियों के द्वारा चोट किये जाने पर भी वह अभी तक बहुत कुछ वास्तविक बनी हुई है, और लाखों व्यक्ति यह समझते हैं कि इस प्रकार का हृदय परिवर्तन सम्भावना के दायरे में है। नव-नव रूप में, कहीं अग्रवाल की आर्थिक योजना के रूप में कहीं रंगा के स्वर्गराज्य के रूप में वह हमारे सामने आती जा रही है।

फिर वह तो गाँधीवाद का वह युग था, जब वह बिल्कुल एक छत्र था। ऐसी हालत में यदि एक वस्तुवादी कलाकार के नाते प्रेमचन्दजी उस प्रवाह में बह गये, और उस कभी न कार्यरूप में परिणत होने वाले आदर्श को वास्तविक करके समझ लिया, और उसमें अपनी कल्पना से रंग डाल कर मायाशङ्कर की सृष्टि कर दी, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यदि प्रेमचन्दजी मायाशङ्कर तथा इसी प्रकार के अन्य चरित्रों की सृष्टि अपने साहित्य में न करते, तो वे अपने युग के प्रति सच्चे न रह पाते। उस हालत में सम्भव है कि उनका समाजवाद वर्ग-संघर्ष पर अधिक निखरा हुआ होता, सिद्धान्त दृष्टि से उनमें कोई नुक्स न निकाल पाता, किन्तु वे अपने युग के प्रतिनिधि कलाकार नहीं हो पाते। जब युग ही ऐसा था, जिसमें अधिकांश सोचने वाले लोग मायाशङ्कर की वास्तविकता में विश्वास करते थे, और उसी विश्वास पर अपनी राजनीति और अर्थनीति का निर्माण करते थे, यही नहीं इसी धारणा पर बड़ा से बड़ा त्याग करते थे, उस हालत में मायाशङ्कर का चरित्र बिल्कुल हवाई नहीं है। जैसे धार्मिक चारत्रों में एसभी की सेन्ट फ्रांसिसी,

बुद्ध या महावीर भले ही दो चार व्यक्ति हों, किन्तु वे न तो असम्भव हैं, और न अवास्तविक, उसी प्रकार मायाशङ्कर को भी समझना चाहिये। अवश्य जिस समय मायाशङ्कर को सामने रख कर कोई यह दावा करेगा—Eureka यूरेका—यही समाधान है, तो वह दूसरी बात हो जायेगी, किन्तु यहाँ तो केवल मायाशङ्कर कहाँ तक उस युग में वास्तविक था, इसी की बात हो रही है।

यद्यपि प्रेमाश्रम में प्रेमचन्दजी हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र में एक नये युग का प्रवर्तन करते हैं, किन्तु फिर भी इसमें वे सम्पूर्णरूप से तिलस्मी और ऐयारी उपन्यासों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। कई जगह तो बहुत खटक जाता है, और एक अवास्तविकता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। राय कमलानन्द को ज्ञानशङ्कर जहर देते हैं, वे जहर को जहर जान कर भी खाते ही चले जाते हैं, यह फिर भी गनीमत है, किन्तु इस युग में लेखक ने पद्मशङ्कर और तेजशङ्कर का जिस प्रकार अन्त कराया है, वह तिलस्म के ही क्षेत्र में पहुँच जाता है। यों तो ढूढ़ने पर छोटी-मोटी त्रुटि मिलेगी, किन्तु सब मिला कर इस उपन्यास में हिन्दी संसार के लिए एक बहुत बड़ी आशा का संचार किया। कहानी कहने की दृष्टि से यह उपन्यास शायद बहुत ऊचकोटि के उपन्यासों में न गिना जा सके, बँगला में कम से कम एक दर्जन लेखक उसी युग में इनसे अच्छी कहानी कहनेवाले मौजूद थे, किन्तु जिस प्रकार उन्होंने गरीबों के जीवन को, उसके वर्ग-संघर्ष मूलक पहलू को दिखलाया है, वैसा कोई भी भारतीय लेखक न दिखा सका था।

—:•:—

रंगभूमि

शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्यभाग में उनके लड़कों की पाठशालायें हैं और उनके मुक़दमे-बाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आसपास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं। बनारस में पांडेपुर ऐसी ही बस्ती है। सूरदास इसी बस्ती का रहने वाला एक अन्धा है। वह सड़क पर भीख माँगता है, कभी-कभी धनियों की गाड़ियों के पीछे दूर-दूर तक दौड़ता है। एक दिन जान सेवक नामक एक उदीयमान ईसाई पूँजी-पति उसी सड़क से अपने फिटन पर जा रहे थे, सूरदास उसके पीछे-पीछे दौड़ा, यहाँ तक कि दौड़ते-दौड़ते वह इसी जान सेवक के चमड़े के गोदाम तक दौड़ गया।

यह सूरदास एक जमीन के टुकड़े का मालिक है, जिस पर जान-सेवक लट्टू हो रहें हैं कि उसे किसी तरह ले लिया जाय और उस पर सिगरेट का कारखाना खोल दिया जाय, किन्तु उन्हें शुरू में यह नहीं मालूम होता कि यही सूरदास उस जमीन के मालिक हैं। इसलिये जानसेवक उसका बहुत अनादर करते हैं। मिसेज सेवक तो उसका मजाक उड़ाती है। वह अजीब तरीके से कह बैठती है—तेरे भगवान ने तुझे अन्धा क्यों बना दिया? इसीलिए कि तू भीख माँगता फिरे? तेरा भगवान बड़ा अन्यायी है—इत्यादि। अन्धे के सामने ही माँ बेटी में धार्मिक तकरार शुरू हो जाती है। लड़की सोफिया कुछ स्वतंत्र विचार वाली है, वह सूरदास के इस उत्तर को पसन्द करती है कि अपने पाप सब को भोगने पड़ते हैं, भगवान का इसमें कोई दोष नहीं।

सोफिया माँ से कह बैठती है—यह रहस्य मेरी समझ में नहीं आता। अगर प्रभु ईसू ने अपने रुधिर से हमारे पापों का प्रायश्चित्त कर दिया, तो फिर सारे ईसाई समान दशा में क्यों नहीं हैं ? अन्य मतवालम्बियों की भाँति हमारी जाति में भी अमीर-गरीब, अच्छे-बुरे, लगँड़े-लूले सभी तरह के लोग मौजूद हैं। इसका क्या कारण है ?

इसी प्रकार माँ-बेटी तथा सूरदास में बातचीत हो रही थी, इतने में जानसेवक को यह ज्ञात हो गया कि वांछित जमीन इसी सूरे की है। बस उनका रुख बदल गया। वे नम्र भाव से बोले—क्यों सूरदास, यह जमीन तुम्हारी है ?

जानसेवक ने बहुतेरा सूरदास को कायल किया किन्तु, सूरदास अपने बाप-दादों की जमीन को बेचने को तैयार नहीं हुआ। इस जमीन में वर्तमान समय में गाँव भर के जानवर चरते थे, साथ ही सूरदास ने भीख से जोड़ कर पाँच सौ रुपये कर लिये थे, जिनसे वह समझता था कि शीघ्र ही इस जमीन पर एक धर्मशाला तथा कूप के स्थापना कर सकेगा। जब सूरदास भीखमंगे की तरह जानसेवक के यहाँ गया था उसने उसे एक पैसा भी नहीं दिया था, सोफिया के जिद् करने पर भी मिसेज सेवक ने उसे एक पैसा भी नहीं दिया था, उल्टा उसे बिना कारण खरी-खोटी सुना रही थी।

सूरदास अपने झोपड़े में अकेला रहता था, हाँ उसके साथ मिट्‌ठू नामका एक छोटा-सा लड़का रहता था। यह उसका भतीजा था। माँ-बाप दोनों जब से प्लेग में मर चुके थे, तब से उसके पालन पोषण का भार सूरदास ही पर था। इसी लड़के पर उसका सारा प्रेम मानों केन्द्रीभूत हो गया था। अपने हाथ से रोटी बना कर उसे खिलाता और भीख के पैसे से गुड़ आदि मँगा कर उसे मना मना कर खिलाता था। भीख माँगना, इस लड़के का पालन पोषण करना, अपने लिये तथा इस

लड़के के लिए खाना पकाना तथा शाम को मन्दिर के चबूतरे पर बैठ कर और लोगों के साथ भजन गाना, यही उसका काम था।

सोफिया और उसकी माँ में अक्सर धार्मिक-विषयों पर वाद-विवाद हो जाया करता। मिसेज सेवक धार्मिक मामलों में बहुत असहिष्णु थी। वह अक्सर सोफिया पर तरह-तरह के लांछन लगाती। एक दिन वह सकती कह बैठी कि सोफिया को ईसू के नाम से घृणा है।

सोफिया बोली—मैं उन पर हृदय से श्रद्धा रखती हूँ।

—तू झूठ बोलती है।

—अगर दिल में श्रद्धा न होती तो जबान से कदापि न कहती।

माँ बोली—तुझे यह विश्वास है कि वही तेरा उद्धार करेंगे।

सोफिया—कदापि नहीं। मेरा विश्वास है कि यदि मेरी मुक्ति हो सकती है तो मेरे कर्मों से होगी।

इसी प्रकार बात बढ़ गई, और मिसेज सेवक ने यहाँ तक कह दिया कि इस प्रकार की विचार वाली स्त्री के लिए घर में कोई स्थान नहीं है। इस पर सोफिया के दिल में बहुत चोट लगी, और मन में कोई स्थान निश्चित किये बिना हाते से बाहर निकल गई। उस घर की वायु उसे अब दूषित मालूम होती थी। वह न्यमन होकर एक हवेली के सामने भजन सुनने के लिए खड़ी हो गई। इतने में उसी हवेली के हाते के अन्दर एक खपरैल के मकान में आग लग गई। जब तक लोग उधर दौड़े, अग्नि की ज्वाला प्रचण्ड हो गई। सारा मैदान जगमगा उठा। सब लोग आग बुझाने दौड़े। इधर अग्नि शान्त नहीं हो पायी थी कि दूसरी तरफ से आवाज़ आई दौड़ो-दौड़ो आदमी डूब रहा है। एक आदमी बावली में डूब रहा था। सोफिया उधर जाना ही चाहती थी कि उसने एक आदमी को पानी का डोल लिए फिसल कर जमीन पर गिरते देखा। चारो ओर अग्नि शान्त हो गई थी, पर जहाँ वह आदमी गिरा

था, वहाँ आग अब तक बड़े वेग से धधक रही थी। अग्नि ज्वाला विकराल मुँह खोले उस मनुष्य की ओर लपकी। सोफिया विद्युतगति से ज्वाला की तरफ दौड़ी, और उस आदमी को खींच कर बाहर निकाल लाई। यह सब कुछ पल-मात्र में हो गया। उस व्यक्ति की जान बच गई, लेकिन सोफिया का कोमलगात आग की लपट से झुलस गया। वह ज्वालों के घेरों से बाहर आते ही अचेत होकर गिर पड़ी।

सोफिया ने तीन दिन तक आँखें नहीं खोलीं। चौथे दिन प्रातःकाल उसने आँखें खोली तो अपने को कुँवर भरतसिंह के कमरे में पाया। उसे यह भी मालूम हुआ कि उसने कुँवर भरतसिंह के लड़के विनयसिंह का जीवन बचाया था। कुँवर भरतसिंह तथा उनकी स्त्री रानीसाहिबा और लड़की इन्दु सोफिया की सेवा में स्वयं तैनात थे। इसके अतिरिक्त नौकर चाकर तथा डाक्टर ये तो थे ही। इन्दु से सोफिया की बहुत गहरी मित्रता हो गई, और जब सोफिया कुछ अच्छी हुई तो उसने यह बताया कि धार्मिक मतभेदों के कारण वह घर से एक तरह से निकाल दी गई है, और वह घर लौटना नहीं चाहती।

जब जानसेवक को यह खबर दी गई कि इस हालत में तुम्हारी लड़की यहाँ पड़ी हुई है तो जानसेवक ने फौरन सोचा कि इस बहाने से कुँवर भरतसिंह से जान पहचान हो जायगी, यह अच्छी बात है क्योंकि एक तो सिगरेट की कम्पनी के लिए अवश्य ही वे कुछ शेयर खरीदेंगे, और दूसरे कुँवर साहब का दामाद म्युनिसिपलिटी के सर्वेसर्वा हैं, इसलिए वे सूरे की जमीन को किसी न किसी कानूनी पेंच में डाल कर दिला सकते हैं। जब सोफिया ने विनयसिंह की जान बचाई तो इतनी तो इन लोगों से उम्मीद की ही जा सकती है।

यद्यपि सूरदास ने पड़ोसियों की भलाई की दृष्टि से अपनी ज़मीन नहीं बेची थी, किन्तु फिर भी इस कारण मुहल्लेवाले उसके साथ कोई विशेष रियायत नहीं करते थे। मुहल्ले के लड़के अक्सर सूरदास का डंडा

छीनकर भाग जाते थे। इस पर कभी किसी लड़के को चोट आ जाती तो उस लड़के के मा-बाप उसी को भला-बुरा कहते हैं। इसी प्रकार एक बार एक लड़के को चोट लग गई तो उसकी माँ आकर बोली—अब तुम्हें घमंड हुआ है। भीख माँगते हो, फिर भी लाज नहीं आती, सब की बराबरी करने को मरते हो। आज मैं लहू का घूट पीकर रह गई, नहीं तो जिन हाथों से तुमने उसे ढकेला है, उसमें लूका लगा देती।

इसी प्रकार अक्सर सूरे पर आफत आती, किन्तु वह जमीन बेचने पर तैयार न होता था। एक बार जब बहुत अपमान हुआ तो उसने ज़मीन बेचने की सोची, किन्तु जब वह चमड़े के गोदाम में जानसेवक के एजेन्ट ताहिरअली के पास पहुँचा, तो उसके इरादे बदल गये। कहाँ तो वह जमीन बेचने गया था, कहाँ वह कह बैठा—मियां साहब वह जमीन तो बाप-दादों की निशानी है, भला मैं उसे बय या पट्टा कैसे कर सकता हूँ। मैंने उसे धर्म-काज के लिए संकल्प कर दिया है।

ताहिरअली का जीवन भी अजीब था। उसके बाप ने तीन शादियाँ की थीं। पहली स्त्री से ताहिर अली थे, दूसरी से माहिरअली और जाहिरअली और तीसरी से जाबिरअली। ताहिरअली धैर्यशील और विवेकी मनुष्य थे। पिता का देहान्त होने पर साल भर तो रोज़गार की तलाश में मारे-मारे फिरे। कहीं मवेशीखाने की मुहर्रिरी मिल गई, कहीं किसी दवा बेचनेवाले के एजेन्ट हो गये, कहीं चुङ्गी घर के मुंशी का पद मिल गया। रोजानमाज़ के पाबन्द और नियत के साफ़ थे। उनकी माँ तो मर चुकी थी। वे स्वयं हराम की कमाई से कोसों दूर भागते थे, किन्तु उनकी विमातायें रकिया और जैनब राह चलते लोगों से घूस ले लेती थीं, और न मालूम किस-किस उपाय से। जो चमार चमड़ा बेचने आते, उनसे वे चमड़ा पीछू कुछ ले लेती थी। जब गाँव के लोगों को यह ज्ञात हुआ कि सूरदास नाराज़ होकर जमीन

बेचने गया है तो जिस औरत के व्यवहार के कारण सूरदास इस प्रकार नाराज़ हुआ था, वह जैनब और रकिया के पास पहुँची कि वे ताहिर अली पर इस बात का असर डालें कि ज़मीन न बिक पावे। इस बहाने से इन स्त्रियों ने उस गँवार स्त्री से कुछ रुपये जट लिये। इधर जब ताहिर अली आया तो वे असली बात न बताकर यह कहने लगीं कि चमार लोग आपस में बात कर रहे थे कि साहब ने ज़मीन ली तो खून की नदी बह जायेगी। जैनब ने कहा—खुदा के क़हर से डरता हूँ। बेकसों की आह क्यों सिर पर लूँ।

इस पर ताहिर अली ने कहा कि मैं तो कारिन्दा मात्र हूँ, साहब की तरफ़ से कारवाई करूँगा। इस पर जैनब ने मुँह बनाकर कहा—यहाँ तो तुम्हीं हो, साहब तो नहीं बैठे हैं। वह तो भुस में आग लगा कर तमाशा देखेंगे, आई गई तो तुम्हारे सिर जायेगी। इस पर कब्जा तुम्हें करना पड़ेगा। मुकदमे चलेंगे तो पैरवी तुम्हें करनी पड़ेगी। ना भइया, इस आग में कूदना नहीं चाहती।

इस पर रकिया ने और नमक मिर्च लगा कर कहा—मेरे मैके में किसी एक कारिन्दे ने किसी एक काश्तकार की ज़मीन निकाल ली थी, दूसरे ही दिन जवान बेटा उठ गया। किया उसने जमींदार ही के हुक्म से, मगर बला आई उस गरीब के सिर। दौलतवालों पर अज़ाब भी नहीं पड़ता। उसका वार भी गरीबों पर ही पड़ता है। हमारे बच्चे रोज ही नज़र और आसेब की चपेट में आते रहते हैं, पर आज तक कभी नहीं सुना कि किसी अंग्रेज़ के बच्चे को नजर लगी हो। उन पर बलैयात का असर नहीं होता।

ताहिर अली इन बातों से डर में आ गया। धर्म का मुख्य स्तम्भ भय है। अनिष्ट की शंका को दूर कर दीजिये, फिर तीर्थ यात्रा, पूजा-पाठ, स्नान-ध्यान, रोजा-नमाज, किसी का निशान भी न रहेगा। मसजिदें खाली नजर आयेंगी, और मन्दिर वीरान।

जान सेवक ने कुँवर भरतसिंह के हाथ अपने कारखाने के पचास हज़ार के शेयर बेच दिये। इसके बाद उसने सोचा कि कुँवर साहब के दामाद चतारी के राजा महेन्द्रकुमार सिंह पर चारा डाला जाय। इस बीच में सोफिया कुँवर भरतसिंह के यहाँ ही पड़ी रही। चतारी के राजा साहब के साथ मेल-जोल बढ़ाने में जान सेवक का उद्देश्य सूरे की ज़मीन को हथियाना था। घर में अक्सर इस बात पर चर्चा रहती कि सोफी को घर लाया जाय। मिसेज़ सेवक इस पर यह कहती, मुझे इसकी कोई फ़िक्र नहीं है, प्रभु मसीह की द्रोही मेरे यहाँ स्थान नहीं पा सकती।

जानसेवक का एक मात्र पुत्र प्रभुसेवक बोला—गिरजे न जाना ही अगर प्रभु मसीह का द्रोही बनना है, तो लीजिये आज से मैं गिरजे न जाऊँगा।

इस पर मिसेज सेवक बहुत झुँझलाईं, और जानसेवक ने बीच में पड़ कर कहा—प्रभु तुम मेरे सामने अपनी माँ का निरादर नहीं कर सकते। इसके बाद जानसेवक ने बेटे को अलग ले जाकर समझाया—तुम सोफी और अपनी माता की भाँति भ्रम में पड़े हुये हो। क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ जैसे और हजारों आदमी जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखे बन्द करके ईश प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुये हैं ? कदापि नहीं। अगर अब तक तुम्हें नहीं मालूम है तो अब मालूम हो जाना चाहिये कि धर्म केवल स्वार्थ संगठन है। सम्भव है तुम्हें ईसा पर विश्वास हो, शायद तुम उन्हें खुदा का बेटा या कम से कम महात्मा समझते हो पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है। मेरे हृदय में उनके प्रति उतनी ही श्रद्धा है, जितनी किसी मामूली फक़ीर के प्रति। उसी प्रकार फकीर भी दान और क्षमा की महिमा गाता फिरता है, परलोक के सुखों का राग गाया करता है। वह भी उतना ही त्यागी, उतना ही दीन, उतना ही धर्मरत है। लेकिन इतना अविश्वास होने

पर भी मैं रविवार को सौ काम छोड़ कर गिरजा अवश्य जाता हूँ। न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा। फिर अपने ही घर में अशान्ति फैल जायेगी। मैं केवल तुम्हारी माता की खातिर ही अपने ऊपर यह अत्याचार करता हूँ। तुमसे भी मेरा यही अनुरोध है कि व्यर्थ का दुराग्रह न करो। तुम्हारी माता क्रोध के योग्य नहीं, दया के योग्य हैं।

अपनी विमाताओं के फाँसे में आकर जब ताहिर अली ने जानसेवक से यह कहा कि उसे सूरदास की जमीन वाले झगड़े से अलग रहा जाय तो परम धार्मिक बननेवाली मिसेज़ सेवक ने यह कहा—जब आपको ईश्वरीय कोप का इतना भय है तो आपसे हमारे यहाँ काम नहीं हो सकता।

ताहिर—मुझे हुज़ूर की खिदमत से इन्कार थोड़े ही है।

मिसेज सेवक—आपको हमारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना होगा चाहे उससे आप खुश हों या नाखुश। हम अपने कामों में आपके खुदा को हस्तक्षेप न करने देंगे।

ताहिर अली निरुत्तर हो गये। बेचारे अपनी स्त्री के सारे गहने बेच कर खा चुके थे। अब एक छल्ला भी न था। अन्त में व्यथित कंठ से उसने कहा—हजूर का नमक खाता हूँ, आपकी मर्जी मेरे लिए खुदा के हुक्म का दर्जा रखती है। किताबों में आका के खुश रखने का वही सवाब लिखा है, जो खुदा को खुश करने का है। हजूर की नमक हरामी करके खुदा को क्या मुँह दिखाऊँगा।

जानसेवक—हाँ अब आप सीधे रास्ते पर हैं। जाइये, अपना काम कीजिये। धर्म और व्यापार को एक तराज़ू में तौलना मूर्खता है। धर्म-धर्म है, व्यापार-व्यापार, दोनों में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। संसार में जीवित रहने के लिए किसी व्यापार की जरूरत है, धर्म की नहीं। धर्म

तो व्यापार का शृंगार है। वह धनाधीशों को ही शोभा देता है। खुदा आपको समाई दे, अवकाश मिले, घर में फालतू रुपये हों, तो नमाज़ पढ़िये, हज कीजिये, मसजिद बनाइये, कुयें खुदवाइये। यह मज़हब है। ख़ाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है।

ताहिरअली ने झुक कर सलाम किया, और घर लौट गये।

चतारी के राजासाहब जब फ़ुर्सत में हुये तो एक दिन अपने फ़िटन में पाँडेपुर की तरफ़ रवाना हो गये। वहाँ उन्होंने सूरदास को जमीन बेंच देने के लिए कहा। राजा साहब ने कहा—ज़रा यह भी तो सोचो कि इस कारखाने से लोगों को क्या फ़ायदा होगा। हज़ारों मज़दूर, मिस्त्री, बाबू, मुंशी, लोहार, बढ़ई आकर आबाद हो जायेंगे, एक अच्छी बस्ती हो जायेगी, बनियों की नई-नई दूकाने खुल जायेंगी, आसपास के किसानों को अपनी शाक-भाजी लेकर शहर न जाना पड़ेगा, यहीं खरे दाम मिल जायेंगे। कुंजड़े, खटिक, ग्वाले, धोबी, दर्जी सभी को लाभ होगा। क्या तुम इस पुण्य के भागी न बनोगे!

सूरदास—सरकार बहुत ठीक कहते हैं, मुहल्ले की रौनक बढ़ेगी। वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो परचार बढ़ जायेगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी। परदेशी आदमी हमारी बहू बेटियों को घूरेंगे। कितना अधरम होगा। दिहात के किसान अपना काम छोड़ कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे, और अपने बुरे आचरण गावों में फैलायेंगे। देहातों की लड़कियाँ, बहुयें मजूरी करने आयेंगी, और यहाँ पैसे के लोभ से अपना धरम बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है। भगवान न करे यहाँ वह रौनक हो। सरकार, मुझे इस कुकरम और अधरम से बचायें। यह सारा पाप मेरे सिर पर पड़ेगा।

राजा साहब—क्या ये बुराइयाँ तीर्थ-स्थानों में नहीं हैं?

किन्तु सूरदास न माना और राजा साहब को वहाँ से हताश होकर लौटना पड़ा।

सोफिया अच्छी हो जाने पर भी कुँवर साहेब की कोठी पर ही पड़ी रही। कुँवर साहब उसे लड़की की तरह मानते थे। विनयसिंह भी कभी-कभी उसके पास चला आता था। दोनों के स्वभाव में तथा जीवन के आदर्शों में बहुत समता थी। धीरे-धीरे इन दोनों में एक दूसरे की अनजान में प्रेम का उदय हुआ। विनयसिंह के यहाँ प्रभुसेवक भी आया करता था। इन दोनों नौजवानों में खूब छनती थी, क्योंकि प्रभुसेवक का आदर्श भी विनयसिंह से मिलता था। एक दिन भावावेश में आकर विनयसिंह ने प्रभुसेवक से यह कह दिया कि वह सोफिया से प्रेम करता है। बोला—'मैं वह फल खाने जा रहा हूँ जो मेरे लिए वर्जित है। खूब जानता हूँ, अपने जीवन को नैराश्य की बलिवेदी पर चढ़ा रहा हूँ,' इत्यादि। प्रभुसेवक ने जाकर यह बात सोफिया से कह दी।

सोफिया बोली—वह मुझे अपने प्रेम के योग्य समझते हैं, तो यह मेरे लिए गौरव की बात है। ऐसे साधु प्रकृति, ऐसे त्याग-मूर्ति, ऐसे सदुत्साही पुरुष की प्रेमपात्री बनने में कोई लज्जा नहीं...यह वरदान आज मुझे मिल गया है, तो यह मेरे लिए लज्जा की बात नहीं आनन्द की बात है।

प्रभुसेवक—धर्म विरोध के होते हुये भी?

सोफिया—यह विचार उन लोगों के लिए है जिनके प्रेम वासनाओं से युक्त हैं। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं है। ऐसी बाधायें उस मनोभाव के लिए हैं जिसका अन्त विवाह है, उस प्रेम के लिए नहीं जिसका अन्त बलिदान है।

धीरे-धीरे यह बात रानी जाह्नवी पर भी खुल गई। उन्होंने फौरन विनय को बुलाकर राजपूताने में सेवा के लिए भेज दिया। विनय ने

जाते समय प्रभुसेवक से गदगद कण्ठ से कहा—केवल देह लेकर जा रहा हूँ। हृदय यहीं छोड़े जाता हूँ।

भैरो पासी पांडेपुर का रहने वाला था। वह अपनी स्त्री सुभागी पर जब तब बहुत अत्याचार किया करता था। उसे अपनी माँ पर अविचलित श्रद्धा थी, इस भय से कि कहीं बहू सास को भूखा न रखे, वह उसकी थाली अपने सामने परसा लिया करता था, और उसे अपने साथ ही बिठाकर खिलाता था। बहू ने जरा चिलम भरने में देर की, चारपाई बिछाना भूल गई, या मुँह से निकलते ही उसके पैर दबाने या सिर के जुँये निकालने न आ पहुँची तो बुढ़िया उसके सिर हो जाती। खूब गालियाँ देती। और ज्योंही भैरो दूकान से आता एक-एक की सौ-सौ लगाती। भैरो ताड़ी के नशे में होता था। डंडा उठा कर सुभागी को मारने लगता। एक दिन इसी प्रकार डंडे मारे तो सुभागी घर से निकल गई, सोचा कि कहीं रात बिता लेगी और फिर सबेरे घर में आ जावेगी। वह कई घरों में गई, किन्तु भैरो के डर के मारे किसी ने उसे आश्रय न दिया। वह आफ़त की मारी सूरदास के यहाँ पहुँची। सूरदास ने फौरन आश्रय दे दिया। जब भैरो को अगले दिन इस बात का पता लगा तो उसने सूरदास को बहुत बुरा-भला कहा, किन्तु उसी दिन से सुभागी सूरदास पर स्नेह करने लगी। जब तब वह वहाँ जाती। बात यह है उसके अतिरिक्त उसे कहीं सहानुभूति का व्यवहार नहीं मिलता। भैरो ने कई बार उसे सूरदास के घर से निकलते देखा। भैरो के मित्र जगधर ने भी कई बार सूरदास और सुभागी को बात करते हुये देख लिया। बस भैरो सूरदास से खार खाने लगा। यहाँ तक कि उसने यह बताना शुरू किया कि सूरदास का चरित्र खराब है। बढ़ते-बढ़ते यह दुश्मनी यहाँ तक बढ़ी कि भैरो ने सूरदास की झोपड़ी में रात को आग लगा दी। भैरो ने केवल आग ही नहीं लगाई बल्कि उसने सूरदास की आज

तक की जो कमाई एक पोटली में रखी हुई थी, उसे भी चुरा लिया। इस पोटली में पाँच सौ रुपये थे। सूरदास ने इरादा किया था कि इन रुपयों से अपना परलोक बनावेगा।

जगधर को यह ज्ञात हो गया कि भैरो ने ही आग लगाई है। केवल यही नहीं उसने अपनी आँखों से भैरो के पास उस थैली को भी देख लिया था जिसमें सूरदार के रुपये थे। यों तो वह भैरो का मित्र था। यदि भैरो उसका कुछ हिस्सा देता तो उसका धर्म भाव न जगता, किन्तु जब भैरों ने इस सम्बन्ध में कुछ भी न कहा तो वह सूरदास के पास पहुँचा और उससे सारी बात कह सुनाई। सूरदास ने सोचा जो हुआ, सो हुआ, उसने इस बात को स्वीकार ही नहीं किया कि वह थैली उसकी थी। बोला—'मेरे पास थैली-वैली कहाँ। होगी किसी की। थैली होती तो भीख माँगता।' जब जगधर इस प्रकार बातें कर रहा था, उस समय सुभागी भी पहुँची। जगधर ने सुभागी से कहा—देखो अपने खसम की करतूत, बेचारे सूरदास को कहीं का न रखा।

सुभागी ने समझा झाँसा दे रहा है, पेट की थाह लेना चाहता है, व्यंग से बोली—उसके गुरु तो तुम्हीं हो, तुम्हीं ने मन्त्र दिया होगा।

सूरदास फिर भी कहता ही गया कि थैली मेरी नहीं थी। अन्त में सुभागी ने कहा—अब चाहे वह मुझे मारे या निकाले, रहूँगी उसीके घर। कभीं तो हाथ लगेगी। मेरे ही कारण इस पर यह विपत्ति पड़ी है। मैंने ही उजाड़ा है, मैं ही बसाऊँगी।

जानसेवक के कहने सुनने पर प्रभु सेवक एक दिन पांडेपुर यह देखने पहुँचे कि ताहिर अली की यह बात कहाँ तक सही है कि गाँव वाले उस पर मार-पीट करने तथा उसे लूट लेने के लिए तैयार हैं। रास्ते में भैरो और जगधर मिले, इन दोनो ने गाँव के दूसरे लोगों की बुराई की। प्रभु सेवक ने इस पर ताहिरअली से यह कहा कि जहाँ

लोगों में इतनी फूट है, वहाँ सब लोग मिल कर मारने दौड़ते हैं, यह बात समझ में नहीं आती। प्रभु ने कहा कि ज़रा भी बुद्धिमानी से चलने पर इन लोगों को काबू में रखा जा सकता है। इतने में बजरंगी से सामना हुआ। प्रभुसेवक ने बनावटी क्रोध धारण करके कहा—क्यों बे, कल हंगामें में तू भी शरीक था?

बजरंगी—शरीक किसके साथ था? मैं अकेला था।

प्रभुसेवक—तेरे साथ सूरदास और मुहल्ले के और लोग न थे? झूठ बोलता है?

बजरंगी—झूठ नहीं बोलता, किसी का दबैल नहीं हूँ...

इतने में गाँव के लड़कों ने जब प्रभुसेवक को देखा तो वे पादड़ी-पादड़ी चिल्ला पड़े। इधर नायकराम आ पहुँचा। उसने कहा—उस पर आप क्या बिगड़ते हैं?

प्रभुसेवक— तुम्हारा नाम क्या है?

नायकराम कुछ तो राजा महेन्द्रकुमार के आश्वासन, कुछ विजया की तरंग और कुछ अपनी शक्ति के ज्ञान से उच्छृंखल बना हुआ था। उसने लाठी सीधी करते हुए कहा—लट्ठमार पाँडे।

बात बढ़ते-बढ़ते बढ़ गई, और प्रभुसेवक उस पर पिल पड़ा। इस आकस्मिक आक्रमण से नायकराम चौंधियाँ गया। बाकी लोग खड़े-खड़े देखते रहे। प्रभुसेवक ने जूते की दो तीन ठोकरें मारी थी कि नायक राम जाँघ में चोट खाकर गिर पड़ा। इसके बाद लोगों ने बीच बचाव कर दिया। प्रभुसेवक चले गये। नायकराम बदले की सोचने लगा। सूरदास आया और उसने कहा कि बदले की भावना उचित नहीं, किन्तु उसकी बात नायकराम ने नहीं सुनी।

प्रभुसेवक ने अपने पिता से जाकर सारी बात कह दी, किन्तु जान सेवक ने कुछ भी न कहा, केवल मौन-व्यंग और तिरस्कार में उनकी

आँखें उसकी ओर लगी रहीं। जानसेवक स्वयं पाँडेपुर गये। वे समझ गये कि नायकराम इसका बदला अवश्य लेगा। वे सीधे नायकराम के घर पर पहुँचे और उससे घंटों माफ़ी माँगी। तब जाकर कहीं नायकराम ने बदले की भावना छोड़ दी। जब वह काम हासिल हो गया, तो जान सेवक ने जमीन वाला काम भी बनाना चाहा। जानसेवक ने एकत्रित गाँववालों से कहा—अगर उस जमीन के मेरे हाथ में आने से तुम्हारा सोलहों आने फ़ायदा हो तो भी तुम हमें न लेने दोगे?

बजरंगी—हमारा फ़ायदा क्या होगा, हम तो मिट्टी में मिल जायेंगे।

जानसेवक—'मैं दिखा दूँगा, यह तुम्हारा भ्रम है। बतलाओ तुम्हें क्या एतराज़ है।' इसी प्रकार वे प्रत्येक से एतराज़ पूछ तो गये और उसका सन्तोषजनक जवाब देते गये। पंडाजी के यात्रियों के ठहरने के विषय में उन्होंने कहा कि यहाँ धर्मशाला बनवा दिया जायेगा। इस ज़मीन पर गाय भैंसें चरती हैं, इसके उत्तर में उन्होंने कहा—अहाते में घास चराने का तुम्हें अख्तियार रहेगा। अभी तुम्हें अपना सारा दूध लेकर शहर जाना पड़ता है, हलवाई तुम से दूध लेकर मलाई, मक्खन, दही बनाता है, और तुमसे कहीं ज़्यादा सुखी है। यह नफ़ा उसे तुम्हारे ही दूध से तो होता है। तुम अभी यहाँ मलाई मक्खन बनाओ तो लेगा कौन? जब यहाँ कारखाना खुल जायेगा, तो हज़ारों आदमियों की बस्ती हो जायेगी, तुम दूध की मलाई बेचोगे, दूध अलग बिकेगा। तुम्हारे उपले घर बैठे बिक जायेंगे।

इसी प्रकार जानसेवक ने प्रत्येक की आपत्ति को काट दिया, और यह समझा दिया कि यहाँ पर कारखाना खुलने से सबको फ़ायदा है। अब ये लोग सबके सब यह चाहने लगे कि सूरदास ज़मीन बेच दे। जानसेवक ने घर जाकर प्रभुसेवक से ये सब बातें बताईं। सूरदास को यह बात मालूम हो गई कि गाँववाले जमीन दे दिये जाने के पक्ष में हो

गये हैं। उसने ख़ुद बजरंगी से पूछा तो बजरंगी ने कहा—तुमको हम यही सलाह देते हैं कि अच्छे दाम मिल रहे हैं, जमीन दे डालो। यों न दोगे तो जाब्ते से ले ली जायेगी। इससे क्या फ़ायदा?

सूरदास—अधरम और अविचार कितना बढ़ जायेगा, यह भी मालूम है?

बजरंगी—धन से तो अधरम होता ही है, पर धन को कोई छोड़ नहीं देता।

सूरदास—तो तुम लोग अब मेरा साथ नहीं दोगे? अच्छी बात है, अगर ज़मीन गई तो उसके साथ मेरी जान भी जायेगी।

विनयसिंह के जाने के बाद सोफिया को ऐसा प्रतीत होने लगा कि रानी जाह्नवी उससे खिंची हुई है। फिर भी प्रेम क्या-क्या करा सकता है। विनय के पास से रानीजी के पास पत्र आते। सोफी ने जब यह देखा कि रानीजी स्वयं डाकिया से बढ़ कर पत्र लेती हैं, तो उसको यह शक हुआ कि शायद उसके नाम से कोई पत्र आया हो और वह दबा लिया गया हो। एक दिन इस भावना से वह इतनी व्याकुल हो गई कि वह रानी के कमरे में चोरी से पहुँच गई, और विनय के पत्रों को पढ़ने लगी। किसी पत्र में भी इसका कहीं नाम भी नहीं था। पत्रों को पढ़ने से ज्ञान हुआ कि विनय इस समय बड़ी मुसीबतें झेल रहे हैं। इसके बाद उसने विनय के नाम से एक पत्र लिखा जिसमें विनय से यह प्रार्थना की कि वे उसे अपने पास बुला लें। पत्र डाल देने के बाद उसे इस बात पर अफ़सोस हुआ कि उसने इस प्रकार चोरी से पत्र पढ़े। उसने रानीके सामने जाकर रोते हुये अपना अपराध स्वीकार कर लिया। रानी ने तिरस्कार भाव से कहा—तुम मुझे कृतघ्न समझोगी किन्तु मैंने तुम्हें अपने घर में रख कर बड़ी भूल की। मैं न जानती थी कि तुम आस्तीन का साँप बनोगी। मैं विनय को ऐसा मनुष्य बनाना चाहती हूँ जिस पर समाज का गर्व हो। मैं उसे सपूत बेटा, निश्छल मित्र और

निस्वार्थ सेवक बनाना चाहती हूँ। मुझे उसके विवाह की लालसा नहीं, अपने पोतों को गोद में खिलाने की अभिलाषा नहीं। देश में आत्मसेवी पुरुषों और सन्तान-सेवी माताओं का अभाव नहीं है। धरती उनके बोझ से दबी जाती है। मैं अपने बेटे को सच्चा राजपूत बनाना चाहती हूँ। आज वह किसी रक्षा के निमित्त प्राण दे दे तो मुझसे भाग्यवती माता संसार में न होगी।...मेरे कुल का सर्वनाश न करो।

प्रभु सेवक कभी-कभी सोफिया से मिलने आता था। एक दिन आया तो उसने एक पत्र दिया जो विनय के यहाँ से आया था। सोफिया ने इस पत्र को बिना पढ़े ही जाकर रानी को सौंप दिया। रानी ने कहा कि अब तुम अपनी दुर्बलता पर विजय पा चुकी, अब विनय को एक पत्र लिख दो कि मैं आपको अपना भाई समझती हूँ, इसी रूप में हमारा आपका सम्बन्ध रह सकता है। सोफी ने ऐसा पत्र लिखना स्वीकार किया, किन्तु जब वह पत्र लिखने बैठी तो उसे कुछ सूझा ही नहीं कि क्या लिखें। उसने सोचा, बिना पत्र पढ़े कैसे पत्रोत्तर दिया जाय। तदनुसार वह चोरी से पत्र ढूढ़ने चली। इस काम में वह पकड़ गई। रानी ने कहा—'क्या यही सत्य की मीमांसा है?' सोफिया मूर्छित होकर फर्श पर गिर पड़ी।

बहुत दिनों से मिस्टर क्लार्क मजिस्ट्रेट सोफिया पर आसक्त थे, मिसेज़ सेवक चाहती थीं कि यह विवाह हो। अन्त तक मिसेज सेवक ने इस विवाह में इतने फायदे देखे कि वह धार्मिक मतभेद को भूल कर सोफिया के पास पहुँची, और उसको घर वापस ले आई।

इन्दु इस पक्ष में थी कि सूरदास की ज़मीन न ली जाय, किन्तु राजा साहब चतारी इस विषय में कोई मत नहीं रखते थे। एक तो जो सोफिया ने विनय की जान बचा कर एहसान किया है, उससे मुक्त होना चाहते थे, दूसरा वे यह समझते थे कि हुक्काम जो चाहेंगे, वह तो होगा ही। क्लार्क को आसक्ति का फ़ायदा उठा कर मिसेज़

सेवक और जान सेवक ने सूरदास की जमीन लेने का निश्चय कर लिया। अब राजा साहब क्या करते। नतीजा यह हुआ कि उन्होंने सम्मति दे दी।

विनयसिंह जसवन्त नगर में जनता की सेवा में लगा हुआ था। वह आने को तो यहाँ लजावश आगये थे, पर एक-एक घड़ी एक-एक युग के समान बीत रही थी। पहले उन्होंने यहाँ के कष्टों को खूब बढ़ाकर माता को पत्र लिखे। उन्हें विश्वास था कि अम्माजी मुझे बुला लेंगी। पर वह मनोरथ पूरा न हुआ, इतने ही में सोफिया का पत्र मिल गया, जिसने उनके धैर्य के टिमटिमाते हुये दीपक को बुझा दिया। अब उनके चारों ओर अँधेरा था। वह इस अँधेरे में चारो ओर टटोलते फिरते थे, और कहीं राह नहीं पाते थे। अब उनके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं है, कोई निश्चित मार्ग नहीं है, बेमांझी की नाव है जिसे एक मात्र तरंगों की दया का भरोसा है, किन्तु इस चिन्ता और ग्लानि की दशा में भी वह अपने कर्त्तव्य का पालन करते जाते हैं। जसवन्त नगर के प्रान्त में एक बच्चा भी नहीं है जो उन्हें न पहचानता हो। देहात के लोग उनके इतने भक्त हो गये हैं कि ज्योंही वे किसी गाँव में जा पहुँचते हैं सारा गाँव उनके दर्शनों के लिए एकत्र हो जाता है। उन्होंने उन्हें अपनी मदद आप करना सिखाया है। इस प्रान्त के लोग अब वन्यजन्तुओं को भगाने के लिए पुलिस के यहाँ नहीं दौड़े जाते, स्वयं संगठित होकर उन्हें भगाते हैं, जरा-जरा सी बात पर अदालतों के द्वार नहीं खटखटाने जाते, पंचायतों में समझौता कर लेते हैं। जहाँ कभी कुयें न थे, वहाँ पक्के कुयें तैयार हो गये हैं, सफाई की ओर भी लोग ध्यान देने लग गये हैं, दरवाजों पर कूड़े-करकट के ढेर नहीं जमा किये जाते। सारांश यह कि प्रत्येक व्यक्ति अब केवल अपने ही लिये नहीं, दूसरों के लिए भी है।...विनय को चिकित्सा का भी अच्छा ज्ञान है। उनके हाथों सैकड़ों रोगी आरोग्य लाभ कर चुके हैं। कितने

ही घर जो परस्पर कलह से बिगड़ गये थे, वे फिर आबाद हो गये हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों वे काम करते जाते थे त्यों-त्यों राज्य के अधिकारी वर्ग उनसे बदगुमान होते जाते हैं। उनके विचार में प्रजा दिन-दिन सरकश होती जाती है। दारोगा जी की मुट्ठियाँ अब गरम नहीं होतीं, कामदार और अन्य कर्मचारियों के यहाँ मुकदमें नहीं आते। कुछ हत्थे नहीं चढ़ता, यह प्रजा में विद्रोहात्मक भाव के लक्षण नहीं तो क्या है!

एक दिन विनय विश्रामार्थ एक पेड़ के नीचे बैठे थे, इतने में एक डाकिया आया जिसने उनसे कहा कि डाकू मेरा पीछा कर रहे हैं, मुझे बचाओ। इतने में पाँच सवार आ पहुँचे। डाकुओं ने डाकिये से रुपये माँगे किन्तु विनय बीच में पड़े, बोले—पहले मेरा काम तमाम कर दो, जब तक मैं हूँ तुम्हारा मनोरथ पूरा न होगा।

जब डाकुओं ने उसे इस प्रकार निर्भीक पाया, तो वे सहम गये और बाद को जब मालूम हुआ कि यही विनयसिंह हैं जो प्रजा का उपकार कर रहे हैं, तो वे अपने कृत्य से निरस्त्र हुये। असल में इस दल के नेता वीरपालसिंह मामूली डाकू न थे, बोले—इस राज्य के कर्मचारियों में न दया है न धर्म। हैं हमारे ही भाई बन्धु, पर हमारी ही गर्दन पर छुरी चलाते हैं। किसी ने जरा साफ कपड़े पहने, और ये लोग उसके सिर हुये। जिसे घूस न दीजिये, वही आपका दुश्मन है। चोरी कीजिये, डाका डालिये, घरों में आग लगाइये, गरीबों का गला काटिये, कोई आप से न बोलेगा। बस कर्मचारियों की मुट्ठियाँ गरम करते रहिये। दिन दहाड़े खून कीजिये, बेदाग छूट जायेंगे। आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायगा। कोई फरियाद नहीं सुनता। यही समझ लीजिये कि यह हिंसक जन्तुओं का एक गोल है। सब के सब मिलकर शिकार करते हैं, और मिलजुल कर खाते हैं। राजा है वह काठ का उल्लू। उसे विलायत में जाकर विद्वानों में बड़े-बड़े व्याख्यान देने की धुन है। मैंने यह किया, वह किया, बस डींगे मारना उसका काम है। या तो

विलायत की सैर करेगा या तो यहाँ अंग्रेजों के साथ शिकार खेलेगा, सारे दिन उन्हीं की जूतियाँ सीधी करेगा। इसके सिवाय उसे कोई काम नहीं। प्रजा जिये या मरे, उसकी बला से। बस कुशल इसी में है कि कर्मचारी जिस कल बैठाये, उसी कल बैठिये, शिकायत न कीजिये, जबान न हिलाइये, रोइये तो मुँह बन्द करके। हमने लाचार होकर इस हत्या मार्ग पर पग रखा है। किसी तरह तो इन दुष्टों की आँखें खुलें। उन्हें मालूम हो कि इन्हें भी दण्ड देनेवाला कोई है। ये पशु से मनुष्य हो जायँ।

विनयसिंह ने समझाया कि रोग का अन्त करने के लिए रोगी का अन्त करना न बुद्धिसंगत है न न्यायसंगत।

वीरपाल—महाराज हम आपसे तर्क नहीं कर सकते पर इतना जानते हैं कि विष, विष ही से शान्त होता है। जब मनुष्य दुष्टता की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, उसमें दया और धर्म लुप्त हो जाता है, उसके लिए केवल एक ही उपाय शेष रहता है, वह है प्राणदण्ड।

विनय फिर समझाने लगे, इतने में किसी तरफ से बन्दूक की आवाज आई। वीरपालसिंह का गिरोह घोड़ों पर चढ़ कर फौरन हवा हो गया। विनय और डाकिया जसवन्त नगर पहुँच गये। सेवा कार्य में लगे रहने पर भी विनय का मन सोलहों आने सोफिया के इर्दगिर्द पड़ा रहता था। रानी ने लिखा था—'तुमने मेरे साथ और अपने बन्धुओं के साथ दगा की है। मैं तुम्हें कभी क्षमा न करूँगी। तुमने मेरी अभिलाषाओं को मिट्टी में मिला दिया। तुम इतनी आसानी से इन्द्रियों के दास हो जाओगे इसकी मुझे लेशमात्र भी आशंका न थी। तुम्हारा वहाँ रहना व्यर्थ है, घर लौट आओ और विवाह करके आनन्द से भोग विलास करो। मिस सोफिया की मंगनी मिस्टर क्लार्क से हो गई, और दो चार दिन में विवाह भी होने वाला है। यह इसलिए लिखती हूँ कि तुम्हें सोफिया के विषय में किसी तरह भ्रम न रहे.....।'

अपनी माता की आँखों में गिर गया साथ ही सोफी ने भी दगा की, यह सोच कर विनय के मन में प्राणघात का विचार उत्पन्न हुआ। उसने इसी आवेश में सोफी को कोसते हुये, एक पत्र लिखना चाहा। वह पत्र के मजमून को सोचता और करवटें बदलता। इतने में रियासत का एक अफसर आया और उसे गिरफ्तार कर लिया। बहुत पूछने-पाछने पर पुलिस ने उसे यह बतलाया कि वीरपालसिंह ने यहाँ से तीन मील पर सरकारी खजाने की गाड़ी लूट ली है, और एक सिपाही की हत्या कर डाली है, पुलिस को यह सन्देह है कि यह संगीन वारदात विनयसिंह के इशारे से हुई है। विनयसिंह ने कहा यह घोर अन्याय है, किन्तु पुलिस अफसर ने बताया कि डाकिये का ही ऐसा बयान है। दो सिपाहियों ने विनय के हाथ में हथकड़ी डाल दी, उन्हें घोड़े पर सवार कराया और जसवन्तनगर की राजधानी को ले चले।

विनयसिंह छः महीने से जेल में पड़े थे। एक दिन उनको ऐसा ज्ञात हुआ कि उनकी कोठरी की दीवार कोई खोद रहा है। थोड़ी देर में दीवार खोदकर वीरपालसिंह सामने आया। वीरपाल ने कहा कि आप यहाँ से चले चलें।

विनय—जब तक न्यायालय मुझे मुक्त न करे, मैं यहाँ से किसी तरह जा नहीं सकता।

वीरपाल—यहाँ के न्यायालयों से न्याय की आशा रखना चिड़िया से दूध निकालना है। हम सबके सब इन्हीं अदालतों के मारे हुये हैं। मैंने कोई अपराध नहीं किया था। मैं अपने गाँव का मुखिया था, किन्तु मेरी सारी जायदाद केवल इसलिए जब्त कर ली गई कि मैंने एक असहाय युवती को इलाकेदार के हाथों से बचाया था। उसके घर में वृद्धा माता के सिवाय और कोई न था। हाल ही विधवा हो गई थी। इलाकेदार की कुदृष्टि उस पर पड़ गई, और वह युवती को उसके घर से निकाल ले जाने का प्रयास करने लगा। मुझे टोह मिल गई।

रात को ज्योंही इलाकेदार के आदमियों ने वृद्धा के घर में घुसना चाहा, मैं अपने कई मित्रों को लेकर वहाँ जा पहुँचा, और उन दुष्टों को मार कर घर से निकाल दिया, बस इलाकेदार उसी दिन से मेरा दुश्मन हो गया। मुझ पर चोरी का अभियोग लगा कर कैद करा दिया। अदालत अन्धी थी, जैसा इलाकेदार ने कहा वैसा न्यायाधीश ने किया। ऐसी अदालतों से आप व्यर्थ ही न्याय की आशा रखते हैं।

फिर भी विनयसिंह ने कहा—रियासत के कर्मचारी सब हमारे भाईबन्द हैं। फिर यहाँ की अदालत पर क्यों न विश्वास करें। वे हमारे साथ अन्याय भी करें तो भी हम जबान न खोलेंगे।

—धोखा खाइयेगा।

—इसकी कोई चिन्ता नहीं।

बीरपाल अपने आदमियों सहित वहाँ से रवाना हो गया। प्रातः-काल जब दीवार खुदी हुई पाई गई तो जेलखाने में हलचल मच गई। विनयसिंह ने सारा हाल बता दिया। उसी दिन वे मोटर पर सवार कराये गये और दीवान साहब के मकान की ओर ले जाये जाने लगे। रास्ते में शोफर से बातचीत हुई तो ज्ञात हुआ कि वह भी दीवान को पाजी समझता है। शोफर बोला—दया करना तो जानता ही नहीं। एक दिन बचा को इसी मोटर से ऐसा गिराऊँगा कि हड्डी पसली का पता नहीं लगेगा।

विनय—जरूर गिराओ, ऐसे अत्याचारियों की यही सजा है!

शोफर आश्चर्य चकित रह गया। विनय के मुँह से ऐसी बात सुनने की उसे आशा नहीं थी। बोला—आपकी यही इच्छा है।

विनय—क्या किया जाय, ऐसे आदमियों पर और किसी बात का तो असर ही नहीं होता।

शोफर—आप जैसे देव पुरुष की जब यह इच्छा है तो मुझे क्या

डर। बचा बहुत रात को घूमने निकला करते हैं। एक ठोकर में काम तमाम हो जायेगा।

विनय ने जब देखा कि उनकी बात का इतना भारी असर हो रहा है तो वे पछताये। दीवान साहब ने थोड़ी देर में ही यह साफ कर दिया कि व्यक्तिगत रूप से वह विश्वास नहीं करते कि डाके में विनय-सिंह का कोई हाथ है। उन्होने कहा कि सेवावृत्तियों के लिए रियासत अच्छी जगह नहीं है। बोले—रियासतों को आप सरकार की महल-सरा समझिये, जहाँ सूर्य के प्रकाश की भी गुजर नहीं हो सकती। पोलिटिकल रेजिडेन्ट ने आपके सहयोगियों के कृत्यों की गाथा लिख भेजी है। कोई कोट में कृषकों की सभायें बनाता फिरता है, कोई बीकानेर में बेगार की जड़ खोदने पर तत्पर हो रहा है, कोई मारवाड़ में रियासत के उन करों का विरोध कर रहा है, जो परम्परा से वसूल होते चले आये हैं। आप लोग साम्यवाद का डंका बजाते फिरते हैं। आपका कथन है—प्राणी-मात्र को खाने-पहनने और शान्ति से जीवन व्यतीत करने का समान सत्व है। इस हरमसरा में इन सिद्धान्तों और विचारों का प्रचार करके आप हमारी सरकार को बदगुमान कर देंगे, और यदि उसकी आँखें फिर गईं तो हमारा संसार में कहीं ठिकाना नहीं है। हम आपको अपने प्रेमकुंज में आग लगाने न देंगे।

विनय—आप रेजिडेन्ट के अनुचित हस्तक्षेप का विरोध क्यों नहीं करते?

दीवान—इसलिए की हम आपकी भाँति निस्पृह और निस्वार्थ नहीं हैं। सरकार की रक्षा में हम मनमाने कर वसूल करते हैं। मन-माने कानून बनवाते हैं, मनमाने दण्ड लेते हैं, कोई चूँ नहीं कर सकता। इसी के उपलक्ष्य में हमें बड़ी-बड़ी उपाधियाँ मिलती हैं, पद की उन्नति होती है। ऐसी दशा में हम उनका विरोध क्यों करें?

आप से विनय है कि आप किसी और प्रान्त की ओर दयादृष्टि कीजिये।

विनय—अगर मैं जाने से इन्कार करूँ?

दीवान—तो मुझे बड़े दुःख के साथ आपको उसी न्यायालय के सुपुर्द करना पड़ेगा, जहाँ न्याय का खून होता है।

विनय—निरपराध?

दीवान—आप पर डाँकुओं की सहायता का आरोप लगा हुआ है।

विनय—अभी आपने कहा कि आपको मेरे विषय में ऐसी शंका नहीं।

दीवान—वह मेरी निजी राय थी। यह मेरी राजकीय सम्मति है।

विनय—आपको अख्तियार है।

विनय ने जेल वापस जाते हुये यह कहकर तस्कीन की कि यहाँ से जान बचाकर भागता तो वह बिल्कुल निराश हो जाता। अब उन्हें मालूम हो जायेगा कि उनका पत्र निष्फल नहीं हुआ।

सोफिया घर आई तो उसके आत्मगौरव का पतन हो चुका था वह क्लार्क से मिलती अवश्य थी, किन्तु उसे पास फटकने नहीं देती थी। इधर सूरदास की जमीन निकल जाने के कारण सूरदास दिन रात शहर में दुहाइयाँ देता फिरता था। शहर में काफी हलचल थी। चतारी के राजा को लोग कहाँ बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते थे, और कहाँ अब लोग उन पर थू-थू करने लगे। सोफिया को सूरदास से सहानुभूति थी। वह एक दिन इन्दु के घर पर पहुँची और उससे अनुरोध किया कि राजा साहब जमीन न लें। इस पर इन्दु ने कहा—यह भी जानती हो, जो कुछ हुआ तुम्हारे मिस्टर क्लार्क की प्रेरणा से हुआ।

बात-बात में बात बढ़ गई और दोनों सखियों में झगड़ा हो गया। इन्दु कह रही थी कि अब जमीन वापस करने में राजा साहब का अपमान है, किन्तु सोफिया कहती थी कि न्याय के लिए यही सही। बोली—अपमान अन्याय से अच्छा है।

जब सोफिया इन्दु के यहाँ से लौट आई तो वह क्रोध में थी। क्लार्क तो उस पर लट्टू थे ही। उसने हाव-भाव बताकर मिस्टर क्लार्क को इस बात के लिए मजबूर किया कि वे जमीन-सम्बन्धी प्रस्ताव को मन्सूख कर दें। ऐसा ही हुआ। इस बात से सोफिया को बहुत खुशी हुई, किन्तु अब उसकी खुशी में केवल एक गरीब को मदद पहुँचाने की खुशी मात्र नहीं थी, बल्कि इन्दु के ऊपर चोट करने की खुशी भी सम्मिलित हो गई थी। जानसेवक ने सोफिया को इसके लिए बहुत कोसा, यद्यपि सोफी इस सम्बन्ध में अपनी जानकारी को छिपाती ही रही। उधर इन्दु के राजा साहब को जब यह मन्सूखी ज्ञात हुई तो उन पर वज्र गिर पड़ा किन्तु एक चापलूस व दूरदर्शी राजा की तरह वह इसे चुपचाप सहन करते जा रहे थे, क्योंकि वे जानते थे कि इसके विरुद्ध कुछ होना कठिन है, किन्तु इन्दु ने उनको जोश दिलाया, जानसेवक ने पीठ पर हाथ रखा, और बड़े जोरों से अखबारों में मजिस्ट्रेट की मनमानी के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हो गया।

जब तक सूरदास शहर में हाकिमों के अत्याचार की दुहाई देता रहा, उसके मुहल्ले वाले जानसेवक के हितैषी होने पर भी उससे सहानुभूति करते रहे। निर्बलों के प्रति स्वभावतः करुणा उत्पन्न हो जाती है, लेकिन सूरदास की विजय होते ही, यह सहानुभूति स्पर्द्धा के रूप में प्रकट हुई। मुहल्ले वाले राह चलते उसे छेड़ते, आवाजें कसते, ताने मारते, पर वह किसी को जवाब न देता, सिर झुकाये भीख माँगने जाता, और चुपके से अपनी झोपड़ी में आकर पड़ रहता। सोफिया अक्सर मिस्टर क्लार्क के साथ आकर उससे मिलती। केवल सुभागी की सहानु-

भूति उस पर अटल रही। एक दिन उसने मौका पाकर अपने पति के कमर से सूरदास से चुराई हुई उस थैली को मार दिया, और आकर सूरे के हाथ में दे दिया। सूरदास टटोल कर थैली को पहचान गये। सुभागी बोली—तुम्हारी मेहनत की कमाई है, तुम्हारे पास आ गई, अब जतन से रखना।

सूरदास—मैं न रखूँगा, इसे ले जा। यह मेरी चीज नहीं, भैरो की है। इसी के लिए भैरो ने अपनी आत्मा बेची है, महँगा सौदा लिया है। मैं इसे कैसे ले लूँ।

सुभागी न मानी। घर वापस गई, और थोड़ी देर बाद ही बड़े जोर से चोर-चोर की आवाज लगाई, सूरदास समझ गया कि क्या मामला है। एक दिन सूरदास और सुभागी में उसी थैली के विषय में बातचीत हो रही थी, इतने में जगधर पहुँचा। उसको पहले ही से ख्याल था कि सुभागी ने चुरा कर यह थैली सूरदास को दी होगी। उस पर बात खुल गई। तीनों इसी पर खूब ठट्ठा मार हँस रहे थे, इतने में वहाँ भैरो पहुँच गया। यह तिगड्डम देखा तो आँखों में खून उतर आया, वह क्रोध में अपनी स्त्री को गालियाँ देने लगा—तू कुलटा है, मेरे दुश्मनों के साथ हँसती है, फायसा कहीं की। टके-टके पर अपनी आबरू बेचती है। खबरदार जो आज से मेरे घर में कदम रखा तो खून चूस लूँगा।

उसने सूरदास पर भी लांछन लगाया। रात को सूरदास को नींद नहीं आई, वह सोचता रहा, इस बेचारी सुभागी पर थैली के लिए ही आफत है तो थैली ही क्यों न जाकर भैरो के सुपुर्द कर दूँ, और उससे सारी बात बता दूँ। उसने ऐसा ही किया। इसका नतीजा उलटा ही हुआ। अब तो सुभागी को मुँह दिखाने को कहीं जगह नहीं रही।

जब अधिक आन्दोलन हुआ तो सरकार ने मिस्टर क्लार्क का तबादला करके रियासतों में भेज दिया। हाँ, उन्हें इस बात के लिए

स्वतंत्रता दी कि वे अपने लिए रियासत चुन लें। सोफिया ने जब यह बात सुनी तो उसने उनसे वही रियासत चुनवाई जहाँ विनय थे, साथ ही मिस्टर क्लार्क से यह कहा कि मैं तुम्हारे साथ वहाँ एक मित्र की हैसियत से भ्रमण करने चलूँगी।

कुँवर भरतसिंह अपनी स्त्री के असर के कारण ऊपर से तो हाँ-हाँ करते जाते थे, किन्तु उनको यह बहुत नागवार था कि एकमात्र बेटा इस प्रकार दुख सहन करे। ऊपर से बेटी भी हेकड़ बनी रहे, किन्तु भीतर से नायकराम को बुला कर उन्होंने इसलिए रियासत भेज दिया कि जिस किसी प्रकार हो विजयसिंह को जेल से छुड़ा लाये। उन्हें यह विश्वास था कि पिता की बेचैनी की बात सुनते ही विनयसिंह आना स्वीकार करेंगे। नायकराम को खर्चे के लिए मुँहमाँगी रकम दे दी गई।

—:०:—

रंगभूमि

एजेन्ट रूप में तैनाती के बाद मिस्टर क्लार्क यथासमय सोफिया सहित जसवन्तनगर पहुँचे। जागीरदारों की मुलाकातों, दावतों, नज़रानों में हफ़्तों गुज़र गये, पर सोफिया को ज्यों ही मौक़ा मिला, वह क्लार्क को उसी नगर में ले गई जहाँ की जेल में विनय सड़ रहा था। अपने उद्देश्य को जहाँ तक हो सके छिपाने के लिये सोफिया इस बीच में जिस भी नगर में जाती थी, वहाँ की जेल की सैर जरूर करती, और कैदियों से घंटों बातें करती।

सोफिया विनय की जेल में पहुँची तो उसने मौका लगाकर विनय से बातें करनी शुरू कीं। पहली बात तो विनय को यह ज्ञात हुई कि सोफिया के विषय में रानी जाह्नवी ने जो लिखा था कि वह मिसेज़ क्लार्क हो चुकी है, यह बिलकुल ग़लत है। सोफिया ने साफ कह दिया—मैंने तुम्हारा दामन पकड़ लिया है, और अब उसे किसी तरह नहीं छोड़ सकती, चाहे तुम ठुकरा ही क्यों न दो।

विनय ने अन्त में सोफिया के हाथ अपने हाथ में ले लिये, और कहा—तो आज से तुम मेरी और मैं तुम्हारा हूँ।

सोफी का मस्तक विनय के हृदय-स्थल पर झुक गया, और नेत्रों से जल-वर्षा होने लगी। नौका ने कर्णधार का सहारा पा लिया था।

जब सोफी चली गई तो विनय यह सोचने लगा कि अम्माजी को यह हाल मालूम हुआ तो वह अपने मन में क्या कहेगी, पर उसने किसी न किसी प्रकार यह तसल्ली कर ली कि सब ठीक हो जायगा। माँ को मना लिया जायगा, पिता को तो मना लेना और आसान

है। शनैः शनैः भावनाओं ने जीवन की सुख सामग्रियाँ जमा करनी शुरू की।

सोफी ने क्लार्क से यह प्रस्ताव किया कि यह कैदी काफी सजा भुगत चुका, बीमार है, इसलिये रिहा कर दिया जाय। पर रियासत के सरदार नीलकंठ ने क्लार्क से बताया कि यह व्यक्ति प्रभावशाली बागी है, छोड़े जाने पर प्रबल अशान्ति उत्पन्न कर देगा। बस क्लार्क चौकन्ना हो गया। उसने कहा—ऐसे विद्रोही को कैद रखना ही अच्छा है। इस पर सोफी ने कहा कि एक व्यक्ति का जीवन इतनी तुच्छ वस्तु नहीं। पर क्लार्क ने कहा साम्राज्य-रक्षा के सामने एक व्यक्ति के जीवन की कोई हस्ती नहीं।

सोफी ने देखा इस तरह काम नहीं बनेगा, उसने छलकपट से काम लेने का सोचा। फिर उसकी कपटलीला शुरू हो गई। अन्त तक उसने शराब पिलाकर गाना गवाकर क्लार्क से विनय की रिहाई की आज्ञा करा ली। सोफी इस आज्ञा को लेकर जेल गई, पर विनय ने छूटने से इनकार किया। सोफी ने बहुत समझाया, पर विनय टाल गया। सोफी यह सन्देह लेकर लौटी कि शायद क्लार्क के साथ रहने से तथा उसके साथ मिथ्याचरण करने से विनय नाराज़ है। बिदाई के समय सोफी ने साफ साफ कह भी दिया।

उधर नायकराम विनय के पिता कुँवर साहब से विनय की खबर लाने का वादा कर जसवंतनगर रवाना हो गया। घूमते-घामते नायकराम विनय की जेल के दारोगाजी के घर पहुँचा। वहाँ उसने ऐसा स्वाँग रचा कि दारोगाजी को भ्रम हो गया कि हो न हो यह किसी बहुत बड़े राजा आदि के यहाँ से मेरे लड़के की मँगनी की खबर लाया है। नायकराम ने कुछ साफ तो नहीं कहा, पर इस झाँसे को क़ायम रक्खा, इसके साथ ही हाथ आदि देखने का ऐसा जाल फैलाया कि दारोगा की बीवी से लेकर मुहल्ले की सब स्त्रियाँ बात की बात में पंडाजी के

प्रभाव में आ गये। नायकराम को दारोगा का लड़का बहुत शुभलक्षणयुक्त ज्ञात हुआ। दारोगा समझे शायद तक़दीर ने पलटा खाया। उसने पंडे की खूब आवभगत की। पर घर में कहाँ इतना मौक़ा था कि ऐसे बड़े आदमी को ठहरावे, तदनुसार उसने उनको ले जाकर जेल के अन्दर ठहराया। यहाँ मुफ़्त के नौकर थे, चाहे चार हर वक्त हाथ बाँधे खड़े रहते। नायकराम यही चाहता था। उसने विनय से अकेले में भेंट की और कहा कि पिताजी ने बुलाया है, माताजी मृत्युशय्या पर हैं। माताजी की बीमारी की बात सुन कर विनय पछताने लगा कि क्यों मैं सोफ़ी के कहने पर नहीं गया। पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि सोफिया अब जेल में नहीं आयेगी। अब वह बड़े असमंजस में फँसा। ऐसे समय में नायकराम ने दीवार फाँदने का परामर्श दिया। यह प्रस्ताव विनय को नहीं जँचा। ऐसा करने से उसका जी घबड़ाता था। पर दूसरा रास्ता नहीं था। नायकराम ने उसको विश्वास दिलाया कि यह बायें हाथ का खेल है। अन्त में नायकराम विनय को लेकर जेल की दीवार फाँद कर निकल गया।

नायकराम और विनय जेल से निकले तो सड़क पर देखा कि जनता में कुछ हलचल-सी ज्ञात होती है। विनय ने पंडा से कहा मालूम होता है कोई गड़बड़ है। नायकराम ने कहा होगा चलो स्टेशन चलें, हमसे क्या मतलब।

विनय ने कहा—नहीं-नहीं जरा पूछो बात क्या है?

नायकराम ने लोगों से पूछा तो मालूम हुआ कि रियासत के एजेन्ट मिस्टर क्लार्क की मोटर गाड़ी के नीचे एक बटोही दब गया था। फिर भी साहब ने मोटर नहीं रोकी। तब लोग मोटर के पीछे दौड़ पड़े। साहब ने पिस्तौल चलाई। एक आदमी गिर पड़ा। साहब मोटर हँकाकर चले गये थे। अब चारों तरफ से लोग उन्हीं के बँगले को घेरने जा रहे थे।

विनय के होश उड़ गये। यक़ीन हो गया कि आज अवश्य कोई उपद्रव होगा। नायकराम से बोले—पंडाजी जरा बँगले तक होते चलें।

नायकराम—किसके बँगले तक।

विनय—पोलिटिकल एजेन्ट के।

नायकराम—उनके बँगले पर जाकर क्या कीजिएगा ? क्या अभी तक परोपकार से जी नहीं भरा ?

विनय ने बात नहीं मानी और बँगले पर जा पहुँचा। वहाँ देखा। तो अपार भीड़ थी। भीड़ के नेता के रूप में वीरपाल और उधर सोफिया से बात हो रही थी। बात यह है कि मिस्टर क्लार्क शराब पीकर अचेत थे। वीरपाल कह रहा था—मगर यह नहीं हो सकता कि हमारा एक भाई किसी मोटर के नीचे दब जाय, चाहे वह मोटर महाराना ही का क्यों न हो, और हम मुँह न खोलें।

सोफी—वह संयोग था।

वीरपाल—सावधानी उस संयोग को टाल सकती थी, हमें जब तक आश्वासन नहीं मिलेगा हम यहाँ से नहीं हट सकते।

सोफी—संयोग के लिये कोई वचन नहीं दिया जा सकता, लेकिन......

वह और कुछ कहना चाहती थी कि इतने में किसी ने एक पत्थर उसकी तरफ फेंका, जो उसके सिर में इतने जोर से लगा कि वह वहीं सिर थाम कर बैठ गई।

जो पत्थर सोफी के सिर में लगा, वह कई गुने आघात के साथ विनय के हृदय में लगा। उसकी आँखों में खून उतर आया, आपे से बाहर हो गया। उसने पिस्तौल कमर से निकाली, और वीरपालसिंह पर गोली चला दी। फिर तो सैनिकों ने भी गोली चला दी। वीरपाल ने विनय को पहचान कर कहा—आप भी उन्हीं में हैं !

इसके बाद दोनों तरफ से लड़ाई हुई। विनय क्रोधवश वीरपाल पर लपका, पर उसके एक साथी ने उसे गिरा दिया। इस प्रकार मार-पीट में जनता कब तक ठहरती, भाग खड़ी हुई। पर विद्रोही जाते समय सोफी को लेते गये। नायकराम का भेजा खुल गया था।

इसके बाद विनय का बस एक ही काम रह गया, वह यह कि किसी प्रकार सोफी का पता लगाया जाय। इसके लिये वह रियासत और क्लार्क के सारे दुष्कृत्यों में साथ देने लगा। वास्तव में उन पर प्रमाद का रंग छाया हुआ था। सेवा और उपकार के भाव हृदय से संपूर्णतः मिट गये थे। मुझे दुनिया क्या कहती है, मेरे जीवन का क्या उद्देश्य है, माताजी का क्या हाल है, इन बातों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता था। अब तो वह रियासत का दाहना हाथ बना हुआ था।

पर रियासत तथा पुलिस सोफी का पता लगाने में असमर्थ रही। स्वयं विनयसिंह सोफी की खोज में रियासत का कोना-कोना घूम रहे थे। इस प्रकार भ्रमण के दौरान में इंद्रदत्त नामक विद्रोही से उसकी भेंट हो गई। यह भेंट एकान्त में हुई। इंद्रदत्त ने उससे कहा कि व्यर्थ में सोफिया की खोज कर रहा है, सोफिया उस से खुद मिलना नहीं चाहती, नहीं तो कब की भेंट हो जाती। विनय को इस प्रकार ज्ञात हो गया कि इसे सोफिया का पता मालूम है, बस वह उसके सिर हो गया। अन्त तक उसके पैरों पर गिर पड़ा। इंद्रदत्त को उस पर रहम आ गया और वह उसे घुमाघुमाकर क्रान्तिकारियों के डेरे की तरफ ले गया।

इस पकार बहुत कष्टों के बाद सोफी के साथ मिलने की नौबत भी आई तो अजीब हाल था। सोफी आरती का थाल लेकर आई। विनय ने गद्‌गद होकर कहा—प्रिये, यह क्या ढकोसला कर रही हो, तुम भी इन रस्मों के जाल में फँस गई!

सोफी—वाह! आपका आदर-सत्कार न करूँ? मेरे कारण आपने

रियासत में अँधेर मचा रक्खा है, सैकड़ों निरपराधियों का खून कर दिया। कितने ही घरों के चिराग़ गुल कर दिये, माताओं को पुत्रशोक का मज़ा चखा दिया, रमणियों को वैधव्य दिया। अब आप एक तुच्छ सेवक नहीं, रियासत के दाहने हाथ हैं।

विनय ने सफाई दी कि वह वही है, पर सोफी ने एक न सुना, उसे खूब लताड़ा। अन्त में बोली—तुम्हें अपना सम्मान मुबारक हो। जिनके साथ हूँ वे सहृदय हैं, वे किसी दीनप्राणी की रक्षा प्राण-पन से कर सकते हैं। तुम्हें वह बात क्यों न्यायसंगत जान पड़ी जो न्यायविरुद्ध थी।

अन्त तक विनय को अकेला लौटना पड़ा। सोफी उसके साथ चलने पर राजी नहीं हुई।

भैरो ने सुभागी को घर से निकाल दिया। सुभागी सूरे के पास आई कि उसके यहाँ रहे। सूरे ने कहा इस में बहुत झंझट है, मैं बदनाम हो जाऊँगा; पर जब उसने देखा कि सुभागी के लिये रहने की कोई जगह नहीं, और उसने भी निकाल दिया तो उसे शायद कसबी होने की नौबत आवे, उसने उसे घर में स्थान दे दिया। क्षण भर के लिये सूरे के मन में यह बात भी आई कि इसे रख लूँ तो कैसा रहे। क्या अंधा हूँ तो आदमी नहीं।

पर यह विचार क्षण भर के लिये आया, और सूरदास सँभल गया।

भैरो ने जब यह देखा कि सुभागी को जगह मिल गई, तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ। वह खुल कर सुभागी और सूरे को बदनाम करने लगा। मुहल्लेवालों ने भी इसमें साथ दिया। पर इससे सूरे का कुछ बिगड़ते न देख कर भैरो ने ऐसा सोचा कि चलें राजा महेन्द्रकुमार के पास, सूरे की जमीन के मामले में सूरे से कच्चा खाने के कारण नाराज़ हैं, वे

शायद कुछ तरकीब बतायें। तदनुसार वह राजा साहब के पास पहुँचा। भैरो का उद्देश्य सुना तो बहुत खुश हुए कि शहरवाले जानें तो कि सूरा कैसा पाजी है, उसे तो लोग महात्मा समझते हैं। उन्होंने भैरो से कहा कि गवाह बना कर लाओ, और मेरी अदालत में नालिश कर दो।

पर भैरो गाँव में लौटा तो पहला ही व्यक्ति बजरंगी मुश्किल से गवाह तैयार किया जा सका। इस प्रकार कुछ गवाह हुए, पर भैरो के पुराने प्रतिद्वन्दी जगधर को यह पता लगा ता उसने किसी न किसी प्रकार सब गवाह बिलट दिये। अब भैरो बड़ी मुसीबत में फँसा, पर मिल के मिस्त्री ने कहा जितने चाहे गवाह ले लो, बस ताड़ी खर्च करो। भैरो तैयार हो गया। मिल के मजदूरों का गाँव से कोई सम्बन्ध नहीं था, वे गवाह बन गये। मुकदमे में सूरदास तथा सुभागी को सजा हो गई। पर अन्त में सूरे ने ऐसी दुहाई मचाई कि लोग समझ गये मुकदमा झूठा था।

शहरवालों ने चन्दा कर सूरे तथा सुभागी का जुर्माना अदा कर दिया। शहरवालों ने यह भी तय किया कि सूरे का जेल से जुलूस भी निकले, पर राजा महेन्द्रकुमार को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने सूरे को समय से बहुत पहले ही छुड़वा कर मोटर पर गाँव पहुँचा दिया।

इस प्रकार जुलूस के खर्च के लिये जो तीन सौ रुपये इकट्ठे हुए थे वे बच गये, और सूरे को दे दिये गये।

सूरा ज्यों गाँव में पहुँचा तो उसे मालूम हुआ कि इस दो तीन दिन के बीच में किसी ने भैरो की दूकान में आग लगा दी, और उस अग्नि-कांड में उसका सर्वस्व स्वाहा हो गया था। अग्निकांड के समय भैरो स्वयं नशे में था, इस कारण वह कोई सामान बचा नहीं सका और सब गाँववालों ने भी कुछ मदद नहीं दी।

सूरे ने आते ही जो यह बात सुनी तो उसने यह कहा कि इन तीन सौ रुपयों से भैरो का काम जहाँ तक हो सके सँभाल दिया जाय। उसने ऐसा ही भैरो से कहा और उसे रुपये दिये, इससे भैरो पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसके मन में सूरे के प्रति जो मैल था, वह दूर हो गया, और वह सभागी को फिर घर में लेने के लिये तैयार हो गया।

जानसेवक चाहते थे कि प्रभुसेवक ढंग से व्यवसाय में लग जायँ, पर प्रभु सेवक थे कविता-कामिनी के उपासक। वे सबेरे कविता लिये कहीं जा रहे थे कि पिता जान ने बुलाकर कहा कि वह पांडेपुर की जमीन के लिये कुँवर साहब से कहे।

प्रभुसेवक—मुझे ऐसे बँगले से झोपड़ा ही पसन्द है जिसके लिये कई ग़रीबों के घर गिराने पड़ें। मैं कुँवर साहब से इस विषय पर कुछ न कहूँगा।

जान सेवक—यह तुम्हारी अकर्मण्यता है। इसे सन्तोष और दया कह कर तुम्हें धोखे में न डालूँगा। तुम जीवन की सुख-सामग्रियाँ तो चाहते हो, लेकिन उन सामग्रियों के लिये जिन सुख-साधनों की ज़रूरत है, उनसे दूर भागते हो। हमने तुम्हें क्रियात्मक रूप से कभी धन और वैभव से घृणा करते नहीं देखा। तुम अच्छे से अच्छा मकान, अच्छे से अच्छा भोजन, अच्छे से अच्छा वस्त्र चाहते हो, लेकिन हाथ-पैर बिना हिलाये ही चाहते हो कि कोई तुम्हारे मुँह में शहद और शर्बत टपका दे।

प्रभुसेवक को ये बातें इतनी बुरी लगीं कि वह घर छोड़ कर चला गया और कुँवर साहब के सेवा दल में काम करने लगा।

जब विनय सोफिया द्वारा दुत्कारा जाकर रियासत की राजधानी में लौटा, तो उसे ज्ञात हुआ कि रियासत के अधिकारीवर्ग उस पर अब विश्वास नहीं करते। उन्हें गुप्तचरों से ज्ञात हो चुका था कि

विनय ने इस प्रकार सोफी से भेंट की थी। इसी के साथ-साथ विनय को अपनी माँ का दीर्घ पत्र मिला जिसका आशय शुरू से आखिर तक यह था कि उनको बहुत भारी लज्जा है कि विनय उनका पुत्र है। पत्र का अन्त यों हुआ था—"× × तुम्हें समझाना व्यर्थ है। जब उम्र भर की शिक्षा निष्फल गई, तो एक पत्र की शिक्षा का क्या फल होगा ! अब केवल दो इच्छायें हैं—ईश्वर से तो यह कि तुम जैसी संतान सातवें बैरी को भी न दे, और तुमसे यह कि अपने जीवन की इस क्रूर लीला को समाप्त करो।"

विनय ने तय कर लिया कि घर चलना चाहिये। वह रेल पर सवार हो गया। पाचवें स्टेशन से थोड़ी दूरी पर एकाएक गाड़ी रुक गई। कोई स्त्री उसी डब्बे में दाखिल हुई। वह मिस सोफिया थी। विनय ने देखते ही पहचान लिया।

विनय और सोफिया में बातचीत होने लगी। बातचीत क्या प्रेमिक-प्रेमिका का उलाहना तथा प्रेम निवेदन था। सोफी का दिल भी क्रान्ति से भर गया था। अब तो वह दूसरी ही सोफिया थी। अब वह दुत्कार नहीं थी, बल्कि प्रेम में सनी, अनुराग में डूबी बातें थीं।

सोफी ने विनय को इस बात के लिये राजी कर लिया कि वे दोनों बीच ही में उतर पड़ें। सोफी पहले विनय को अपना बना कर फिर उसे रानी के पास ले जाना चाहती थी। विनय ने रेल ही में वह पत्र पढ़ लिया था जो रानी ने विनय के नाम भेजा था। नतीजा यह हुआ कि सोफी और विनय दोनों बीच के एक स्टेशन पर उतर पड़े।

जान सेवक ने ताहिर अली की मेहनत और ईमानदारी से प्रसन्न होकर खालों पर कुछ कमीशन नियत कर दिया था। इससे अब उसकी आय अच्छी हो गई थी। पर सौतेले छोटे भाई माहिर अली

मुरादाबाद पुलिस ट्रेनिंग स्कूल में पढ़ रहा था, उसके खर्च के मारे बड़ी तंगी रहती थी। इसी के कारण तथा विमाता के तानों के कारण उसे कोठी की रक़म से इधर-उधर कभी दस कभी बीस निकालना पड़ता। पर यह कब तक छिपता, एक दिन जान साहब आये, उन्हें कुछ शक मालूम दिया, बस उन्होंने सब हिसाब किया तो ख़ज़ाने में कमी पकड़ी गई। जान साहब ने फौरन चाभी ले ली और चले गये। इसके बाद मुक़दमा चला और ताहिर अली को सज़ा हो गई। जिस दिन उसे सज़ा हुई, उसी दिन माहिर अली लौटा, पर उसने भाई से भेंट तक नहीं की।

माहिर ने आकर अपनी माँ से पूछा—भाई साहब को यह क्या हिमाक़त सूझी ?

उसकी माँ जैनब ने झूठमूठ कह दिया—बेगम साहब की फरमाइशें कैसे पूरी होतीं। जेवर चाहिये, जरी चाहिये, ज़रदा चाहिये, कहाँ से आता ?

बात असल में यह थी कि ताहिर अली की बीबी कुलसुम से बढ़कर अल्प में सन्तोषी अकल्पनीय है। ताहिर अली को तो अपने भाई माहिर अली की नित्य नई फरमाइशों के कारण इस प्रकार कोठी के रुपये पर हाथ डालने के लिये मजबूर होना पड़ा था। जब ताहिर अली को जेल की सजा हो गई तो माहिर अली की तैनाती हो गई। वह अपनी माँ आदि को लेकर अलग हो गया। उधर कुलसुम तथा उसके बच्चों का बुरा हाल हुआ, किसी तरह सी-पिरोकर रोटी खाने लगी।

विनय और सोफिया जहाँ उतरे वहाँ दोनों एक दूसरे के साथ रहे, पर कुछ अलगाव के साथ। विनय चाहता कि यह अलगाव दूर हो, पर सोफी उसे अधिक पास नहीं फटकने देती। विनय ने कई बार चेष्टा की, पर कुछ न हुआ। अन्त में विनय ने दुखी होकर यह कहा—

सोफी, इसका आशय इसके सिवा और क्या है कि मेरा जीवन सुख-स्वप्न में ही कट जाय !

पर फिर भी सोफी न पसीजी।

विनय कुछ बोलते नहीं, पर मलिन और खिन्न रहते। यथासंभव घर से बाहर रहते। इसी हालत में विनय से एक भीलनी की भेंट हुई। उससे उसको वशीकरण की क्रिया मालूम हुई, बस वह उसी में दत्तचित्त होकर उसी का प्रयोग करने लगा। जब पाँच दिन क्रिया की गई तो सोफी ने एकाएक विनय के गले में बाँह डाल दी। विनय ने सोफी के करपाश को धीरे से मुक्त कर दिया, और पुकारा—सोफी

सोफी चौंक पड़ी, मानो निद्रा में हो। सोफी का चित्त भ्रमित रहने लगा। विनय ने क्रिया की बात बता दी।

सोफी ने विनय की गरदन में हाथ डाल दिये। बोली—तुम बड़े छलिया हो। अपना जादू उतार लो, क्यों तड़पा रहे हो।

विनय—क्या कहूँ उतारना नहीं सीखा यही तो भूल हुई।

अन्त में यही तय हुआ कि यहाँ रहने से फायदा नहीं, चला जाय। तदनुसार ये चल पड़े।

तीसरे दिन यात्रा समाप्त हो गई, तो सन्ध्या हो चुकी थी। सोफिया और विनय दोनों डरते हुए गाड़ी से उतरे कि कहीं किसी से भेंट न हो जाय। सोफिया ने विनय के घर जाने का विचार किया। वह घबड़ा रही थी कि न मालूम रानीजी किस प्रकार पेश आवें। पर रानी ने सोफी का स्वागत किया, बोली—बेटी, तुम देवी हो, मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया था। मैंने तुम्हें पहचाना न था। मुझे सब मालूम है बेटी, सब सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आत्मा इतनी पवित्र है पहले से मालूम न था। आह! अगर पहले से जानती।

बात यह है कि नायकराम ने ख़बर दी थी कि रानीजी का पत्र पाकर वह और विनय आ रहे थे, रास्ते में विनय न मालूम कब उतर पड़ा।

जब इस प्रकार दोनों में सन्धि हो चुकी, तब सहसा शोर हो गया—लाल साहब आ गये।

नौकर-चाकर चारों ओर से दौड़ पड़े। रानी ने उठ कर स्वागत किया। पर विनय के मन में परेशानी थी। वह कौंद कर तलवार उतार लाया, और उसे सर से खींच कर बोला—अम्मा, इस योग्य तो नहीं हूँ कि आपका पुत्र कहलाऊँ, लेकिन आपकी अन्तिम आशा शिरोधार्य करके अपनी सारी अपकीर्ति का प्रायश्चित किये देता हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिये।

वह पकड़ लिया गया, और रानी ने बता दिया कि वह उसे कब की क्षमा कर चुकी है।

मिल के कारण मिल के इर्द-गिर्द अच्छा खासा बाज़ार हो गया। पांडेपुर का पुराना बाज़ार सर्द पड़ गया। चकला खुल गया था। घरों के लड़के इन चकलों में जाते।

घरों के लड़के चकले पर हाथ मारते-मारते मुहल्ले—घर की स्त्रियों को भी ताकने लगे। बजरंगी का लड़का घीसू, सूरे का पालित पुत्र मिठुआ और जगधर के लड़के विद्याधर की निगाह सुभागी पर गई। इन लोगों ने तय किया कि सुभागी को एक दिन रात में पकड़ लिया जाय। तदनुसार इन लोगों ने ऐसा ही किया, पर ज्यों ही एक ने सुभागी का हाथ पकड़ा सुभागी चोर चोर चिल्ला उठी। सूरदास किवाड़े पर सोता था। वह भी उठा, मुहल्ले वाले भी उठे। जब सब लोग आये तो देखा गया कि सुभागी ने घीसू को और सूरे ने मिठुआ को पकड़ लिया है।

एक स्त्री बोली—यह जमाने की खूबी है कि गाँव-घर का विचार भी उठ गया, किसकी आबरू बचेगी।

ठाकुरदीन—ऐसे लौंडों का सिर काट लेना चाहिये।

पर गाँव के लड़के थे, लोगों ने कहा मामले को दबा दो, पर सूरे ने एक नहीं सुनी। उसने कहा, यह मामला पुलिस में दिया जायगा। लोग विशेषकर जिनके लड़के थे सूरे पर बहुत बिगड़े, सुभागी को बताया कि यह कौन भारी सती है, फिर भी सूरा न माना। कोई सूरे को धमकाता था, कोई समझाता था। अन्त में मामला पुलिस में गया और पुलिस ने मुकदमा किया। लड़कों को सजा हो गई। नतीजा यह हुआ कि गाँववाले सूरदास पर फिर नाराज़ हो गये।

विनय फिर से घर में रहने लगा। पर उसके विवाह का मामला खटाई में रह गया, क्योंकि जानसेवक ने सम्मति नहीं दी। प्रभुसेवक सेवादल को लेकर इतनी निर्भीकता से काम कर रहा था कि कुँवर भरतसिंह की रियासत पर आँच आने की नौबत आ गई। कुँवर साहब को जहाँ यह ज्ञात हुआ, उन्होंने पुत्र तक को बिना बताये रियासत को कोर्ट आफ वार्ड्स में कर दिया। विनय को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने कुँवर साहब से कहा कि मैं आजीवन रियासत से पृथक रहने का प्रतिज्ञापत्र लिख देता।

कुँवर—(सोचकर) उस दशा में भी यह सन्देह रहता कि मैं गुप्त रीति से सहायता कर रहा हूँ।

विनय—तो मैं इस घर से निकल जाता, और आपसे मिलना-जुलना छोड़ देता।

खैर वह तो हो चुका था। अब चिन्ता हुई कि सेवादल का खर्च कैसे चलेगा। कहीं ड्रामा खेलकर पैसा पैदा करने की बात सूझती, कहीं कुछ और। इधर-उधर से भी धन मिलने लगा। इस बीच में

प्रभु विलायत चला गया था, वहाँ उसकी कविता की बहुत क़द्र हुई थी।

कोशिशों के बाद जानसेवक को पांडेपुरवाला पूरा गाँव ही मिल गया। इसमें मज़दूरों के लिये घर बनाया जानेवाला था। एक दिन सवेरे तख़मीने के अफ़सर आदि पांडेपुर आये और उन लोगों ने गाँववालों को हुक्म सुना दिया कि सरकार को एक ख़ास काम के लिये इस ज़मीन की ज़रूरत है। उसने फैसला किया है कि उचित दाम देकर यह ज़मीन ले ली जाय, जिसे अर्ज़ मारूज करना हो, वह आकर तख़मीने के अफ़सर से मिले।

गाँववाले एक अस्पष्ट आशा लेकर सूरे के पास पहुँचे। सूरे ने कोई खास उपाय नहीं देखा, पर कहता रहा देख लिया जायगा। तखमीना लगा, जिसने मुट्ठी गरम की, उसको अपने मकान का कुछ ढंग का दाम मिला, जिसने नहीं की उसका मकान नीलाम के दामों पर गया। मकानों पर कब्जा बड़ी बेरहमी से किया गया, सामान उठा-उठा कर फेंका गया, पुलिसवालों ने लूट मचाई। ये सारे काम माहिर अली दारोगा के ही सिपुर्द थे। दंगा होने की नौबत आई। राजा महेन्द्रकुमार म्युनिसिपलिटी की ओर से आये। उन्होंने जब देखा कि यह दंगा इसलिये होने जा रहा है कि सरकार ने मुआवजे के जो रुपये तय किये थे, वे अभी नहीं दिये गये थे, लोग जायँ तो कहाँ जायँ। राजा साहब मोटर पर चढ़ कर अपने बैंक से रुपये ले आये, और उसे बाँट दिया। पर जनता इतने से शान्त नहीं हुई। तब पुलिस साहब ने गोली चलवा दी। विनय आया। उसे पुलिसवाले पहचानते थे, उन्होंने आगे गोली चलाने से इन्कार किया। पर जो गोलियाँ चलीं थीं, उसी से इन्द्रदत्त मर गया।

सोफिया धर्मपरिवर्तन के लिये तैयार हो गई तो विवाह की सब बाधा दूर हो गई। रानी जाह्नवी ज्यों-ज्यों विवाह की तैयारियाँ कर

रही थी, सोफिया का हृदय एक अज्ञात भय, एक अव्यक्त शङ्का से आच्छन्न होता जाता था। सोफी इसी चिन्ता में बीमार हो गई। विनय दिन-रात वहीं डटा रहता।

एक दिन विनय दवा लेकर लौट रहा था कि कुँवर साहब ने उसे बुलाया। थोड़ी भूमिका के बाद कुँवर साहब ने यह कहा कि वे चाहते हैं कि विनय स्पष्ट रूप से अपने को सेवकदल से पृथक कर ले क्योंकि गवर्नमेन्ट का आदेश है कि अन्यथा विनय का नाम रियासत से अलग कर ले। विनय ने ऐसा करने से इनकार किया।

सोफी कुछ-कुछ अच्छी हो चली। अब विनय किसी और काम में नहीं जाता था। यहाँ तक कि इन्दु ने भी एक दिन सोफी से कह डाला—अगर अभी से इनका यह हाल है तो विवाह हो जाने पर क्या होगा। तब तो यह कदाचित् दीन-दुनिया कहीं के भी न होंगे, भौंरे की भाँति तुम्हारा प्रेमरसपान करने में उन्मत्त रहेंगे।

सोफिया लज्जित हुई, बोली—मैंने तो कभी उनसे मना नहीं किया।

इन्दु—मना करने के कई ढंग हैं।

सोफिया ने विनय के सामने कहा—अब मैं अच्छी हो गई हूँ, और इन्हें विश्वास दिलाती हूँ कि इनके जाने से मुझे कोई कष्ट न होगा। मैं स्वयं दो-चार दिन में जाऊँगी।

इन्दु ने विनय से कहा—संभव है पांडेपुर के मामले में कोई समझौता हो जाय। मैं नहीं चाहती कि उसका श्रेय किसी दूसरे आदमी के हाथ में लगे।

पर इसका भी विनय पर कोई असर नहीं हुआ। वास्तव में बात यह थी कि इतने दिनों तक उदासीन रहने के पश्चात् विनय अब वहाँ जाते हुए झेंपते थे, डरते थे कि कहीं मुझ पर लोग तालियाँ न बजाएँ कि डर के मारे छिपे बैठे रहे। वह चाहते थे कि कहीं ऐसा मौका आवे इस झेंप को मिटा सकूँ।

तीसरा पहर था। एक आदमी डौंडी पीटता हुआ निकला। विनय ने नौकर को भेजा कि क्या बात है। उसने लौट कर कहा—सरकार का हुक्म है कि आज से शहर का कोई आदमी पांडेपुर न जाय, सरकार उसकी प्राण-रक्षा की जिम्मेदार न होगी।

विनय तथा सोफिया दोनों समझ गये कि पांडेपुर में आज कोई नया आघात होनेवाला है। एक वालंटियर ने आकर विनय से बताया कि मिस्टर क्लार्क फिर ज़िलाधीश होकर आये हैं। विनय ने उस स्वयं-सेवक के पूछने पर भी कि आप चलेंगे कि नहीं, खिन्न होकर कहा—देखा जायगा।

पर सोफिया ने कहा कि वह चलेगी, बोली—मैं इसीलिये और भी जाना चाहती हूँ कि मेरे सामने वह कोई पैशाचिक आचरण न कर सकेगा। इतनी सज्जनता अभी उसमें है।

यह कह कर सोफी तैयारी करने गई। पर जब तैयारी कर लौटी तो विनय के कमरे में विनय नहीं था। द्वार पर कुछ देर खड़ी रही, फिर एक अज्ञात शंका के पूर्वाभास ने सोफी के हृदय को आन्दोलित कर दिया। वह भी पांडेपुर चली। वह सोचती जाती थी कि विनय को जाने की इच्छा न थी, वह मेरे ही आग्रह से गये हैं।

उधर विनयसिंह दफ़्तर में जाकर सेवक-संस्था के आय-व्यय का हिसाब लिख रहे थे। उनका चित्त बहुत उदास था। मुख पर नैराश्य छाया हुआ था। एकाएक किसी ने पीछे से उनका हाथ पकड़ कर खींचा। चौंक कर देखा तो सोफिया थी। पूछा—तुम क्यों आये!

विनय—तुम्हें अकेले क्योंकर छोड़ देता!

तीन तोपें झोपड़े की ओर मुँह किये खड़ी थीं। गाँववाले झगड़े के लिये तैयार खड़े थे। मिस्टर जानसेवक पर किसी ने हमला कर दिया। वे भागे। सूरे ने जब यह सुना तो एक व्यक्ति के कन्धे पर बैठ

कर जनता को शान्त रहने के लिये कहा। वह बोल ही रहा था कि मिस्टर क्लार्क ने यह समझा कि यह अन्धा जनता को उपद्रव करने के लिये प्रेरित कर रहा है। उन्होंने जेब से पिस्तौल निकाली और सूरदास पर चला दी। निशाना अचूक पड़ा, सिर लटक पड़ा, रक्तप्रवाह होने लगा। भैरो उसे सम्हाल न सका, वह भूमि पर गिर पड़ा।

जनता नैराश्य और क्रोध से उन्मत्त हो गई। विनय ने देखा आन की आन में अनर्थ होगा, सैकड़ों जानों पर बन आयेगी। तुरन्त एक गिरी हुई दीवार पर चढ़ कर बोले—मित्रो, यह क्रोध का अवसर नहीं है, प्रतिकार का अवसर नहीं है, सत्य की विजय पर आनन्द उत्सव मनाने का अवसर है।

जनता ने उसको व्यंग किया—जब मैदान साफ़ हो गया, तो आप मुर्दों की लाश पर आँसू बहाने आये हैं। जाइये, शयनागार में रङ्ग उड़ाइये...इत्यादि।

इस प्रकार जब चारों तरफ़ से ताने आने लगे, तो विनय की आकृति तेजस्वी हो गई, लोचन लाल हो गये। वह बोले—क्या आप देखना चाहते हैं कि रईसों के बेटे क्यों कर प्राण देते हैं? देखिये—यह कह कर उन्होंने जेब से भरी हुई पिस्तौल निकाल ली, छाती में उसकी नली लगाई और जब तक लोग दौड़ें-दौड़ें भूमि पर गिर पड़े। लाश तड़पने लगी। जनता स्तंभित रह गई।

सोफ़ी ने खबर सुनी तो उसके होश उड़ गये। उधर से रानी जाह्नवी आईं तो वह उससे लिपट गई। पर रानी उसे गले लगाती हुई बोलीं—क्यों रोती हो बेटी? विनय के लिये? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाये जाते, उत्सव के राग गाये जाते हैं। मेरे पास हीरे और जवाहर होते तो उसे लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है। दुःख होता, अगर वह आज प्राण बचा कर भागता। यह तो मेरी चिर-संचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी, जब मैं युवती थी। वीर राजपूत

और राजपूतनियों के आत्मसमर्पण की कथायें पढ़ा करती थी, उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी कोई ऐसा पुत्र देता जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जातिहित के लिये अर्पण करता।

इन्दु भी मिली। उसके अन्तस्तल में एक ज्वाला-सी दहक रही थी। वह समझती थी कि यह सारा हत्याकांड उसके पति के लिये हुआ। बोली—माताजी इस हत्या का कलंक मेरे सिर पर है।

रानी ने तीव्र स्वर में कहा—क्या महेन्द्र को कहती है! अगर फिर ऐसी बात मुँह से निकाली तो गला घोंट दूँगी। क्या तू उन्हें अपना गुलाम बना कर रक्खेगी? तू स्त्री होकर चाहती है कि कोई तेरा हाथ न पकड़े, वह पुरुष होकर क्यों न ऐसा चाहें? वह संसार को क्यों तेरे ही नेत्रों से देखे? अगर तुझे उनकी बातें पसन्द नहीं तो कोशिश कर कि पसन्द आवें। वह तेरे पतिदेव हैं, तेरे लिये उनकी सेवा से उत्तम कोई पथ नहीं है।

सूरदास मरा नहीं था, बहुत सख्त घायल हुआ था। विनय की दाहक्रिया समाप्त कर सोफी वहीं रहती। एक दिन राजा महेन्द्रकुमार आये, और उससे माफी माँगी। सूरे के दिल में तो कोई मैल नहीं था। बड़ी मुश्किलों से मिठुआ आया, पर वह सूरे को कोसता रहा, बोला—मुझे चौपट करके मर जाते हो।...हमारी दस बीघे मौरूसी ज़मीन थी कि नहीं, उसका मावजा दो पैसा, चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें से मेरे हाथ क्या लगा? हाकिमों से बैर न ठानते तो उस घर के सौ से कम न मिलते। मुझे तो तुमने मटियामेट कर दिया, कहीं का नहीं रक्खा। कमाई में तुम्हारे शक नहीं पर कुछ जलाया, कुछ उड़ाया, मेरे लिये कुछ न रक्खा। मुझे बिना छाँह के छोड़े जाते हो।—इत्यादि

मिठुआ ने तैश में आकर यहाँ तक कहा कि पुतलीघर में आग

लगा देगा। सूरदास को इन बातों से कष्ट हुआ। शायद इन्हीं कटुवाक्यों के कारण वह अच्छा न हो सका।

जानसेवक भी सूरे से मिलने आया। जान ने सूरे की तारीफों के बाद पूछा—सूरदास, मेरे योग्य कोई सेवा हो, तो बताओ।

सूरदास—कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।

कहने-सुनने पर सूरे ने यह कहा कि ताहिर अली को फिर से नौकरी पर रख लिया जाय क्योंकि उसके बालबच्चे बड़े कष्ट में हैं।

जानसेवक—मुझे अत्यन्त खेद है कि तुम्हारे आदेश का पालन न कर सकूँगा। किसी नीयत के बुरे आदमी को आश्रय देना मेरे नियमों के विरुद्ध है, मैं उसे तोड़ नहीं सकता।

सूरदास—दया कभी नियम-विरुद्ध नहीं होती।

जान—मैं इतना कर सकता हूँ कि ताहिरअली के बाल-बच्चों का पालन-पोषण करता रहूँ। लेकिन उसे नौकर न रक्खूँगा।

सूरदास—जैसी आपकी इच्छा।

उधर पांडेपुर में गोरखे अभी तक पड़ाव डाले हुए थे। उनके उपलों के जलने से चारों तरफ धुँआ छाया हुआ था। उस श्यामा-वरण में बस्ती के खँडहर भयानक मालूम होते थे। यहाँ अब भी दिन में दर्शकों की भीड़ रहती थी जहाँ विनयसिंह ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की थी, वहाँ लोग आते तो पैर से जूते उतार देते। घर की याद भूलते ही भूलते भूलती है। कोई अपनी भूली भटकी चीजें खरीदने आता। बच्चों को तो अपने घरों के चिह्न खोजने में ही आनन्द आता। एक पूछता अच्छा बताओ, हमारा घर कहाँ था? दूसरा कहता जहाँ कुत्ता लेटा हुआ है। तीसरा कहता, जी, कहीं हो न! वहाँ तो बेचू का घर था। गाँव के लोग भिन्न-भिन्न गाँवों में बिखर गये थे।

सभी का बुरा हाल था। नायकराम शहर में जाकर बसने की बात सोचता था।

सूरदास मृत्युशय्या पर था। अन्तिम बार वह डाक्टर गाँगुली की दवा से बोल रहा था—तुम जीते मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो। तुम जीते, मैं हारा। तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो, और तुम्हारा उत्साह खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, और खिलाड़ियों को मिला कर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज मार-पीट करते हैं। हम हारे तो क्या मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे, एक न एक दिन हमारी जीत होगी।

सूरदास सब को रुलाकर मर गया।

ताहिर अली जेल से छूट कर आया तो उसे मालूम हुआ कि उसकी स्त्री तथा नादान बच्चों को छोड़ कर माहिर अली अलग हो गये। इस समय माहिर अली दारोगा का काम कर रहे थे। ताहिर अली ने जो बच्चों का बुरा हाल देखा तो उसे क्रोध आ गया। वह सीधा माहिर अली के यहाँ गया, वहाँ पान इत्र था, और ताश हो रहा था। उसने माहिर को बेवफाई पर सैकड़ों लानत दी, फिर झपटकर कलमदान उठाया, उसकी स्याही निकाल ली और माहिर की गरदन ज़ोर से पकड़ कर स्याही मुँह पर पोत दी, और फिर गालियाँ दीं। लौट कर जब ताहिर ने ये बातें कुलसुम से कहीं, तो कुलसुम ने बहुत अफसोस किया कि यह क्या किया, तुम तो उससे भी रज़ील हो गये, वह अगर चाहता वहीं बेइज्जत कर देता।

सूरदास की मूर्ति बनाकर प्रतिष्ठित करने का आन्दोलन चला।

इन्दु ने १०००) दिये। इसी पर राजा महेन्द्रकुमार बीबी से बहुत नाराज़ हुए। यह विवाद दाम्पत्य क्षेत्र से निकलकर सार्वजनिक क्षेत्र में आ गया। राजा साहब मूर्ति के लिये चन्दे का विरोध करते थे। बात यह है कि उन पर म्युनिसिपल बोर्ड में इसी पांडेपुर की घटना के कारण अविश्वास का प्रस्ताव पास होनेवाला था। इन्दु सोफी के साथ घर-घर घूम चन्दा करती थी।

अन्त में मूर्ति की बड़ी धूमधाम से स्थापना हुई। आधी रात बीत चुकी थी। एक आदमी साइकिल पर सवार मूर्ति के समीप आया। उसके हाथ में कोई यंत्र था। उसने क्षण भर तक मूर्ति को सिर से पाँव तक देखा, और तब उसी यंत्र से मूर्ति पर आघात किया। तड़ाक की आवाज सुनाई दी, और मूर्ति धमाके के साथ भूमि पर आ गिरी, और उसी मनुष्य पर जिसने उसे तोड़ा था। वह कदाचित् दूसरा आघात न कर सका, मूर्ति के नीचे दब गया। प्रातःकाल लोगों ने देखा तो राजा महेन्द्रकुमार सिंह थे।

मिसेज सेवक समझती थी कि विनय मर गये, अब शायद लड़की ढर्रे पर आ जाय और मिस्टर क्लार्क से शादी कर ले तो उनकी मुराद पूरी हो जाय। तदनुसार एक दिन घर बुला कर बात की और समझाया। जो होना था वह हो गया, अब आगे की सोचनी चाहिये। यदि वह चाहे तो अब भी कुछ नहीं बिगड़ा सँभल सकती है। बहुत मजबूर किया तो सोफिया घर पर रहने को राजी हो गई, फिर शादी की बात पर भी कह दिया कि ठीक है।

पर अगले दिन सबेरे सोफिया का पता नहीं लगा। अगले दिन डाक आने पर पता लगा कि उसने आत्महत्या कर ली। इस प्रकार सोफिया का अन्त हुआ। इसके बाद मिसेज सेवक की सब आशाओं पर पानी फिरने से वह पागल हो गई। जानसेवक फिर भी निरलस होकर कारखाना चलाने लगे।

रानी जाह्नवी सेवादल चलाती है, कुँवर भरतसिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत करने लगे। वही सैर और शिकार है, वही अमीरों के चोचले, वही रईसों के आडम्बर, वही ठाठ-बाट। उनके धार्मिक विश्वास की जड़ें उखड़ गई हैं। इस जीवन से परे अब उनके लिये अनन्त शून्य और अनन्त आकाश के अतिरिक्त अब कुछ नहीं है।

रंगभूमि पर एक नयी दृष्टि

रंगभूमि प्रेमचन्द का सबसे बड़ा उपन्यास है। इस उपन्यास के नाम से ही यह स्पष्ट है कि लेखक ने यह समझकर ही इसका नाम रंगभूमि रक्खा था कि समसामयिक भारतीय समाज का विस्तृत प्रतिफलन हो, यह उपन्यास १६२४ के लगभग प्रकाशित हुआ था। १६२८ का अहयोग आन्दोलन भारत को एक साल के अन्दर स्वराज्य दिलाने में तो असमर्थ रहा, पर किसी असहयोगी के मन में इस असफलता का अवसाद नहीं था। लोगों के मन में अभी यह सुनहरी आशा बाकी थी कि चौरीचौरा के कारण गान्धीजी ने जो आन्दोलन का एकाएक स्विच बन्द कर दिया था उससे उसको पूरा मौका ही नहीं मिला था। स्वयं प्रेमचन्दजी भी इधर कई वर्षों से असहयोग के प्रवाह में बह रहे थे। उन्होंने अत्यन्त त्याग स्वीकार कर सरकारी नौकरी छोड़ दी थी, और अब व्यावहारिक रूप से असहयोग तथा काँग्रेस में भाग लेने की बात सोच रहे थे। इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद ही या उसके प्रकाशित होते होते ही वे काशी विद्यापीठ के विद्यालय विभाग के प्रधान शिक्षक के रूप में आ गये थे।

तो इस सामाजिक और मानसिक वातावरण में जो उपन्यास लिखा गया होगा, उसमें गान्धीवाद के नये तरीके पर विश्वास का आधिक्य प्रतीत होगा इसमें आश्चर्य ही क्या है? श्री अनुसूया प्रसाद पाठक ऐसे बुद्धिमान पाठक इसलिए गद्‌गद होकर यह लिखते हैं कि "प्रेमाश्रम और रंगभूमि दो-दो बार पढ़ीं। उस जेल में वह साथी थीं। पात्रों के चरित्र नहीं बलदाता थे। उस समय प्रेमचन्दजी दूर नहीं, बल्कि पास उपदेशदाता के रूप में वर्तमान से मालूम देते हैं।" इन मन्तव्यों की

यह बात विशेष द्रष्टव्य है कि रंगभूमि के चरित्र जेल में बल देने की सामर्थ्य रखते हैं, अर्थात् एक असहयोगी को जेल में रहते समय बल देते थे। इस पहलू पर हम बाद को लौटेंगे, पर यहाँ इतना ही समझ लेना यथेष्ट है कि प्रेमचन्द का यह वृहत्काय उपन्यास बहुतों की दृष्टि में इसी कारण बहुत उपादेय है कि वह उन्हें बल देता है। दूसरे शब्दों में उनके निकट यह उपन्यास इसलिए एक शाहकार है कि यह आदर्शवादी है।

कहाँ तक यह उपन्यास आदर्शवादी है, और कहाँ तक वस्तुवादी इसका विचार हम बाद को करेंगे पर इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा बहुत से लोगों का विचार है कि यह उपन्यास एक आशावादी सन्देश देता है। श्री गंगाप्रसादजी पांडेय ऐसे विद्वान् समालोचक भी यह कहते हैं कि रंगभूमि में एक निर्दिष्ट आशावादी सन्देश है। पांडेयजी यह बताने का कष्ट नहीं करते कि यह निर्दिष्ट आशावादी सन्देश क्या है, और उसकी रूपरेखा क्या है, पर अभी जो हमने श्री अनुसूया प्रसाद के मत को उद्धृत किया, उसकी तथा इस प्रकार की समालोचनाओं की रोशनी में इसको समझना कठिन नहीं है कि ऐसे सन्देश से उनका इशारा किस तरफ़ है।

पांडेयजी गोदान की आलोचना करते हुए कुछ दर्द भरे लहजे में कहते हैं "गोदान में न तो रंगभूमि के समान जीवन का कोई निर्दिष्ट आशावादी सन्देश है, न प्रेमाश्रम की भाँति किसी रामराज्य का सैद्धान्तिक स्वप्न और न सेवासदन की तरह समाज सेवा का कार्यक्रम।" इस प्रकार पाँडेयजी का क्या आशय है यह स्पष्ट है। वे रंगभूमि में जिस आशावादी सन्देश को पाते हैं, वह निर्दिष्ट भी है और आशावादी भी। निर्दिष्ट यों है कि यह सन्देश गान्धीवादी Weltanschauung या विश्वदृष्टि में आस्थामूलक है, और आशावादी यों है कि यह सन्देश हमें बताता है कि इसी विचार तथा कर्म-पद्धति के अनुसरण से ही भारत

में, नहीं नहीं विश्व में स्वर्ण-विहान का अरुण राग दृष्टिगोचर होगा। रहा यह जो प्रतिज्ञात स्वर्ण विहान है यह मृगमरीचिका तथा सब्जबाग मात्र तो नहीं है कहीं यह आशावाद निर्दिष्ट और निश्चित होते हुए भी ऐसा तो नहीं है कि उसका आधार अवास्तविक होने के कारण यह सन्देश एक कल्पनामात्र तथा इस कारण त्याज्य तो नहीं है, इन प्रश्नों के सम्बन्ध में श्री पांडेयजी विशेष चिन्तित नहीं ज्ञात होते।

इसी कारण वे आगे चल कर यह बतलाते हैं कि गोदान में समस्याओं के समाधान का सुझाव न होने के कारण कथानक कुछ अपूर्ण सा अवश्य लगता है। जीवन भी तो अपूर्ण है, किन्तु उसमें पूर्णता की आकांक्षा उसकी आस्था और उस ओर का एक सन्देश अवश्य रहता है, जो गोदान में नहीं है। होरी की पराजय में आत्मा की विजय का वह आध्यात्मिक सन्देश नहीं है जो रंगभूमि के विजय या सूरदास में है।"

पांडेयजी ऐसे महानुभाव को वास्तविक हो या न हो एक आशावादी सन्देश अवश्य चाहिए। तभी तो वे यह मानते हुए भी कि जीवन अर्थात् वर्तमान भारतीय का जीवन अपूर्ण है, इस बात पर जिद करते हैं कि आशावादी और सो भी एक विशेष तरीके का निर्दिष्ट सन्देश हो। हम न तो आशावाद के विरुद्ध हैं और न हम उसमें निर्दिष्टता के ही विरोधी हैं, सच तो यह है कि इस प्रकार के सन्देश की अव्यक्त तथा सूक्ष्म मौजूदगी पर ही कला चरम सार्थकता प्राप्त कर सकती है, और अपने क्रान्तिकारी कर्तव्यों को अंजाम देकर जीवन को सुन्दरतर तथा सार्थकतर बना सकती है, पर ऐसा जो सन्देश हो उसके लिए सबसे बड़ी शर्त यह होनी चाहिए कि वह हो तो वास्तविकता के चट्टानी आधार पर स्थित, वह आशा होने के साथ-साथ ऐसी आशा तो हो कि कार्यरूप में अपने को वास्तविक प्रमाणित कर सके। नहीं तो वह तो धर्म की श्रेणी में चली जायगी, वह फिर एक drug या नशीला द्रव्य

हो जायगी जो जीवन की वास्तविकताओं के ऊपर विजय प्राप्त करने में सहायक न हो पायेगी, हाँ वह हमें भुलावे में भले ही रख ले।

श्री हरिभाऊ उपाध्याय भी रंगभूमि की प्रशंसा में शतमुख होकर कहते हैं "रंगभूमि का सूरदास मेरे हृदय में बैठ गया था। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह हिन्दुस्तान के स्वराज्य की कुञ्जी लेकर आया है। उसे पाकर ऐसा ज्ञात होता था मानो कोई खोई हुई चीज़ मिल गयी हो। मैंने उनका कर्मभूमि और गोदान भी पढ़ा है परन्तु दोनों रंगभूमि की होड़ के नहीं जँचे। गोदान मैंने उनकी अन्तिम कृति के योग्य आदर के साथ पढ़ा पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु नहीं मिली जो रंगभूमि में मिली थी। रंगभूमि में एक ग़रीब अन्धे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण आन्दोलन खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता है इसका वह एक नमूना था। गोदान में ऐसा कोई धारोदात्त पात्र नहीं मिलता।"

यह एक भक्त के उद्‌गार हैं, पर एक समीक्षक का काम बहुत ही कठिन है। उसे नीरक्षीर विवेक कर यह दिखाना पड़ता है कि अमुक रचना कहाँ तक कला की कसौटी पर ठीक उतरती है। श्री हरिभाऊ के अनुसार सूरदास भारत के स्वराज्य की जो कुञ्जी लाया है वह सचमुच कोई कुञ्जी है, या कुञ्जी का काग़ज़ी अक्स मात्र है जिससे ताला खुलना तो असम्भव है, पर जिसे जेब में रखकर कोई चाहे तो अपने को धोखा दे सकता है? आपात दृष्टि से देखने पर तो यही ज्ञात होता है कि यह कुञ्जी जिसको पाकर हरिभाऊजी समझते हैं कि उन्होंने सब कुछ पा लिया, वह तो पांडेयपुर ग़ाँव को भी सरकार द्वारा पृष्ठपोषित स्वदेशी पूँजीवाद के चङ्गुल से नहीं बचा सका, यहाँ तक कि सूरदास की झोपड़ी भी नहीं बची और बलुवे में उसकी जान तथा सैकड़ों दूसरे लोगों की जानें गयीं। हरिभाऊजी यह जो कहते हैं कि रंगभूमि उपन्यास यह बतलाता है कि आत्मबल से क्या प्राप्त हो सकता है, हमें माफ़

किया जाय पर हम तो रंगभूमि में आत्मबल को कुछ प्राप्त करते नहीं देखते। अवश्य प्राप्ति से मैं स्पष्ट प्राप्ति समझता हूँ वह चाहे नैतिक प्राप्ति हो या वास्तविक। नैतिक प्राप्ति भी वास्तविक हो। अवश्य यह साफ़ कर दिया जाता है कि वास्तविक से बिलकुल अलग किसी नैतिक प्राप्ति में मैं आस्था नहीं रखता।

जिस ज़मीन के लिए सारा झगड़ा था वह तो बची नहीं यदि बचती तो हम कहते कि हाँ आत्मबल ने कुछ प्राप्त किया, पर प्रेमचन्द-जी उपन्यास के अन्तिम अध्यायों में यह दिखलाते हैं कि सब के सब गाँव वाले बिखर गये हैं। कोई कहीं गया, कोई कहीं। नायकराम शहर का रास्ता लेता है, बजरंगी किसी अन्य गाँव में जाकर बसता है, भैरो कहीं और। मैं यह नहीं कहता कि हार हर क्षेत्र में बुरी चीज़ है। नहीं जैसा कि फ्रिड्रिक एँगेल्स ने कहा है 'ज़ोर के साथ लड़ाई के बाद जो हार होती है वह उतने ही महत्त्व का तथ्य है जितना कि आसानी से प्राप्त जीत।' पर पराजय के बाद यदि लड़ने वाले लोग थककर बैठ जायँ या बिखर जायँ, तो अवश्य ही वह पराजय किसी प्रकार अच्छी नहीं कही जा सकती। जहाँ पराजय का अर्थ यह है कि नये ढङ्ग से कार्य करने के लिए स्फूर्ति तथा प्रोत्साहन की प्राप्ति, वहाँ पराजय का अर्थ संग्राम के जीवन में एक नया पन्ना उलटना होता है। ऐसी पराजय पर हमें ग्लानि की अवश्यकता नहीं। ऐसी पराजय तो विजय की सूचक तथा उसकी कृष्ण वर्णा अग्रदूती मात्र है। ऐसी पराजय होते हुए भी हम कह सकते हैं नैतिक जीत हुई। नैतिक जीत माने कल्पना में जीत नहीं बल्कि नैतिक जीत माने ऐसी हार जो जीत की आशा देती है।

सर्वकाल के सर्वश्रेष्ठ क्रांतिकारी लेनिन ने ऐसी ही पराजय के संबंध में कहा था, 'बड़ी पराजय से ही क्रान्तिकारी दलों को तथा क्रान्तिकारी वर्ग को वास्तविक और हित कर सबक, चीज़ों को बुद्धियुक्त रूप से

समझने में मदद, ऐतिहासिक द्वंद्ववाद के सबक तथा राजनैतिक संग्राम को चलाने में योग्यता तथा दक्षता प्राप्त होती है। दुर्दिन में ही मित्रों की पहचान होती है। हारी हुई सेनाएँ अपने सबक अच्छी तरह सीखती हैं।'

सूरदास गोली का शिकार होकर मर गया, पांडेपुरवाले गाँव से निकाल बाहर किये गये, कोई बात नहीं, पर इस हार के फलस्वरूप वे यदि संगठित हो जाते, तथा आगे के संग्राम के लिये तैयार होते तब तो हम इस पराजय को स्वराज्य की कुञ्जी का प्रतीक समझते, तब हम इसमें पांडेयजी की तरह एक निर्दिष्ट न सही अनिर्दिष्ट आशा का सन्देश पाते, उस हालत में हम इसमें आत्मबल क्या प्राप्त कर सकते हैं, उसका नमूना पा सकते थे, पर जैसा कि कथानक मौजूद है, उसमें हम इस प्रकार का कोई भी उपादान नहीं पाते। उसमें ऐसा सोचना आत्म-प्रवंचना मात्र है।

हाँ यदि कोई यह कहे कि सूरदास की मृत्यु के बाद उसका जो सार्वजनिक स्मारक बना, यह उसके आत्मबल की विजय है, और यह कहकर तसल्ली कर ले, तो उसको हम इस आत्मप्रवंचना से नहीं रोक सकते, पर हम यह समझते हैं कि किस प्रकार के स्मारक का कोई विशेष मूल्य नहीं है।

हम सूरदास के चरित्र की विस्तृत आलोचना करेंगे, पर यहाँ इतना बतला दें कि जो गान्धीवादी सूरदास को गान्धीवाद का प्रतीक मान कर फूले नहीं समाते, गहराई से सोचने पर उन्हें रंगभूमि के उपसंहारों में गान्धीवाद की गौरववृद्धि की कोई बात नहीं मिलेगी।

व्यक्तिगत जीवन में केवल एक अर्द्ध-वास्तविक अर्द्ध-काल्पनिक नैतिक ज्योति बिखरा कर, ऐसी नैतिक ज्योति जो अपने इर्द गिर्द जनता को खींच लाकर कर्मशील नहीं कर पाती बिखरा कर मर जाना कहाँ तक अच्छा है, इस कूटतर्क में हम न पड़ेंगे, पर सार्वजनिक जीवन में इस

प्रकार की कथित नैतिक ज्योति या विजय निश्चित रूप से दो कौड़ी की है। ऐसी नैतिक विजय कल्पना में ही अच्छी है, वास्तविक जीवन में ऐसे नैतिक विजय का कोई मूल्य नहीं है, और न हो सकता है। हाँ वह कुछ लोगों को धोखे में रख सकती है।

हम जानते हैं कि हम रंगभूमि की यह जो समालोचना कर रहे हैं, वह बहुत ही अभिनव है। अब तक सब समालोचक एक दूसरे ही स्वीकृत विचार ideefixe के वशवर्ती होकर अपने वक्तव्य पेश करते रहे हैं। मैं बिलकुल ही एक नये आधार से चीज़ों को देख रहा हूँ। इस कारण इस मत का और बिशदीकरण किया जाना चाहिए।

आखिर क्या बात है कि सब के सब पाठकों तथा समालोचकों ने एक विशेष प्रकार के रंगीन चश्मे से रंगभूमि को देखा, और इस मोटी बात को भी न देखा कि पांडेपुर की ज़मीन जो सारे झगड़े या प्रयोग का केन्द्र थी, उसका तथा उसके निकाले हुए लोगों का क्या हुआ? ऐसी क्या बात हुई जिससे सभी लोगों ने रंगभूमि में एक अवास्तविक चीज़ देखी? अवास्तविक से मेरा मतलब ऐसी चीज़ से है जो उसमें नहीं है।

इस भ्रमोत्पादन के लिए कौन सी बात जिम्मेदार हैं? इसके लिए कौन जिम्मेदार है? मैं अब साफ़-साफ़ विषय पर आता हूँ। इन सारे भ्रमों के लिए स्वयं प्रेमचन्द ही ज़िम्मेदार हैं।

रंगभूमि के लेखक प्रेमचन्द असहयोग के आदर्शों से ओतप्रोत हैं। गोदान में उन्होंने जो संहत समाहित पूर्ण वस्तुवादी दृष्टिकोण का प्रदर्शन किया है, अभी उसके विकसित होने में विलम्ब है। उस परिष्कृत दृष्टिकोण प्राप्त करने के लिए अभी गान्धीवाद के और प्रयोगों की व्यर्थताओं को प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता है। अभी तो प्रेमचन्द की आँखों में गान्धीवाद के खुमार की लाली अवशिष्ट है, बल्कि सच कहा जाय तो रंगभूमि उसके भरपूर नशे में विभोर अवस्था में लिखित उपन्यास है।

दृष्टिगत (Subjective) रूप में रंगभूमि के कलाकार अभी गान्धीवाद के मन्दिर में पुजारी हैं। सूरदास की सृष्टि उन्होंने गान्धीवादी आदर्श के नमूने पर ही की है। इसी कारण वे उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय का ऐसा समावेश करते हैं कि वह आदर्श का मूर्त रूप हो जाता है। भैरो यह समझता है कि उसकी बीबी सुभागी सूरदास से फँसी है, वह बस इसी सन्देह पर उसके घर में आग लगा देता है, साथ ही सूरे की जन्म भर की कमाई जिसे उसने सार्वजनिक कल्याण के लिए कुएँ आदि खुदवाने के लिए रक्खा है लेकर चलता हो जाता है। सूरदास को विश्वस्त सूत्र से मालूम हो जाता है कि यह कुकृत्य किसने किया है, पर वह चुप रहता है। यहाँ तक कि जब भैरो के यहाँ से सुभागी उस थैली को फिर से चुरा कर उसके हवाले करती है, तो वह उसे लेने से इनकार करता है। यही नहीं, वह खुद अपनी इस थैली को चोर के घर पहुँचा देता है। यह अस्तेय ही नहीं, उससे एक कदम आगे की बात हुई।

सूरदास जिन शब्दों के साथ चोर को अपना माल लौटा देता है, वे भी बड़े मार्के के हैं। सुभागी से सूरदास कहता है 'यह मेरी चीज़ नहीं है, भैरो की चीज़ है। इसी के लिए भैरो ने अपनी आत्मा बेची है। महँगा सौदा लिया है। मैं इसे कैसे ले लूँ।'

इस प्रकार चोर के घर से माल वापस मिलने पर भी (अवश्य चोर की स्त्री के द्वारा की गई चोरी के कारण प्राप्त) उसे स्वयं जाकर फिर चोर के घर पहुँचा देना एक ऐसा दृष्टान्त है जिसके जोड़ की दूसरी मिसाल शायद हमारे पुराणों में भी न मिले। पर नहीं, इस प्रकार की एक दूसरी मिसाल अस्तेय के क्षेत्र में तो नहीं, पर दूसरे क्षेत्र में हमारे पुराणों में मौजूद है। वह यह है कि एक सती स्त्री ने अपने पति की आज्ञा से पति को अपने कन्धे पर रख कर वेश्या के घर में पहुँचा दिया था। यहाँ हमें इससे मतलब नहीं की जिस स्त्री ने ऐसा

किया था, उसने उचित कार्य किया था या नहीं, पर इस विषम में तो मुझे सन्देह नहीं कि वह सती निरवच्छिन्न (absolute) सतीत्व के माननेवालों का आदर्श है, और वह सती अपने इस सुकृत के कारण जिस परमलोक की अधिकारिणी हुई होगी, सूरा भी अपने इस कृत्य के कारण मरने के बाद भी उसी लोक में गया होगा। रहा जहाँ तक इस लोक की बात है, उसे हम बता सकते हैं। सूरा के इस प्रकार कृत्य से भैरो का हृदय भी नहीं परिवर्तित हुआ। बल्कि पूरा तथ्य जान लेने के बाद उसने सुभागी को घर से ही निकाल दिया, और जब सूरे ने सुभागी को अपनी झोपड़ी में आश्रय दिया तो उसने सूरे और सुभागी को बदनाम किया। इस बदनाम करने के कार्यक्रम में गाँववालों ने भी मदद दी। अन्त तक सुभागी को आश्रय देने की घटना ने इतना तूल पकड़ा कि सूरे पर एक विगर्हित स्त्री को रख लेने का मुकद्दमा चला, और उसे सज़ा हो गई। अवश्य उसे अपनी मियाद पूरी नहीं करनी पड़ी, शहर के कुछ परोपकारियों ने उसका जुर्माना अदा कर दिया, और वह छूट गया। जब सूरा जेल में था, उस समय किसी ने भैरो के घर में आग लगा दी। अब सूरे के पास तीन सौ रुपये थे। जेल से छुड़ा कर उसके स्वागत के लिए ये रुपये इकट्ठे किये गये थे, पर अधिकारियों की चालाकी से जुलूस के समय के पहिले ही सूरा चुपके से मोटर पर चढ़ा कर घर भेज दिया गया था। इस कारण जुलूस न निकाला जा सका, और जुलूस के उद्योक्ताओं ने ये रुपये सूरे के हवाले कर दिये।

जब सूरे को छूट कर भैरो के सर्वस्व के अग्निकांड में स्वाहा हो जाने की बात मालूम हुई तो उसने इन तीन सौ रुपयों को भैरो के हवाले कर दिया। इससे लेखक ने दिखलाया है कि भैरो का मलिन हृदय इस आन्तरिक निर्मलता से प्रतिबिम्बित हो गया। आज पहली बार उसे सूरदास की नेकनीयती पर विश्वास हो गया। अन्त तक भैरो

ने सूरे से कहा 'अब तक मैंने तुम्हारे साथ जो बुराई-भलाई की, उसे माफ़ करो। आज से अगर तुमसे कोई बुराई करूँ तो भगवान समझे।' भैरो ने अपनी स्त्री को निष्पाप जान कर उसे ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार रंगभूमि में सूरे की आमरण अथक चेष्टाओं से उसकी ओर से एक व्यक्ति का हृदय परिवर्तित होता है। पर इस एक व्यक्ति के हृदय को परिवर्तित करने में क्या केवल सूरे के उपकार था उसके द्वारा मुक्त नैतिक शक्तियाँ ही जिम्मेदार हैं, या अन्य लौकिक ऐहिक घटनाएँ हैं यह सन्देह का विषय है। इस भैरो के हृदय-परिवर्तन में कितनी आकस्मिक (अकारण से मंशा नहीं) घटनाएँ आकर काम करती हैं यह भी देखने लायक है।

सूरे को जेल की सज़ा होती है। पर कुछ परोपकारी आकस्मिक नहीं तो अप्रत्याशित रूप से उसका जुर्माना अदा कर देते हैं, और वह छूट जाता है। लोगों ने उसके जुलूस के लिए जो चन्दा इकट्ठा किया है वह एक अप्रत्याशित तरीके से उसके हाथ लगता है। राजा महेन्द्र कुमार चाहते हैं उसका जुलूस न निकले, इसलिए वे उस टेलीफोन से इस प्रकार रिहा कर गाँव पहुँचवा देता है। इस प्रकार वे रुपये बच जाते हैं और अन्त तक वे रुपये उसे मिलते हैं। ऐसा भी तो हो सकता था कि जेल के फाटक से उसका जुलूस न निकल पाया न सही। बाद को उसको मानपत्र वगैरह दिया जाता, और उसमें ये रुपये खर्च हो जाते। पर नहीं, ऐसा नहीं हुआ। फिर इस बीच में किसी ने भैरों के घर में आग लगा दी थी, और जिस समय भैरों के घर में आग लगी, उस समय भैरों आकस्मिक रूप से नशे में चूर कहीं पड़ा था, इसलिए उसकी सारी सम्पत्ति स्वाहा हो गई।

मैंने उन आकस्मिक या अप्रत्याशित घटनाओं में से कुछ ही को गिनाया है जिससे भैरों के हृदय परिवर्तन का दृश्य संभव हुआ। इनमें से एक भी घटना न घटित होती तो सूरे की नैतिक उच्चता के बावजूद

क्या होता कौन जाने ! भैरों के हृदय-परिवर्तन के ऐन पहिले उसके मन में जो विचार उठे थे, सौभाग्य से लेखक ने उन्हें चित्रित किया है, और हम उन्हें देख सकते हैं।

जब सूरा रुपये लेकर आया है उस समय वह सोच रहा है 'अगर इसका दिल साफ़ न होता तो मुझसे ऐसी बातें क्यों करता ? मेरा कोई डर तो इसे है नहीं। मैं जो कुछ कर सकता था कर चुका। इसके साथ तो सारा शहर है। सबों ने जरीबाना अदा कर दिया। ऊपर से कई सौ रुपये और दे गये। मुहल्ले में उसकी धाक फिर बैठ गई। चाहे तो बात की बात में मुझे बिगाड़ दे। नीयत साफ़ न होती तो अब सुभागी के साथ आराम से रहता। अन्धा है, अपाहिज है, भीख माँगता है, पर उसकी कितनी मरजाद है। बड़े-बड़े आदमी आवभगत करते हैं।...'

इस प्रकार के विचारों में एक प्रबलतर शक्ति के रोब में आ जाने की तथा उसकी शक्ति से घबड़ा कर उसके सामने घुटने टेक देने का उपादान भी है। यह हृदय-परिवर्तन कहाँ तक एक अनिवार्य तथा अपरिहार्य व्यक्ति के साथ समझौता है यह भी विचार्य है। फिर इस भैरो का हृदय-परिवर्तन कहाँ तक स्थाई हुआ, यह हम नहीं जान पाते क्योंकि इसके थोड़े ही दिन बाद सारे गाँव पर भयंकर संकट आता है, और सूरा मारा जाता है। भैरों के हृदय-परिवर्तन के स्थायित्व की बात पर कौतूहल इस कारण स्वाभाविक है कि रंगभूमि में हम कई बार यह देखते हैं कि सूरे पर व्यक्ति विशेष की तथा आमतौर से पाँडेपुर निवासियों की कृपा या प्रशंसादृष्टि रही, पर एक साधारण घटना से वातावरण बदल गया। सूरे को गाँववालों ने बारीबारी से साधु-दुष्ट फिर साधु फिर दुष्ट समझा।

पहले तो जगधर और भैरो दोनों गहरे मित्र थे। पर भैरों ने अकेले सूरे के रुपये चुरा कर दबा लिये इसलिए जगधर ने सूरे से इस चोरी

की बात की मुखबिरी की, और तब से उसका अनन्यप्रशंसक हो गया। उसने हर समय सूरे की तरफदारी की। जब भैरो घूम-घूम कर सूरे की दुश्चरित्रता पर गाँववालों को गवाह तैयार कर रहा था, उस समय पीछे से जगधर उनको फाड़ कर गवाही से अलग करता जाता था। पर जब इसी जगधर का लड़का विद्याधर सूरे के घर में रात के समय सुभागी को पकड़ते हुए धर लिया गया, और बहुत समझाने पर भी सूरे ने इसे नहीं छोड़ा और पुलिस के हवाले कर दिया, तो जगधर बहुत नाराज हो गया। तब से वह और तो और सूरे के चरित्र पर भी दोष लगाने लगा। इस प्रकार सूरे के सम्बन्ध में पाँडेपुरवालों का हृदय चक्रवत् परिवर्तित होता रहा। कौन जाने मौका मिलता तो आगे भैरो भी सूरे के सम्बन्ध में फिर करवट बदलता कि नहीं।

बहुत बढ़ाने पर भी तथा सब बातों को भूलने पर भी भैरो का ही एक मामला है कि जिस क्षेत्र में एक बड़ी हद तक उसका हृदय-परिवर्तन हुआ। पर यह बहुत छोटी बात है। इसका सामाजिक-राजनैतिक मूल्य इतना कम है, है भी कि नहीं सन्दिग्ध है। जहाँ भैरो का एक मामला है जिसमें हृदय-परिवर्तन होता है वहाँ दूसरी तरफ़ हम देखते हैं कि राजा महेन्द्रकुमार का मामला दूसरा ही है।

राजा महेन्द्रकुमार सूरदास से अदावत इस प्रकार मानते थे कि जब ईसाई पूँजीपति जानसेवक ने अपने सिगरेट के कारखाने के लिए सूरदासवाली ज़मीन माँगी तो कई कारणों से महेन्द्रकुमार ने इस ज़मीन को प्राप्त कराने में जानसेवक की मदद की। यह ज़मीन जानसेवक को दे दी गई पर इसके बाद सूरे ने इतना कुहराम मचाया कि राजा साहब बदनाम हो गये। राजा साहब थे यशोलिप्सु, और अब जिधर देखो उधर उनकी थुड़ी-थुड़ी होने लगी। फिर कई कारणों से ज़मीन देने का आर्डर भी मंसूख हो गया। यहीं से राजा और सूरे की लागडाट शुरू हुई। राजा की स्त्री इन्दु सूरे का पक्ष करती थी इससे भी

राजा का क्रोध बढ़ता गया। भैरो ने जब आकर राजा से कहा कि वह सूरे के विरुद्ध सुभागी को रख लेने का मुकद्दमा चलाना चाहता है, तो राजा साहब बहुत खुश हुए। मुकद्दमा राजा के ही इजलास में चला। राजा ने सूरे को छै महीने की सज़ा कर दी पर शहरवालों ने जुर्माना अदा कर उसे छुड़ा दिया। इस घटना ने भी उनके क्रोधानल में घृताहुति का काम किया। फिर जिस दिन पुलिसवाले पाँडेपुर गाँव को खाली कराने गये उस दिन राजा साहब ने अपने टेंट से मुआवजे के बीस हज़ार रुपये जनता को बाँटकर सुर्खरू बनना चाहा, पर उस दिन गोली चल गई और सूरा घायल हो गया। इसके बाद इसी घाव के फल-स्वरूप सूरे की मृत्यु हो गई पर मृत्यु के पहले सूरा कई दिन अस्पताल में पड़ा रहा।

जिन दिनों सूरा अस्पताल में पड़ा रहा उन दिनों राजा साहब पश्चात्तापग्रस्त होकर अस्पताल पहुँचे और कहा—'सूरदास, मैं तुमसे अपनी भूलों की क्षमा माँगने आया हूँ। अगर मेरे बस की बात होती तो मैं आज अपने जीवन को तुम्हारे जीवन से बदल लेता।'

इस प्रकार राजा साहब का सम्पूर्ण रूप से हृदय-परिवर्तन हो गया। इसके बाद सूरा मर गया। लोगों ने उसकी एक मूर्ति बनवा कर स्थापना की। 'आधी रात बीत चुकी थी! एक आदमी साइकिल पर सवार मूर्ति के समीप आया। उसके हाथ में कोई यन्त्र था। उसने क्षण भर तक मूर्ति को सिर से पाँव तक देखा, और तब उसी यन्त्र से मूर्ति पर आघात किया। तड़ाक की आवाज़ सुनाई दी, और मूर्ति धमाके के साथ भूमि पर आ गिरी। और उसी मनुष्य पर जिसने उसे तोड़ा था। वह कदाचित् दूसरा आघात करनेवाला था, इतने में मूर्ति गिर पड़ी। भाग न सका, मूर्ति के नीच दब गया। प्रातःकाल लोगों ने देखा तो राजा महेन्द्रकुमार सिंह थे। सारे नगर में खबर फैल गई कि

राजा साहब ने सूरदास की मूर्ति तोड़ डाली और खुद उसके नीचे दब गये।'

भैरों का तो हृदय-परिवर्तन स्थाई रहा, पर राजा महेन्द्रकुमार का हृदय परिवर्तित होकर भी फिर दूसरे ढङ्ग पर लग गया। इसीलिए तो मुझे सन्देह है कि यदि सूरा दस-पाँच वर्ष और जीता रहता और किसी मामले में वह भैरो के किसी स्वार्थ के आड़े आता तो उसका हृदय सम्भव है फिर से फिर जाता।

हम यह नहीं कहते कि हृदय परिवर्तन नहीं होता, या नहीं हो सकता, पर हमारा यह कहना है कि जिसे हृदय-परिवर्तन कहते हैं वह साधारणतः आवेशजनित परिवर्तन होता है। कोई मानसिक धक्का लगा, बस साधु चोर हो गया, या चोर साधु हो गया। पर ऐसे परिवर्तन विश्वासयोग्य नहीं होते, यह हम रङ्गभूमि के राजा महेन्द्रकुमार के उदाहरण से ही देख सकते हैं।

फिर सूरे की टेकनीक में भारत के स्वराज्य की कुञ्जी पाने के लिए जो बात जरूरी है, वह और ही है। सूरे की कार्यपद्धति को हम एक राजनैतिक सामाजिक अस्त्र तभी मानते, जब उसके त्याग, बलिदान, अहिंसा अस्तेय के कारण सिगरेट के कारखाने के डाइरेक्टर जानसेवक तथा सरकार के प्रतिनिधि मिस्टर क्लार्क आदि के हृदयों का परिवर्तन होता पर हम रंगभूमि में ऐसा होते नहीं देखते बल्कि घटनाएँ इसकी विपरीत दिशा में ही गयीं। पहले केवल सूरे की जमीन पर दाँत रहा, पर धीरे-धीरे सारे गाँव की ज़मीन ले ली गई। फिर भी कुछ लोग सूरे की टेकनीक में स्वराज्य की कुञ्जी देखें, और आत्मबल की विजय देखें तो यह नितान्त आश्चर्य की बात है। हाँ रंगभूमि प्रणेता ने यह दिखलाया है कि बीच में एकबार मिस्टर क्लार्क ने अपने पहले के आर्डर को मंसूख कर ज़मीन सूरे को दिला दी थी पर ऐसा सूरे की टेकनीक के कारण नहीं, बल्कि मिस्टर क्लार्क के साथ सोफिया द्वारा खेले गये

तिरिया चरित्तर के कारण हुआ था न कि और किसी उच्चतर कारण से।

रंगभूमि के सूरदास के कार्यों में स्वराज्य की कुञ्जी आविष्कार करनेवालों को इस उपन्यास के ४५वें अध्याय को ध्यान से पढ़ने का अनुरोध करूँगा। इस अध्याय में उन्हें अपने स्वराज्य का रूप दिखाई पड़ जायगा। कुछ अंश यों हैं—

'पाँडेपुर में गोरखे अभी तक पड़ाव डाले हुए थे। उनके उपलों के जलने से चारों तरफ धुँआँ छाया हुआ था। उस श्यामावरण में बस्ती के खंडहर भयानक मालूम होते थे।...लोग यहाँ आकर घंटों खड़े रहते और सैनिकों को क्रोध तथा घृणा की दृष्टि से देखते। इन पिशाचों ने हमारा मानमर्दन किया, और अभी तक डटे हुए हैं। अब न जाने क्या करना चाहते हैं। बजरंगी, ठाकुरदीन, नायकराम, जगधर आदि-आदि अब भी अपना अधिकांश समय यहीं विचरने में व्यतीत करते थे। घर की याद भूलते ही भूलते भूलती है। कोई अपनी भूली भटकी चीजें खोजने आता।...बच्चों को तो अपने घरों के चिह्न देखने में ही मज़ा आता। एक पूछता, अच्छा बताओ हमारा घर कहाँ था? दूसरा कहता, वह जहाँ कुत्ता लेटा हुआ है। तीसरा कहता, वहाँ तो बेचू का घर था, देखते नहीं यह अमरूद का पेड़ उसी के आँगन में था। दूकानदार आदि भी शाम सबेरे यहाँ आते और घंटों सिर झुकाये बैठे रहते, जैसे घरवाले मृतदेह के चारों ओर जमा हो जाते हैं। यह मेरा आँगन था, यह मेरा दालान था। यहीं बैठ कर तो मैं बही करता था।' इत्यादि।

इसी अध्याय के अन्त में जब गाँववाले बिखर जाते हैं, कोई कहीं जा रहा है तो कोई कहीं। वे इस विपत्ति को अप्रतिकार्य समझ कर हताश होकर अपना-अपना रास्ता पकड़ना चाहते हैं, तो वह दृश्य

बड़ा करुण है। यही वह स्वराज्य है, यही वह सफलता है जो उन्हें 'आत्मबल' की बदौलत प्राप्त होती है।

तो यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि यहाँ स्वराज्य की कुञ्जी का कहीं पता नहीं। हाँ उसका भ्रम अवश्य उत्पन्न होता है। यह भ्रम सभी समालोचकों के मन में उत्पन्न हुआ है। इसका क्या कारण है यह हम बाद को बतायेंगे, पर फिर एक बार बता दें कि इस प्रकार की समालोचना से प्रेमचन्द की कला का सही रूप से मर्मोद्घाटन नहीं हो सका। इस प्रकार की आलोचना की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें आत्मबल को एक विशेष तरह के लोगों की बपौती मानकर चला जाता है जो बिल्कुल ही निकम्मी और बेहूदी धारणा है। क्या आत्मबल सूरदास ऐसे लोगों में ही है जो दबाव मूलक राजनीति में विश्वास करते हैं, क्या क्रान्तिकारियों में आत्मबल नहीं होता? सबसे उत्कृष्ट नमूनों को लिया जाय क्या आत्मबल केवल गान्धी में ही है, लेनिन आदि में नहीं? कहीं विषय से बाहर न चले जायँ इस कारण इंगित से इतना ही कह कर हम आगे बढ़ जाते हैं। हम तो केवल इतना ही दिखलाना चाहते हैं कि सूरदास ने न तो स्वराज्य की कुञ्जी ही दी है, और न उसे आत्मबल का ठेका ही प्राप्त है। समालोचना का उद्देश्य जबर्दस्ती अपने विचारों की जयदुन्दुभि बजाना नहीं, बल्कि सामाजिक पृष्ठ-भूमि में रचना की कला का मर्मोद्घाटन करना है। मुझे दुःख है उक्त प्रकार के समालोचकगण प्रेमचन्द की कला को समझने में असमर्थ रहे। वे जब खुद ही उसे नहीं समझे तो दूसरों को क्या समझाते। मुझे तो ऐसा मालूम देता है कि इन महाशयों ने पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ने का कष्ट नहीं किया।

अब हम इस विषय पर आते हैं कि कथानक के द्वार सूरे की कुञ्जी की व्यर्थता सिद्ध होने पर भी क्या कारण है कि सब के सब पाठक

तथा समालोचक भ्रम में पड़ गये। इसका कारण प्रेमचन्द की अर्थात् रंगभूमि के प्रेमचन्द की कला में ही अन्तर्निहित है।

पहले ही मैं बता चुका हूँ कि रंगभूमिकार (गोदानकार नहीं) दृष्टगत रूप से (Subjectively) गान्धीवादी थे, पर उनकी कला दृश्यगतरूप से (objectively) वस्तुवादी थी। यदि कोई प्रेमचन्द के कथित गान्धीवाद युग के प्रभाव में लिखे हुए उपन्यासों अर्थात् प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प तथा रंगभूमि को समझना चाहे तो उसे उन दिनों के प्रेमचन्द की—उन दिनों के प्रेमचन्द इसलिए कह रहा हूँ कि गोदान के युग में वे ऐसे नहीं रह गये थे—कला की इस (Zwiespelt) या द्विविधता को स्मरण रखना पड़ेगा। गान्धीवाद के प्रभाव में लेखनी धारण करने के कारण प्रेमचन्द से सूरदास ऐसे पात्रों के चरित्र पर जितना भी रंग भरते बना भर दिया। हरिभाऊजी के शब्दों में अधिक से अधिक धीरोदात्त बनाया, अपनी जान में उन्होंने इसमें कोई कोरकसर नहीं रक्खी, पर वस्तुवाद का हाथ न छोड़ा। इसी दुधारा का नतीजा रंगभूमि आदि पुस्तकें हैं। इन उपन्यासों का ऊपरी रंग बिल्कुल गान्धीवादी है, पर ज़रा गहरे पानी में पैठ कर उनके उपसंहारों को पढ़िए, तो गान्धीवाद की पराजय ही दृष्टिगोचर होगी। इस प्रकार यह एक अजीब दुनिया हो गई।

हम नहीं कहते कि लेखक ने सज्ञान रूप से रङ्गभूमि में पाण्डेपुर-वालों को बिखरते तथा पाण्डेपुर को उजड़ा हुआ दिखलाया है। नहीं ऐसा नहीं। पर हुआ यह कि अपने गान्धीवादी आदर्श के बावजूद उन्होंने अपने पैरों को वस्तुवादी ज़मीन पर कसकर जमा रहने दिया, पैरों को वहाँ से नहीं हटाया। इसी वस्तुवादी ज़मीन पर पैर जमा कर ही वे गान्धीवादी पङ्खों के सहारे उड़े। जो नतीजा है सो सामने है।

प्रेमचन्द ने न रङ्गभूमि में न प्रेमाश्रम में न तो अन्य किसी इस प्रकार के उपन्यासों में गान्धीवादी टेकनीक की जीत दिखाई है।

अवश्य इन सभी में उन्होंने ऐसे वातावरण की सृष्टि की है कि वास्तविक हार होते हुए भी नैतिक जीत का आभास होता है, पर एक तो जहाँ उद्देश्य वास्तविक जीत है, वहाँ नैतिक जीत के आभास का कोई मूल्य नहीं। आभास इसलिए कह रहा हूँ कि कम से कम रङ्गभूमि में नैतिक जीत भी नहीं हुई। नैतिक जीत हम तभी मानते जब हारकर भी पाण्डेपुरवालों का सङ्गठन हो जाता वे इस बात को समझ जाते कि स्वदेशी पूँजीवाद और साम्राज्यवाद एक दूसरे के मित्र हैं, और इस बात को समझ कर वे आगे के संग्राम के लिए तैयार हो जाते। पर जैसा कि हम दिखा चुके, ऐसा नहीं हुआ।

मैं समझता हूँ अब भी रङ्गभूमि को ठीक तरह से समझने का युग नहीं आया। बाद की पीढ़ियाँ क्वचित् इस उपन्यास को जिस रूप में आज लोग उसे देखते हैं उससे भिन्न रूप में देखें। अब लोग उसमें गान्धीवाद की सामाजिक टेकनीक की सफलता या असफलता खोजते हैं, शायद लेखक ने भी यही दिखाने के लिए लिखा भी हो, पर कला में उस से कहीं अधिक हो सकता है जितना कि लेखक उसमें सज्ञान रूप से रखता है, कथानक का तक़ाज़ा कुछ और ही है। रङ्गभूमि की कथा संक्षेप में यही है न कि स्वदेशी पूँजीवाद अपनी दिग्विजय के दौरान में पाण्डेपुर पहुँचता है, वहाँ गाँववाले उससे चौंककर उसका विरोध करते हैं। सूरदास जो आत्मयथेष्ट ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था का आदी है, इसके विरुद्ध एक असंगठित तथा स्वतःस्फूर्त विद्रोह का नेतृत्व करता है। वह ऐसा किसी स्पष्ट धारणा को लेकर नहीं, बल्कि कई आर्थिक-सामाजिक-भावुकतागत कारणों से करता है।

मिलों की स्थापना के विरुद्ध सूरदास के विचार कुछ यों है—'साहब किरस्तान हैं। धरमसाले में तम्बाकू के गोदाम बनायेंगे, मंदिर में उनके मजदूर सोयेंगे, कुएँ पर उनके मजूरों का अड्डा होगा, बहू-बेटियाँ पानी भरने न जा सकेंगी।...ताड़ी शराब का परचार बढ़

जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को आकर घूरेंगे। कितना अधरम होगा? दिहात के किसान अपना काम छोड़ कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बात सीखेंगे, और अपने बुरे आचरन अपने गाँवों में फैलायेंगे। दिहातों की लड़कियाँ बहुएँ मजूरी करने आयेंगी, और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी।'

राजा साहब जो सूरदास को यह समझाने आये थे कि ज़मीन दे दो, उन्होंने सूरे को यह समझाया कि ये बुराइयाँ तो तीर्थस्थानों में भी होती हैं, पर सूरे के सामने एक न चली।

कहा जायगा सूरे के ये विचार गांधीवादी हैं। अवश्य हैं, पर ऐसा कहनेवालों को यह भी पता होना चाहिए कि गांधीजी के ये विचार उन्हीं के नहीं हैं। जिस समय पहले-पहल पाश्चात्य देशों में पूँजीवाद का उदय हुआ, उस समय उसका विरोध तरह-तरह के लोगों ने किया। मार्क्स-एंगेल्स ने १८४८ में प्रकाशित अपने कम्युनिस्ट मैनिस्फेटो में ऐसे विरोधों को गिनाया है। ऐसे विद्रोहियों में सबसे प्रमुख तो खैर सामन्तवादी थे, पर इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे परोपकारी अच्छे लोग भी थे जो किसी न किसी कारण से उदीयमान पूँजीवाद से घबड़ाये हुए थे। पर ये लोग पूँजीवाद का किस प्रकार समाजवाद द्वारा अर्थात् और भी उन्नततर तरीके के द्वारा विरोध कर विद्रोह को सफलतामंडित करना चाहिए, यह न समझ पाकर पीछे के युग में गोचारण और वेणुवादन के सामन्तवादी युग में लौट जाना चाहते थे, और तदनुसार उसी का नारा देते थे। इस प्रकार ये अपने अनजान में ही सामन्तवादी युग के समर्थक थे।

सूरदास ऐसे ही लोगों में हैं। वह कोई समाजवादी या क्रान्तिकारी नहीं, वह समाज के रथचक्र को पीछे की ओर घुमाना चाहता है। समाज के सम्बन्ध में उसके जो विचार हैं, जिनको हमने उसी के शब्दों

में व्यक्त किया, वे गान्धीवादी हैं, पर वे एक बीते हुए युग को प्रत्यावर्तित करना चाहते हैं, इसलिए वे प्रतिक्रियावादी हैं। वे जय प्राप्त नहीं कर सकते, वे हार कर ही रहेंगे, उनके हारने में ही भलाई है। यहाँ कोई सूरभक्त चौंक कर यह पूछ सकता है, तो क्या मेरा अभिप्राय यह है कि गांधीजी के आर्थिक सामाजिक विचार प्रतिक्रिया-वादी हैं? हाँ, मैं स्पष्ट रूप से कहता हूँ कि गांधीजी के या सूरदास के विचार आत्मयथेष्ट ग्राम्य आर्थिक पद्धति पर अवलम्बित हैं, वे अवश्य ही प्रतिगामी हैं। चाहे जितना भी आध्यात्मिक मुलम्मा चढ़ा कर ये विचार पेश किये जायँ, इन आर्थिक विचारों की प्रतिगामिता स्पष्ट है। अवश्य इस सम्बन्ध में यह बता दिया जाय। इधर कुछ दिनों से गांधीजी मिलों के सम्बन्ध में 'हिन्द स्वराज' (१९०८) में व्यक्त अपने विचारों से हट गये हैं, उन्होने अब मिलों को सहन करने की नीति ग्रहण कर ली है। उनके इस सम्बन्ध के विचारों का जो चित्र हमें 'अग्रवाल योजना' में मिलता है, वह 'हिन्द स्वराज' में व्यक्त विचारों से भिन्न है। अपने विचारों को अव्यावहारिक पाकर ही उन्होंने ऐसा परिवर्तन किया होगा। इसी अव्यावहारिकता के कारण ही हम 'रंगभूमि' के अन्तिम अध्यायों में यह देखते हैं कि पांडेपुर उजड़ गया, और उसी की छाती पर जानसेवक की मिल धुँआ फेंकती हुई मानो उद्धतरूप से खड़ी है।

मैं इस प्रकार चीजों को देख रहा हूँ, और भविष्य की पीढ़ियाँ रंग-भूमि को इस रूप में देखेंगी। इससे यह न समझा जाय कि मैं पूँजीवाद को आदर की दृष्टि से देखता हूँ। बिलकुल नहीं। मेरा वक्तव्य केवल इतना है कि पूँजीवाद सामन्तवाद के मुक़ाबले में उन्नततर पद्धति है। सामन्तवाद अपने अन्दर की असंगतियों के कारण पूँजीवाद को जगह छोड़ देने के लिए बाध्य है। पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वह एक ज़ुल्म करने वाली शोषक पद्धति के अलावा कुछ और है। रंग-

भूमि ही इसका प्रमाण है। किस प्रकार से लोगों को घरों से निकालकर खेतों-खलिहानों को उजाड़कर, जहाँ लोग पुश्त-दर-पुश्त पुश्तों से बसे हुए हैं, वहाँ से उन्हें निकालकर, बेकसों को गोलियों से उड़ाकर पूँजीवाद आकर आसन जमाता है यह रंगभूमि में सुन्दर रूप से चित्रित है। सामन्तवाद से पूँजीवाद में आने में जो बीच का परिवर्तनकाल (Transition period) पड़ता है, उसका रंगभूमि एक बहुत सजीव चित्र है। मजे की बात है कि उन दिनों प्रेमचन्द सामन्तवाद, पूँजीवाद आदि शब्दावलियों के सम्बन्ध में सज्ञान न थे, फिर भी उनके कैनवस पर इसका चित्र इसलिए सुन्दर और सजीव उतरा कि इधर-उधर ताँक-झाँक करते रहने पर भी तथा कहीं मिल विरोध, कहीं अहिंसा आदि से आँख लड़ाते रहने पर भी वे हर हालत में अपने वस्तुवादी लँगोटे के प्रति सच्चे रहे।

रंगभूमि में सूरदास जैसे पूँजीवाद के विरुद्ध असंगठित, भावुकता पर आधारित, धर्म का मुलम्मायुक्त विद्रोह का प्रतीक है, उसी प्रकार जानसेवक नये पूँजीवाद का प्रतीक है। जानसेवक एक आदर्श पूँजीवादी, एक पूँजीवादी Com'neil faut पर उसके चरित्र की आलोचना करने के पहले हम सूरदास तथा अन्य कुछ चरित्रों पर एक निगाह और डालेंगे।

यद्यपि प्रेमचन्द ने सूरदास चरित्र को हरिभाऊजी के शब्दों में जितना भी हो सका धीरोदात्त बनाया, पर वस्तुवादी कला के तकाजे के कारण उन्होंने इस व्यक्ति में भी ऐब दिखलाये हैं। मनुष्य प्रकृति द्विधायुक्त ambivalent है, इसलिए ऐसा दिखाना ज़रूरी था। जिस समय सुभागी ने पति द्वारा पीटी जाकर सूरे का आश्रय लिया, उस समय सूरे ने सोचा था—'मैं कितना अभागा हूँ, काश यह मेरी स्त्री होती, तो कितने आनन्द से जीवन व्यतीत होता। अब तो भैरो ने इसे घर से निकाल ही दिया, मैं रख लूँ तो इसमें कौन सी बुराई है। इससे

कहूँ कैसे, न जाने दिल में क्या सोचे ? मैं अन्धा हूँ तो क्या आदमी नहीं हूँ ! बुरा तो न मानेगी ? मुझसे इसे प्रेम न होता तो मेरी इतनी सेवा क्यों करती ?"

अवश्य सूरदास सम्हल गया, पता नहीं इस प्रकार के विचारों से उसकी धीरोदात्तता में बट्टा लग गया कि नहीं, पर उसकी इंसानियत में तो नहीं लगा। सच तो यह है कि कम से कम इस प्रकार एक बार सूरदास में कमज़ोरी आयी दिखाकर प्रेमचन्द ने सूरदास को एक रक्त-मांसस्पर्शहीन कल्पना होने से बहुत कुछ बचा लिया। एक अन्य मौके पर उसने ताव में आकर एक गाँववाले को मुँह चिढ़ाया। उसने क्रोध में आकर भैरो से उसकी चिढ़ कही—

भैरो, भैरो, ताड़ी बेच;
या बीबी की साड़ी बेच।

पर इतना ही नहीं जब भैरो ने उसकी पोटली चुरा ली थी और घर में आग लगा दी थी, उस समय जगधर ने आकर उससे पूछा था कि उसके रुपये चोरी गये कि नहीं। इस पर उसने कहा, नहीं। कलाकार की निःस्पृहता से प्रेमचन्द ने यह दिखलाया कि सूरे ने इस प्रकार जो इनकार किया कि उसके रुपये नहीं उठ गये, इसमें यह परोपकारी भावना नहीं थी कि भैरो चोरी में फँस जायगा। बात कुछ और ही थी। "अन्धे भिखारी के लिये दरिद्रता इतनी लज्जा की बात नहीं थी, जितना धन। सूरदास जगधर से अपनी आर्थिक हानि गुप्त रखना चाहता था...भिखारियों के लिए धन-संचय पाप-संचय से कम अपमान की बात नहीं। बोला— मेरे पास थैली वैली कहाँ ! होगी किसी की ! थैली होती तो भीख माँगता ? जगधर ने बहुत जिद की, फिर भी सूरे ने कहा—साड़े पाँच रुपये तो कभी जुड़े नहीं, साड़े पाँच सौ कहाँ से आते ?

इस प्रकार सूरे ने सरासर झूठ कहा—और ऐसा किसी उदात्त उद्देश्य को लेकर नहीं बल्कि उसी कारण से कहा जिस कारण से सभी झूठ बोलते हैं, अर्थात् अपने एक ऐब पर पर्दा डालने के लिए।

और आगे चला जाय। जिस समय सुभागी बाद को चलकर इन्हीं रुपयों को चोर के घर से छिछोरपन से ले आयी और सूरे को रुपये दिये तो सूरा ने एक मौखिक प्रतिवाद के बाद रुपये रख लिये थे, जब उसके घर में जगधर, वह तथा सुभागी हँसी करती हुई भैरो के द्वारा पकड़ ली गयी, तभी उसने जाकर इस धन को वापस किया, और उल्लूपने से यह भी बता दिया कि सुभागी ने ये रुपये उसे पहुँचाये थे।

इस प्रकार सूरा कोई आदर्श ही आदर्श नहीं है। वह एक मनुष्य है। अच्छा ही है कि वह ऐसा है, नहीं तो एक पुलात मात्र होने से सारा उपन्यास ऐंठकर रह जाता क्योंकि वह उपन्यास का केन्द्र है।

यह तो हुआ सूरे के व्यक्तिगत चरित्र का उद्घाटन, अब उसके सामाजिक राजनैतिक व्यक्तित्व पर दो बातें। मैंने इस सम्बन्ध में सूरे पर जो कुछ कहा है, उससे यह भ्रम हो सकता है कि वह अपने अनजान में केवल सामन्तवादी व्यवस्था को फिर से लौटा लाने का (अवश्य भावुकता तथा धर्म का मुलम्मा चढ़ाया हुआ) एजेण्ट मात्र है, पर यह बात नहीं! उसके व्यक्तित्व में, उसके सामाजिक आर्थिक विचारों में प्रतिगामित्व का यह उपादन होने पर भी, उसके चरित्र में एक अत्यंत क्रान्तिकारी उपादान है। वह है पूँजीवाद के मनमानेपन, उसके अत्याचारी तरीकों का विरोध। सूरदास के चरित्र में ये दोनों उपादान इतने खिल्तमिल्त हो गये हैं कि इनको अलग करना टेढ़ी खीर है। सच तो यह है कि उसका प्रतिगामी चरित्र उसके विचारों तक ही सीमित रहता है। सफलता के बाद इन विचारों को जब उसे कार्यरूप में परिणत करने का मौका मिलता, तभी उसका प्रतिगामी चरित्र खुलता, पर अभी

तो कार्यक्षेत्र में वह पूँजीवाद के विरुद्ध चाहे जिस उद्देश्य को लेकर हो, संग्राम ही कर रहा था। इसलिए उसके चरित्र का क्रान्तिकारी पहलू ही हरकत में आ रहा था। इसी कारण उस पर लोग इतने मुग्ध हो गये हैं। सूरदास के ऐतिहासिक प्रतीक गान्धीजी के चरित्र में ये दो उपादान इसी रूप में हैं। इस दृष्टि से देखने पर सूरदास की चरित्र-सृष्टि करने में प्रेमचन्द ने कमाल कर दिया इसमें सन्देह नहीं।

सूरदास अहिंसा का अनन्य उपासक है। एक अन्धे-अपाहिज के लिए यह स्वाभाविक बात भी थी। वह अहिंसा का इतना उपासक है कि ऐसे समय में भी अहिंसा की सलाह देता है जब अहिंसा कायरपन मात्र है जिस समय जानसेवक का लड़का प्रभुसेवक ताव में आकर नायकराम को मारकर चला जाता है, उस समय किसी भी दृष्टि से नायकराम की ओर से अहिंसा कायरपन ही होती, नायकराम मन ही मन तय करता है कि वह इस अपमान का बदला लेगा, पर सूरा ऐसे समय में भी अहिंसा का पाठ पढ़ाता है। कहता है—वैर बढ़ाने से कुछ फायदा न होगा। तुम्हारा तो कुछ न होगा, लेकिन मुहल्ले के सब आदमी बँध जायेंगे।' अब यह पूछा जा सकता है कि क्या मुहल्ले के आदमियों के बँध जाने के डर से एक प्रबल के विरुद्ध हाथ न उठाना अहिंसा है? तो कायरपन क्या है? क्या यही धीरोदात्तता है?

एक बार उसी ज़मीन के सम्बन्ध में सरकार से झगड़े के सिलसिले में पुलिस और जनता में मुठभेड़ होने की नौबत आई। जनता ने कहा 'हम देवता नहीं हैं, हम तो जैसे के साथ तैसा करेंगे। उन्हें भी ग़रीबों पर जुल्म करने का मज़ा मिल जाय।' यह कह कर वे लोग पत्थरों को उठा उठा कर पटकने लगे। 'तब इस अन्धे ने वह काम किया जो औलिया ही कर सकते हैं। उसने ज़मीन से एक बड़ा सा पत्थर का टुकड़ा उठा लिया, और उसे अपने माथे के सामने रखकर बोला, 'अगर तुम लोग अब भी मेरी बिनती न सुनोगे, तो इसी दम

इस पत्थर से सिर टकरा कर जान दे दूँगा। मुझे मर जाना मंज़ूर है, पर यह अंधेर नहीं देख सकता।' उसके मुँह से इन बातों का निकलना था कि चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया।'

ये अहिंसावादी भी अजीब खुदा के बन्दे होते हैं, जब सरकार या शासकवर्ग की तरफ़ से ज़ुल्म होता है, निहत्थों और बेकसों पर गोलियाँ चलाई जाती हैं, तो ये ज़बानी प्रतिवाद कर फिर समझौते के नाम पर आत्मसमर्पण कर देते हैं, पर जब इन्हीं जुल्मों से ऊबकर ग़रीब या बेकस चक्का या ढेला भी उठा लेते हैं, तो फौरन इनको दर्दे सर होता है, और ये उनके सामने माथा टकरा लेने की या अनशन की धमकी देते हैं। इस दृष्टि से देखने पर सूरे का चित्र गान्धीवादी अहिंसा का अच्छा अक्स खींचता है।

सूरा इसी प्रकार विद्रोही जनता को विद्रोह से रोकता हुआ मेजिस्ट्रेट की गोली से मारा जाता है। फिर क्यों न गान्धीवादीगण उस पर निसार हों। इसी कारण हम अपने मित्र गान्धीवादी समीक्षक परम विद्वान् श्री रामनाथ 'सुमन' को कहते पाते हैं—

'कला और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से रंगभूमि प्रेमचन्द का मास्टरपीस है। वह मानव जीवन का एक व्यक्तित्व और एक सत्य प्रदान करता है। वह शरीर पर आत्मा की विजय का शंखनाद है। वह सम्पूर्ण जीवन का एक चित्र और उस चित्र में चिरन्तन तत्त्व की कला का प्रस्फुरन है। पर पिछले वर्षों ने प्रेमचन्द के जीवन पर जो प्रभाव डाला था, उसका प्रतिनिधि चित्र गोदान है। इसमें रंगभूमि की भाँति कोई निर्दिष्ट फ़िलासफ़ी नहीं है, कर्मभूमि की तरह समाज-क्षेत्र की कोई स्ट्रेटजी नहीं है, और न 'सेवासदन' की भाँति समाज सेवा का स्पष्ट कार्यक्रम है। इसमें केवल चित्र हैं और समस्याएं हैं ..। होरी की पराजय में व्यक्ति की आत्मा की विजय का वह सन्देश नहीं है जो रंगभूमि में है।'

हम पहले ही बता चुके हैं यह व्यक्ति सत्य तथा आत्मा की विजय किस प्रकार अवास्तविक, रंगभूमि के नतीजों को भूलकर उड़ान भरने का परिणाम है। उन्हें यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। रहा रंगभूमि प्रेमचन्द की सर्वोत्तम रचना है या नहीं, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

सूरदास अहिंसा पर विश्वास करता है, पर एक जगह उसे हम दूसरे ही रूप में पाते हैं। जिस समय एक दिन रात को सुभागी पर बुरे उद्देश्य से हमला करते हुए घीसू और विद्याधर पकड़े गये थे, उस समय मुहल्लेवालों ने बहुत समझाया पर सूरदास ने इन लड़कों को पुलिस के हवाले कर तथा सज़ा करवाकर ही चैन लिया है। उसने किसी की एक न मानी। उसकी क्षमा तितिक्षा, अहिंसा का कहीं पता नहीं रहा। क्या इस मामले में सूरा गान्धीवाद का सही रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करता? क्या यहाँ पर प्रेमचन्द गांधीजी के व्यक्तित्व का अक्स नहीं उतार पाये, और बहक गये? नहीं, इसके विपरीत इससे सूरा गांधीजी का और भी सही और समग्र प्रतिनिधि हो जाता है। गांधीजी की अहिंसा का भी तो यही हाल है। वह क्या है और क्या नहीं, इसे कोई जान नहीं सकता। दूसरे का किया हुआ अनशन भी हिंसा हो सकता है, पर गांधीजी चाहे वाडाला में एक बोरा भर नमक लेकर भागें तो वह अहिंसा है। असली बात यों है कि गांधीजी जिसे अहिंसा कह दें, वह अहिंसा है, बाकी सब हिंसा है। पराधीन भारत में कोई ढेला भी चलावे तो वह हिंसा है, पर गांधीजी के द्वारा तैयार किये हुए स्वतंत्र भारत के चित्र में सेना रहेगी! सीतारमैया कहते हैं, अहिंसा अंग्रेज़ों के लिए है, मार्क्सवादियों के लिए नहीं। इस प्रकार सैकड़ों असंगतियाँ दिखलाई जा सकती हैं। एक और तथ्य बताया जाय। कौंसिल-असेम्बली के कांग्रेसी सदस्यों में प्रायः बहुत से अपने को गान्धीवादी परिणामतः सत्य और अहिंसा का उपासक

बताते हैं। ये ही लोग प्रति वर्ष २६ जनवरी को पूर्ण स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा लेते हैं, उधर कौंसिल-असेम्बली में दाखिल होने के पहले दिन राजभक्ति की शपथ लेते हैं। तो इन दोनों शपथों में से कोई न कोई शपथ झूठी होगी। पर इस प्रकार झूठी शपथ लेने में उनके सत्य में कोई फर्क नहीं आता। सत्य के एक मात्र ठेकेदार जो ठहरे! असली बात यों है कि सत्य और अहिंसा का केवल मुलम्मा है, असली साधन तो दबावमूलक राजनीति है।

सूरदास की सबसे बड़ी असफलता है कि उसके मरते समय मिठुआ भी उससे नाराज़ था। उसका कहना था 'दादा अब मुँह न खुलवाओ। परदा ढका रहने दो। मुझे चौपट करके जा रहे हो। हमारी दस बीघे की मौरूसी ज़मीन थी कि नहीं, उसका मावजा दो पैसा, चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें से मेरे हाथ क्या लगा? घर में भी मेरा कुछ हिस्सा होता कि नहीं? हाकिमों से बैर न करते तो क्या घर के सौ न मिलते?" फिर मिठुआ ने यह कहा था कि वह पुतली घर में आग लगायेगा। समझ में नहीं आता आत्मबल की विजय कहाँ हुई?

इससे अधिक सूरदास के चरित्र पर आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। उसके सम्बन्ध में इतना कह देना यथेष्ट होगा कि वह अपने में गान्धीवाद को काफ़ी अच्छी तरह मूर्त करता है। उसकी कमजोरियाँ असंगतियाँ, दुर्बलताएँ उसके चरित्र के निर्माण में बाधक न होकर उसे और भी जीवन प्रदान कर गांधी का मूर्त रूप बना देती हैं।

इसी उपन्यास में एक दूसरा पात्र विनय है। आपात दृष्टि में वह भी गान्धीवाद को मूर्त्त करता है। पर इतनी सफलता के साथ नहीं जितना कि सूरदास। विनय एक राजा का इकलौता लड़का है, पर वह समझता है कि उसमें सेवाभाव है, और इसी धारणा के वशवर्ती होकर

वह विपुल विश्व में अपने प्रयोग करने या अपने साथ प्रयोग करने निकल पड़ता है। असल में वह एक petty-bourgeois philistine है, जैसे कि उच्च तथा मध्यम वर्ग के परोपकारीगण होते हैं। यह परोपकारी शब्द हमारा नहीं है। जब विनय जेल से भागने के बाद भीड़ के पीछे होना चाहता है, उस समय नायकराम उससे कहता है—'क्या अभी तक परोपकार से जी नहीं भरा?' थोड़ी बात पड़ते ही उसकी कलई खुल जाती है, और अन्त तक वह डान क्विक्जाट, डान जुमान, हैमिलेट और सेन्ट आसीसी की अजीब खिचड़ी के रूप में हमारे सम्मुख आता है। कभी वह यह है, कभी वह। वह खुद ही नहीं जान पाता कि वह है क्या। उसकी प्रेमिका सोफिया उसकी रिहाई के लिए आज्ञापत्र लाती है, पर वह छूटने से इनकार करता है, पर कुछ ही देर बाद नायकराम के इस झाँसे में आकर कि उसकी माँ बीमार है दीवार फाँद कर निकल जाता है। स्मरण रहे वीरपाल के कहने पर उसने जेल से भागना यह कह कर इनकार किया था कि यह गलत है। वह अहिंसा पर विश्वास रखता है पर जब अपनी प्रेमिका को जनता के हाथों खतरे में पड़ते देखता है तो जनता के नेता पर गोली चला देता है। वह एक अवसर पर जनता को अहिंसात्मक रहने के लिए कहता हुआ जनता द्वारा व्यंग का पात्र बनता है। इस पर वह ताव में आकर अपने को गोली मार लेता है।

विनय गान्धीवाद के एक हिस्से पर पूर्ण विश्वास रखता है। वह हिस्सा है वर्गसमन्वय। तरह-तरह की आत्मप्रवंचनाओं से वह अपने इस विश्वास को बल पहुँचाता है। उसकी प्रेमिका सोफिया से उसे अलग करने के विचार से विनय को उसकी माँ रानी जाह्नवी उसे उदयपुर रियासत में प्रजा में काम करने भेजती है। वहाँ उसे अनुभव होता है कि रियासत की ओर से प्रजा पर जुल्म होता है, प्रजा पिस रही है। वह स्वयं अन्यायपूर्वक जेल में डाल दिया जाता है। उसे जेल से छुड़ाने के

लिए विद्रोही नेता आता है। वह छूटने से इनकार करता है। उल्टे रियासत के सम्बन्ध में एक गान्धीवादी फिलिस्टिन के ही उपयुक्त शब्दों में कहता है, अगर तुम्हारी बातें अक्षरशः सत्य भी हों, तो भी मैं ऐसा काम न करूँगा जिससे रियासत की बदनामी हो।'

लड़ने तो रियासत से चले हैं और यह चाहते हैं कि उसकी बदनामी न हो, यह क्या धीरोदात्त आदर्श है ? क्या आत्मा के गौरव का शंखनाद है ? इसे चाहे जो भी ऊँचा नाम दिया जाय यह भावना शासक वर्ग के हित में। कुछ सन्देह रहा हो तो विनय आगे क्या कहता है सुनिए। वह कहता है 'मुझे अपने भाइयों के हाथ से विष का प्याला पीना मंजूर है, पर रोकर उनको संकट में डालना मंजूर नहीं। इस राज्य को हम लोगों ने सदैव गौरव की दृष्टि से देखा है, और महाराजा साहब को आज भी हम उसी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वह उन्हीं साँगा और प्रताप के वंशज हैं जिन्होंने हिन्दू जाति की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। हम महाराज को अपना रक्षक, अपना हितैषी, क्षत्रियकुलतिलक समझते हैं। उनके कर्मचारी सब हमारे भाई-बन्द हैं। फिर यहाँ की अदालत पर क्यों न विश्वास करें ? वे हमारे साथ अन्याय भी करें तो भी जबान न खोलेंगे। राज्य पर दोषारोपण करके हम अपने को उस महान वस्तु के अयोग्य सिद्ध करते हैं जो हमारे जीवन का लक्ष्य और इष्ट है।

वर्गसमन्वय के साथ-साथ कैसी बड़ी-बड़ी बातें हैं !

कायरता और आत्मप्रवंचना की क्या अच्छी संगत है।

विनय के सम्बन्ध में कायर शब्द कदाचित् किसी धीरोदात्त पाठक को अवाञ्छित ज्ञात हो इसलिए याद दिला दें कि कैसे जब एक झाँसे पर वह नायकराम के साथ जेल से भागने को तैयार हो गया, तो भागते समय उसकी घिग्घी सी बँध रही थी। फिर उसके बाद उसने जाकर किस प्रकार सर्दार साहब से सफ़ेद झूठ कहा कि उसे श्री मती क्लार्क का पता

नहीं, जब कि सब पता था। उसके विचार थे : सब हमारे भाई हैं, शोषित और शोषक दोनों इसलिए laissez faire सबको समान अधिकार, status quo जैसा है रहे, हाँ कुछ दया धरम से काम लेना चाहिए, धनियों को चाहिए कि मज़दूरों के ट्रस्टी बन जायँ ! प्रेमचन्द ने इसी पुस्तक में दिखलाया है कि किस प्रकार अंग्रेज़ रेज़िडेन्ट का नाम सुनते ही इस क्षत्रियकुलतिलक साँगा और प्रताप के वंशज का डर के मारे बुरा हाल हो जाता है, किस प्रकार वह प्रजा पर जुल्म करता है। इस प्रकार उपन्यासकार ने विनय के व्याख्यानों में भले ही वर्गसंमन्वय के पक्ष को दिखलाया हो, पर वस्तु के क्षेत्र में वे वास्तविकता को प्रदर्शित करने में नहीं चूके। रंगभूमि में भारतीय रयासतों को उनके सही रंग में दिखलाया गया है।

वीरपाल के शब्दों में रियासत के राजा तथा कर्मचारी 'हैं हमारे ही भाई बन्द, पर हमारी ही गरदन पर छुरी चलाते हैं। किसी ने ज़रा साफ कपड़े पहने, और ये लोग उसके सिर हुए। जिसे घूस न दीजिए वही आपका दुश्मन। चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरों में आग लगाइए, गरीबों का गला काटिए, कोई आप से न बोलेगा। बस कर्मचारियों की मुट्ठियाँ गरम करते रहिए। दिन दहाड़े खून कीजिए, पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जायेंगे, आप के बदले कोई बेकसूर फाँसी पर चढ़ा दिया जायगा। कोई फरियाद नहीं सुनता। कौन सुने, सभी एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। यह समझ लीजिए कि हिंसक जन्तुओं का गोल है, सबके सब मिल कर शिकार करते हैं और मिल-जुल कर खाते हैं। राजा है, वह काठ का उल्लू। उसे विलायत में जाकर विद्वानों के सामने बड़े-बड़े व्याख्यान देने की धुन है। मैंने यह किया और मैंने वह किया। या तो विलायत की सैर करेगा या यहाँ अंग्रेजों के साथ शिकार खेलेगा। सारे दिन इन्हीं की जूतियाँ सीधी करेगा, इसके सिवा उसे कोई काम नहीं, प्रजा जिये या मरे।"

प्रेमचन्द के चित्रण से यह ज्ञात होता है कि उन्हें रियासती प्रजा से कितनी अगाध सहानुभूति है, वे अन्य मामलों में वैयक्तिक रूप से (subjectively) इस समय तक गान्धीवादी होने पर भी कम से कम रियासतों के मामले में वर्गसमन्वय, ट्रस्टीशिप तथा रामराज्य में विश्वास नहीं रखते थे। पर विनय रखता था। कार्य रूप में तो वह इससे कहीं आगे बढ़ जाता है। गया था रियासती प्रजा की सेवा करने पर किसी स्पष्ट विचार धारा का अधिकारी न होने के कारण वह सैकड़ों घरों का उजड़वा कर लौटता है। वह काफी तजर्बा प्राप्त करने के बाद कहता है 'मुझे अपनी भूल मालूम हो गई, मैं समझता था प्रजा बड़ी सहनशील और शान्तिप्रिय है। अब ज्ञात हुआ वह नीच और कुटिल है।" विनय असल में कभी जनवादी था ही नहीं। जिस समय सोफी को विद्रोही भगा ले गये उस समय उसने रियासत तथा क्लार्क के दुष्कृत्यों में घुल कर छिपा लिया। यहाँ तक कि रियासत का दाहिना हाथ हो गया। वह एक अजीब चरित्र है। पर प्रेमचन्द के चार उपन्यासों में हम इसी व्यक्ति को विभिन्न रूप में पाते हैं। प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प में वह क्रमशः प्रेमशङ्कर, विनय, अमरकान्त, चक्रधर के रूप में मौजूद है। पर रंगभूमि में ही यह पात्र अपनी पूरी philistinism में प्रकट होता है। एक बार तो वह अपनी माँ के सामने तलवार उठा कर यह कहते हुए आत्महत्या का प्रयास करता है कि "अम्मा, इस योग्य तो नहीं हूँ कि आप का पुत्र कहलाऊँ लेकिन अपनी अन्तिम आज्ञा को शिरोधार्य करके अपनी सारी अपकीर्ति का प्रायश्चित किये देता हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिए।' पर उसके हाथ की तलवार पकड़ ली गई। वह आत्महत्या न कर सका। उसको लोगों में जब आशिक आदि कह कर दुत्कारा तो उसने यह कह कर अपने को गोली मार ली कि 'क्या आप देखना चाहते हैं कि रईसों के बेटे क्योंकर प्राण देते हैं? देखिए।" यह अपने

रूप की चरम सीमा है। इस नौजवान रईस को न जीना आया न मरना। उसने जनम भर कुछ ऐसे विचारों को लेकर चलना चाहा जो उसके लिए बहुत ही बोझिल थे, फिर इसमें आ पड़ा प्रेम, अब तो बिल्कुल पगहा टूट गया, कुछ तारतम्य नहीं रहा। अन्त में वह मरा भी तो उस तरह से। फिर भी प्रेमचन्द ने इस व्यक्ति के जीवन का बड़ी ही सहानुभूति के साथ-चित्रण किया है। ऐसा शायद इस कारण किया हो कि विनय कुछ भी हो गान्धीवादी विचारों को लेकर चलने कीदु चेष्टा तो करता है। परलेखक की इस सहानुभूति से उसके चरित्र की दुर्बलता उसकी मध्यवर्गीय जनोचित ढुलमुलयकीनी, उसकी कै करा देनेवाली विशेषताएँ और भी स्पष्ट हो गई है। जिन चार उपन्यासों के हमने अभी नाम गिनाये उनमें रंगभूमि उपन्यास अवश्य ही उच्चतर कोटि का है और गान्धीवाद को सबसे अधिक सफलतापूर्वक चित्रित करता है, केवल इसलिए नहीं कि इसमें हम विनय के चरित्र को पूर्ण रूप से उद्घाटित देखते हैं, बल्कि इसलिए कि इस उपन्यास में और उपन्यासों की तरह विनय के दुर्बल चरित्र से ही गान्धीवाद का प्रतिनिधित्व नहीं कराया गया है, इसमें सूरदास ऐसा चरित्र इस काम को अंजाम देता है। स्वाभाविक रूप से यह पुस्तक गान्धी-युग का अधिक सफल चित्र है।

यह आश्चर्य की बात है कि कुछ समालोचक उपन्यासकार की सहानुभूतिमूलक तूलिका से धोखे में आकर विनय को भी धीरोदात्त समझ बैठे हैं। शायद वे उसके 'आत्मबलिदान' से धोखे में आ गये। पर जिस परिस्थिति में वह 'आत्मबलिदान' हुआ, उसमें उसे आत्महत्या से अधिक 'गौरव' प्रदान करना गलत होगा।

रंगभूमि में विनय अकेला फिलिस्टीन हो, ऐसी बात नहीं। वह तो खानदानी फिलिस्टीन है। उसका पिता राजा भरतसिंह, उसकी मा रानी जाह्नवी, उसकी बहिन इन्दु उसकी प्रेमिका सोफिया ये सब उच्च

तथा मध्यवित्तवर्ग के अन्दर की सड़ाँध के विभिन्न प्रतिनिधि हैं। सोफिया का भाई प्रभुसेवक भी एक नरम किस्म का फिलिस्टीन है। ये लोग सब समझते हैं कि ये दुनिया की बहुत भलाई कर रहे हैं, बड़ा त्याग कर रहे हैं, वे एक हद तक त्याग करते भी हैं, पर समाज की गति के नियमों से, उसके द्वन्द्वात्मक विकास से अपरिचित होने के कारण, और जिस काम को वे उठाना चाहते हैं अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा वर्ग से उसके अयोग्य होने के कारण वे केवल और गड़बड़ी पैदा करके विलीन हो जाते हैं। जिस समय वे समझ रहे हैं कि वे बड़ी सेवा कर रहे हैं, उस समय वे केवल अपने अनर्गल, परस्पर सम्बन्ध-विहीन प्रयोग मात्र ही कर रहे हैं, ऐसे प्रयोग जिन्हें वे शायद सत्य का प्रयोग कहें। बात यह है कि इन सब लोगों ने लोकसेवा को अपनाना चाहा है, पर ये लोक कौन हैं इसकी उन्हें तमीज़ नहीं, इसमें वे लोक के द्वारा परिचालित नहीं होते, वे इस मामले में केवल स्वेच्छा से परिचालित होते हैं। इसका नतीजा है धींगाधींगी, कल्याण के बदले अकल्याण। ऐसी धींगाधींगी के साथ उनके जीवन में और भी धींगाधींगियाँ हैं, नतीजा है मान्यताओं तथा मूल्यों की क़यामत, महाप्रलय।

आइए राजा भरतसिंह से शुरू किया जाय। रंगभूमि में वे लोक-सेवक विनय के सुयोग्य पिता के रूप में प्रवेश करते हैं। अभी न विनय की कलई खुली, न उनकी। पर जब वे सुनते हैं कि विनय जाकर रियासत में कैद हो गया है, तो वे रानी से छिपाकर नायकराम को उसे छुड़ाने के लिए भेजते हैं। खैर एक पिता में यह कमज़ोरी बड़ी चीज़ नहीं, पर आगे चलकर हम देखते हैं कि जब विनय की कार्रवाइयों से रियासत पर आँच-सी आने लगती है तो वे अलग कमरे में विनय को बुला कर कहते हैं "मेरी तुमसे विनीत याचना है कि तुम स्पष्ट रूप से अपने को सेवकदल से पृथक् कर लो, और समाचारपत्रों में इसी आशय

की विज्ञप्ति प्रकाशित कर दो।..." अवश्य विनय ने ऐसा नहीं किया, पर वह वास्तविक रूप से इन झमेलों से अलग हो गया। तभी तो जब वह एकाएक जनता को समझाने आया तो जनता ने उसको ताने दिये, और उसने अपने को गोली मार ली। इस प्रकार जनता का ताना जो उसको इतना लगा वह क्यों, इसके लिए हमें मनोवैज्ञानिक से जाकर पूछने की ज़रूरत नहीं।

कुँवर भरतसिंह विनय की मृत्यु के बाद फिर अपना व्याघ्रचर्म उतारकर रईसों की ऐंक की दुनिया में चले गये। करीब १००० पृष्ठ की रंगभूमि का अन्त इस पैराग्राफ से होता है—"कुँवर भरतसिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत करते हैं। फिर वही सैर और शिकार है, वही अमीरों के चोचले, वही रईसों के आडम्बर, वही ठाठ-बाट। उनके धार्मिक विश्वासों की जड़ें उखड़ गई हैं। इस जीवन से परे अब उनके लिए अनन्त शून्य और अनन्त आकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। लोक असार है। परलोक असार है। जब तक जिन्दगी है, हँस खेल कर काट दो। मरने के बाद क्या होगा कौन जाने।..."

क्या विनय की मृत्यु के बाद कुँवर भरतसिंह अब बदले? नहीं वे हमेशा भीतर से यही थे। उनके पत्नी तथा पुत्र-प्रेम ने उन्हें कुछ दिन लोकसंग्रह का नाच नचाया था।

कुँवर साहब की स्त्री और विनय तथा इन्दु की माँ रानी जाह्नवी देखने में तो एक तेजस्विनी वीर ललना हैं, पर उनकी मानसिक बनावट अत्यन्त जटिल है। वह भी कुँवर साहब की तरह पुत्रगतप्राणा हैं, पर कुँवर साहब से भिन्न अर्थ में। उसकी पुत्रप्राणता शायद उसके अहंकार और Philistinism की एक परोक्ष परितृप्ति का ज़रिया मात्र है। वह सोफिया और विनय के प्रेम के बीच जिस प्रकार पड़ती है, जिस प्रकार वह सोफिया से कहती हैं कि वह दूर प्रवास में गये हुए विनय को यह लिख दे कि वह (सोफिया) मिसेज क्लार्क होनेवाली है,

जिस प्रकार वह स्वयं इस सफेद झूठ को विनय के पास लिख भेजती हैं, उसका कोई फ्रायड (Freud) के अनुसार मनोविश्लेषण करे तो उसमें Electra complex पुत्रगमनप्रवृत्ति तथा ऐडलर के अनुसार विश्लेषण करे तो प्रभुत्व की भूख के अतिरिक्त कुछ न पायेगा। वह सोफिया और विनय के विवाह सम्बन्ध के विरुद्ध थीं, इस बात की कदाचित् यों व्याख्या कर दी जाय कि धर्मों की विभिन्नता ही इसका कारण था, पर वह तो हर हालत में विनय के विवाह के विरुद्ध ही हैं। यह कोई स्वस्थ बात नहीं कही जा सकती। वह विनय पर एकाधिकार चाहती हैं।* सच तो यह है कि इसी अहंकारी स्त्री के कारण सारे खानदान का सत्यानाश हो जाता है। बात यह है कि वह कुँवर साहब, विनय तथा इन्दु को प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से ऐसे विचारों पर चलाना चाहती है जिनके लिए वे अपनी वर्ग-स्थिति तथा शिक्षा-दीक्षा से सम्पूर्ण अनुपयुक्त है। declasse होने पर ही वे इन विचारों को लेकर चल सकते थे, उस अवस्था के अभाव में इन विचारों को लेकर प्रयोग करने में फिलिस्टिनवाद का उदय हुआ है न कि क्रान्तिकारिता का।

फिर रानी जाह्नवी के विचार भी कुछ सामंजस्य-युक्त रूप में क्रान्तिकारी नहीं। केवल एक परोपकार की पंगु भावना है, पंगु इसलिए कह रहा हूँ कि उसके साथ जिन बातों के होने से वह अग्रसर हो सकती थी, वे नहीं हैं। रानी में सामाजिक उदारता कुछ भी नहीं। उसमें अपने किसी विचार को क्रान्तिकारी उपसंहार तक ले जाने की हिम्मत नहीं। जब इन्दु अपने पति की इतरताओं के विरुद्ध उकता कर

*रानी केवल पुत्र पर प्रभुत्व करना चाहती है इसी बात को दिखाने के लिए ही शायद प्रेमचन्द ने दिखाया है कि सोफिया का "आचरण पूर्ण रीति से हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज के अनुकूल हो चुका था" फिर भी रानी को उससे ऊपरी खुशी मात्र है।

विद्रोह कर उसके घर में रहने से इनकार करके चली आती है तो वह इन्दु को पुरुषप्राधान्यमूलक पातिव्रत धर्म का उपदेश देकर कहती है—'× × × × अगर फिर मेरे सामने मुँह से ऐसी बात निकाली तो तेरा गला घोंट दूँगी। क्या तू उन्हें अपना गुलाम बना कर रक्खेगी? तू स्त्री हो कर चाहती है कि कोई तेरा हाथ न पकड़े, वह पुरुष हो कर क्यों ऐसा चाहें? × × × अगर तुझे उनकी बातें पसन्द नहीं आतीं, तो कोशिश कर कि पसन्द आयें। वह तेरे पतिदेव हैं, तेरे लिए उनकी सेवा से उत्तम कोई पथ नहीं।'

इस प्रकार जाह्नवी सरासर यह कह रही है कि स्त्री का कर्तव्य है कि वह सम्पूर्ण रूप से अपने व्यक्तित्व को पति के व्यक्तित्व में बोर दे चाहे पति पाजी, बदमाश, उचक्का ही हो। अन्यत्र वह इन्दु से कह रही है—जो स्त्री अपने पुरुष का अपमान करती है, उसे लोक, परलोक कहीं शान्ति नहीं मिल सकती है।' इन्दु ने अपमान यह किया था कि एक सत्कार्य में चन्दा दिया था।

जिस समय विनय आत्महत्या कर मर गया, उस समय सोफिया रोती हुई आई, तो जाह्नवी बोली—'क्यों रोती हो बेटी? विनय के लिए? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाये जाते, उत्सव के राग गाये जाते हैं। मेरे पास हीरे और जवाहरात होते, तो उसकी लाश पर लुटा देती। मुझे उसके मरने का दुःख नहीं है। दुःख होता, अगर वह आज प्राण बचा कर आता।' यहाँ पर पाठक को यह याद दिलाया जाय कि सोफिया जा रही थी इस कारण विनय इस झगड़े में पड़ा था। फिर यह समझ में नहीं आता कि जब वह भीड़ को शान्त करने गया था तो पिस्तौल लेकर क्यों गया था? विनय को प्रेमचन्द ने बराबर अहिंसावादी, फिर भी बराबर पिस्तौलबाज क्यों बनाया, यह समझ में नहीं आता। जब वह रियासत की जेल से निकल कर क़रीब-क़रीब सीधे उस भीड़ के सामने गया जो क्लार्क के मकान को घेर कर खड़ी थी, उस

समय भी वह एकाएक पिस्तौल चलाता है। आख़िर यह पिस्तौल कहाँ से आई ? क्या जेल में उसके पास पिस्तौल थी ? यहाँ प्रेमचन्द टेकनीक में कुछ ग़लती कर गये ऐसा ज्ञात होता है। अस्तु।

विनय की मृत्यु के बाद जाह्नवी और भी कहती है—'यह तो मेरी चिर-संचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी, जब मैं युवती थी, और वीर राजपूतों तथा राजपूतानियों के आत्मसमर्पण की कथाएँ पढ़ा करती थी। उसी समय मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी ऐसा ही पुत्र देता जो उन्हीं वीरों की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जाति के लिए हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता। मेरी वह कामना पूरी हो गई।'

सचमुच क्या यह कामना पूरी हो गई ? मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि विनय अपनी माँ के अहंकार तथा अपनी दुर्बलता की वेदी पर बलिदान हो गया। कुछ भी हो, रानी जाह्नवी एक बहुत ही प्रभुत्वशीला Domineering रमणी है, और उसका चरित्र वैसा नहीं है जैसा कि धीरोदात्त पाठक उसे समझते हैं, यहाँ तक कि वैसा भी नहीं जैसा कि प्रेमचन्द उसका निर्माण करना चाहते थे, बल्कि कुछ दूसरा ही है। उसका महत्त्व एक सफल चरित्र के रूप में है। उसके चरित्र से उपन्यास के रस के परिपाक में सहायता मिलती है।

सोफ़िया इस उपन्यास की नायिका है। वह भी विनय का ही प्रतिरूप है। वह भी विनय की तरह अस्थिर-चित्त, स्पष्टविचारहीन तथा सदा उद्भ्रान्त है। शुरू में वह बड़ी विचारशीला तथा नैतिक साहसयुक्त ज्ञात होती है। वह अपनी कट्टरधर्मी माँ के विरुद्ध जिस प्रकार विद्रोह करती है, वह बहुत ही सुन्दर है। सच तो यह है कि इसी प्रथम दर्शन की छाप पाठक के मन पर अन्त तक रहती है, और इसी के कारण पाठक उसकी बाद की कलाबाजियों को देख कर भी नहीं

देखता। वह न तो ठीक-ठीक प्रेमिका है और न ठीक-ठीक क्रान्तिकारिणी, अर्थात् दोनों बातों की ऐसी मिलावट है जो उसे एक अजीब दुर्बलचित्त स्त्री बना कर छोड़ देती है। उसमें दो व्यक्तित्व हैं, और दोनों परस्पर विरुद्ध। जब तक वह मिसेज सेवक के विरुद्ध विद्रोह करती है, और इसी की वशवर्ती होकर घर से निकल जाती है, तब तक उसे हम एक विद्रोहिणी के रूप में पाते हैं। इसके बाद विनय के जाने तक विनय के घर में उसका जो आचरण रहता है, वह एक साधारण प्रेमिका के कार्य हैं, उसमें कोई और उपादान नहीं। वह क्लार्क के साथ 'कपट लीला' कर जिस प्रकार उदयपुर पहुँचती है तथा विनय से मिलती है, वह भी इसी रूप में है। अब वह क्रान्तिकारिणी नहीं है। यदि वह क्रान्तिकारिणी या गांधीवादिनी कुछ भी होती, तो उसे चाहिए था कि रियासत में विनय का काम जहाँ से छूटा है, उसे वहाँ से उटा लेती। पर वह ऐसा नहीं करती। घटनाचक्र से रियासत के विद्रोही उसे उठा ले जाते हैं, और विनय खोजता हुआ उसके पास पहुँचता है तो वह जनवादिनी बन कर विनय को दुत्कारती है। सन्देह नहीं, यह ड्रामा बहुत अच्छा रहा, पर शीघ्र ही वह इस बाघ की खाल को उतार कर भाग चलती है। रास्ते में तथा बाद को बराबर वह प्रेमिका ही है। हाँ, अन्त की तरफ फिर उसका क्रान्तिकारित्व उभड़ता है, और वह यह जान कर कि पांडेपुर में गोली चलनेवाली है, वहाँ जाने के लिए तैयार होती है। इसी अनुप्रेरणा से विनय वहाँ जाता है, फिर वह आत्महत्या करता है।

सोफिया का सारा विद्रोह केवल तीन घटनाओं पर निर्भर है—

(१) माँ के विरुद्ध विद्रोह कर घर से निकल जाना।

(२) रियासत के विद्रोहियों के यहाँ जब विनय पहुँचता है, तो उसे बुरी तरह और उचित रूप से दुतकारना।

(३) पांडेपुर की उस सभा में जाना और विनय के जाने में कारण-स्वरूप होना।

हाँ, एक बात और, वह यह कि विनय के अतिरिक्त किसी से शादी करने से इनकार करना और आत्महत्या करना, पर इसका रूप विद्रोह का होने पर भी इसमें अन्य उपादान भी हैं। आत्महत्या करना तो बिल्कुल फ़िजूल था। उसका किसी प्रकार समर्थन नहीं हो सकता। वह चित्तदौर्बल्य का परिचायक है।

संक्षेप में यही सोफिया है, विनय का स्त्री-संस्करण। उपन्यास को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि पहले प्रेमचन्द दोनों का मिलन कराना चाहते थे, पर उनमें धर्मभेद था, इसे कैसे सुलझाया जाय यह न समझ पाकर पहले विनय द्वारा और फिर सोफिया द्वारा आत्महत्या कराई गई। शायद अभीष्ट मिलन को आसान करने के लिए ही सोफी से लेखक २६वें अध्याय में कहला रहा था—"मैं भी हिन्दू धर्म पर जान देती हूँ। जो आत्मिक शान्ति कहीं न मिली, वह गोपियों की प्रेमकथा में मिल गई। वह प्रेम का अवतार, जिसने गोपियों को प्रेमरस पान कराया······उसी की चेरी बन कर जाऊँगी, तो वह कौन हिन्दू है जो मेरी उपेक्षा करेगा ?"

सोफिया ने यह सब जो कुछ कहा वह बिल्कुल ही बेसिर-पैर है। हम मान सकते हैं कि एक ईसाइन किसी हालत में ऐसा कह सकती है, रोज बीसियों लोग धर्मों में इधर से उधर जाते रहते हैं, पर सोफिया को ईसाई धर्म की जिस प्रकार छानबीन करते दिखाया गया है, उसके कारण सोफिया को यह वक्तव्य शोभा नहीं देता, और यदि देता है तो केवल एक आत्मविस्मृता प्रेमिका की दशा में ही। अन्त में सोफिया धर्मपरिवर्तन करने के लिए तैयार हो गई थी, यह बात सोफिया के प्रेमिका-चरित्र पर शायद चार चाँद लगाये, पर मनुष्य के रूप में उसका मूल्य घटाती है। प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में, यहाँ तक कि

इस पुस्तक में भी सर्व-धर्म-विरोधी के रूप में दृष्ट होते हैं, नहीं तो हम तो यही कहते कि यहाँ प्रेमचन्द प्रतिक्रियावादी दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण हमारा यह अनुमान है कि इस सम्बन्ध में पहले प्रेमचन्द का कुछ और लक्ष्य था, पर बाद में उन्होंने उसे बदल कर आत्महत्या करवा दी। यह मनोविज्ञान की दृष्टि से शायद अच्छा ही रहा क्योंकि विनय और सोफिया के-से चरित्रों के लिए आत्महत्या ही एकमात्र नतीजा हो सकता था। इन लोगों ने न तो जग को पहचाना, न अपने को! वे एक ऐसे विचार को उठा कर चले जिसके वे सर्वथा अयोग्य थे। ऐसे पात्रों तथा पात्रियों से प्रेमचन्द ने उच्च तथा मध्य वर्ग के ऐसे लोगों का चरित्र खींचा है जिनमें कुछ त्याग की प्रवृत्ति है, तपस्या भी है, परोपकार-भावना भी है, पर वे अपने वर्ग-विचारों में बुरी तरह बँधे हैं। वे जनता की सेवा के नाम पर आत्मश्लाघा की तृप्ति करने चले हैं। वे अपने वैयक्तिक जीवन को कर्तव्य के साथ सामंजस्य युक्त करने में असमर्थ हैं, इसलिए वे असफल तथा Frustrated मनःक्षुण्ण होने के लिए बाध्य हैं। ऐसे ही चरित्र के लोग छात्रजीवन में क्रान्तिकारी या समाजवादी तथा बाद के जीवन में सी० आई० डी० के जालिम अफसर होते हैं और यह भी है कि अगर राह लगा गये तो परम वीर भी निकल जाते हैं।

इन्दु भी इसी श्रेणी की एक स्त्री है। फिर भी वह अपने भाई तथा सोफिया से अच्छी ही है। उसका दुर्भाग्य यह है कि उसकी शादी एक ऐसे व्यक्ति से हुई है जो एक ही आत्म-प्रवंचक है। वह सोचता है, मैं जो करता हूँ और जो मेरा स्वार्थ है, वही सबका स्वार्थ होना चाहिए। वह भी अपनी माँ के मार्ग पर चलती है। एक जगह उसकी कलई बहुत बुरी तरह खुल जाती है, वहाँ जहाँ कि सोफिया के साथ बातों-बातों में चोट करती हुई वह कह जाती है—'एक राजा का सम्मान एक क्षुद्र न्याय से कहीं ज्यादा महत्त्व की वस्तु है।' यह मानों

इन्दु के पति की ही बातों की—उस पति की बातों की जिससे वह उकता जाती है—प्रतिध्वनि है : यों मैं स्वयं जनवादी हूँ, और उस नीति का हृदय से समर्थन करता हूँ, पर जनवाद के नाम पर देश में जो अशान्ति फैली हुई है, उसका मैं घोर विरोधी हूँ। ऐसे जनवाद से तो धनवाद, एकावाद सभी वाद अच्छे हैं।' यह ठीक ही है, राजा और पूँजीपति लोग तभी तक जनवादी, लोकतंत्रवादी हैं जब तक उससे उनका लाभ होता है, नहीं तो साम्राज्यवाद, फासिस्टवाद तो हैं ही। कितने संक्षेप में पूँजीवादी गणतंत्र को समझा दिया। इन्दु का यह कहना कि एक राजा का सम्मान एक क्षुद्र न्याय से बड़ा है, भावुकता की भाषा में राजा के वचनों का तर्जुमा है।

इन्दु का चरित्र उस जगह भी बहुत घृणित रूप में प्रकट हुआ है जहाँ वह अपने पति को इसलिए उकसा रही है कि वह इसलिए लड़े जिसमें सूरदास की ज़मीन मैजिस्ट्रेट उसे वापस न करा सके। अवश्य इसके पीछे दो औरतों की लागडाँट भी है, पर यह कैसी लागडाँट कि सब सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर वह कह रही है—'यह बात आपके मुँह से शोभा नहीं देती। यह नेकनामी बदनामी का प्रश्न नहीं है, अपनी मर्यादा-रक्षा का प्रश्न है। आपकी कुल-मर्यादा पर आघात हुआ है, उसकी रक्षा करना आपका परम धर्म है चाहे उसके लिए न्याय के सिद्धान्तों की बलि क्यों न देना पड़े।......' मर्यादा तथा कुल-मर्यादा की क्या सुन्दर फिलिस्टिन-सुलभ आत्मवंचनामूलक धारणा है!

सोफिया का भाई प्रभुसेवक विलायत से सिगरेट का काम सीख कर आया है, अपने को कवि और कलाकार समझता है पर है वह पक्का पेटिबुर्जुवा फिलिस्टिन। वह एक कवित्वरसलोलुप पलायनवादी है। अपने ऐहिक स्वर्ग का उसने स्वयं ही चित्रण किया है—'मेरे जीवन का सुख''स्वर्ग तो यही है कि किसी पहाड़ी के दामन में एक जलधारा

के तट पर छोटी सी झोंपड़ी बना कर पड़ा रहूँ। न लोक की चिन्ता हो, न परलोक की। न अपने नाम का कोई रोनेवाला हो, न हँसनेवाला।' इस प्रकार के भावों को बहुत सी कविताओं में व्यक्त किया गया है। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो इक़बाल के संग्रह बाँग-ए-दरा में इस प्रकार की एक कविता है। 'इक बँगला बनेगा न्यारा' भी इन्हीं विचारों का सूचक है। ऐसे लोगों में लोकसेवा के लिए जिस संग्राम-शीलता की ज़रूरत है, वह नहीं होती, और न वह स्पष्ट विचार होता है क्रान्तिकारी बनने के लिए जिसकी ज़रूरत है। ये वीरता की कमी लच्छेदार भाषा में छिपी आत्मा-वंचना से पूरी कर लेते हैं। इन्द्रदत्त ने प्रभुसेवक से ठीक ही कहा था 'तुम्हारी समस्त शक्ति शब्द-योजना में ही उड़ जाती है, क्रियाशीलता के लिए कुछ बाकी नहीं बचता। यथार्थ तो यह है कि तुम अपनी रचनाओं की गर्द में भी नहीं पहुँचते, बस ज़बान के शेर हो।'

पिता जानसेवक ने भी प्रभुसेवक को बिल्कुल ठीक कहा—'तुम जीवन की सुख-सामग्रियों को तो चाहते हो, लेकिन उन सामग्रियों के लिए जिन साधनों की ज़रूरत है, उनसे दूर भागते हो। हमने तुम्हें क्रियात्मक रूप से कभी धन और विभव से घृणा करते नहीं देखा। तुम अच्छे से अच्छा मकान, अच्छे से अच्छा भोजन, अच्छे से अच्छा वस्त्र चाहते हो, लेकिन बिना हाथ-पैर हिलाये ही चाहते हो कि कोई तुम्हारे मुँह में शहद और शर्बत टपका दे।' सिनेमा में जाकर रोनेवाले, चित्रपट के खलनायक पर दाँत किटकिटानेवाले शौकीन परोपकारियों का यही हाल है। ऐसे लोग क्रांति कर सकते हैं बशर्ते कि वैसा करते समय उनकी माँग के बाल इधर-उधर न हों और पतलून का क्रीज़ न बिगड़ जाय।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि प्रभुसेवक में कुछ भलाई है। कविता उसे परोपकार के गम्भीर प्रयत्नों या यों कहिए प्रयोगों से अपेक्षा-

कृत रूप से बचा लेती है। इसके अतिरिक्त वह अपने पिता के इन वचनों से क्रुद्ध होकर घर छोड़ देने का साहस तो रखता है। साधारण तौर पर इस तरह के लोग बिल्कुल अकर्मण्य, बुज़दिल, घरघुस्सू, कवितामात्र-सर्वस्व होते हैं। बात यह है उसमें कुछ अच्छी कवित्व-शक्ति है। इसके अतिरिक्त जीवन की गुत्थियों में अधिक नहीं पड़ता, पड़ता तो क्या होता पता नहीं। जानसेवक का लड़का प्रभु तथा सोफिया किसी न किसी कारण घर छोड़ते हैं यह बात बहुत मार्के की है। यह पूँजीवाद वर्ग में भी आत्मविरोध की सूचना देता है, जो क्रान्ति के लिए आवश्यक शर्त है।

अब हम सूरदास के बाद इस उपन्यास के सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र जानसेवक पर आते हैं। जानसेवक उदीयमान भारतीय पूँजीवाद का प्रतिनिधि है, निरलस, कर्मठ, उन्मेषशालिनी बुद्धियुक्त, निर्दय, अवसर का ज्ञाता। जैसे बाज कितना भी ऊपर उड़े, उसकी निगाह शिकार पर रहती है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि मुनाफे पर रहती है। इसी मुनाफे के पीछे वह जीता है, और इसी के पीछे वह मरने के लिए तैयार है। इसके पीछे वह लड़का छोड़ता है, लड़की छोड़ता है, सबको छोड़ने के लिए तैयार है बशर्ते कि मुनाफा हो।

रंगभूमि में भारतीय पूँजीवाद के शैशव का चित्रण है। इसमें पूँजीवाद अभी घुटनों के बल चल रहा है। गोदान में भी देशी पूँजीवाद का चित्र है, पर वह अपेक्षाकृत परिणत अवस्था का चित्र है। रङ्गभूमि का कैनवास काफी बड़ा है, पर उसमें मज़दूरों के असन्तोष का चित्र नहीं है। गोदान में यह है। बात यह है कि शुरू के युग में मज़दूर संगठित नहीं होते, धीरे-धीरे ही उनमें संगठन का उदय होता है।

प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता और शायद सबसे बड़ी महत्ता यह है कि वे नख से शिख तक हमेशा साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद

के विरोधी रहे हैं। अदालत को, पुलीस को वे काले से काले रंग में चित्रित करते हैं। इस उपन्यास में दारोगा माहिरअली ने अपने उसी भाई को धोखा दिया जिसने खून का पानी कर उसे पाला माहिरअली का बाप भी दारोगा और घूसखोर था, मरते समय कफन नहीं जुड़ा। यह भी द्रष्टव्य है कि तखमीने के अफसर को भी प्रेमचन्द ने बेईमान ही दिखलाया है। उसको घूस मिलती है तो छोटे मकान का ज्यादा दाम दिलवाता है, नहीं तो अच्छे मकान को भी नाममात्र मूल्य पर ले लेता है। उनका साहित्य इस कारण उदीयमान भारतीय राष्ट्रीयता तथा साथ ही उठते हुए दलित वर्गों का साहित्य हो जाता है। अमीरों के प्रति उनके मन में अगाध घृणा थी। एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "जो व्यक्ति धनसम्पदा में विभोर और मग्न हो, उसके महान् पुरुष होने की कल्पना मैं नहीं कर सकता। जैसे ही मैं किसी आदमी को धनी पाता हूँ, वैसे ही मुझ पर उसकी कला और बुद्धिमत्ता की बातों का प्रभाव काफूर हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि इस शख्स ने मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को—उस सामाजिक व्यवस्था को, जो अमीरों द्वारा ग़रीबों के दोहन पर अवलम्बित है स्वीकार कर लिया है। इसी प्रकार किसी भी बड़े आदमी का नाम जो लक्ष्मी का कृपापात्र भी हो मुझे आकर्षित नहीं करता। बहुत मुमकिन है कि मेरे मन के इन भावों का कारण जीवन में मेरी असफलता ही हो। बैंक में मोटी रकम जमा देख कर शायद मैं भी वैसा ही होता जैसे दूसरे हैं, मैं भी प्रलोभन का सामना न कर सकता, लेकिन मुझे प्रसन्नता है कि स्वभाव और किस्मत ने मेरी मदद की है और मेरा भाग्य दरिद्रों के साथ सम्बद्ध है। इससे मुझे आध्यात्मिक सान्त्वना मिलती है।"

कहा जा सकता है कि ये बाद के युग के प्रेमचन्द के विचार हैं। हाँ ये परिणत तथा विकसित प्रेमचन्द के, गोदान के लेखक के विचार हैं, पर रङ्गभूमि में भी धन के प्रति यही घृणा का भाव है। उस युग में

व्यक्तिगत रूप मे गांधीवादी होते हुए भी प्रेमचन्द कभी भी गांधीवाद के आनुषंगिक वर्गसमन्वय सिद्धान्त के कायल न हो पाये। बात यह है उस जमाने में भी वे एक हद तक ही धोखे में रह सकते थे। जीवन की वास्तविकताएँ उन्हें वर्गसमन्वय में विश्वास करने नहीं देती हैं। अगर कहीं ऊपर से उन्होंने इस विचार को दिया भी है, तो उसके साथ जो तथ्य उन्होंने दिये हैं, वे चिल्ला-चिल्ला कर कुछ दूसरी ही बात कह रहे हैं।

रंगभूमि के तो पहले पैरे ही से धनियों के विरुद्ध जेहाद शुरू है। "शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और मुकदमेबाजी के अखाड़े हैं, जहाँ न्याय के बहाने ग़रीबों के गले घोंटे जाते हैं।" साथ-साथ न्यायालयों को भी ले लिया।

जानसेवक एक आदर्श पूँजीपति है। उसे अपने कारखाने के लिए सूरे की ज़मीन चाहिए। साम, दाम, दंड, भेद से वह इसे प्राप्त करता है। उसकी लड़की सोफिया का एक अग्निकांड के कारण राजा भरत-सिंह के परिवार से परिचय हो गया। बस उसने गोट मिलाना शुरू किया। उसका दामाद महेन्द्रसिंह म्युनिसिपैलिटी का चेयरमैन है, उससे यह काम होगा; स्वयं राजा को चार सौ बीस पढ़ा कर वह उससे मोटी रकम का शेअर खरिदवा लेता है। पर वह धोखेबाज नहीं। शेयर ज़रूर धोखेबाजी से खरिदवाया, पर मोटा मुनाफा दिलवाया।

वह मुनाफे के लिए किसी बात से चूकना कोरी भावुकता समझता है। वह हिसाब का पक्का है। जो हिसाब ठीक नहीं रखता, उसका वैसा करने में चाहे कुछ भी बहाना हो, वह उसे क्षमा नहीं कर सकता। वह ताहिरअली को हिसाब की गड़बड़ी के लिए माफ नहीं करता, यहाँ तक कि सूरा अपनी मृत्युशय्या से उसकी सिफारिश करता है, पर ऐसे के

लिए पूँजीवाद में काफी नहीं। वह अपने मुनाफे में कौड़ी वृद्धि के लिए कहता है कि म्यनिसिपैलिटी के चेयरमैन साहब से मिल कर यहाँ एक शराब और ताड़ी की दूकान खुलवा दूँगा। उसे सूरे की जमीन पसन्द आती है, वह समझता है वह ज़रूर बेचेगा। रुपये की शक्ति में उसे अगाध विश्वास है। कहता है "रुपये के सत्रह आने दीजिए और आसमान के तारे गिनवा लीजिए।"

प्रेमचन्द ने बड़ी दक्षता से इस व्यक्ति का चित्र खींचा है। जान को मानापमान की कोई चिन्ता नहीं, लड़का प्रभु नायकराम से लड़ आता है, पर वह जाकर उससे माफी माँग आता है। बात यह है व्यापार का तकाजा था। है जानसेवक ईमानदार याने पूँजीवादी दृष्टिकोण से ईमानदार। पर प्रेमचन्दजी बीच-बीच में फबती कस देते हैं। कहते हैं "मगर धन का देवता आत्मा का बलिदान बिना पाये प्रसन्न नहीं होता।" जानसेवक धार्मिक है, पर उसका असली धर्म मुनाफा है। जानसेवक अपने धर्म का रहस्य अपने ही मुँह से पुत्र को समझाता है। पूँजीवादीगण के धर्म का बहुत ही मार्मिक उद्घाटन है। अँग्रेज के विषय में कहा जाता है कि वह छै दिन तक तो मैमन या धन देवता के यहाँ पूजा करता है, और एक दिन खुदा के घर में, पर यह पूँजीवाद के ह्रास के युग में उत्पन्न भारतीय पूँजीवाद का प्रतिनिधि जानसेवक उससे आगे बढ़ जाता है, वह सातवें दिन गिरजे में तो जाता है, पर वहाँ भी जपने के लिए मैमन के बुत को अपने साथ ले जाता है।

जान अपने पुत्र प्रभु को समझा रहा है "× × मुझे निश्चय था कि तुम जीवन और धर्म के सम्बन्ध को भलीभाँति समझते हो, पर अब ज्ञात हो गया कि तुम, सोफी और अपनी माता की भाँति भ्रम में पड़े हुए हो। क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ-जैसे और हजारों आदमी जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँख बन्द करके ईश-

प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं। अगर अब तक तुम्हें नहीं मालूम है तो अब मालूम हो जाना चाहिए कि धर्म केवल स्वार्थ-संघटन है। संभव है तुम्हें ईसा पर विश्वास हो, शायद तुम उन्हें खुदा का बेटा या कम से कम महात्मा समझते हो, पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है। मेरे हृदय में उनके प्रति उतनी ही श्रद्धा है जितनी किसी मामूली फकीर के प्रति। उसी प्रकार फकीर भी दान और क्षमा की महिमा गाता फिरता है, परलोक के सुखों का राग गाया करता है। वह भी उतना ही त्यागी, उतना ही दीन, उतना ही धर्मरत है। लेकिन इतना अविश्वास होने पर भी मैं रविवार को सौ काम छोड़ कर गिरजे में अवश्य जाता हूँ। न जाने से अपने समाज में अप-मान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा। फिर अपने ही घर में अशान्ति फैल जायगी। मैं केवल तुम्हारी माता की खातिर से अपने ऊपर यह अत्याचार करता हूँ।"

स्वाभाविक रूप से ऐसा व्यक्ति अपने नौकरों के धर्म की परवाह नहीं करेगा। वह अपने गुमाश्ता ताहिरअली से कहता है, 'आपको हमारी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना पड़ेगा, चाहे उससे आपका खुदा खुश हो या नाखुश। हम अपने कामों में आपके खुदा को हस्तक्षेप न करने देंगे।' जानसेवक इन बातों को अपनी पत्नी के सामने कहता है, और वह उनका समर्थन करती है। इधर बड़ी धार्मिक बनती है, अपनी लड़की से धार्मिक बहस कर उसे घर से चले जाने के लिए विवश करती है, उसका यह हाल। फिर जब अंग्रेज़ क्लार्क से लड़की की शादी के ढंग देखती है तो धार्मिक मतभेद भूल कर उसी सोफी की खुशामद करती है। यदि वश चलता तो शायद स्वयं क्लार्क से विवाह करती। परले सिरे की कट्टर पर बिल्कुल असामाजिक है। पर जान की तारीफ यह है कि उससे निभाता है। धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार कि वह स्वार्थ-संघटन मात्र है केवल जान तक सीमित नहीं। विनय के

पिता कुँवर साहब भी कहते हैं— 'हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, बौद्ध ये धर्म नहीं हैं, भिन्न-भिन्न स्वार्थों के दल हैं, जिनसे हानि के सिवा आज तक किसी को लाभ नहीं हुआ।'

प्रेमचन्द की कला की एक विशेषता यह है कि वे धर्म को हमेशा बुरे रंग में दिखलाते हैं। सब धीरोदात्त पाठक तथा आलोचक कहते हैं कि प्रेमचन्द कभी गांधीवादी थे, पर मैं तो यही पाता हूँ कि गांधीवाद के सब मौलिक सिद्धान्तों को वे गले के नीचे नहीं उतार पाये। धर्म गांधीवाद की बहुत बड़ी विशेषता है, पर प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में धर्मों का मज़ाक उड़ाया गया है। रंगभूमि के जान का धर्म हम देख चुके। श्रीमती सेवक का धर्म देख लिया। जान का बाप ईश्वरसेवक परले सिरे का दुष्ट और कंजूस है। हर समय ईसा और खुदा की बात करने पर भी उससे काइयां, कंजूस, मक्कार कोई नहीं। जवानी में वह भारी बदमाश रहा होगा।

इस उपन्यास में ईसाई पात्रों को लाने में प्रेमचन्द का उद्देश्य शायद कथा में एक नवीनता लाना था तथा यह दिखाना था कि बहुत से लोग जिन्हें इनके साथ मिलने का मौका नहीं मिलता वे जान जायँ कि सभी धर्म अफीम हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी दिखा दिया कि किस प्रकार ईसाइयों की प्रवृत्ति अपने जन्म को भूल कर अंग्रेज बनने की ओर है, पर जानसेवक ऐसे मुनाफा-सर्वस्व लोग इस प्रकार की धारणा के भी कायल नहीं। वे भारतीयों के निकट भारतीय और अंग्रेज़ों के निकट उनके धर्मभ्राता बन कर काम निकालते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पूँजीवाद किस प्रकार अपने मतलब के लिए राष्ट्रीय, फिर उसी मतलब के लिए उसी साँस में अन्तर्राष्ट्रीय है। इससे पूँजीवाद के चरित्र की क़लई खूब खुल जाती है।

यह न समझा जाय कि आधुनिक लोगों के धर्मों पर ही प्रेमचन्द की फबती है। पांडेपुर का नायकराम पंडा इसी उपन्यास में एक विकट

लग्वीबाज (अवसरवादी) के रूप में चित्रित है। यों तो उसका चरित्र कहीं-कहीं हास्योत्पादक है, पर वह कुटिल, ढोंगी, पड़ जाय तो घूस दे दे, पड़ जाय ले ले, गुंडा, भंगेड़ी, गाँववालों तथा यात्रियों को ठगनेवाला है। सूरे के धर्म से भी प्रेमचन्द की सहानुभूति नहीं। जानसेवक उसके लिए यह जो कहता है कि 'शरीर में भभूत लगा कर भीख माँगना सबसे बड़ा दुःख है, यह हमें दुःखों से क्यों कर मुक्त कर सकता है,' ये शायद सूरे के धर्म के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के विचार हैं। मुसलिम धर्मावलम्बी ताहिर भी नहीं बचा। प्रेमचन्द के अनुसार "ताहिरअली खुद बड़े दीनदार आदमी थे, पर अन्य धर्मों की अवहेलना करने में उन्हें संकोच न होता था। वास्तव में वह इसलाम के सिवा किसी धर्म को धर्म ही नहीं मानते थे।"

रंगभूमि में एक सबसे खटकने वाली चीज है कि रोमैंस होते हुए भी इसमें बराबर एक विषादमय अन्त की छाया पड़ती है। जब-जब सोफिया और विनय विवाह की बात चलती है, तब-तब यह दिखाया जाता है कि सोफिया का हृदय एक अज्ञात भय, एक अव्यक्त आशंका, एक अनिष्ट चिन्ता से आच्छन्न हो जाता था। सोफिया ऐसी पात्री के लिए यह अनुचित नहीं, इससे सारी रचना पर एक भाग्यवादी छाया-सी पड़ती है। यह भाग्यवादी छाया रंगभूमि को क्रान्तिकारी रचना होने से एक बड़ी हद तक रोकती है।

ऊपर गिनाये हुए पात्रों तथा प्रवृत्तियों के अतिरिक्त रंगभूमि में बीसियों और पात्र-पात्रियाँ तथा प्रवृत्तियाँ हैं। इस उपन्यास की सबसे साध्वी पात्री कुलसुम है वह पुराने ढंग के सतीत्व का प्रतीक है, और फिर भी हमारी श्रद्धा की पात्री हो जाती है। पर, इस उपन्यास का सबसे जबर्दस्त नारी चरित्र सुभागी है; वह इबसेन की नोरा का एक ग्रामीण संस्करण है, ऐसी नारी जो पति को सुधार कर फिर सही माने में सहधर्मिणी बनने के लिए घर लौट आती है। उसका चरित्र बहुत ही

तेजस्वी है। सोफिया, इन्दु आदि उच्च श्रेणी की स्त्रियाँ भविष्य की भारतीय नारी का आदर्श नहीं हो सकतीं, इसके लिए सुभागी ऐसी बलिष्ठ नारी चाहिए। वह बहुत हद तक आदर्श है।

अब अंत में विचारणीय यह है कि रंगभूमि प्रेमचन्द की सबसे उत्कृष्ट रचना है या नहीं। श्री रामनाथ सुमन के कथन का हम हवाला दे चुके कि वे समझते हैं कि यह प्रेमचन्द की मास्टरपीस है। श्री ऋषभचरण के मतानुसार "यों तो उनके सभी उपन्यास लोगों ने पसन्द किये हैं, लेकिन रंगभूमि मेरी राय में उन्हीं का नहीं, हिंदुस्तान का सबसे अच्छा उपन्यास है। रंगभूमि में कहानी है, काव्य है, फिलासफी है, मनोविज्ञान है और ढूँढ़ने पर नीति, धर्म और सोशलिज़्म का बहुत-सा मसाला मिल जायगा। रंगभूमि हमारी जिंदगी का खाका है, जिसके जोड़ की कल्पना थैकरे के वैनिटी फेयर में और मेरी कारेली के वेन्डेटा में ज़रा-ज़रा मिल जाय तो मिल जाय, वरना दुनिया में और कहीं न मिलेगी।"

कहा जाता है स्वयं प्रेमचन्द ने डाक्टर इन्द्रनाथ मदन को लिखे हुए अपने एक पत्र में रंगभूमि को अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना था, पर उस समय तक वे गोदान के लेखक नहीं हुए थे। फिर यह ज़रूरी नहीं कि कलाकार अपनी कला की जो आलोचना करते हैं, वह आलोचक के लिए मान्य तथा अपरिहार्य हो। हम पहले बता चुके हैं कि क्यों हम गोदान को ही उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना मानते हैं। रंगभूमि में वे अभी दुबिधे में हैं। अभी उनकी द्रष्टगतता (subjectivity) तथा दृश्यगतता (objectivity) का न तो कलात्मक द्वंद्व मिटा है, न सिद्धान्तात्मक। अभी उनका अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख दो है। इस कारण रंगभूमि बहुत कुछ एक रोमैंस हो गया है। इसकी दृश्यगतता (objectivity) द्रष्टगतता में रँगी हुई है। इसमें नाटकीयता का प्रयास बहुत है। गोदान में ही ये एक होकर एक ऐसी कला को जन्म

देते हैं जो अभी तक अपराजित है। हाँ गोदान के इधर के सब उपन्यासों में रंगभूमि सर्वश्रेष्ठ है।

कायाकल्प

वज्रधरसिंह राजपूत हैं, किन्तु आप अपने को मुंशी लिखते और कहते हैं। बहुत छोटे पद से तरक्की करते-करते आपने अन्त में तहसीलदारी का उच्च पद प्राप्त कर लिया था। यद्यपि आप उस पद पर तीन मास से अधिक न रहे, और वह भी एवजी में रहे, पर आप अपने को साबिक तहसीलदार लिखते थे, और कोई मौका पाते ही आप उस जमाने की अचकन आदि पहिन कर निकलते थे, यद्यपि अब ये पोशाकें उन्हें फिट नहीं होती थीं। वे दरबारदारी की कला में निपुण थे। उनके पुत्र चक्रधर ने अपने प्रयास से पिता से बहुत कम सहायता लेकर एम० ए० पास कर लिया था। मुंशीजी की इच्छा थी कि चक्रधर कुछ नौकरी करे, किन्तु चक्रधर की रुचि समाज-सेवा की ओर थी, फिर भी जब ऊँच-नीच समझाया गया तो जगदीशपुर के दीवान ठाकुर हरिसेवकसिंह की लड़की मनोरमा के गृहशिक्षक होने पर राजी हो गये। मनोरमा पर चक्रधर के सरल स्वभाव का असर पड़ा, और वह अपने गृहशिक्षक को बहुत चाहने लगी। उधर चक्रधर की शादी के लिए भी लड़कियों के पितागण दौड़ने लगे। चक्रधर विवाह नहीं करना चाहते थे, किन्तु आगरे से आये हुए एक सज्जन यशोदानन्दन की बातों से प्रसन्न होकर वे लड़की देखने के लिए आगरा जाने के लिए राजी हो जाते हैं।

रास्ते में यशोदानन्दन ने चक्रधर को बतलाया कि जिस लड़की अहल्या को वे अपनी लड़की बताते हैं, वह उनकी लड़की नहीं बल्कि केवल पालिता लड़की मात्र है। किसी मेले के अवसर पर यह लड़की खो गई थी, तब से यशोदानन्दन इसका पालन कर रहे हैं। गाड़ी आगरे पहुँची तो मालूम हुआ कि वहाँ पर हिन्दू-मुसलिम दंगा होने ही वाला है। बात यह है इस बार मुसलमान जहाँ कुर्बानी कभी नहीं होती थी वहाँ पर कुर्बानी करने पर तुले हुए थे। यशोदानन्दन फौरन मुसलमानों के नेता ख्वाजा महमूद के निकट पहुँचे। जब उन्होंने ख्वाजा साहब से पूछा कि यह नई रस्म क्यों निकाली जा रही है, इसके उत्तर में उन्होंने कहा—इसलिए कि कुर्बानी करना हमारा हक है। अब तक हम आपके जज्बात का लिहाज करते थे, अपने माने हुए हक को भूल गये थे, लेकिन जब आप लोग अपने हक्कों के सामने हमारे जज्बात की परवाह नहीं करते, तो कोई वजह नहीं कि हम अपने हकों के सामने आपके जज्बात की परवाह करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आपको पूरा हक हासिल है, लेकिन कम से कम पाँच सौ वर्षों में आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती। आप लोगों ने एक मुरदिक को जिन्दा किया...जब आपने हमें ज़ेर करने के लिए नये-नये हथियार निकाले, तो हमारे लिए इसके सिवाय क्या चारा है कि अपने हथियारों को दूनी ताकत से चलावें।

यशोदानन्दन इस पर निरुत्तर हो गये, किन्तु यह कहते हुए वहाँ से चल दिये कि ऐसा नहीं हो सकता कि हम खड़े-खड़े देखें, और हमारे घरों और मंदिरों के सामने कुर्बानी हो। चक्रधर ने अधिक बुद्धि से काम लिया। वे हिन्दुओं को समझाते रहे कि गौ को बचाने के लिए अपने भाइयों का खून करना उचित नहीं है। हिन्दू इस उपदेश पर बहुत नाराज हुए। वे इस वातावरण में मुसलमानों को भाई मानने के लिए तैयार

नहीं थे। किसी ने कहा धर्मद्रोहियों का मारना अधर्म नहीं है, तो किसी ने कुछ और किसी ने कुछ। यशोदानन्दन ने जो लोगों को इस प्रकार आवाजकसी करते सुना, और व्यक्ति ने जब यहाँ तक कह दिया कि यशोदानन्दन यह जो बनारस गये थे, यह अपनी लड़की के लिए वर ढूँढ़ने नहीं बल्कि जान बचाने गये थे, तब वे वहाँ से बिल्कुल हट कर चले गये। मुसलमान लोग कुर्बानी करने आये, तो चक्रधर ने वहाँ पर मुसलमानों से कहा कि पहले मुझे मारो, फिर गाय को मारना। साथ ही उन्होंने दंगा पर आमादा हिन्दुओं को घर जाने के लिए कहा। जब चक्रधर ने इस प्रकार का रुख ग्रहण किया तो दंगा बच गया, और कुर्बानी जिन जगहों में हमेशा होती थी, उसके अलावा कहीं नहीं हुई।

इस प्रकार चक्रधर अहल्या के सामने एक ज्योति मंडित रूप में पहले ही आया। स्वाभाविक रूप से अहल्या के तरुण मन पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। यशोदानन्दन की स्त्री वागीश्वरी ने जब अहल्या से पूछा कि वह इस विवाह पर राजी होगी कि नहीं, तो अहल्या ने सम्पूर्ण रूप से स्वीकृति दे दी।

मुंशी वज्रधर ने चक्रधर को ट्यूटरी का फायदा उठा कर मनोरमा के पिता दीवान हरिसेवकसिंह से परिचय कर लिया, और उनके जरिये से रानी साहिबा से भी परिचय कर लिया। उन्होंने वहाँ जिटें हाँकी, तो कुछ दिनों में पचीस रुपये की तहसीलदारी मिल गई। देखने की तनख्वाह पचीस की थी, किन्तु आमदनी पचासों की थी। अब मुंशीजी की पाँचों घी में थीं। रोज घर पर महफिल जमने लगी। शराब की नदी बहने लगी। मुंशीजी मामूली तहसीलदारों की तरह प्रजा पर खूब अत्याचार करने लगे।

ठाकुर विशालसिंह रानी साहिबा के वारिस होते थे क्योंकि रानी साहिबा निःसन्तान थी। इसी कारण मुंशीजी पहले ही से उनसे

रफ्तजब्त बढ़ाते जा रहे थे। ठाकुर साहब की तीन बीबियाँ थीं। ये तीनों स्त्रियाँ आपस में बहुत लड़ा करती थीं।

जगदीशपुर की रानी देवप्रिया—केवल दो शब्दों में समाप्त हो जाता था—विनोद और विलास। उनके पति को मरे वर्षों हो चुके थे, किन्तु विधवा रानी साहिबा भोग-विलास से नहीं चूकती थीं। अपनी झुर्रियों को मिटाने के लिए तथा पुनर्यौवन प्राप्त करने के लिए वह न मालूम क्या-क्या करती रहती थीं। एक बार एक राजकुमार उनके यहाँ बैठे हुए थे। ये रानी साहिबा के नये शिकार थे, किन्तु थोड़ी देर में ज्ञात हुआ कि ये राजकुमार और कोई नहीं उनके मृत पति ही हैं जो इस समय इस राजकुमार के रूप में पैदा हुए हैं। राजकुमार रानी को पहचान जाते हैं, और ऐसा ही कहते हैं। रानी ने हैरत में आकर राजकुमार के मुँह पर नजर डाली। ऐसा मालूम हुआ कि उन्होंने इनको कहीं देखा है। अन्त में राजकुमार साफ-साफ बता देते हैं—'यही मेरा घर था। तुम स्त्री थीं, मैं पुरुष था।' रानी देवप्रिया ने राजकुमार को पहचान लिया। आइने की गर्द साफ हो गई। बोली—'प्राणेश! तुम्हीं हो इस रूप में!!' यह कहते-कहते वह मूर्छित हो गई। रानी के होश में आने पर राजकुमार उनसे कहते हैं—'जिसे हम मृत्यु कहते हैं, और जिसके भय से संसार काँपता है, वह केवल एक यात्रा है। उस यात्रा में भी मुझे तुम्हारी याद आती थी।...... यह कर्मलोक है, वहाँ भोगलोक, और कर्म का दण्ड भोग से कहीं भयंकर होता है।...देखता था कि मेरे प्रेमसिंचित उद्यान को भाँति भाँति के पशु कुचल रहे हैं। मेरे प्रणय के पवित्र सागर में हिंसक जल-जन्तु दौड़ रहे हैं, और देख-देख कर क्रोध से विह्वल हो जाता था। कितने दिनों मेरी यह अवस्था रही, पता नहीं।' इसके बाद राजकुमार ने यह बताया कि उनका जन्म हुआ, वे शिक्षा के लिए बर्लिन गये, और वहीं पर एक तिब्बती भिक्षु से उनकी भेंट हुई, और उसी के साथ

वे तिब्बत गये, फिर वहाँ पर एक महात्मा से उनकी भेट हुई जो पूर्व-जन्म में डार्विन थे। इसी महात्मा की सेवा में रहते-रहते पूर्वजन्म के सम्बन्ध में ज्ञान तथा और न मालूम क्या-क्या अलौकिक शक्तियाँ राजकुमार को प्राप्त हो गई। राजकुमार ने देवप्रिया से प्रस्ताव किया कि अगर वह चाहती है तो वह उनके साथ चल सकती है। तदनुसार रानी कुँअर विशालसिंह को राज्य देकर राजकुमार के साथ चल दी।

मुंशीजी अब राजा विशालसिंह के मुसाहिबों में हो गये। रोज महफिल जगती थी। बाहर से एक फजलू उस्ताद आये हुए थे। फजलू ने मलार छेड़ा, और मुंशीजी झूमने लगे। फजलू मुंशीजी को ही अपना कमाल दिखाते थे। उनके सिवाय और उनकी निगाह में कोई था ही नहीं। उस्ताद लोग वाह-वाह का तार बाँधे हुए थे, मुंशीजी आँखें बन्द किये सिर हिला रहे थे, और महफिल के लोग एक-एक करके बाहर चले जा रहे थे। दो-चार सज्जन बैठे थे, वह वास्तव में सो रहे थे। फजलू को इसकी जरा भी परवाह न थी कि लोग उसका गाना पसन्द करते हैं या नहीं। उस्ताद उस्तादों के लिए गाते हैं। गुणी गुणियों की ही निगाह में सम्मान पाने का इच्छुक होता है, जनता की उसे परवाह नहीं होती। अगर उस महफिल में अकेले मुंशीजी होते तो भी फजलू इतना ही मस्त होकर गाता। धनी लोग गरीबों की क्या परवाह करते हैं! विद्वान मूर्खों को कब ध्यान में लाते हैं। इसी भाँति गुणीजन अनाड़ियों की परवाह नहीं करते। उनकी निगाह में मर्मज्ञ का स्थान धन और वैभव के स्वामियों से कहीं ऊँचा होता है। मलार के बाद फजलू ने निर्गुण गाना शुरू किया, रागिनी का नाम तो उस्ताद ही बता सकते हैं। उस्तादों के मुख में सभी रागिनी समान रूप धारण करती हुई मालूम होती है। आग में पिघल कर सभी धातुयें एक-सी हो जाती हैं। मुंशीजी को इस राग ने मतवाला कर दिया। पहले बैठे-

बैठे झूमते थे, फिर खड़े होकर झूमने लगे। झूमते-झूमते आप ही आप उनके पैरों में गति-सी होने लगी। हाथों के साथ पैरों से भी ताल देने लगे। यहाँ तक कि वह नाचने लगे। उन्हें इसकी जरा भी झेंप न थी कि लोग दिल में क्या कहते होंगे। गुणी को अपना गुण दिखाते शर्म नहीं आती। पहलवान को अखाड़े में ताल ठोंक कर उतरते क्या शर्म ! जो लड़ना नहीं जानते, वे ढकेलने से भी अखाड़े में नहीं जाते। सभी कर्मचारी मुँह फेर-फेर कर हँसते थे। जो लोग बाहर चले गये थे, वे भी यह ताण्डव नृत्य देखने के लिए आ पहुँचे। यहाँ तक कि विशाल-सिंह भी हँस रहे थे। मुंशीजी के बदले देखने वालों को झेंप हो रही थी, लेकिन मुंशीजी अपनी धुन में मग्न थे। गुणी गुणियों के सामने अनुरक्त हो जाता है। अनाड़ी लोग तो हँस रहे थे, और गुणी लोग नृत्य का आनन्द उठा रहे थे। नृत्य ही अनुराग की चरम सीमा है। नाचते-नाचते मुंशीजी आनन्द से विह्वल हो कर गाने लगे।......इस समय तो उनकी फुर्ती और चुस्ती जवानों को भी लज्जित करती थी। उनका उछल कर आगे जाना फिर उचक कर पीछे आना, झुकना और मुड़ना और एक-एक अंग को फेरना वास्तव में आश्चर्यजनक था।

इसी प्रकार मुंशीजी अपनी मनमाँगी मुराद पा गये। वे इसी जगत के कीड़े थे, उन्हें यही जगत भाता था। मुंशीजी अब अपने को शहर के प्रमुख गण्यमान्य लोगों में गिनने लगे थे। वे चाहते थे कि चक्रधर का विवाह कहीं अच्छी जगह हो, किन्तु पूछने पर मालूम हुआ कि चक्रधर अहल्या से विवाह करने का वचन दे आये हैं, और किसी भी प्रकार कहीं और विवाह नहीं करेंगे। चक्रधर मनोरमा को अब भी पढ़ाते थे। मनोरमा की ओर से बराबर प्रेम का प्रदर्शन होता था। कभी वह रुपये दे देती, कभी कुछ कहती, तो कभी कोई ऐसे भाव व्यक्त करती जिससे उसका हृदयगत प्रेम प्रकट हो जाता था। मनोरमा की माँ मर चुकी

थी, किन्तु ठाकुर हरिसेवक ने लौंगी नामक जिस स्त्री को बैठा लिया था, वह घर की मालकिन थी, और मनोरमा तथा उसके भाई के साथ माँ की ही तरह व्यवहार करती थी। हरिसेवक के पुत्र सेवक लौंगी से बहुत नाराज थे कि यह कहाँ से घर की मालकिन बन बैठी, किन्तु लौंगी का घर पर अखंड राज्य था। उसका व्यवहार नौकर-चाकरों से भी इतना अच्छा था कि वे यह कहा करते थे कि यदि लौंगी चली गई तो वे भी नौकरी छोड़ कर चल देंगे।

राजा साहब के तिलक की जबर्दस्त तैयारियाँ हो रही थीं। प्रान्त भर के रईस बुलाये जा रहे थे। बेगार से ही बहुत-सा काम चल रहा था, किन्तु सभी काम बेगार से तो नहीं हो सकता। कलकत्ते से थिएटर कम्पनी बुलाई गई थी, मथुरा की रासलीला मण्डली को न्यौता दिया गया था। खर्च का तखमीना पाँच लाख से ऊपर था। प्रश्न था रुपये कहाँ से आवें। खजाने में फंफी कौड़ी भी न थी। असामियों से छःमाही लगान पहले ही वसूल किया जा चुका था। कोई कुछ कहता था कोई कुछ। मुहूर्त आता जाता था, और कुछ निश्चय न होता था, यहाँ तक कि केवल पन्द्रह दिन रह गये। मुंशीजी ने और दीवान साहब ने राय दी कि असामियों पर हल पीछे दस रुपया चन्दा लगा दिया जाय। राजा साहब इस पर आपत्ति करते रहे कि असामी गरीब हैं, उन्हें कष्ट होगा, किन्तु मुंशीजी ने यह समझा दिया कि असामियों को राजा साहब जितना गरीब समझते हैं, वे उतना गरीब नहीं होते। 'एक-एक आदमी लड़के-लड़कियों की शादी में हजारों उड़ा देता है, दस रुपये की रकम इतनी ज्यादा नहीं कि किसी को अखर सके।' राजा साहब ना ना करते रहे, फिर इस बात पर राजी हुए कि किसी भी हालत में सख्ती न की जाय, और कोई शिकायत की बात न हो। अब चन्दा वसूल होने लगा! चारों तरफ लूट-खसोट होने लगी। गालियाँ और ठोंक-पीट तो साधारण बात थी। किसी के बैल खोल

लिये जाते थे, किसी की गाय छीन ली जाती थी, कितनों ही के खेत कटवा लिये गये। बेदखली और इजाफे की धमकियाँ दी जाती थीं। जिसने खुशी से दिये, उसका तो १०) ही में गला छूट गया, जिसने हीले-हवाले किये, कानून बघारा उसे १०) के बदले २०), ३०), ४०) देने पड़े। चक्रधर ने जब यह अत्याचार देखा तो राजा साहब से शिकायत की, राजा साहब झल्ला गये। बोले कि वे खुद क्यों नहीं कहते? जब बताया गया कि वे डर के मारे नहीं कहते, तो उन्होंने बताया—असामी ऐसे बेसींग की गाय नहीं होते। जिसको किसी बात की अखर होती है, वह चुप नहीं बैठा रहता। उसका चुप रहना ही इस बात का प्रमाण है कि उसे अखर नहीं है, या है तो बहुत कम......। मैं अपने कर्मचारियों से अलग कुछ नहीं हूँ।' कहते-कहते राजा साहब यहाँ तक कह गये—'यह सब तुम्हारे आदमियों की शरारत है। तुम्हारी समिति के आदमी जा-जाकर असामियों को भटकाते रहते हैं। इन्हीं लोगों की शह पाकर वे सब शेर हो गये हैं।'

अन्त में चक्रधर वहाँ से निराश होकर लौटे। उत्सव के केवल तीन दिन बाकी थे। सब इन्तजाम ठीक था, किन्तु किसी कैम्प में घास नहीं थी। जब ठाकुर हरिसेवक को यह बात मालूम हुई तो वे हन्टर लेकर चमारों पर जुट गये। कुछ चमार अकड़ गये तो उन पर और मार पड़ी। एक चमार बोला—'हम यहाँ काम करने आये हैं, जान देने नहीं आये हैं, एक तो भूखों मरें, दूसरे लात खायँ। हमारा जनम इसीलिए थोड़े ही हुआ है? जिससे चाहिये काम कराइये, हम घर जाते हैं।'

ठाकुर साहब फिर हन्टर फटकार कर बोले—'कहाँ भाग कर जाओगे? गाँव में घुसने भी नहीं पाओगे। क्या सरकारी काम को हँसी-खेल समझ लिया है?'

चमार—सरकार अपना गाँव ले लें, हम छोड़ कर चले जायँगे।

ठाकुर—खेत छीन लिये जायँगे। घर गिरा दिये जायँगे। इस फेर में मत रहना।

चमार—आपको अख्तियार है जो चाहें करें। हमें अब इस राज्य में नहीं रहना है। कुछ हाथ-पाँव थोड़े ही कटाये बैठे हैं। अगर कहीं ठिकाना न लगेगा तो मिरिच-डमरा तो है ही।

मुंशी—जिसने बाड़े के बाहर कदम रखा, उसकी शामत आ गई।

चमार फिर भी नहीं माने, और वे बाड़े के द्वार की ओर चले। इसी समय उधर से राजा साहब आ पहुँचे। चमारों के चौधरी ने उनसे रो कर शिकायत की कि बड़ा अन्याय हो रहा है, किन्तु राजा साहब बोले—तुम सब के सब मुझे बदनाम करना चाहते हो। हमेशा से लात खाते चले आये हो, और वही तुम्हें अच्छा लगता है। मैंने तुम्हारे साथ भलमनसी का बर्ताव करना चाहा था, लेकिन मालूम हो गया कि लातों के देवता बातों से नहीं मानते। तुम नीच हो, और नीच लातों के बगैर सीधा नहीं होता। तुम्हारी यही मर्जी है तो यही सही।

चौधरी—जब लात खाते थे, तब खाते थे। अब न खायँगे।

राजा—क्यों? अब कौन सुरखाव के पर लग गये हैं?

चौधरी—वह समय लद गया। क्या अब हमारी पीठ पर कोई नहीं कि मार खाते रहें, और मुँह न खोलें? अब तो सेवा सम्मति हमारी पीठ पर है।......

राजा साहब होठ चबाने लगे। राजा साहब तुल गये कि इनसे आज निपट लेना है। उधर चक्रधर ने ऐसे नाजुक मौके पर दूर खड़े होकर तमाशा देखना लज्जाजनक समझा। वे जाकर हड़तालियों के बीच डट गये। उनको देखते ही हड़तालियों का दिल बढ़ गया। राजा

साहब चक्रधर के पास गये, और उन्हें समझाने लगे। चौधरी के सामने राजा साहब जितने नाराज हो रहे थे, चक्रधर के सामने उतना ही पहले ठण्डे पड़ गये। हरिसेवक ने राजा साहब से शिकायत की कि ये लोग कहते फिरते हैं कि ईश्वर ने सभी मनुष्यों को बराबर बनाया है, किसी के ऊपर राज्य करने का अधिकार नहीं है, किसी को किसी से बेगार लेने का अधिकार नहीं है; इस पर राजा साहब ने कहा—'इन बातों से तो कोई बुराई नजर नहीं आती। मैं खुद प्रजा से यही बातें करना चाहता हूँ।' हरिसेवक ने यह कहा कि हुजूर ये लोग कहते हैं कि जो जमीन से बीज उगाये, वही उसका मालिक है, इस पर भी राजा साहब ने कहा कि 'बहुत ठीक कहते हैं। इसमें तो मुझे बिगड़ने को कोई बात नहीं मालूम होती। वास्तव में मैं प्रजा का गुलाम हूँ, बल्कि उसके गुलाम का गुलाम हूँ।'

चक्रधर ने बल्कि अपनी सफाई में कहा—मैंने प्रजा को उनके अधिकार अवश्य समझाये हैं, लेकिन यह कभी नहीं कहा कि राजा को संसार में रहने का कोई हक नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूँ जिस दिन राजाओं की जरूरत नहीं रहेगी, उस दिन उनका अन्त हो जायेगा। देश में वही राज्य व्यवस्था होती है जिसका वह अधिकारी होता है।

राजा साहब जो कुछ कह रहे थे, वह आधा गम्भीरता में और आधा बनाने के लिए कह रहे थे। थोड़ी देर में ही वे अपने असली रूप में प्रकट हुए। बोले—अच्छा बाबूजी, अब अपनी जबान बन्द करो। मैं जितनी ही तरह देता जाता हूँ, आप उतने ही सिर चढ़े जाते हैं। मित्रता के नाते जितना सह सकता था, उतना सह चुका, अब नहीं सह सकता। मैं प्रजा का गुलाम नहीं हूँ। प्रजा मेरे पैरों की धूल है, मुझे अधिकार है कि उसके साथ जैसा उचित समझूँ वैसा सलूक करूँ। किसी को हमारे और हमारी प्रजा के बीच में बोलने

का हक नहीं है। आप अब कृपा करके यहाँ से चले जाइये, और फिर कभी रियासत में कदम न रखना, वरना शायद आपको पछताना पड़े। जाइये।

बात बात में बात बढ़ गई, और राजा साहब तिलमिला कर बन्दूक लिये हुए चक्रधर के पीछे दौड़े, और ऐसे जोर से उन पर कुन्दा चलाया कि सिर पर लगता, तो शायद वहीं ठंडे हो जाते, मगर कुशल हुई। कुन्दा पीठ में लगा था। चक्रधर जमीन पर गिर पड़े। बस फिर क्या था, पाँच हजार आदमी बाड़े को तोड़ कर बाहर निकले, और दंगा करने लगे। गोली चल गई। चक्रधर ने उठकर दंगा शान्त करना चाहा। लोग मजिस्ट्रेट को मारने में लगे हुए थे, चक्रधर ने उन्हें बचा लिया। कहा—'मेरी लाश को पैरों से कुचल कर तभी तुम आगे बढ़ सकते हो।' मजदूरों ने चक्रधर को हट जाने के लिए कहा, बात यह है इस समय तक कई आदमी गोलियों से मारे जा चुके थे। मजदूर बोले—तुम शान्त शान्त बका करते हो, लेकिन उसका फल क्या होता है? हमें जो चाहता है मारता है, जो चाहता है पीटता है, तो क्या हमीं शान्त बैठे रहें? शान्त रहने से तो और भी हमारी दुर्गति होती है। हमें शान्त रहना न सिखाओ, हमें मरना सिखाओ तभी हमारा उद्धार कर सकोगे।

चक्रधर बोले—...संसार को मनुष्य ने नहीं बनाया ईश्वर ने बनाया है। भगवान ने उद्धार के जो उपाय बताये हैं, उनसे काम लो, और ईश्वर पर भरोसा रखो।

मजदूरों को इस बात की भी फिक्र थी कि उन्होंने जो कुछ दङ्गा-फसाद किया था, उसके फलस्वरूप उन्हें सजा मिलेगी। बोले—हमारी फाँसी तो हो ही जायेगी, तुम माफी तो न दिला सकोगे।

मिस्टर जिम (मजिस्ट्रेट)—'हम किसी को सजा न देंगे।' किसी तरह मजदूर लौट गये। मजे की बात यह है, जब सब खतरा दूर हो

गया तो जिम उल्टा चक्रधर से कहने लगा—'हम तुम्हारे ऊपर बगावत का मुकदमा चलावेगा। तुम dangerous आदमी है।' राजा साहब ने चाहा कि चक्रधर यह प्रतिज्ञा लिख कर दे दें कि वे या उनके सहकारी इस रियासत में न रहें, किन्तु चक्रधर उस पर राजी न हुए। तब चक्रधर गिरफ्तार कर लिये गये। जेल में जाकर वज्रधर ने अपने पुत्र चक्रधर को बहुत समझाया कि वह माँफीनामा लिख दे किन्तु वे इस पर राजी न हुए।

जब चक्रधर जेल में चले गये तो उनको छुड़ाने की कोशिश करने के लिए कई बार मनोरमा राजा विशालसिंह से मिली। राजा साहब की जवानी कब की गुजर चुकी थी, किन्तु उनका हृदय अभी तक प्रेम से वंचित था। तीन रानियों से उन्हें कुछ भी न मिला था। मनोरमा को देख कर उनके हृदय में नई-नई प्रेम-कल्पनायें अंकुरित होने लगीं। कहाँ वे गँवारिन रानियाँ, और कहाँ यह मनोरमा। वस्त्रों में सुरुचि, आभूषणों में सुबुद्धि, वाणी मधुर, एक-एक शब्द हृदय को पवित्रता में रँगा हुआ। उन्होंने मुंशीजी के जरिये से विवाह का प्रस्ताव करा दिया। विवाह तय हो गया। मनोरमा कुछ सोच कर इस विवाह में राजी हो गई।

चक्रधर जिस जेल में थे उसमें कैदियों पर खूब मनमाना होता था। एक दिन कैदी दारोगा पर टूट पड़े। दारोगा जी की सिट्टी-पिट्टी भूल गई। कहीं भागने का रास्ता न था। चक्रधर ने देखा अनर्थ हुआ जाता है, तो तीर की तरह झपटे। कैदियों के बीच में घुस कर धन्नासिंह का हाथ पकड़ लिया, और बोले—'हट जाओ, क्या करते हो?' धन्नासिंह का हाथ ढीला पड़ गया, किन्तु अभी तक उसने गर्दन न छोड़ी। चक्रधर बोले—'छोड़ो ईश्वर के लिए।' इस पर धन्नासिंह बोला—'आओ भी बड़े ईश्वर की पूँछ बने हो! जब यह रोज गालियाँ देता है, बात-बात पर हन्टर जमाता है, तब ईश्वर कहाँ सोया

रहता है, जो इस घड़ी जाग उठा।''पहले इससे पूछो, अब तो किसी को गालियाँ न देगा, मारने न दौड़ेगा ?' दारोगा ने कुरान की कसम खाई, तब उसकी जान छूटी, किन्तु ज्योंही वे दफ़्तर पहुँचे त्योंही पूरा गारद भेज दिया कि सरकशों को ठीक करे। जब कैदियों ने यह हाल देखा तो वे चक्रधर के विरुद्ध नारा देने लगे कि यह दगाबाज़ है, इसे मारो। चक्रधर ने दारोगा को बहुत रोकना चाहा कि वह और उसके सिपाही कैदियों पर न टूट पड़े, किन्तु उनका कुछ वश न चला वे गिरफ़्तार कर लिये गये, और कैदियों पर मार पड़ने लगी। कैदियों ने भी जोर का मुकाबिला किया, यहाँ तक कि उन्होंने जेल के गारद पर कब्जा कर लिया, इतने में बाहर से पुलिस पहुँची, और कैदी काबू में कर लिये गये। इस दंगे में चक्रधर को बहुत ज्यादा चोट आई।

मनोरमा ने जब यह सुना कि चक्रधर को बहुत चोट लगी है तो उसने राजा साहब को जिम के पास दौड़ाया कि उन्हें रिहा कर दिया जाय, कम से कम बाहर के अस्पताल में उनका इलाज हो। जिम नशे में था, उसने एक भी न सुनी। जब राजा साहब ने अधिक जोर डाला तो डैमफ़ूल सुअर का बच्चा इत्यादि कहा, और ठोकर मारने को दौड़ा। राजा साहब से अब जब्त न हुआ। क्रोध ने सारी चिन्ताओं को, सारी कमजोरियों को निगल लिया, राज्य रहे या जाय बला से। जिम ने ठोकर चलाई ही थी कि राजा साहब ने उसकी कमर पकड़ कर इतने जोर से पटका कि चारों खाने चित्त जमीन पर गिर गया। फिर उठना चाहता था कि राजा साहब उसकी छाती पर चढ़ बैठे, और उसका गला जोर से दबाया। कौड़ी की-सी आखें निकल आईं। मुँह से फिचकुर निकलने लगा। सारा नशा, सारा क्रोध, सारा अभिमान रफ़ूचक्कर हो गया। राजा ने गला छोड़ कर कहा—'गला घोंट दूँगा, इस फेर में न रहना। कच्चा ही चबा जाऊँगा। चपरासी या अहलकार

नहीं हूँ कि तुम्हारी ठोकरें सह लूँगा।' जिम नरम पड़ा, बोला—'राजा साहब, आप सचमुच नाराज हो गया, मैं तो आपसे दिल्लगी करता था।' अन्त में दोनों एक दूसरे से तपाक से मिले, और जिम ने कहा कि चक्रधर के सम्बन्ध में उनकी अर्जी मंजूर हो गई। राजा साहब यहाँ से सीधे घर पहुँचे तो वहाँ मनोरमा उनका इन्तजार कर रही थी। राजा ने सारी बातें उससे कह सुनाईं। जब वृत्तान्त समाप्त हुआ, तो मनोरमा के हृदय में प्रेम का अंकुर पहली बार जमा। वह एक उपासक की भाँति अपने उपास्य देव के लिए बाग में फूल तोड़ने आई थी, पर बाग की शोभा देख कर उस पर मुग्ध हो गई।

जब जेल दारोगा चक्रधर के पास यह हुक्म लेकर पहुँचा कि आपके लिए शहर के अस्पताल में रह कर इलाज कराने का हुक्म हुआ है, तो चक्रधर ने यह कह कर बाहर के अस्पताल जाने से इन्कार कर दिया कि चोट तो और को भी लगी है, फिर अकेले उसी का इलाज बाहर क्यों हो! फलस्वरूप चक्रधर वहीं रह कर अच्छे होने लगे। चक्रधर पर जेल में दंगा करने का मुकदमा भी चलाया गया। मनोरमा को यह मालूम हुआ कि यह मुकदमा उसके भाई गुरुसेवकसिंह के इजलास में है, उसने कोशिश करा कर चक्रधर को इस मुकदमे से बरी करा दिया। जब इस प्रकार चक्रधर इस मुक़दमे से छूट गये तो सभी को बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि गुरुसेवकसिंह पक्का खैरख्वाह समझा जाता था। इसके बाद चक्रधर का चालान आगरा जेल हो गया। वहाँ पर अहल्या उससे मुलाकात करने आई। उससे चक्रधर को मालूम हुआ कि मनोरमा का विवाह राजा विशालसिंह से हो गया; इस बात को सुनकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ और वह अपने मन ही मन सोचने लगे कि इसका क्या कारण है कि ऐसा हुआ।

राजा विशालसिंह मनोरमा पर लट्टू थे। वे हर समय उसकी दिलजोई करते, और रुख देख कर चलते। अब तक जिन स्त्रियों से राजा का

सावका पड़ा था, मनोरमा उन सबों से भिन्न थी। न उसे वस्त्राभूषणों से प्रेम था न किसी से ईर्ष्या या द्वेष। ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्वर्गलोक की देवी है। राज्य का सूत्र बहुत कुछ मनोरमा के हाथ में आ गया। पहले जिले के हुक्कम रियासत में आते तो रियासत में खलबली मच जाती। कर्मचारी सारे काम छोड़ कर हुक्काम को रसद पहुँचाने में मुस्तैद हो जाते थे। अब उनकी कोई विशेष परवाह नहीं की जाती थी। सूबे का लाट ही क्यों न हो, नियमों के विरुद्ध एक कदम रखने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। सबसे विचित्र बात यह थी कि राजा साहब की विषयवासना सम्पूर्णतः लोप हो गई थी।

जब चक्रधर अपनी सजा काट कर लौटे तो स्टेशन पर मनोरमा के कारण राज्य की ओर से उनका बहुत जोर का स्वागत हुआ। मनोरमा ने स्वागत के लिए एक दीर्घ व्याख्यान भी लिख रखा था, किन्तु समय आने पर वह उसे पढ़ न सकी। राजा साहब ने ही उसे पढ़ा। बहुत जोर का जुलूस भी निकला। बाद को मनोरमा और चक्रधर में एकान्त में बातचीत हुई। चक्रधर ने यह कहा कि वह देहातों में जाकर काम करना चाहते हैं। बोले—'हमारे नेताओं में यही तो बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में पड़े रहते हैं, जिससे देहातों की सची दशा उन्हें नहीं मालूम होती। न उन्हें वह शक्ति हाथ आती है, न जनता पर उनका प्रभाव पड़ता है, जिसके बगैर राजनैतिक सफलता हो ही नहीं सकती। मैं उस गलती में न पड़ूँगा।' मनोरमा ने यह इच्छा प्रकट की कि वह देहात में घूम-घूम कर उनके साथ काम करे। चक्रधर ने मना किया और कहा कि उसका कोमल शरीर उन कठिनाइयों को न सह सकेगा। मनोरमा से उन्होंने कहा कि उसके लिए इतना ही बहुत है कि वह राज्य में प्रजा को सुखी और सन्तुष्ट रखे। मनोरमा ने कहा—'मैं अकेली कुछ न कर सकूँगी। कम से कम आप इतना तो कर ही सकते हैं कि अपने

कामों में मुझसे धन की सहायता लेते रहें। ज्यादा तो नहीं पाँच हज़ार रुपये प्रति मास आपको भेंट कर सकती हूँ, आप जैसे चाहे, इसका उपयोग करें। मेरे सन्तोष के लिए इतना ही काफी है कि वे आपके हाथों खर्च हों। मैं कीर्ति की भूखी नहीं। केवल आपकी सेवा करनी चाहती हूँ।' फिर बोली—'आप मुझे दिल में जो चाहे समझें, मैं इस समय आपसे सब कुछ कह दूँगी। मैं हृदय में आपकी उपासना करती हूँ। मेरा मन क्या चाहता है, यह मैं स्वयं नहीं जानती। अगर कुछ-कुछ जानती भी हूँ तो कह नहीं सकती। हाँ, इतना कह सकती हूँ जब मैंने देखा की परोपकार कामनायें धन के बिना निष्फल हुई जाती हैं, यही आप के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। तो मैंने उसी बाधा को हटाने के लिए यह बेड़ी अपने पैरों में डाली। मैं जो कुछ कह रही हूँ, इसका एक-एक अक्षर सत्य है। मैं यह नहीं कहती कि धन से मुझे घृणा है। नहीं, मैं दरिद्रता को संसार की विपत्तियों में सबसे दुखदाई समझती हूँ, लेकिन मेरी सुख-लालसा किसी भले घर में शान्त हो सकती थी। उसके लिए मुझे जगदीशपुर की रानी बनने की ज़रूरत न थी। मैंने केवल आपकी इच्छा के सामने सिर झुकाया है, और मेरे जीवन को सफल करना आपके हाथ में है।'

आगरे के हिन्दुओं और मुसलमानों में आये दिन जूतियाँ चलती रहती थीं, और ज़रा-ज़रा सी बात पर दोनों दलों के सिरफरे जमा हो जाते, और दो-चार के अंगभंग हो जाते। कहीं बनिये ने डंडी मार दी, और मुसलमानों ने उसकी दुकान पर धावा कर दिया, कहीं किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घड़ा छू लिया, और मुहल्ले में फौजदारी हो गई। एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया, और इसी पर मुहल्ले भर के हिन्दुओं के घर लुट गये, दूसरे मुहल्ले में दो कुत्तों की लड़ाई पर सैकड़ों आदमी घायल हुए, क्योंकि एक सोहन का कुत्ता था, दूसरा सईद का। निज के रगड़े-झगड़े साम्प्रदायिक

संग्राम के क्षेत्र में खींच लाये जाते थे। दोनों ही दल मजहब के नशे में चूर थे। मुसलमानों ने बजाजे खोले, हिन्दू ने चे बाँधने लगे, सुबह को ख्वाजा साहब हाकिम जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनों अपनी-अपनी राजभक्ति का राग अलापते। देवताओं के भाग्य जागे, जहाँ कुत्ते निद्रासन किया करते थे, वहाँ पुजारी जी की भंग घुटने लगी। मसजिदों के दिन फिरे, मुल्लाओं ने अबाबीलों को बेदखल कर दिया। जहाँ साँड़ जुगाली करता था, वहाँ पीर साहब की हंडिया चढ़ी। हिन्दुओं ने महावीर दल बनाया, मुसलमानों ने अली गोल सजाया। ठाकुरद्वारे में ईश्वर-कीर्तन की जगह नबियों की निन्दा होती थी, मसजिदों में नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया, जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सवाब मिलेगा। यशोदानन्दन ने काशी के पंडितों की व्यवस्था मँगवाई कि एक मुसलमान का वध एक लाख गोदानों से श्रेष्ठ है। होली के दिन थे। एक मियाँ साहब मुर्गी हाथ में लटकाये चले जा रहे थे। उनके कपड़े पर दो-चार छींटें पड़ गये। बस, गजब ही तो हो गया। मियाँ साहब जामा मसजिद पहुँचे, और मिनार पर चढ़ कर बाँग दी—'ये उम्मते रसूल! आज एक काफिर के हाथों मेरे दीन का खून हुआ है।...' सारे शहर में दंगा शुरू हो गया। यशोदानन्दन को मौके से पाकर मुसलमानों ने मार डाला। अब तो दंगा और भी जोर का हो गया। मौका पाकर कुछ गुंडे अहल्या को उठा ले गये। ख्वाजा साहब इतने के लिए तैयार न थे। ख्वाजा साहब ने जो यशोदानन्दन की लाश देखी तो वे रो पड़े। हिन्दुओं ने जाकर ख्वाजा साहब को यह भी इत्तिला की कि अहल्या को मुसलमान उठा ले गये हैं। इधर अहल्या की तलाश होने लगी, किन्तु चक्रधर के घर में इस बात पर बहस होने लगी कि यदि वह लौट भी आवे तो वह भ्रष्टा समझी जाय या और

कुछ । निर्मला ने ही यह राय दी। सुन कर चक्रधर बोला—'भ्रष्ट वह होता है, जो दुर्वासना से कोई काम करे। जो काम हम प्राण भय से करें वह हमें भ्रष्ट नहीं कर सकता।' वज्रधर भी इसी राय को हुये, बोले—'ऐसा लड़का मर जाय तो भी गम न हो।' निर्मला इतनी बात के लिए तैयार न थी, पति से बोली—'बड़े धर्मात्मा बनकर आये हो, रिश्वतें ले लेकर हड़पते हो, तो धर्म नहीं जाता, शराब उड़ाते हो, तो मुँह में कालिख नहीं लगती। लड़का एक अनाथिनी की रक्षा करने जाता है, तो नाक कटती है। तुमने कौन-सा कुकर्म नहीं किया, अब देवता बनने चले हो!'

चक्रधर आगरा पहुँचे, कुछ सलाह मशविरा के बाद वे ख्वाजा के घर पहुँचे। वहाँ देखा तो एक लाश रखी हुई है। चक्रधर को मालूम नहीं था कि यह लाश किसकी है। उन्होंने बताया कि अहल्या को बदमाश लोग पकड़ ले गये हैं।

ख्वाजा—'यह वही बदमाश है जिसकी लाश तुम्हारे सामने पड़ी हुई है। वह इसी की हरकत थी। मैं तो सारे शहर में अहल्या की तलाश करता फिरता था, और वह मेरे ही घर में कैद थी। यह जालिम उस पर जब्र करना चाहता था। मौका पाकर लड़की ने सीने में छुरी भोंक दी ऐसे लड़के की मौत पर कौन बाप रोयेगा। काश, इस मुल्क में अहल्या सी लड़कियाँ होतीं।' ख्वाजा ने चक्रधर को इस बात के लिए बधाई दी कि इस प्रकार की स्त्री, उसे मिल रही है। यशोदानन्दन के क्रिया-कर्म के तीसरे ही दिन चक्रधर और अहल्या का विवाह हो गया। चक्रधर थोड़े ही दिन में अहल्या को लेकर अपने घर पहुँचा। वज्रधर और निर्मला ने पहले तो इस विवाह को स्वीकार न करना चाहा था, किन्तु बाद को उन्होंने वधू का अच्छी तरह स्वागत किया किन्तु दोनों उसके हाथ से खाते नहीं थे, और इस बात को छिपाने के लिए एक महराजिन रख ली। एक दिन यह बात इस तरह खुल गई कि महरा-

जिन ने बहू से तरकारी बघारने के लिए घी माँगा, बहू घी लिये हुए चौके में चली गई। चौका छूत हो गया। चक्रधर ने तो खाना खाया, और सबके लिए बाजार से पूरियाँ आईं। बहू तभी से बिस्तरे पर पड़ गई, और चक्रधर घर छोड़ने पर तैयार हो गये। उसी शहर में रहते हुए अलग रहना ठीक न होता, इसलिए चक्रधर इलाहाबाद के लिए रवाना हो गये, और वहाँ जैसे-तैसे गुजारा करने लगा। दोनों को आर्थिक कठिनाई बहुत रही। कुछ समय बाद बनारस से यह तार आया कि मनोरमा सख्त बीमार है, अन्तिम घड़ी निकट मालूम देती है। तार पाकर दोनों बनारस रवाना हुए। अबकी बार ये तीन प्राणी थे, क्योंकि इस बीच अहल्या को एक पुत्र भी हुआ था। मनोरमा की बीमारी का कारण चक्रधर के प्रति उसका प्रेम ही था, इसलिए चक्रधर के आते ही वह अच्छी होने लगी। अबकी बार जब अहल्या राजा विशालसिंह के पास आई तो उन्हें कुछ अकाट्य प्रमाण ऐसे मिले जिससे यह ज्ञात हो गया कि अहल्या बीस साल पहले राज की जो लड़की खो गई थी, वही है।

अहल्या को अपने पुराने दिन भूल गये, वह अच्छी खासी अमीर-जादी बन गई। सारे दिन आमोद-प्रमोद के सिवाय उसे दूसरा काम न था। पति के दिल पर क्या गुजर रही है, यह सोचने का कष्ट वह क्यों उठाती? जब वह खुश थी, तब उसके स्वामी भी अवश्य खुश होंगे। राज्य पाकर कौन रोता है! बच्चा शंखधर की भी अहल्या को परवाह नहीं रही। वह भी मनोरमा के पास रहता था। बल्कि अब माता की गोद में आते हुए झिझकता था। चक्रधर मनोरमा के कारण यहाँ से जाना चहता था, कि उसे डर था कि कहीं अहल्या जाने से इन्कार न कर दे। चक्रधर अजीब परिस्थिति में था। उसे कोई अपना न मालूम होता था। इसी उधेड़बुन में कि क्या करें और क्या न करें चक्रधर मोटर पर हवा खाने निकले। अकेले थे, सहसा रास्ते में एक

साँड़ आ पड़ा। बहुत भगाया किन्तु न हटा। चक्रधर छड़ी हाथ में लेकर उतरे कि उसे भगा दें, पर वह भागने के बदले उनके पीछे दौड़ा। साँड ने पीछा किया, तो वे पेड़ पर चढ़ गये। साँड ने लौटकर मोटर पर वार किये। मोटर की दुर्गति हो गई। साँड जब चला गया तो वे उतर कर पास के गाँव में गये कि लोगों की मदद से मोटर को ठीक किया जाय। जो व्यक्ति सामने मिला, उससे कहा कि चलो मदद करो तो उसने इन्कार किया। चक्रधर ने गुस्से में आकर कहा—'मैं कहता हूँ तुमको चलना पड़ेगा।' किसान ने दृढ़ता से कहा—'तो साहब इस तान पर तो हम न जायेंगे, पासी चमार नहीं हैं। हम भी ठाकुर हैं।' यह कह कर किसान घर जाने लगा। बात-बात में बात बढ़ गई। चक्रधर ने कह डाला—'चलता है या जमाऊँ दो चार हाथ। तुम लात के आदमी, बात से क्यों मानने लगे।' इसी तरह धक्कम धक्का होता रहा। इतने में सामने वाले घर में से लालटेन लिये एक आदमी निकला, यह वही जेल का धन्नासिंह था, इसने फौरन चक्रधर को पहचान लिया, यद्यपि वह उनका असली नाम नहीं जानता था। बोला'—यह आदमी जिसे आप ठोकरें मार रहे हैं, मेरा सगा भाई है.. तुम्हारा मिजाज इतना कड़ा कबसे हो गया। जेहल में तो तुम दया और धर्म के देवता बने हुए थे। क्या वह दिखावा ही दिखावा था? निकला तो था कुछ और ही सोच कर, मगर तुम अपने पुराने साथी निकले...।' किसी तरह धन्नासिंह मान गये। चक्रधर ने ग्लानि से कहा—'मैं बहुत लज्जित हूँ, मुझे क्षमा करो।' धन्नासिंह गद्गद् हो गया। धन्नासिंह को थोड़ी ही देर में ज्ञात हो गया कि जेल के यह 'भगतजी' बाबू बज्रधरसिंह के लड़के चक्रधरसिंह हैं। धन्नासिंह विस्मित होकर बोला—'सरकार ही बाबू चक्रधरसिंह हैं! धन्य भाग्य थे।' यह कहते हुए दौड़ कर घर में गया, और एक चारपाई लाकर द्वार पर डाल दी। फिर लपक कर गाँव में खबर दे आया। एक क्षण में गाँव के सब आदमी आकर चक्रधर को

नजरें देने लगे। चारों ओर हलचल-सी मच गई। सबके सब उनके यश गाने लगे। जब से सरकार आये हैं, हमारे दिन फिर गये हैं, आपका शील स्वभाव जैसा सुनते थे, वैसा ही पाया। आप साक्षात् भगवान हैं। स्वयं मन्नासिंह जिसको चोट लगी थी, वह कराह कर मुस्कराते हुए बोला—'सरकार देखने में तो दुबले-पतले हैं, पर आपके हाथ पाँव लोहे के हैं।' इस पर उसके भाई धन्नासिंह ने कहा—'अरे पागल, भाग्यवानों के हाथ-पाँव में ताकत नहीं होती, अकबाल में ताकत होती है।' सहसा सड़क की ओर से प्रकाश दिखाई पड़ा, जरा देर में दो मोटरें सड़क पर धीरे-धीरे जाती हुई दिखाई दीं, जैसे किसी को खोज रही हों। एकाएक दोनों उसी स्थान में पहुँच कर रुक गईं, जहाँ चक्रधर की मोटर टूटी पड़ी थी। मनोरमा मोटर लेकर उनकी तलाश में आई थी। वह उन्हें लेकर लौट गई।

उधर मनोरमा दिन-ब-दिन हावी होती जा रही थी। अहल्या ऐश्वर्य के उपभोग में डूबी हुई थी। चक्रधर ने एकाध बार अहल्या से चलने के लिए पूछा भी, तो वह चलने को तैयार तो हुई, किन्तु साफ समझ में आ गया कि ऐसा करते हुए उसे दुःख हो रहा है। तब चक्रधर एक दिन रात को चुपके से उठकर चल दिये। चलते हुए, यह बता दिया जाय कि मन्नासिंह मर गया, और उसके भाई को काफी जमीन माफी में दे दी गई।

कई साल हो गये। गुरुसेवक ने कोशिश कर कराकर लौंगी को घर से अलग कर दिया था। हरिसेवकसिंह कहते तो कुछ नहीं थे, किन्तु भीतर ही भीतर घुले जा रहे थे। जब रोग असाध्य हो गया, मनोरमा देखने आई, तो उसने गुरुसेवक से कहा कि लौंगी अम्मा को बुला दो, वह भले ही इन्हें संभाल ले। अन्त में लौंगी आई, किन्तु अब अन्तिम समय था। हरिसेवक ने हाथ फैलाकर कहा—'लौंगी,

और पहले क्यों नहीं आई।' लौंगी के ही आलिंगन में हरिसेवक ने प्राण त्याग दिया।

शंखधर को अपने पिता को ढूँढ़ निकालने की धुन सवार हुई। वह जब देखो तब इसी पर सोचा करता। अन्त में वह भी एक दिन घर से निकल खड़ा हुआ। जाते समय वह एक पत्र लिख गया कि वह क्यों जा रहा है। बड़ी लम्बी यात्राओं के बाद वर्षों में अपने पिता का पता लगा। उसने चुपके से अहल्या को एक पत्र भी लिखा, किन्तु अहल्या तब तक अपने ऐश्वर्य से ऊब कर यशोदानन्दन के खँडहर में रहने लगी थी। वह उन दिनों बहुत बीमार भी रहती थी। पत्र देर में मिला, इसके उत्तर में उसने यह लिखा कि मैं तो उठ भी नहीं सकती। शंखधर ने अभी अपने पिता से परिचय नहीं बताया था। सोचा शायद यह चले या न चले, मुझे तो जाना ही चाहिये। यह सोचकर वह रवाना हो गया। गाड़ी अंधकार को चीरती हुई चली जा रही थी। सहसा शङ्खधर 'हर्षपुर' का नाम सुन कर चौंक पड़ा। वह भूल गया, मैं कहाँ जा रहा हूँ, किस काम से जा रहा हूँ, मेरे रुक जाने से कितना बड़ा अनर्थ हो जायेगा। किसी अज्ञात शक्ति ने उसे गाड़ी खोलकर उतर आने पर मजबूर किया। उसने स्टेशन को गौर से देखा। उसे जान पड़ा, मानो उसने इसे पहले भी देखा है, वह एक क्षण तक आत्म-विस्मृति की दशा में खड़ा रहा, फिर टहलता हुआ स्टेशन के बाहर चला गया। सड़क पर हो लिया, आबादी की ओर चला। सामने एक विशाल भवन् दिखाई दिया। भवन् के भीतर का एक-एक कमरा उसकी आँखों में फिर गया। महल के बाग के द्वार पर संगीन चढ़ाये, एक चौकीदार खड़ा था। शङ्खधर को अन्दर कदम रखते देख कर बोला—'तुम कौन हो?' शङ्खधर ने डाँट कर कहा चुप रहो, हम रानी जी के पास जा रहे हैं।' यह रानी कौन थी, वह क्यों उसके पास जा रहा था, और उसका रानी से कब परिचय हुआ था, यह सब शङ्खधर

को कुछ न याद आता था। दरवान को उसने जो जवाब दिया था, वह भी अनायास ही निकल पड़ा था। बाग का एक-एक पौधा एक-एक क्यारी, एक-एक मूर्ति, हौज, संगमरमर का चबूतरा उसे जाना-पहचाना-सा मालूम होता था। वह निशंक भाव से राजभवन में जा पहुँचा। रानी को खबर दी गई। उस समय वह तपस्या में थी, पहले सुन कर नाराज हुई कि कोई आया है, किन्तु थोड़ी देर में पूर्वस्मृतियाँ जागृत हो गईं। बीस ही वर्ष तो उन्हें शरीर त्याग किये हुए। क्या ऐसा कभी हो सकता है ? रानी कमला बाहर गईं। रानी ने जो शङ्खधर को देखा तो बोली—'आज बीस वर्ष से तुम्हारी उपासना कर रही हूँ, आइये मेरे हृदय-मन्दिर में विराजिये।' शङ्खधर बोले—प्रिये, मेरी दृष्टि में तुम वही हो जो आज के बीस वर्ष पहले थी। नहीं, तुम्हारा आत्मस्वरूप उससे कहीं सुन्दर, कहीं मनोहर हो गया है।' शङ्खधर वहीं एक रात रहे फिर चल दिये।

बीस साल बाद मिली हुई लड़की, नाती, दामाद सब से वंचित होकर विशालसिंह के चरित्र में अजीब परिवर्तन हुआ था। उनकी सम्पूर्ण वृतियाँ हिंसा हिंसा पुकार रही थीं ! वह क्यों किसी पर दया करें ! मनोरमा पर भी वे नाराज रहने लगे, प्रजा पर अत्याचार करने लगे। मनोरमा ने रियासत का काम देखना छोड़ दिया। राजा साहब अपनी पाँचवीं शादी की फिक्र में रहने लगे। बरात चलने ही वाली थी कि शङ्खधर और अहल्या आ पहुँचे। पिता और पुत्री का सम्मिलन बड़े आनन्द का दृश्य था। आँसुओं की झड़ी लग गई। शङ्खधर कमला को साथ में ले आया था। अलौकिक ज्ञान से उसका चेहरा देवकन्याओं की तरह हो गया था। कमला को जगदीशपुर में आकर ऐसा मालूम हुआ कि वह एक युग के बाद अपने घर आई है। राजा साहब ने शङ्खधर को अपने बड़े भाई के रूप में पहचाना। वे मनोरमा से बोले—यह शङ्खधर मेरे भाई साहब ही हैं। चेहरे में तिल बराबर

भ ' फर्क नहीं है। इतनी समानता तो जुड़वा भाइयों में भी नहीं है। कोई पुराना नौकर नहीं है, नहीं तो इसकी साक्षी दिला देता।

शंखधर दिन रात अपने कमरे में बैठे लिखा-पढ़ा करते। वे सोचा करते मेरे बार-बार जन्म लेने का हेतु क्या है? क्या मेरे जीवन का उद्देश्य जवान होकर मर जाना ही है? क्या मेरी जीवन की अभिलाषायें कभी पूरी न होंगी? देवप्रिया अर्थात् अब कमला द्वारा पर आकर खड़ी हो गई। द्वार पर खड़े-खड़े कहा—'अन्दर आऊँ?' शंखधर उसे देख कर उन्मत्त हो गये। देवप्रिया ने फिर कहा—'अन्दर आऊँ?' शंखधर ने कातर स्वर में कहा—'नेकी और पूछ-पूछ!' देवप्रिया बोली—'नहीं प्रियतम, तुम्हारे पास आते डर लगता है।' शंखधर ने एक पग आगे बढ़ कर देवप्रिया का हाथ पकड़ा। देवप्रिया ने सहमी हुई आवाज में कहा—'मुझे छोड़ दो।' उसका हृदय धक-धक कर रहा था। शंखधर ने कहा—'घर आई हुई लक्ष्मी को कौन छोड़ सकता है।' देवप्रिया की चिरक्षुधित प्रेमाकांक्षा आतुर हो उठी। अनन्त वियोग से तड़पता हुआ हृदय आलिंगन के लिए चीत्कार करने लगा। उसने अपना सिर शंखधर के वक्षस्थल पर रख दिया, और दोनों बाहें उसके गले में डाल दीं। कितना कोमल, कितना मधुर, कितना अनुरक्त! फिर ऐसा हुआ कि वज्र बड़े वेग से उसके सिर पर गिरा। शंखधर बेहोश हो गया था, होश में आया तो बड़े क्षीण स्वर में बोला—'प्रिये फिर मिलेंगे। यह लीला उस दिन समाप्त होगी, जब प्रेम में वासना न रहेगी।' शंखधर मर गये। राजा साहब वहाँ आये तो आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी। खड़े-खड़े भूमि पर गिर पड़े, और दम निकल गया।

अन्त में चक्रधर भी आये। लोगों ने सब बताया। चक्रधर रोये नहीं, गम्भीर सुदृढ़ भाव से बोले—ईश्वर की इच्छा। मुझे किसी ने एक पत्र तक न लिखा। बीमारी क्या थी, इत्यादि। चक्रधर के आने

के बाद ही अहल्या भी मर गई। मनोरमा ने कहा—इन्हें दर्शन बदा था, नहीं तो प्राण कब के निकल चुके थे। इसके बाद कई साल बीत गए, मुंशी वज्रधर नहीं रहे। निर्मला भी मर गई। देवप्रिया फिर जगदीशपुर पर राज्य कर रही हैं। हाँ, उसका नाम बदल गया है; विलासिनी देवप्रिया अब तपस्विनी देवप्रिया है।

× × ×

सभी समालोचक इस विषय में सहमत हैं कि 'कायाकल्प' से प्रेमचन्द ने अब तक जो ख्याति प्राप्त की थी, उसमें कुछ वृद्धि नहीं हुई। रामरतन भटनागर का कहना है कि 'प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की कथावस्तु को हम समझ सकते हैं, परन्तु कायाकल्प की कथायें हमें चक्कर में डाल देती हैं। कौन कथा अधिकारिक है, कौन प्रासंगिक, प्रेमचन्द क्या कहना चाहते हैं, मूल बात क्या है, पाठक समझ नहीं पाता।' डाक्टर रामविलास कहते हैं, 'निर्माण की दृष्टि से कायाकल्प प्रेमचन्द का सबसे निर्बल उपन्यास है।' सत्य इससे भी कटुतर है। समग्र रूप से लेने पर यह उपन्यास न केवल उलजलूल, निरर्थक, शिथिल तथा लचर है, बल्कि इसका कुछ रुख भी प्रगति विरोधी है। इस उपन्यास के दो भाग हैं, एक में रानी देवप्रिया तथा उनके जन्मों का इतिहास है, दूसरे में चक्रधर की कथा है। रानी देवप्रिया वाला हिस्सा उपन्यास को सब तरह से—अर्थात् कला की दृष्टि से देखिये तो, और प्रगतिशील विचारों की दृष्टि से देखिये तो नीचे की ओर घसीटता है। इस हिस्से का क्या प्रतिपाद्य या आशय है, यह समझ में ही नहीं आता। इस उपन्यास में यह दिखलाया गया है कि रानी देवप्रिया के कई जन्म होते हैं, और हर बार उन्हें पतिरूप में वही व्यक्ति मिलता है, किन्तु शारीरिक मिलन की चेष्टा करते ही पाण्डु की तरह उस प्रेमी का देहान्त हो जाता है। वही भटनागरजी जो यह कहते हैं कि काया-कल्प उन्हें चक्कर में डाल देता है, न मालूम किस रहस्यवादी मनोवृत्ति

से परिचालित होकर और शायद यह भूल कर कि उन्होंने पहले वैसा कहा है, इस प्रसंग का यों 'उद्घाटन' करते हैं—

'जन्म-जन्मांतर में प्रेमप्रसंग के चित्रित करने में क्या तथ्य है ! जान पड़ता है प्रेमचन्द स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को दो स्तरों पर रख कर देख रहे हैं। आध्यात्मिक स्तर पर रख कर वे देखते हैं कि प्रेम अलौकिक है, दिव्य है, मनुष्य को उसका आस्वाद अप्राप्य है। वासना की झाँई पड़ते ही प्रेम की मृत्यु हो जाती है। यह प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा आदर्श है, दिव्य आदर्श है। हमारे सबके लिए तो सामाजिक और व्यावहारिक स्तर ही ठीक है, जहाँ स्त्री-पुरुष के लिए विवाह के सूत्र में बँधकर जीवन पर्यन्त, और एक की मृत्यु के बाद दूसरे का इस 'मर्यादा' की रक्षा करनी है। जन्म-जन्मान्तरों की बात न हम जान सकते हैं, न जानना भला हो है। परन्तु विवाह तन का नहीं मन का है।'

श्री भटनागर यदि इस प्रकार रहस्यवादी ढर्रे पर बहक गये तो हमें कोई विशेष आश्चर्य नहीं है, किन्तु हमें इस बात से बहुत ही आश्चर्य है कि डाक्टर रामविलास शर्मा भी इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के मन्तव्य करते हैं। वे कहते हैं 'नारी की लालसा यदि जन्म-जन्मांतर भी अतृप्त रहे तो क्या आश्चर्य ! मानों उस लालसा की अस्वस्थ तीव्रता को व्यक्त करने के लिए ही प्रेमचन्द ने उसके प्रेमी को बार-बार जन्माया है, और यह नारी उस युवा को बार-बार ग्रस लेती है, अन्तिम बार जब वह शंखधर के रूप में पैदा होता है।'

भटनागरजी ने वासना की झाँई वाली जो व्याख्या की है, वह बहुत मनोज्ञ होने पर भी तथा विद्वान समालोचक की काल्पनिकता की साक्षी होने पर भी तथ्य से कहीं दूर है। रानी देवप्रिया अपने पति के मरने के बाद बराबर भ्रमरवृत्ति से काम लेती रही, न मालूम कितने नौनिहाल फूलों का जीवन मधु उन्होंने चूस लिया। फिर भी वह प्रत्येक

जन्म में पति के रूप में अपने पूर्वपति को पाती जाती है, इससे प्रेम की आध्यात्मिकता तथा चिरन्तनता सूचित होती है, अथवा यह ज्ञात होता है कि प्रेम भी भाग्य की तरह एक अनियंत्रित शक्ति है, जिससे तर्क से कोई सम्बन्ध नहीं ? रहा जन्मजन्मान्तरों तक चलने वाला प्रेम और पति-पत्नी सम्बन्ध कल्पना जगत में कितनी भी मधुर हो, वास्तविक जगत में बराबर पुरुष-प्रधान समाज में इस विचार के द्वारा स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रखा है। यदि पति मर जाय, तो स्त्री फिर से शादी नहीं कर सकती, चाहे उसने पति का मुँह कभी देखा भी न हो, क्योंकि पति-पत्नी का सम्बन्ध एक जन्म का नहीं बल्कि जन्मजन्मान्तरों का है, किन्तु यदि स्त्री मर जाय तो यह धारणा कभी भी पुरुष को पुनर्विवाह से रोक नहीं पाई। इस प्रसंग में जन्मजन्मान्तरगत पति-पत्नी सम्बन्धवाली धारणा की सामाजिक अन्तर्गत वस्तु को देख लेना बिल्कुल अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। यदि भटनागरजी की समालोचना मानी जाय तो प्रेमचन्दजी इस उपन्यास के देवप्रियावाले हिस्से में पक्के प्रतिक्रियावादी तथा पुरुष-प्रधान समाज के पिट्ठू के रूप में सामने आते हैं। डाक्टर रामविलास ने भी मानों लगा कर इसी विचारसरणि का अनुसरण किया है, यह बहुत ही दुःख की बात है। प्रगतिशील समालोचना किसी भी अवस्था में अपने को रहस्यवाद के वाग्जाल में फँसने नहीं दे सकती, वह तो हर हालत में किसी भी साहित्य को उसकी अन्तर्गत वस्तु के कारण ही भला या बुरा करार देगी। जन्मान्तरवाद की धारणा ही प्रगति-विरोधी है। भारतीय आर्य-समाज की एक पतनशील अवस्था में इस धारणा की उत्पत्ति हुई। जन्मान्तरवाद Status quo का समर्थन करता है। यह बताता है कि अमीर इसलिए अमीर है कि उसने पूर्वजन्म में सुकृत्य किये हैं, गरीब इसलिए गरीब है कि उसके कृत्य इसी के अनुरूप हैं। यदि इस जन्म में न्याय नहीं हुआ तो अगले में होगा। हमने अन्यत्र जन्मान्तरवाद

और कर्म-सिद्धान्त की बहुत विस्तृत आलोचना की है, यहाँ पर संक्षेप में भी उसकी पुनरावृत्ति की कोई गुंजाइश नहीं है। फिर हम दूर क्यों जाँय, यदि उल्लिखित विद्वान समालोचकगण ने प्रेमचन्द साहित्य को ही इस सम्बन्ध में खोजा होता तो उन्हें पुनर्जन्मवाद की अन्तर्गत वस्तु क्या है, यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाता।

बाद को प्रेमचन्द ने ही कर्मभूमि में लिखा—

"चौधरी ने सन्देह का सहारा लिया—भगवान ने छोटे बड़े का भेद क्यों लगा दिया, इसका मरम समझ में नहीं आता। उनके तो सभी लड़के हैं। फिर सबको एक आँख से क्यों नहीं देखता?

पयाग ने शंका समाधान की—पूरब जनम का संस्कार है। जिसने जैसे कर्म किये, वैसे फल पा रहे हैं।

चौधरी ने खण्डन किया—यह सब मन को समझाने की बातें हैं, बेटा, जिसमें गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोख रहे, और अमीरों के रागरंग में किसी तरह की बाधा न पड़े। लोग समझते रहें कि भगवान ने हमें गरीब बना दिया, आदमी का क्या दोष, पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम में लगे रहें, और पेट भर भोजन न मिले, और एक-एक अपसर को दस-दस हजार की तलब मिले। दस तोड़े के रुपये हुए। गदहे से भी न उठे।"

(कर्मभूमि)

इस प्रकार जन्मान्तरवाद के जरिये से प्रेम की चिरन्तनता तथा स्वयं जन्मान्तरवाद को सामाजिक अन्तर्गत वस्तु को हमने देख लिया। जन्मान्तरवाद के विषय में सबसे मजे की बात यह है कि यह धारणा जिसे आज भारतीय सभी धर्म अपनी आधार शीला बनाये हुए हैं, हिन्दुओं के सबसे पवित्र धर्मग्रन्थ ऋग्वेद में नहीं है। हम ब्योरे में नहीं जाना चाहते, किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में हम डाक्टर विन्टर-

निटस के शब्दों को उदधृत करने के लोभ को सम्वृत नहीं कर सकते। वे लिखते हैं, 'of the dismal belief in the transmigration of the soul and eternal rebirth—the belief which controls the whole philosophical thoughts of the Indians in later centuries—there is in the Rg Veda as yet no trace to be found.' अर्थात् 'ऋग्वेद में जन्मान्तर वाद का पता नहीं मिलता यद्यपि बाद की शताब्दियों के सारे दार्शनिक विचारों का केन्द्र यही विचार है।'[1]

न मालूम किस वातावरण से प्रभावित होकर प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यास में जन्मों की कथा दे दी। इसमें सन्देह नहीं, यह एक बहुत ही प्रगति विरोधी प्रवृत्ति थी, और यह हर्ष की बात है कि बाद की रचनाओं में वे इस प्रवृति से मुक्त हो गये, बल्कि जैसा कि हम दिखा चुके कर्मभूमि में उन्होंने जन्मान्तरवाद की ऐसी सुसंगत व्याख्या कर दी जिसमें किसी प्रकार कोई बात कट्टर से कट्टर समाजवादी दार्शनिक भी नहीं जोड़ सकता। उपन्यास की विशुद्ध (!) दृष्टि से देखने पर भी देवप्रिया की कहानी के कारण पुस्तक का रसभंग ही हुआ है, और सारा उपन्यास एक अजीब शिथलता के भँवर में फँस गया है। यह ताज्जुब है कि भटनागरजी फिर भी इस उपन्यास के सम्बन्ध में यह लिखते हैं कि 'गोदान के बाद यह प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास रहेगा। संसार साहित्य के प्रेम रोमांचकों में इसका स्थान सुरक्षित है। इस एक उपन्यास में सामयिक आन्दोलनों और अमर समस्याओं को एक ग्रन्थि में गूँथा गया है।' सामयिक आन्दोलनों पर हम बाद को आयेंगे, किंतु

---

[1] H. I. L. P. 78. जिसको इस सम्बन्ध में पूरा ब्योरा जानना हो कि किस सामाजिक परिस्थिति में आर्यों में इस धारणा की उत्पत्ति हुई, वह इस सम्बन्ध में हमारी सर्व धर्म सम्बन्धी पुस्तक का अध्ययन करे।

यह कथित अमर समस्यायें क्या हैं यह समझ में नहीं आता। इससे केवल इतना ही समझ में आता है कि विद्वान लेखक जन्मान्तरवाद में और उसके आनुसंगिक विचारों में आस्थावान है। रहा सामयिक और अमर समस्याओं को एक ग्रन्थि में गूँथने की बात, इस पर हम एक बहुत बड़े अधिकारी समालोचक की राय दे चुके हैं, और वह अधिकारी समालोचक स्वयं भटनागर जी हैं। वे ही कहते हैं कि कायाकल्प की कथायें उन्हें चक्कर में डाल देती हैं, कौन कथा अधिकारिक है, कौन प्रासंगिक यह उनकी समझ में नहीं आता, फिर वही कहते हैं कि दोनों हिस्सों को अच्छी तरह एक ग्रन्थि में गूँथा गया है। अब हम इनमें से किस बात का विश्वास करें ? हमारा यह सुचिन्तित मत है कि देव-प्रिया वाले अंश के कारण यह उपन्यास प्रेमचन्द की रचनाओं में सब से घटिया दर्जे का हो गया है। Between the lines पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है कि भटनागर जी तथा डाक्टर रामविलास भी यही समझते हैं कि यह उपन्यास घटिया दर्जे का है, किन्तु समालोचक सुलभ सत्साहस के अभाव के कारण वे इस बात को खुलकर कह न पाये, बहुत कुछ beat about the bush करके रह गये। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि एक लेखक समग्र रूप मे प्रगतिशील हो, किन्तु उसकी रचना विशेष प्रगति विरोधी हो—विशेषकर जब कि लेखक कमोवेश उच्छवृत्तिवादी या eclectic है। हम समझते हैं कि यह कह देने पर भी कि कायाकल्प निम्नकोटि का उपन्यास है, प्रेमचन्द पर कोई आँच नहीं आती।

हाँ, देवप्रिया वाले हिस्से को निकाल देने पर—सच बात तो यह है कि उसे निकाल देना बिल्कुल आसान है, क्योंकि चक्रधरवाली कहानी में उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है—यह उपन्यास प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की श्रेणी में आ जाता है। जन्मजन्मान्तर तथा तिब्बत की गुफाओं की हवाई सैर से उतर कर जब प्रेमचन्दजी हमारे सुपरिचित समतल पर आते हैं, तो उनका चित्रण बहुत अच्छा उतरता

है। वही वर्ग-संघर्ष, एक वर्ग तो बेगार देते-देते मरा जाता है, पेट में अन्न नहीं है, तन पर कपड़े नहीं हैं, गालियाँ, मार पड़ रही है, ढोरों से भी बुरा हाल है; दूसरी ओर शासक वर्ग है, तीन-तीन, चार-चार बीवियाँ हैं, प्रत्येक बीवी के लिए अलग इन्तजाम है, रुपये आ रहे हैं, विलासिता में खर्च हो रहे हैं, पुलिस भी देखा तो उनके साथ है, अदालत भी उन्हीं की-सी कहती है, राष्ट्र उनका है, आसमान उनका है, जमीन उनकी है, दिन उनका है, रात उनकी है। भारतीय देहात में आते ही प्रेमचन्द अपने परिचित रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी लेखनी से देहाती जीवन सजीव हो जाता है। देहाती जीवन का यह चित्र Idyllic या बंशी बजाना, और गौ चरानेवाला चित्र नहीं है, बल्कि इसमें रोग है, गरीबी है, कुसंस्कार है, अज्ञान है, अशिक्षा है।

यों तो विराट् प्रेमचन्द-साहित्य में देहाती जीवन का सर्वत्र चित्रण है, किन्तु रंगभूमि में और इस उपन्यास में जमींदारी प्रथा को एक पद्धति के रूप में जितना स्पष्ट किया गया है, उतना कहीं नहीं किया गया है। चक्रधर बेगार के विरुद्ध आवाज उठा कर जेल जाता है, जेल में कैदियों की ओर से अपने ढंग से लड़ता है, जेल में उसकी सजा बढ़ते-बढ़ते रह जाती है, बाहर आकर एकाएक वह अपने को ठाकुर विशालसिंह के दामाद के रूप में पाता है, क्योंकि इस बीच में पता लगा है कि उसकी स्त्री अहल्या राजा विशालसिंह की खोई हुई लड़की है; वह मोटर में सैर करने जाता है, और उसकी मोटर एक जगह फँस जाती है। वह पास वाले गाँव में जाता है, वहाँ जो व्यक्ति पहले मिलता है उससे कहता है कि आकर मेरी मदद करो, जब वह मदद नहीं करता तो उसको मारता है, और उसका हाथ तोड़ देता है। वही व्यक्ति जो बेगार के विरुद्ध लड़ कर जेल गया था, आज स्वयं बेगार न पाने पर हाथ तोड़ देता है। यह पद्धति की महिमा है। चक्रधर आदि से अन्त तक Subjectively अर्थात् द्रष्टगत रूप से

किसानों का हिमायती है, अहिंसावादी है, किन्तु पद्धति के फेर में पड़ते ही किसानों के ऊपर जुल्म करने वाला तथा हिंसावादी बन जाता है। क्या इस प्रकार लेखक ने यह इंगित नहीं किया है कि पद्धति को नष्ट करने की आवश्यकता है, क्योंकि उसमें अच्छे से अच्छे आदमी भी जाकर उसी पद्धति के हो जाते हैं! इस वर्णन से यह भी तो ज्ञात होता कि जब एक व्यक्ति किसी कारण से अपने को दूसरे वर्ग में पाता है, तो उसके विचार भी उसीके अनुरूप हो जाते हैं। इसी उपन्यास में एक और व्यक्ति का अनुरूप परिवर्तन हमें देखने को मिलता है। राज्य के अधिकारी होने के पहले विशालसिंह प्रजावत्सल थे, उनके विचार बुर्जुआ ढंग से उदार थे, किन्तु राजा होते ही उनके विचार परिवर्तित हो जाते हैं। अवश्य यह परिवर्तन एकाएक नहीं होता, इसमें कुछ अन्तर्द्वन्द्व चलता है, प्रेमचन्दजी इसे सफलता-पूर्वक दिखलाते हैं। पद्धति की अप्रतिकार्यता और भी एक बात से स्पष्ट होती है। मनोरमा इसी कारण राजा विशालसिंह से विवाह करती है कि वह इस पद्धति के अन्तर्गत होकर चक्रधर को उनके परोपकारी—विशेषकर किसान-उन्नति सम्बन्धी कार्यों में सहायता करना चाहती थी (अभी तक चक्रधर राजा के दामाद नहीं हुए थे) किन्तु क्या हुआ? अन्त तक वह उस पद्धति के सामने हार कर बैठ गई। अवश्य उसने जो हार मानी, और वह जो बैठ गई, वह उस प्रकार ऋजु रेखा में घटित नहीं हुई, जिस प्रकार हमने बताया है, बल्कि सौतिया डाह आदि बहुत से कारण तथा घटनायें इस बीच में उपस्थित होती हैं, और उसे यह रुख लेने के लिए विवश करती हैं। किन्तु प्रश्न तो यह है कि आखिरी नतीजा यही हुआ कि उसकी सदिच्छा के बावजूद उसे थक कर बैठ जाना पड़ा। यह पद्धति की ही महिमा है।

जमींदारी पद्धति न केवल अपने अन्तर्गत व्यक्तियों का चाहे वे पहले से इसके अन्तर्गत रहे हों, अथवा चक्रधर की तरह पीछे के किवाड़े

से आये हों, पतित कर देती है, बल्कि वह अपनी जबर्दस्ती तथा अन्य हथकंडों से शोषितों को भी पतित कर देती है। यदि जमींदारों के अहल्कार बेईमान, मिथ्याभाषी, दगाबाज़ हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, वे भी लूट के हिस्सेदार हैं, किन्तु यह पद्धति अपने नीचे पिसती हुई जनता को भी गिरा देती है। जब तक गाँववालों को यह पता नहीं था कि मोटर के लिए बेगार माँगनेवाला व्यक्ति कौन है, तब तक वे अपने एक साथी के मारे जाने पर आगबबूला हो रहे थे, किन्तु ज्योंही उन्हें पता लग गया कि वह व्यक्ति राजा का दामाद तथा मुंशी वज्रधर का पुत्र है, त्योंही उनका सारा ढंग बदल गया। उस घायल व्यक्ति के भाई ने ही—कहाँ तो वह डाँट रहा था, और आँख का बदला आँख तथा दाँत का बदला दाँत लेकर हो सकता है, इस नीति का प्रतिपादन कर रहा था, एकाएक कह उठा—'सरकार ही बाबू चक्रधरसिंह हैं, धन्य भाग्य थे कि सरकार के आज दर्शन हुए।' स्वयं वह घायल अत्यन्त घृणित और खुशामदी तरीके से कराहते हुये भी मुस्कराते हुए कहता—'सरकार देखने में तो दुबले-पतले हैं, पर आपके हाथ पाँव लोहे के हैं। मैंने सरकार से भिड़ना चाहा, पर आपने एक ही अड़ंगे में मुझे दे पटका।' उस घायल के भाई ने इस पर घायल को सम्बोधित करते हुए कहा —'अरे पागल, भाग्यवानों के हाथ-पाँव में ताकत नहीं होती, अकबाल में ताकत होती है। उससे देवता तक काँपते हैं।' राजा के दामाद के मुँह पर ऐसी बात करना कुछ हद तक क्षम्य कहा जा सकता है, किन्तु बात यहीं खतम नहीं होती। कुछ दिनों बाद वह घायल उसी चोट से मर जाता है, इस पर भी उसके भाई को क्रोध नहीं आता। वह कहता है—'कजा आ गई तो कोई क्या कर सकता है। बाबू जी के हाथ में कोई डंडा भी तो नहीं था। दो-चार घूँसे मारे होंगे, और क्या? मगर उस दिन से फिर बेचारा उठा नहीं।' दूसरे आदमी ने कहा कि ठाँव-कुठाँव चोट

लग गई होगी। एक बूढ़े ने कुछ प्रतिवाद भी किया, किन्तु मृत व्यक्ति के भाई ने कहा—'वह राज्य पाकर फूल उठनेवाले व्यक्ति नहीं हैं। तुमने देखा यहाँ से जाते ही जाते माफी दिला दी।' इस प्रकार यह पद्धति न केवल शोषक को जालिम बनाती है, बल्कि शोषित को भी मनुष्यत्व से गिरा देती है। इस प्रकार प्रेमचन्द-साहित्य का यह आशय है कि यह पद्धति अनैतिक है, इसका रहना ही एक अनीति है।

फिर भी गांधीवादी सज्ञान प्रेमचन्द कुछ और ही मत के हैं। चक्रधर के मुँह से उनके विचार व्यक्त होते हैं—'मैंने प्रजा को उनके अधिकार अवश्य समझाये हैं, लेकिन यह कभी नहीं कहा कि राजा को संसार में रहने का कोई हक नहीं, क्योंकि मैं जानता हूँ जिस दिन राजाओं की ज़रूरत न रहेगी, उस दिन उनका अन्त हो जायेगा। देश में वही राज्यव्यवस्था होती है, जिसका वह अधिकारी होता है।' इस प्रकार अपने साहित्य में तार्किक रूप से वे जमींदारी प्रथा के विलोप को एकमात्र ध्येय बताने पर भी सज्ञान रूप से अभी वर्ग-समन्वय से शान्ति की आशा रखते हैं। चक्रधर इसी विचार को लेकर हमारे सामने आता है। लगे हाथों यह बता दिया जाय कि चक्रधर भी एक आवारा है, उसी किस्म का जिस किस्म का आवारा कर्म-भूमि का अमरकान्त है। चक्रधर और अमरकान्त के चरित्र में केवल ऊपरी समता ही नहीं, कुछ भीतरी समता भी है। प्रेम की उलझनों में ही पड़ कर तथा उन्हें सुलझाने में असमर्थ रह कर चक्रधर किसान-संगठन करता है। किसान-संगठन उसके जीवन का कोई लक्ष्य या ध्येय नहीं है, वह यों ही फँस-सा जाता है। कर्मभूमि में तो यह होता है कि अमरकान्त, सलीम आदि अपने उठाये हुए आन्दोलनों को किसी जगह पर लगा देते हैं, उनका कुछ न कुछ परिणाम होता है; किन्तु चक्रधर के क्षेत्र में तो इस प्रकार की कोई बात देखने में नहीं

आती। जेल से छूटने के बाद चक्रधर किसान-आन्दोलन या पुस्तक की भाषा में सेवा-समिति का नाम भी नहीं लेता है। यह मानों उसके जीवन में एक क्षेपक-सा था, और बाद के जीवन में उसका कहीं भी पता नहीं लगता। चक्रधर अजीब भावुक व्यक्ति है, उसकी भावुकता मस्तिष्क विकृति के दर्जे तक पहुँच जाती है। बाद को वह नाना प्रकार के घात-प्रतिघातों से त्रस्त होकर संन्यास ग्रहण करता है, और इस प्रकार उसकी जो अन्तरतम आवारा वृत्ति है, वह चरम रूप से परितृप्त होती है। चक्रधर का चरित्र बहुत सजीव चरित्र है, सजीव इस माने में नहीं कि उसमें बहुत जीवन है, बल्कि सजीव इस माने में कि उसमें जो कुछ भी भला-बुरा उदासीन जितना भी जीवन है, वह लेखक की लेखनी से बहुत अच्छी तरह परिस्फुट हो जाता है। यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के अर्द्धविकृत मस्तिष्क पेटिबुर्जुआ वर्ग के लोगों के नेतृत्व से कुछ सामयिक रूप से किसान-मज़दूरों का भले ही कुछ लाभ हो जाय, उनके अन्दर से जब तक नेतृत्व पैदा नहीं होगा तब तक कुछ होना-जाना नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में किसानों के अग्रणियों के रूप में सभी जगह यही पेटिबुर्जुआ वर्ग के कुछ न कुछ अस्वाभाविक मनोवृत्ति सम्पन्न नौजवान दृष्टिगोचर होते हैं। प्रेमाश्रम के प्रेमशंकर से लेकर गोदान के मेहता, मालती आदि सभी के द्वारा उठाये गये आन्दोलनों के परिणामों को यदि हम एक शब्द में व्यक्त करना चाहें तो वह शून्य होगा। हमने बार-बार कहा है कि एक लेखक अपनी रचना में जितना चाहता है, उससे कहीं अधिक चीज़ होती है। क्या प्रेमचन्द ने इस प्रकार एक साथ यह दिखलाया है कि एक तरफ़ तो शहरी भावुक पेटिबुर्जुआ नौजवानों के नेतृत्व से किसानों को कुछ न हासिल होगा, दूसरी तरफ़ गांधीवादी विचार-धारा और कार्य-पद्धति विशेष लाभप्रद नहीं हो सकती!

इसी उपन्यास में नायक चक्रधर के मुँह से नेताओं के सम्बन्ध में

जो कुछ कहलाया गया है, उससे हमने ऊपर जो अनुमान किया है कि द्रष्टगत रूप से वे गांधीवादी नेतृत्व के समर्थक होने पर भी कला की दृश्यगतता ने उन्हें इस बात के लिए मजबूर किया कि वे इस नेतृत्व की पोल को दिखलावें। चक्रधर जो कहता है—'हमारे नेताओं में यही तो बड़ा ऐब है कि वे स्वयं देहातों में न जाकर शहरों में पड़े रहते हैं, जिससे देहातों की सच्ची दशा उन्हें नहीं मालूम होती, न उन्हें वह शक्ति हाथ आती है, न जनता पर उनका वह प्रभाव पड़ता है जिसके बगैर राजनैतिक सफलता हो ही नहीं सकती।'

इस उपन्यास में उस्तादी पक्के गाने के गाने वालों तथा ज्योतिष का अच्छा मजाक उड़ाया गया है। गाने का उद्देश्य यह है कि उपस्थित जनता का मनोरंजन हो तथा उनको कलात्मक आनन्द प्राप्त हो, किन्तु ये शास्त्रीय रूप से शुद्ध गाने वाले किस प्रकार जनता की अवहेलना कर कला को हास्यास्पद बनाते रहते हैं, इसका मुंशी वज्रधर के गाने और नाचने के दृश्य से अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। यों प्रेमचन्द-साहित्य में हास्यरस की बहुत कमी है, किन्तु इस उपलक्ष्य में उन्होंने जो निर्मल हास्य की धारा प्रवाहित की है, वह उनकी इस सम्बन्धी शक्ति का परिचायक है। गाना कभी केवल कुछ राजाओं महाराजाओं तथा उनके दरबारियों की उपभोग्य वस्तु थी, किन्तु पूँजीवाद के आगमन के साथ-साथ अपेक्षाकृत रूप से शिक्षा तथा संस्कृति का जो बहुल प्रसार हुआ है, उसके कारण अब संगीत केवल दरबारी नहीं रह सकता। अब उसे अपने स्वर्ग से उतर कर गंगा के रूप में प्रवाहित होकर जनता के लाखों सगर पुत्रों का उद्धार करना पड़ेगा। यदि ऐसा करने के दौरान में वह स्वर्गीय न रह पावे, उसे कुछ उतर कर पार्थिव होना पड़े, तो उसमें कोई हर्ज नहीं। इसी उपन्यास के एक पात्र के शब्दों में 'गाना ऐसा होना चाहिये कि दिल पर असर पड़े, यही नहीं कि तुम तो तुम ताना का तार बाँध दो और सुनने वाला

तुम्हारा मुँह ताकता रहे। जिस गाने से मन में भक्ति, वैराग्य, प्रेम और आनन्द की तरंगें न उटें, वह गाना नहीं है।' गाना यदि केवल एक तरह की कसरत या acrobatics हो अथवा स्वरों का योग वियोग या permulaton combination हो, हृदय के साथ उसका कोई सम्बन्ध न हो—जनता के हृदय के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित न कर सके तो वह व्यर्थ है।

इसी प्रकार अन्यत्र इसी उपन्यास में फलित ज्योतिष का खूब मज़ाक उड़ाया गया है। यह दिखलाया गया है कि एक तो यह सारी विद्या झूठी है, दूसरा ये ज्योतिषी भी उसी प्रकार अपनी विद्या या अविद्या को डांड़ी-पल्ला लेकर दाम देने वालों के हाथ बेचते रहते हैं जिस प्रकार इस पूँजीवादी युग में सभी चीजें बिकती रहती हैं। अव्वल तो फलित ज्योतिष कोई विद्या नहीं है, दूसरा उसे धनी लोग खरीद कर मूर्खों को बेवकूफ बनाया करते हैं। हिन्दुओं के प्रचलित संस्कारों में एक बहुत बड़ा कुसंस्कार यह है कि शादी-ब्याह में या अन्य किसी काम-काज में फौरन ज्योतिषी बुलाये जाते हैं, उसका नतीजा क्या होता है हम सभी जानते हैं। ज्योतिषी बुलाये जाने पर भी लड़की विधवा होती है, पतोहू मर जाती है, इत्यादि, किन्तु फिर भी लोगों की आँखें नहीं खुलतीं और एक परोपजीवी वर्ग इन्हीं लोगों की मूर्खता के कारण चैन की बाँसुरी बजाता है। इसी पुस्तक में एक तरफ तो ज्योतिष का इस प्रकार मजाक उड़ाया गया है, दूसरी तरफ परलोक की कथा लिखी गई है, इसी से तो हमारा कहना यह है कि देवप्रिया वाल हिस्सा बिल्कुल क्षेपक-सा ज्ञात होता है। ऐसा मालूम होता है कि किसी ने एक सुन्दर शरीर पर गदहे का सिर लगा दिया। ये दोनों धारायें बिल्कुल परस्पर विरुद्ध हैं, न मालूम किस मनोवृत्ति से परिचालित होकर तथा किन क्रियावादी प्रभावों के वशवर्ती होकर लेखक ने इस उपन्यास में देवप्रिया सम्बन्धी अटरम-सटरम भर दिया।

चक्रधर, वज्रधर, शंखधर, रानासाहब आदि के कारण हम इस उपन्यास के सबसे महिमामय क्यों सारे प्रेमचन्द-साहित्य में सबसे अधिक प्रेमरस में पगी हुई, लौंगी के चरित्र को भूल जाते हैं। लौंगी प्रेमचन्द की एक दिव्य सृष्टि है। शरतचन्द्र की अन्नदा दीदी के सामने वह निष्प्रभ पड़ जाती है, उस त्याग की तो कोई सीमा परिसीमा नहीं है, किन्तु प्रेमचन्द के नारी चरित्रों में लौंगी का चरित्र एकमात्र आदर्श प्रेमिका का चरित्र है। लौंगी ठाकुर हरिसेवकसिंह की विवाहिता पत्नी नहीं है, किन्तु उसके सम्बन्ध में कवि की भाषा में यही कह उठने की तबीयत होती है कि

सती होते श्रेष्ठतुमि नाइ होले सतीनामधारी

अर्थात् तू सती नामधारिणी भले ही न हो, तू सती से श्रेष्ठा है। हमारे विराट प्राचीन साहित्य में सती, सावित्री, सीता आदि कितने ही चरित्र हैं, किन्तु लौंगी के मुकाबिले में प्रेम में सम्पूर्ण-रूप से कृत-आत्म-समर्पण कोई स्त्री चरित्र नहीं है। शरतबाबू के श्रीकान्त में अन्नदा दीदी का चरित्र ही एक ऐसा चरित्र है जिसे लौंगी से बढ़कर बताया जा सकता है।

यहाँ पर संक्षेप में यह दिखा दिया जाय कि अन्नदा दीदी का चरित्र क्या है। अन्नदा दीदी की ही जबानी उनका विवरण संक्षेप में यों है—

'श्रीकान्त, तुम्हारी इस दुखिनी दीदी का नाम अन्नदा है। पति का नाम मैं क्यों गुप्त रख गई, यह इस विवरण के अन्त तक पढ़ने पर खुद ही ज्ञात हो जायगा। मेरे पिता धनी व्यक्ति हैं, उनका कोई लड़का नहीं था। हम दो बहिनें थीं। इसलिए पिता ने चाहा था कि किसी गरीब घर के लड़के को दामाद बना कर घर लायें, और उसे सिखा-पढ़ा कर आदमी बनावें। तदनुसार पिताजी ने मेरे पति को लिखाया-पढ़ाया तो सही, किन्तु आदमी न बना पाये। मेरी बड़ी बहिन विधवा होकर घर ही पर थी, उन्हीं की हत्या कर पति फरार हो गये।

यह दुष्ट कृत्य उन्होंने क्यों किया था, अभी तुम बच्चे हो न समझोगे, किन्तु एक दिन समझोगे। जो कुछ भी हो, कहो तो श्रीकान्त यह दुःख कितना बड़ा है। यह लज्जा कितनी मर्मभेदी है! फिर भी तुम्हारी दीदी ने सब सहा था, किन्तु पति होकर जिस अपमान की आग वे अपनी स्त्री के हृदय में जगा गये, उसकी ज्वाला आज भी शान्त नहीं हुई। जाने दो। इस घटना के बाद सात वर्ष बीते; तब फिर उनके दर्शन हुए। जैसी पोशाक में तुमने उन्हें देखा था, उसी पोशाक में वे हमारे मकान के सामने साँप का खेल दिखला रहे थे। उनको और कोई भी पहचान न पाया, केवल मैंने पहचाना। मेरी आँखों को वे धोखा न दे सके। सुनती हूँ, यह परम दुःसाहस का काम उन्होंने मेरे ही लिये किया था, किन्तु यह झूठी बात थी। फिर भी एक दिन गम्भीर रात्रि में मैंने मकान का पिछला किवाड़ खोल कर पति के लिए घर छोड़ दिया। किन्तु सबने सुना जाना कि अन्नदा कुल-त्यागिनी हो गई। इस कलंक का बोझा मुझे आमरण ढोना पड़ेगा। क्योंकि जब तक पति जीवित थे, मैं आत्मप्रकाश न कर सकी। पिताजी को जानती थी, वे किसी भी प्रकार अपनी कन्या के हत्यारे को क्षमा नहीं करते। आज खैर वह भय नहीं, आज जाकर उनको सब कह सकती हूँ, किन्तु आज कौन इस कहानी पर विश्वास करेगा? इसलिए पितृगृह में मेरा कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त मैं मुसलमानी हूँ (क्योंकि वे मुसलमान हो गये थे)।'

इस विवरण में अन्नदा दीदी की और तकलीफों का उल्लेख नहीं है। लोगों ने भी इसी प्रकार आजन्म रखैली होने की 'ख्याति' को सहकर भी तथा ठाकुर साहब के पुत्र गुरुसेवक के द्वारा जब तब पीटी जाने पर भी अन्त तक हरिसेवक को नहीं छोड़ा। उसके शरीर का प्रत्येक अणु उन्हीं उपादानों से बना था, जिनसे प्रागैतिहासिक सती, सावित्री आदि की सृष्टि हुई थी। फिर वही बात आ जाती है। प्रेमचन्द

विवाह तथा सामाजिक रीतियों के कट्टर समर्थक थे, किन्तु लौंगी के चरित्र से यह ज्ञात होता है कि विवाह के बाहर भी प्रेम दिव्य हो सकता है। सच बात तो यह है कि लौंगी का प्रेम प्रेमचन्द-साहित्य की सब नारियों से दिव्यतर है। इस उपन्यास की अहल्या तो उसके पैरों की धूल के बराबर नहीं ठहरती है।

लौंगी और अन्नदा दीदी में एक विशेष प्रभेद यह है कि लौंगी एक छोटे कुल से आती है। इसलिए ठाकुर हरिसेवकसिंह की रखैली होने में भी समाज की सीढ़ी में वह कुछ शायद चढ़ती ही है, किन्तु अन्नदा दीदी के क्षेत्र में यह बात नहीं है। हम इस सम्बन्ध में अधिक ब्यौरे में नहीं जायेंगे, सारांश यह है कि लौंगी का चरित्र विवाह प्रथा पर एक अच्छी फबती है। लौंगी भी कहती है—'चार भाँवरें फिर जाने से ही ब्याह नहीं हो जाता। मैंने अपने मालिक की जितनी सेवा की है, और करने को तैयार हूँ उतनी कौन ब्याहता करेगी? लाये तो हो बहू, कभी उठकर एक लुटिया पानी भी देती है? खाई है कभी उसकी बनाई कोई चीज? नाम से कोई ब्याहता नहीं होती, सेवा और प्रेम से होती है।'

हम यहाँ पर यह मौलिक प्रश्न न उठायेंगे कि जिसे सतीत्व धर्म के नाम से सराहा जाता है, उसकी अन्तर्गत वस्तु क्या है, उसमें गुलामी का कितना अंश है, उसकी पृष्ठभूमि में उत्पादन पद्धति में नारी का पिछड़ी होने का क्या हाथ है, हम तो केवल यही कह रहे हैं कि प्रचलित मानदण्ड से जिसे सती कहते हैं, लौंगी उससे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार इस उपन्यास के इहलौकिक अंश में बहुत से अच्छे तथा स्वाभाविक चरित्र हैं। यदि देवप्रिया वाला अंश न होता तो हम इस उपन्यास को निसन्देह रूप से श्रेष्ठ कृतियों में गिनाते, किन्तु उस अंश के बोझ के कारण इसकी कला मेघग्रसित हो गई है। राइडर हेगार्ड ने अपनी 'शी' नामक रचना में तथा बंगला के अति आधुनिक

लेखकों में फाल्गुनी मुखोपाध्याय ने 'ज्योतिर्गमय' नामक उपन्यास में परलोकतत्व-मूलक कथानक लिया है, किन्तु कुछ भी हो इस प्रकार के कथानक को अपनाना प्रगतिवाद के विरुद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द ने अपनी 'मूठ' नामक कहानी में भी इसी प्रवृत्ति को अपनाया है।

गबन

रमानाथ के पिता महाशय दयानाथ कचहरी में नौकर थे। चाहते तो हजारों वसूल करते, पर कभी एक पैसे के भी रवादार नहीं हुए। यह बात न थी कि वे बहुत ऊँचे आदर्श के आदमी थे, पर रिश्वत को हराम समझते थे। शायद इसलिए कि वह अपनी आँखों से इसके कुफल देख चुके थे। किसी को जेल जाते देखा था, किसी को सन्तान से हाथ धोते, किसी को कुव्यसनों के पंजे में फँसते। ऐसी उन्हें कोई मिसाल नहीं मिलती थी, जिसमें रिश्वत लेकर चैन किया हो, उनकी यह दृढ़ धारणा हो गई थी कि हराम की कमाई हराम में ही जाती है। इस जमाने में ६० रुपये की भुगत ही क्या ?

मुंशी दीनदयाल इसके विपरीत चरित्र के व्यक्ति थे। वह किसान न थे। पर खेती करते थे। जमींदार न थे, पर जमींदारी करते थे। थानेदार न थे पर थानेदारी करते थे। वह थे जमींदार के मुख्तार। जालपा उन्हीं की लड़की थी। उन्होंने यह तय किया कि रमानाथ से अपनी लड़की की शादी की जाय। जब यह प्रस्ताव दयानाथ के सामने गया, तो उन्होंने इसके प्रति इसलिए उपेक्षा भाव दिखलाया कि वे समझते थे कि रमानाथ अभी कुछ कमाता नहीं है, दिन भर मटरगश्ती

और यारबाशी में लगा रहता है, इसलिए उसकी शादी करना मानो अपने ऊपर बोझा बढ़ाना है। उनकी स्त्री जागेश्वरी के सामने यह आपत्ति नहीं टिकी। उन्होंने पति से कहा—बहू आ जायेगी, तो उसकी आँखें भी खुलेंगी, देख लेना। अपनी बात याद करो। जब तक गले में जूआ नहीं पड़ा है, तभी तक यह कुलेल हैं।

नतीजा यह हुआ कि विवाह तय हो गया। मुंशी दीनदयाल ने एक हजार रुपये टीके में दिये। बात यह है दयानाथ ने अपनी ओर से कुछ सौदा नहीं किया था इस पर मुंशी दीनदयाल पिघल गये थे, और उन्होंने यह दिखा देना चाहा कि हम भी शरीफ हैं, और शील का मूल्य पहचानते हैं। दयानाथ ने सादे तरीके से विवाह करने का सोचा था। वह कर्ज से कोसों भागते थे। इस शादी में उन्होंने मियाँ की जूती मियाँ की चाँदवाली नीति निभाने की ठानी थी, पर दीनदयाल की सहृदयता ने उनका संयम तोड़ दिया। बँधा हुआ घोड़ा थान मे खुल गया, उसे कौन रोक सकता है ! धूमधाम से विवाह करने की ठन गई। पालकी की जगह मोटर, नाच तमाशे तथा अन्य धूमधाम तय हुए। गहने भी खरीदे गये, किन्तु चन्द्रहार नहीं खरीदा गया। जब जालपा के सामने ये गहने गये और उसने उनमें चन्द्रहार नहीं देखा, तो उसे बहुत निराशा हुई। बचपन से ही वह चन्द्रहार पर जान देती थी।

विवाह तो हो गया, किन्तु महाशय दयानाथ पर जो कर्ज हो गया था, उसके लिए उन पर बार-बार तकाजा किया जाने लगा। इधर तकाजा था, उधर जालपा ने यह प्रण कर लिया था कि जब तक चन्द्रहार नहीं आयेगा, तब तक कोई गहना नहीं पहनेगी। महाशय दयानाथ तकाजों के आदी नहीं थे, इसलिए उन्होंने एक दिन अपने बेटे को बुला कर सारी परिस्थिति समझा दी, और यह प्रस्ताव रखा कि सराफ के पास जितने रुपये कर्ज के बैठते हैं, उतने के गहने उसे

लौटा दिये जायँ। रमानाथ अपनी नई-नई स्त्री से खूब डींगें उड़ा चुका था, जमींदारी है, बैङ्क में रुपये हैं, उनका सूद आता है, इत्यादि। इसलिए उसके लिए यह बिल्कुल असम्भव था कि अपनी स्त्री से जाकर सारी परिस्थिति बता कर गहने वापस माँगे। ऐसा करता तो जालपा उसे पूरा लबाड़िया समझती। इसलिए यह तय हुआ कि किसी तरीके से जालपा को मालूम भी न हो, और गहने भी आ जायँ। तदनुसार जिस समय जालपा सो रही थी, उस समय रमानाथ ने उसके गहने का बक्स उठा लिया, और उसे अपने पिता के सुपुर्द किया। ऐसे कुत्सित कार्य में दयानाथ अपने पुत्र से साठ-गाँठ करना पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने पूछा—इसे क्यों उठा लाये?

रमा ने धृष्टता से कहा—आप ही का तो हुक्म था!

दया—झूठ कहते हो।

रमानाथ—तो फिर क्या रख आऊँ?

रमा के इस प्रश्न ने दयानाथ को सङ्कट में डाल दिया। झेंपते हुए बोले—अब क्या रख आओगे। कहीं देख ले तो गज़ब ही हो जाय।...खड़े क्या हो, सन्दूकची मेरे बड़े सन्दूक में रख आओ और जाकर लेट रहो। कहीं जाग पड़े तो बस।

जालपा को विश्वास दिला दिया गया कि चोरी हो गई। सबेरा होते ही दयानाथ गहने लेकर शराफ के पास पहुँचे, और हिसाब होने लगा। सराफ के पन्द्रह सौ रुपये आते थे, मगर वह केवल पन्द्रह सौ के गहने लेकर सन्तुष्ट न हुआ। बिके हुए गहनों को वह बट्टे पर ही ले सकता था। १५००) में २५००) के गहने भी चले गए, ऊपर से ५०) और बाकी रह गये। इस बात पर पिता-पुत्र में कई दिन खूब वाद-विवाद हुआ। दोनों एक दूसरे को दोषी ठहराते रहे। कई दिन आपस में बोल-चाल बन्द रही, मगर इस चोरी का हाल गुप्त रखा गया। पुलिस को

खबर नहीं दी गई। जालपा ने भी सोचा जब माल ही न मिलेगा तो रपट व्यर्थ ही क्यों की जाय।

जालपा गहनों के लिए कहती, और गहने कहाँ से आते? अन्त में रमानाथ नौकरी की तलाश में इधर-उधर घूमने लगे। वे रमेश बाबू के यहाँ बैठा करते थे। रमेश बाबू म्युनिसिपैलिटी में हेड क्लार्क थे। इनकी सिफारिश से वहाँ एक नौकरी मिल सकती थी। रमेश शतरंज के बहुत आशिक थे। बात यह है उनकी स्त्री बहुत पहले मर चुकी थी, किन्तु उन्होंने तब से शादी नहीं की थी। उनका सारा अवसर शतरंज में या उपन्यास आदि पढ़ने में भी गुजरता था। रमानाथ रमेश के बहुत प्रिय थे। जब रमानाथ ने जोर डाला, तो रमेश बाबू ने एक नौकरी दिला दी। नौकरी मामूली थी, वेतन केवल तीस रुपये मासिक था, किन्तु आमदनी की जगह थी। रमानाथ खुशी खुशी नौकरी पाने की खबर लेकर अपनी स्त्री के पास गये। जालपा ने उछल कर पूछा— सच है कितने की जगह है?

रमा को ठीक-ठीक बतलाने में संकोच हुआ। तीस की नौकरी बताना अपमान की बात थी, स्त्री के नेत्रों में तुच्छ बनना कौन चाहता है? बोला—अभी तो चालीस मिलेंगे, पर जल्दी तरक्की होगी। जगह आमदनी की है।

जालपा बोली—तो तुम घूस लोगे? गरीबों का गला काटोगे?

रमा ने उसे समझा-बुझा दिया कि ग़रीबों के गला काटने की कोई बात नहीं है, पैसा तो आपसे आप आ जाएगा। जालपा सन्तुष्ट हो गई, बोली—हाँ तब ठीक है। गरीबों का काम यों ही कर देना।

जालपा ने रमानाथ से यह कहा कि यह खबर अम्मा जी को भी दे दी जाय। रमा बोला—हाँ, जाता हूँ, मगर उनसे तो मैं बीस ही बतलाऊँगा।

रमा ने नौकरी कर ली, तब तो गहनों के सम्बन्ध में जालपा के

तकाजे और भी बढ़ गये। ऊपरी आमदनी कुछ थी जरूर, किन्तु इतनी न थी कि रातोरात हजारों आ जायँ। किसी दिन मिला मिला किसी दिन बिल्कुल नहीं मिला। इधर रमानाथ तो यह चाहते थे कि किसी प्रकार चन्द्रहार ले लिया जाय। सराफ कुछ नगद, कुछ उधार पर देने को भी तैयार था। वह इसी पशोपेश में रमेश बाबू के पास जाता है। रमेश बाबू पूछते हैं कि आखिर यह जल्दी क्यों? इस पर वह झूठ बोलता है—वह तो जेवरों का नाम तक नहीं लेती। मैं कभी पूछता भी हूँ, तो मना करती है, लेकिन अपना कर्त्तव्य भी तो है। जब से गहने चोरी चले गये, एक चीज भी नहीं बनी।

अन्त में रमानाथ ने उधार में कुछ गहने खरीदे। उसकी आमदनी को देखते हुए उसने यह जो साढ़े छ सौ रुपए उधार पर गहने लिये, वह बहुत अधिक था। यद्यपि जालपा बराबर कर्ज पर गहने लेने के नाम पर नाही-नाही करती रहती थी, और यह भी कह चुकी थी—'नहीं' मेरे लिए कर्ज लेने की ज़रूरत नहीं। मैं वेश्या नहीं हूँ कि तुम्हें नोच-खसोट कर अपना रास्ता लूँ, मुझे तुम्हारे साथ जीना और मरना है।' फिर भी जब रमानाथ इस प्रकार गहने ले आया, तो वह फूली न समाई। उस दिन से जालपा के पति-स्नेह में सेवा-भाव का उदय हुआ। वह स्नान करने जाता, तो उसे अपनी धोती चुनी हुई मिलती, आले पर तेल और साबुन भी रखा हुआ पाता। जब दफ़्तर जाने लगता तो जालपा उसके कपड़े लाकर सामने रख देती। पहले पान माँगने पर मिलते थे, अब जबर्दस्ती खिलाये जाते थे। जालपा उसका रुख देखा करती। उसे कुछ कहने की ज़रूरत न थी। यहाँ तक कि जब वह भोजन करने बैठता तो पंखा झला करती। पहले वह अनिच्छा से भोजन बनाने जाती थी, और उस पर भी बेगार-सी टालती थी, अब बड़े प्रेम से रसोई में जाती। चीजें भी वही बनती थीं, पर उनका स्वाद बढ़ गया था।

यह तो सब कुछ हुआ, किन्तु सराफ की ओर से रोज तकाज़े जो आने लगे। साथ ही जब सराफखाने के दलालों को पता लग गया कि रमानाथ बाबू भी गहनों के शौकीन हैं, तो वे भी आ-आकर उनको रोज़ घेरने लगे। इस प्रकार एक दलाल ने रमानाथ को फाँस लिया, और एक जड़ाऊ कङ्गन तथा कानों के रिंग खरीदे गये। रमानाथ पर कर्ज का बोझा और भी बढ़ गया। इधर जब से गहने आये, तब से जालपा मुहल्ले की स्त्रियों में घूमने लगी थी। अब तक वह आभूषणों की कमी के कारण घर में दिन भर मुँह लपेटे पड़ी रहती थी, किन्तु अब उसे घर बैठना अच्छा न लगता था। यहाँ तक कि वह अकेले मुहल्ले और बिरादरी में जाने लगी। उसके रूप-लावण्य, वस्त्राभूषण और शील-विनय ने मुहल्ले की स्त्रियों में उसे जल्दी ही सम्मान के पद पर पहुँचा दिया। उसके बिना मंडली सुनी रहती थी। उसका कण्ठ-स्वर इतना कोमल था, भाषण इतना मधुर, छवि इतनी अनुपम कि वह मंडली की रानी मालूम पड़ती थी। जालपा ने जैसा रूप पाया था, वैसा ही उदार हृदय पाया था। पान-पत्ते का खर्च प्रायः उसी के मत्थे पड़ता। कभी-कभी गायनें बुलाई जातीं, उनकी सेवा-सत्कार का भार उसी पर था। कभी-कभी वह स्त्रियों के साथ गंगास्नान करने जाती, ताँगे का किराया और गंगा तट पर जलपान का खर्च भी उसी के मत्थे जाता। इस तरह उसके दो तीन रुपये रोज जाते थे। इस प्रकार रमानाथ के कर्ज के बोझ में किसी प्रकार की कमी नहीं होने पायी। स्त्रियाँ जालपा को दावत देतीं, इसलिए जालपा को भी दावत देनी पड़ती। फिर किसी धनी स्त्री के यहाँ दावत होने पर उस मौके के उपयुक्त साड़ी, पोशाक आदि खरीदनी पड़ती। इसी प्रकार हाइकोर्ट के एडवोकेट इन्द्रभूषण के घर पर जब जालपा की दावत हुई तो उसे साड़ी, नये जूते, और कलाई की घड़ी से सुशोभित होकर जाने लिए स्वयं रमानाथ ने ही मजबूर किया।'

रमानाथ भी निमंत्रित थे। एडवोकेट साहब अधेड़ उम्र के चिर-रोगी व्यक्ति थे। उन्होंने रमानाथ से परिचय पूछा, तो रमा ने अपना महत्व बढ़ाने के लिए ज़रा सा झूठ बोलना अनुचित न समझा। इसका असर बहुत अच्छा हुआ। उसने कहा—'कानून की तरफ जाने का इरादा था, पर नये वकीलों की यहाँ जो हालत हो रही है, उसे देख कर हिम्मत न पड़ी।' अगर वह साफ कह देता मैं पचीस रुपये का क्लर्क हूँ, तो शायद वकील साहब उससे बातें करने में अपना अपमान समझते। बोले—आपने बहुत अच्छा किया जो इधर नहीं आये।

इन्हीं वकील साहब की पत्नी रतन ने ही रमानाथ और जालपा को अपने यहाँ बुलाया था। इनकी पहली स्त्री के मरे पैंतीस साल हो गए थे। उस समय उनकी अवस्था कुल पचीस साल की थी। लोगों ने समझाया दूसरा विवाह कर लो, पर इनका एक लड़का हो चुका था, विवाह करने से इनकार कर दिया, और तीस साल तक अकेले रहे, मगर आज ५ बरस हुए, जवान बेटे का देहान्त हो गया, तब उन्होंने रतन से विवाह किया था। रतन के माँ बाप न थे। मामा ने पालन किया था। रतन को कोई सन्तान नहीं हुई थी। वकील साहब हर समय रतन की दिलजोई किया करते, और यह चाहते कि वह खुश रहे। रतन ने रमा के हाथ में जो जड़ाऊ कंगन देखा तो उसे बहुत पसन्द आया, फौरन उसने चाहा कि ऐसा एक कंगन खरीदे। उसने उस कंगन के सम्बन्ध में पूछताछ की, और रमानाथ से यह कहा कि इस प्रकार का एक कंगन हमें लिवा दीजिए। तदनुसार रतन ने रमानाथ को छः सौ रुपए भी दिए। असल में जालपा ने रतन से अपने कंगन का दाम आठ सौ बताया था, इसलिए रतन आठ सौ दे रही थी। रमा चाहता तो इतने रुपये ले सकता था, वह कोई साधु तो था नहीं, किन्तु रतन की सरलता और विश्वास ने उसके हाथ पकड़ लिये। ऐसी उदार, निष्कपट

रमणी के साथ वह विश्वासघात न कर सका। वह व्यापारियों से दो-दो चार-चार आने लेते जरा भी न झिझकता था। वह जानता था कि वे सब भी ग्राहकों को उल्टे छूरे से मूड़ते थे। ऐसों के साथ ऐसा व्यवहार करते हुए इसकी आत्मा को लेशमात्र भी संकोच न होता था, लेकिन इस देवी के साथ वह कपट व्यवहार न कर सका।

अब रमानाथ इन रुपयों को लेकर उसी सराफ के पास पहुँचे, जिसने जालपा वाला कंगन बेचा था। अभी पहले ही कंगन का दाम नहीं दिया गया था, इसलिए उसने उन रुपयों को रख लिया, और टाला बताता रहा। इधर रतन तगादे पर तगादे करती रही कि मेरा कंगन लाइए। रमानाथ परेशान हो कर सराफ से साफ-साफ बात करने के लिए गए तो वहाँ टका-सा जवाब मिला। सराफ ने साफ कह दिया कि बिना आधे रुपये लिए, कंगन न बन सकेंगे, पिछला हिसाब भी बेबाक हो जाना चाहिए। रमा को मानो गोली लग गई। उसने बहुत आरजू मिन्नत की, बताया कि ये रुपए उसके नहीं हैं, ये रुपए एक भद्र महिला के हैं, यदि उसने कङ्गन नहीं पहुँचाया तो वह मुँह दिखाने लायक नहीं रहेगा, किन्तु सराफ का दिल जरा भी नहीं पसीजा, उसने कहा कि आठ-आठ महीने का उधार नहीं होता, महीना दो महीना बहुत है। संक्षेप में उसे सराफ ने न रुपए ही दिए न कङ्गन दिए। अब तो रमानाथ बहुत परेशान रहने लगा। जालपा यह तो ताड़ गई कि वह परेशान रहता है, किन्तु वह क्यों परेशान है, यह वह नहीं जान पाई। कई बार रमानाथ ने यह सोचा कि जालपा को सही परिस्थिति का ज्ञान करा दूँ, किन्तु वह तो जीट उड़ा चुका था, वह अब कैसे सब बात कह देता। जालपा ने बहुतेरा पूछा कि मामला क्या है, किन्तु वह अपने मुँह पर ताला डाले रहा। उस वक्त यदि रमा ने साहस करके सच्ची बात स्वीकार कर ली होती, तो शायद उसके संकटों का अन्त हो जाता। जालपा एक मिनट तक अवश्य सन्नाटे में आ जाती। सम्भव

है क्रोध और निराशा के आवेश में दो-चार कटु शब्द मुँह से निकालती, लेकिन फिर शान्त हो जाती। दोनों मिल कर कोई न कोई युक्ति सोच निकालते। जालपा यदि रतन से यह रहस्य कह सुनाती तो रतन अवश्य मान जाती, पर हाय रे आत्मगौरव, रमा ने यह बात सुनकर ऐसा मुँह बना लिया मानो जालपा ने उस पर निष्ठुर प्रहार किया हो। उल्टा उसने और अधिक लम्बी हाँकीं।

रतन तगादे पर तगादे करने लगी। एक दिन तो वह बिल्कुल आपे से बाहर हो गई, त्योरियाँ चढ़ा कर बोली—मैं कुछ नहीं जानती, उसने देर की है, उसका दण्ड भोगे। मुझे कल या तो कंगन ला दीजिये या रुपये। आप को शर्म आती हो तो सराफ का नाम बता दीजिये, मैं उससे वसूल कर लूँगी। मैं अब चीज लेना ही नहीं चाहती। मैं रुपये ही लूँगी।

अन्त तक रमा ने यह कह कर रतन से गला छुड़ाया कि कल रुपये दे दूँगा। कहने को तो उसने कह दिया, किन्तु रुपये देता तो कहाँ से देता? उसने एक युक्ति सोची। वह म्युनिसिपैलटी में चुंगी विभाग में काम करता था। उसने जान-बूझ कर देरी की, खजानची साहब चले गये, तो वह उस दिन की सारी आमदनी आठ सौ रुपये घर ले आकर रख लिया। उसका इरादा गबन का नहीं था, बल्कि वह यह चाहता था कि वह इन रुपयों को दिखा कर रतन की तसल्ली कर दे, इस बीच में रतन की तसल्ली कर दे, फिर वह रुपये अदा कर देगा। रतन स्वयं ही उस दिन शाम को आकर रुपये ले जाने वाली थी, किंतु किसी कारण से जब देर हो गई, और वह नहीं आई, तो रमानाथ ने समझा कि वह अब नहीं आती, और वह घूमने के लिए निकल पड़ा। जिस समय वह घूमने गया था, उस समय रतन आई और जालपा से पूछा कि रुपये का कुछ बन्दोबस्त हो सका या नहीं। जालपा यह जानती

थी कि रुपयों के सम्बन्ध में कुछ चख चख रतन में और रमानाथ में चल रही है, फिर वह यह भी जानती थी कि ये रुपये उसी के लिए लाये गये हैं, इसलिए उसने आव देखा न ताव झट से आल्मारी से रुपयों की थैली को निकालकर रतन के हवाले कर दिया। जब रमानाथ लौटा तो उसे यह बात बताई गई तो वह बहुत परेशान हुआ क्योंकि सवेरे इन रुपयों को खजाने में जमा करना था। रमानाथ ने बहुत कोशिश की तो पाँच सौ रुपयों का बन्दोबस्त हुआ, दो सौ रुपये तो रतन से वापस मिले, दो सौ जालपा से मिले, और एक सौ उसके पास थे। रमानाथ दौड़ा-दौड़ा रमेश बाबू के पास गया, और उनसे बोला कि वह बहुत ही मुसीबत में फँस गया है। वहाँ भी उसने सही बात नहीं कही, बोला—कल शाम को यहाँ काम बहुत था, मैं उसमें ऐसा फँसा कि वक्त की कुछ खबर ही न रही। जब काम खतम करके उठा तो खजानची साहब जा चुके थे। मेरे पास आमदनी के आठ सौ रुपये थे। सोचने लगा इसे कहाँ रखूँ। मेरे कमरे में कोई सन्दूक तो है नहीं। यही निश्चय किया कि साथ लेता जाऊँ। पाँच सौ रुपये नकद थे, वह तो मैंने थैली में रखे, तीन सौ रुपये के नोट जेब में रख लिया, और घर चला। चौक में दो एक चीजें लेनी थीं। उधर से होता हुआ घर पहुँचा, तो नोट गायब थे।

रमेश बाबू ने सुनने को तो कहानी सुन ली, किन्तु कठोर भाव धारण करके कहा—इतनी लापरवाही तुम से हुई कैसे, यह मेरी समझ में नहीं आता। मेरी जेब से तो आज तक एक पैसा न गिरा। आखें बन्द करके रास्ते चलते हो, या नशे में थे। मुझे तुम्हारी बात पर विश्वास नहीं आता। सच-सच बतला दो कि कहीं अनाप सनाप खर्च तो नहीं कर दिया?

रमेश बाबू ने उनको अगले दिन सवेरे तक की मुहलत दे दी।

कहा—कल रुपये न आये तो बुरा होगा, मेरी दोस्ती भी तुम्हें पुलिस के पंजे से बचा न सकेगी। मेरी दोस्ती ने आज अपना हक अदा कर दिया, वरना इस वक्त तुम्हारे हाथों में हथकड़ियाँ होतीं।

रमानाथ ने इधर-उधर हाथ पैर मारा, किन्तु कहीं से बाकी रुपये नहीं मिल सके। अन्त में उसने एक कागज में पत्र के रूप में जालपा को अपनी वर्तमान परिस्थिति लिख कर बताने की सोची। वह इस कागज को जेब में रख कर इस उधेड़ बुन में घर में घुस ही रहा था कि जालपा को यह पत्र दूँ या नहीं दूँ, इतने में जालपा उधर से निकली। वह किसी जगह दावत में जा रही थी, सेठानीजी ने बुलाया था। रमा की दशा इस समय उस शिकारी की सी थी, जो हिरनी को अपने शावकों के साथ किलोल करते देख कर तनी हुई बन्दूक कन्धे पर रख लेता है, और वात्सल्य और प्रेम की क्रीडा देखने में तल्लीन हो जाता है। उसने विदाई के लिए जालपा को आलिंगन किया, मानो यह सौभाग्य उसे फिर न मिलेगा। कौन जानता है वही उसका अन्तिम आलिंगन हो।...सहसा जालपा बोली—मुझे कुछ रुपये तो दे दो, शायद वहां कुछ जरूरत पड़े।

रमा ने चौंक कर कहा—रुपये, रुपये इस वक्त तो नहीं हैं।

जालपा—'हैं, हैं, मुझसे बहाने कर रहे हैं। बस मुझे दो रुपये दे दो, और ज्यादा नहीं चाहती!' यह कह कर उसने रमा की जेब में हाथ डाल दिया, और कुछ पैसे के साथ उस पत्र को भी निकाल लिया। रमा ने पत्र छीन लेना चाहा, किन्तु जालपा अड़ गई, और उसने खत नहीं दिया। वह खत पढ़ने लगी, इधर रमानाथ को ऐसा जान पड़ा मानो आसमान फट पड़ा, मानो कोई, भयंकर जन्तु उसे निगलने के लिए बढ़ा चला आता है। वह धड़-धड़ करता हुआ ऊपर से उतरा, और घर से बाहर निकल गया। आह, सारा पर्दा खुल गया, सारी कपट खुल गई। गाड़ी तैयार खड़ी थी, वह उस पर सवार हो

गया। सीधा रेल के स्टेशन पर पहुँचा। गाड़ी में एक सहृदय व्यक्ति के साथ भेंट हुई, और उसके साथ वह कलकत्ता चला गया।

पत्र पढ़ कर जालपा को सारी परिस्थिति का बोध हो गया। उसने तुरन्त अपने गहनों को बन्धक रखा, और रुपये प्राप्त कर लिये। वह इन रुपयों को रमानाथ के सुपुर्द करना चाहती थीं, किन्तु रमानाथ वहाँ कहाँ था? वह स्वयं खोजते-खोजते म्युनिसिपैल्टी के दफ़्तर में पहुँची। वहाँ पता चला कि रमानाथ वहाँ है ही नहीं। तब वह हिम्मत कर रमेश बाबू के पास पहुँची। वहाँ उसने रमेश बाबू से कहा—मुझे ऐसा भय हो रहा है कि वे कहीं चले गये हैं, अभी दस मिनट हुये, उन्होंने मेरे नाम एक पुर्जा लिखा था। आप से कोई पर्दा नहीं। उनके जिम्मे कुछ सरकारी रुपये तो नहीं निकलते?

रमेश बाबू ने साफ-साफ परिस्थिति बतला दी। जालपा ने रुपये लेकर रमेश बाबू को दे दिया। इस प्रकार म्युनिसिपैलटी के रुपये बेबाक हो गये। चारो तरफ आदमी दौड़ाये गये, किन्तु कहीं से कुछ पता न चला। जालपा को ज्ञात हुआ कि यह सारा बखेड़ा उसी के गहनों के मोह के कारण हुआ, तो उसको बहुत अफसोस हुआ, उसने अपने गहनों को बेचकर सराफ के रुपये चुका दिये। उसने अपने बनाव शृङ्गार के द्रव्यों पर भी बहुत क्षोभ के साथ देखा, उन वस्तुओं को देखकर अब उसका जी जलता था। यही सारे दुखों की मूल है, उन्हीं के लिए उसके पति को विदेश जाना पड़ा। उसने अपने सारे प्रसाधन द्रव्यों को एक बैग में डाल दिया। फिर उसने जाकर बैग को पानी में फेंक दिया। अपनी निर्बलता पर विजय पाकर उसका मुख प्रदीप्त हो गया। उसे अब जितना गर्व और आनन्द हुआ, उतना इन चीज़ों को पाकर भी नहीं हुआ था।

रमानाथ भाग कर कलकत्ता पहुँचा। रास्ते में संयोग वश देवीदीन नामक एक व्यक्ति के साथ उसका परिचय हुआ। यह कलकत्ते का

ही रहने वाला था। रमानाथ ने जाकर इसी के घर में आश्रय लिया। देवीदीन घर में कोई विशेष काम नहीं करता था, किन्तु उसकी बीबी जग्गी दुकान करती थी। जब रमानाथ आ ही गया, तो जग्गी ने उससे हिसाब किताब लिखवाना शुरू किया। जग्गी मन ही मन कुढ़ती है कि यह ठलुआ कहाँ से आ गया, किन्तु रमा इतना नम्र इतना सेवा तत्पर, इतना धर्म निष्ठ है कि वह स्पष्ट रूप से कोई आपत्ति नहीं कर सकती। रमा ने अपना परिचय ब्राह्मण करके दिया है। बुढ़िया ताने देती है, किन्तु परिस्थिति के कारण रमानाथ बेहआई करने पर मजबूर है।

रमानाथ को हर समय यह ध्यान लगा रहता है कि उसके खिलाफ वारन्ट कटा होगा, और उसकी तलाश हो रही होगी। दूर से पुलिस वालों को आते देख कर वह समझता कि वे उसे ही गिरफ़्तार करने आ रहे हैं। कभी-कभी पड़े-पड़े उसका जी ऐसा घबड़ाता कि पुलिस में जाकर सारी कथा कह सुनाये। जो कुछ होना है, हो जाय। साल दो साल की कैद इस आजीवन कारावास से तो अच्छी ही है। फिर वह नये सिरे से जीवन संग्राम में हाथ पाँव बचा कर काम करेगा, अपनी चादर के बाहर जव भर भी पाँव न फैलायेगा, लेकिन एक ही क्षण में हिम्मत टूट जाती। इस प्रकार कई महीने बीत गये। घर से तो कोई कपड़ा वह लाया नहीं था, पूस के कड़कड़ाते जाड़े, लिहाफ या कम्बल के बगैर कैसे कटते। देवीदीन ने उसे एक पुरानी दरी बिछाने को दी थी। रमा संकोचवश देवीदीन से कुछ कह भी नहीं सकता था। एक दिन शाम को वह वाचनालय जा रहा था कि उसने देखा एक बड़ी कोठी के सामने एक सेठ जी कम्बलों का दान कर रहे हैं। रमा की तबीयत में तो यह आई कि एक कम्बल मिल जाय तो अच्छा है, यहाँ उसे कौन जानता था। किन्तु वह दान लेने का आदी नहीं था, इसलिए झिझक रहा था। उसके माथे पर तिलक देख कर

मुनीम जी ने समझ लिया कि वह ब्राह्मण है। इतने सारे कङ्गलों में ब्राह्मणों की संख्या बहुत कम थी। ब्राह्मणों को दान देने का पुण्य कुछ और ही है, इसलिए मुनीम जी ने न माँगने पर भी बुला कर उसे एक बढ़िया कम्बल भेंट किया। ऊपर से मुनीम जी ने सेठ जी से पाँच रुपया दक्षिणा भी दिलाना चाहा, किन्तु रमानाथ का जी न माना, उसने किसी तरह वहाँ से अपना पिंड छुड़ा लिया। जो देवीदीन ने उसे कम्बल लेकर आते देखा तो उसे फौरन मालूम हो गया कि कराेड़ी मल के यहाँ से कम्बल लेकर रमा आये हैं। बातचीत के दौरान में रमा ने कहा कि बड़ा धर्मात्मा आदमी है, कम्बल देकर ही पिण्ड छोड़ा। इस पर देवीदीन हँसा और बताया कि 'उसकी जूट की मिल है। मज़दूरों के साथ जितनी निर्दयता इसके मिल में होती है, और कहीं नहीं होती। आदमियों को हन्टरों से पिटवाता है, हन्टरों से। चर्बी मिला घी बेच कर इसने लाखों कमा लिया, कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे तो तुरन्त तलब काट लेता है। अगर साल में दो-चार हज़ार दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे।'

देवीदीन के यहाँ रमा का दिन एक तरह से कट जाता था। कई महीने हो गए। देवीदीन को अंग्रेजी पढ़ने का शौक हुआ, रोज रमा से अंग्रेजी पढ़ता। देवीदीन ने धीरे-धीरे उससे सब हाल निकाल लिया। उसने रमा को बहुतेरा समझाया कि घर में कोई खबर दी जाय, किन्तु वह राजी नहीं हुआ। एक बार नीम राजी हुआ तो यह तय हुआ कि रमा के लिए कुछ कपड़े खरीदे जाँय, जिससे वह घर जाकर मुँह दिखाने लायक तो मालूम हो, क्योंकि इन दिनों वह फटाहाल रहता था। बात यह है कि देवीदीन जाति का खटिक था, और उसकी रहन सहन का मानदंड कोई ऊँचा नहीं था। देवीदीन बराबर स्वदेशी पहनता था, इस लिए वह रमानाथ के लिए स्वदेशी कपड़ा लाया था। इस स्वदेशी पहनने का भी एक इतिहास था। देवीदीन के शब्दों में वह इतिहास यों है—

'जिस देश में रहते हैं, जिसका अन्न जल खाते हैं, उसके लिए इतना भी न करें तो जीने का धिक्कार है। दो जवान बेटे इसी सुदेशी को भेंट कर चुका हूँ, भैया। ऐसे-ऐसे पट्ठे थे कि तुम से क्या कहें ! दोनों विदेशी कपड़े की दुकान पर तैनात थे, क्या मजाल थी कि कोई ग्राहक दुकान पर आ जाय। हाथ जोड़ कर घिघिया कर, धमका कर लजवा कर सबको फेर देते थे। बजाजे में सियार लोटने लगे। सबों ने जाकर कमीश्नर से फरियाद की। सुनकर आग हो गया। बीस फौजी गोरे भेजे कि अभी जाकर बाजार से पहरे उठा दो। गोरों ने दोनों भाइयों से कहा—यहाँ से चले जाव; मुदा, वह अपनी जगह से जव भर नहीं हिला। भीड़ लग गई। गोरे उन पर घोड़े चढ़ा लाते थे; पर दोनों चट्टान की तरह डटे खड़े थे। आखिर जब इस तरह कुछ बस न चला तो सबों ने डंडों से पीटना शुरू किया। दोनों वार डंडे खाते थे, पर जगह से न हिलते थे। जब बड़ा भाई गिर पड़ा, तो छोटा उसकी जगह पर आ खड़ा हुआ। आकर दोनों अपने डंडे सम्हाल लेते, तो भैया, उन सबों का मार भगाते, लेकिन हाथ उठाना तो बड़ी बात है, सिर तक न उठाया। अन्त में छोटा भी वहीं गिर पड़ा। दोनों को लोगों ने उठा कर अस्पताल भेजा। उसी रात को दोनों सिधार गए। तुम्हारे चरण छू कर कहता हूँ, भैया उस वक्त ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गई है, पाँव जमीन पर न पड़ते थे। यही उमंग आती थी कि भगवान ने औरों को पहले उठा न लिया होता, तो इस समय उन्हें भी भेज देता। जब अर्थी चली है तो एक लाख आदमी साथ थे। बेटों को गंगा में सौंप कर मैं सीधे बजाजे पहुँचा, और उसी जगह खड़ा हुआ, जहाँ दोनों वीरों की लहास गिरी थी। गाहक के नाम चिड़िया का पूत तक नहीं दिखाई दिया। आठ दिन वहाँ से हिला तक नहीं। बस भोर के समय आध घंटे के लिए घर आता था, और नहा धोकर कुछ जलपान करके चला जाता था। नवें

दिन दूकानदारों ने कसम खाई कि बिलायती कपड़े अब न मगायेंगे। तब पहरे उठा लिये गये। तब से विदेशी दियासलाई तक घर में नहीं लाया।

देवीदीन ने इस अवसर पर लीडरों के सम्बन्ध में ये उद्गार किये थे—'इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है। छोकरियों की भाँति बिसूरने के सिवाय इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देश भक्तों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो, एक भी देशी चीज न मिलेगी। दिखाने को दसबीस कुरते गाढ़े के बनवा लिये, घर का और सब सामान विलायती है। सब के सब भोग-विलास में अन्धे हो रहे हैं, छोटे भी और बड़े भी। उस पर दावा यह है कि देश का उद्धार करेंगे। अरे, तुम क्या देश का उद्धार करोगे। पहले अपना उद्धार कर लो। गरीबों को लूट कर विलायत का घर भरना तुम्हारा काम है। इसीलिए तुम्हारा इस देश में जन्म हुआ है। हाँ रोये जाओ, विलायती शराबें उड़ाओ, बिलायती मोटरें दौड़ाओ, बिलायती मुरब्बे और अचार चखो, विलायती बर्तनों में खाओ, विलायती दवाइयाँ पीओ, पर देश के नाम को रोये जाव। मुदा, इस रोने से कुछ न होगा। रोने से माँ दूध पिलाती है, शेर अपना शिकार नहीं छोड़ता। रोओ उसके सामने जिसमें दया और धरम हो। तुम धमका कर ही क्या कर लोगे? जिस धमकी में कोई दम नहीं है, उस धमकी की परवाह कौन करता है। एक बार यहाँ बड़ा भारी जलसा हुआ। एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब उछले कूदे। जब वह नीचे आये तब मैंने उनसे पूछा—साहब सच बताओ जब तुम सुराज का नाम लेते हो उसका कौन सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी अंग्रेजों की तरह बड़ी-बड़ी तलब लोगे। तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाये घूमोगे,

इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा। तुम्हारी और तुम्हारे भाई बन्दों की जिन्दगी भले ही आराम और ठाट से गुज़रे पर देश को तो कोई फायदा न होगा, तुम दिन में पाँच बार खाना चाहते हो, और वह भी बढ़िया माल, गरीब किसान को एक जून सूखा चबेना भी नहीं मिलता। उसी का रक्त चूसकर तो सरकार तुम्हें हुद्दे देती है। तुम्हारा ध्यान कभी उनकी ओर जाता है! अभी तुम्हारा राज्य नहीं है, तब तो तुम भोग विलास पर इतना मरते हो, जब तुम्हारा राज्य हो जायेगा, तब तो तुम गरीबों को पीस कर पी जाओगे।'

यह सब सुनकर रमा को अच्छा न लगा, क्योंकि यह भद्र समाज पर आक्षेप था। उसने कहा कि 'यह बात तो नहीं है, दादा कि पढ़े लिखे लोग किसानों का ध्यान नहीं करते।......लेकिन जब वह देखते हैं कि बचत दूसरे हड़प जाते हैं, तो वह सोचते हैं अगर दूसरों को ही खाना है तो हम क्यों न खायँ।' रमा ने आगे और भी कहा—'कुँजी बहुमत के हाथों में रहेगी, और अभी दस-पाँच वर्ष चाहे न हो, लेकिन आगे चल कर बहुमत किसानों और मज़दूरों का ही हो जायेगा।'

इसी प्रकार देवीदीन और रमा में यदाकदा बहुत गम्भीर विषयों पर भी बातचीत हो जाया करती। एक दिन रमा पुस्तकालय से लौट रहा था, कि रास्ते में उसे कई युवक शतरंज के किसी नक्शे के विषय में बातचीत करते हुये मिले। यह नक्शा वहाँ के हिन्दी दैनिक पत्र में छपा था, और उसे हल करने वाले को पचास रुपये इनाम देने का बचन दिया गया था। रमा ने इस नक्शे पर दिमाग लड़ाना शुरू किया, लगातार तीन दिन दिमाग लड़ाने के बाद इसे उसने हल कर दिया। उसने इस हल को देवीदीन के हाथ अखबार के दफ़्तर में भेज दिया। निर्दिष्ट इनाम उसे मिल गया। अब जग्गी बुढ़िया भी रमानाथ पर सदय हो चली थी, और उसे कुछ स्नेह की आँखों से देखने लगी थी।

इधर रतन और वकील साहब का यह हाल था कि उन्हें रमानाथ के गायब हो जाने पर बड़ा अफसोस था। वकील साहब का स्वास्थ्य टूट रहा था, कह सुनकर इलाज कराने के लिए वे कलकत्ता जाकर इलाज कराने पर राजी हुये। रतन दिन भर और रात भर पति के बिस्तरे के पास डटी रहती। कभी-कभी जब वकील साहब उसे मजबूर करते, तो वह रमानाथ की तलाश करती फिरती, क्योंकि उसने जालपा को वचन दिया था कि वह उसे ढूँढ़ेगी।

वकील साहब का इलाज डाक्टर वैद्य सब ने किया, किन्तु वे मर गये। वकील साहब के मरते ही उनके भतीजे मणिभूषण ने सारी सम्पत्ति पर कब्जा जमाने का सोच लिया। रतन को पहले-पहल पता ही नहीं हुआ कि इस प्रकार उसके गले पर छुरी चलाई जा रही है, किन्तु बाद को जब पता हुआ तो बहुत देर हो चुकी थी। जब मणिभूषण ने रतन से यह प्रस्ताव रखा कि अब बंगले को बेच दिया जाय, तब रतन को सारी परिस्थिति का ज्ञान हुआ, किन्तु अब पछताने से क्या होता था। कानून रूप से सारी सम्पत्ति मणिभूषण की थी।

रमानाथ ने धीरे-धीरे एक चाय की दुकान खोल ली। कुछ पैसे हाथ में आने लगे। पैसों के हाथ में आते ही जरूरतें बढ़ने लगी। मनोरमा थियेटर में राधेश्याम का एक नया ड्रामा हो रहा था। उसने इसका बहुत नाम सुना तो यह तय किया कि इस ड्रामे को देखने चला जाय। डर यह था कि कहीं पुलिस उसे गिरफ़्तार न करले, क्योंकि अभी तक उसे यह ख्याल था कि उसके विरुद्ध वारन्ट है। कुछ मामूली तरीके से अपने भेष को बदल कर वह ड्रामा देखने गया। जिस समय वह ड्रामा देख कर लौट रहा था, उस समय उसने दूर से देखा कि कुछ पुलिसवाले आ रहे हैं। उसे यह भय हुआ कि ये लोग उसी को पकड़ने के लिए आ रहे हैं। जब सिपाहियों का दल समीप आ गया तो उसका चेहरा भय से कुछ ऐसा विकृत हो गया, उसकी आँखें कुछ

ऐसी सशंक हो गई, और अपने को उनकी आँखों से बचने के लिए वह कुछ इस तरह दूसरे आदमियों की आड़ खोजने लगा कि मामूली आदमी को भी उस पर सन्देह होना स्वाभाविक था। फिर पुलिसवालों की मजी हुई आखें क्यों चूकतीं? नतीजा यह हुआ कि पुलिसवालों ने बुलाकर पूछा कि वह कौन है। उसने घबड़ाकर गलत नाम दे दिया। जब इसकी तस्दीक नहीं हुई, तब दारोगा ने गम्भीर भाव से पूछा कि वह सच-सच बता दे कि वह क्या है। पुलिसवालों ने यह बात निकाल ली कि इस व्यक्ति को यह सन्देह कि उस पर सरकारी रुपयों के गबन करने के लिए वारन्ट है। जब देवीदीन को यह पता लगा कि रमानाथ इस प्रकार गिरफ़्तार हो गया है तो उसने दारोगा को मोटी रकम घूस देकर रमानाथ को छुड़ा लेना चाहा। दारोगा नीम राजी हो गए, किन्तु इतने में उन्हें स्मरण हो आया कि इस समय एक डकैती का मुकदमा चल रहा है, मामला बिल्कुल सच्चा होते हुए भी मुखबिर के अभाव के कारण मुकदमे में कुछ कमजोरी है। दारोगा ने सोचा कि यदि रमानाथ इस मुकदमे का मुखबिर होना स्वीकार करे, और जैसा उससे बयान दिलाया जाय, वैसा देना स्वीकार करे तो काम बन जाय। देवीदीन तो पाँच छः सौ रुपये दे सकता है, किन्तु उस मुकदमे को सफलता पूर्वक चलाने में रुपये भी मिलते हैं, नामवरी भी होती है, और आगे तरक्की के लिए रास्ता भी खुल जाता है। दारोगा जी ने रमानाथ को सारी परिस्थिति समझा दी। कहा—आप को महज एक मुकदमे में शहादत देनी पड़ेगी।

रमा—झूठी शहादत होगी?

दारोगा—नहीं...म्युनिसिपिल्टी के पंजे से तो छूट ही जाओगे, शायद सरकार परवरिस भी करे। जो अगर चालान हो गया तो पाँच साल से कम की सजा न होगी। मान लो इस वक्त देवी तुम्हें बचा भी ले, तो बकरे की माँ कब तक खैर मनावेगी। जिन्दगी खराब हो

जावेगी। तुम अपना नफा नुकसान खुद समझ लो। मैं जबरदस्ती नहीं करता......आप बेगुनाहों को न फंसावेंगे। वही लोग जल जावेंगे, जिन्हें जाना चाहिये।......यह मैं मानता हूँ कि आपको झूठ बोलना पड़ेगा, लेकिन आप की जिन्दगी बनी जा रही है। इसके लिहाज से तो झूठ कोई चीज नहीं है।

रमा के मन में बात बैठ गई। अगर एक बार झूठ बोल कर वह अपने पिछले कर्मों का प्रायश्चित्त कर सके, और अपना भविष्य भी सुधार ले, तो कहना ही क्या। वह राजी हो गया। इधर दारोगा ने इलाहाबाद पुलिस से टेलिफोन पर बातचीत की कि रमानाथ नाम के किसी व्यक्ति को वे म्युनिसिपलिटी के गबन के सम्बन्ध में तलाश कर रहे हैं या नहीं। इलाहाबाद की पुलिस ने बतलाया कि इस प्रकार के किसी व्यक्ति की तलाश उन्हें नहीं है, और न इस प्रकार का कोई गबन ही हुआ। दारोगा जी ने इस बात को रमानाथ से छिपा लिया, क्योंकि उन्हें तो अपना काम बनाना था। देवीदीन को जब यह मालूम हुआ कि रमानाथ इस प्रकार गवाह बनने जा रहे हैं तो उसे बहुत बुरा मालूम हुआ। उसने दारोगा जी से कहा—इससे तो यही अच्छा है कि आप इनका चालान कर दें, साल दो साल का जेहल ही तो होगा। एक अधरम के डंड से बचने के लिये बेगुनाहों का खून तो सिर पर न चढ़ेगा।

किन्तु दारोगा जी इस बात को भला क्यों मानते! देवीदीन ने जाकर बुढ़िया से कह दिया कि भइया अब नहीं आयेंगे, जब अपने ही अपने न हुये, तो बेगाने तो बेगाने हैं ही।

जालपा और रतन को पता लग गया कि रमानाथ इन दिनों कलकत्ते में हैं। बस क्या था जालपा पति की तलाश करने के लिए छोटे देवर को साथ लेकर कलकत्ते के लिए रवाना हो गई। ढूढ़ते-

ढाढ़ते वे देवीदीन खटिक के घर पर पहुँचे। देवीदीन और जग्गो ने बड़े प्रेम से उन्हें वहाँ पर ठहराया, और थोड़ी देर बातचीत के बाद ही उन्हें पता लग गया कि रमानाथ के नाम कोई वारन्ट नहीं है। देवी ने जालपा को सारा किस्सा कह सुनाया कि किस प्रकार रमानाथ गवाह होकर शहादत दे रहे थे, अब दोनों में यह सलाह हुई कि किस प्रकार रमानाथ को यह खबर पहुँचाई जाय, क्योंकि अब तो रमानाथ के पास तक कोई पहुँच ही नहीं सकता था। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि इन दिनों रमानाथ को पुलिस वाले वारदात की जगह दिखाने ले गये हैं। एक महीने के बाद रमानाथ वारदात की जगह से वापस लाया गया। जिस समय वह अपने पहले वाले बँगले पर ले जाया जा रहा था, उस समय उसने देवीदीन को तथा खिड़की पर खड़ी जालपा को देख लिया क्योंकि उधर ही से होकर रास्ता था। जालपा और देवीदीन ने यह तय किया किसी तरह चलकर रमानाथ से मिला जाय। देवीदीन और जालपा चुपचाप उस बँगले के पास पहुँचे जहाँ रमानाथ एक तरह से कैद था। किसी तरह उन्होंने रमा के सामने उसे अकेला देखकर एक लिफाफा फेंक दिया। पहले तो रमा डरा कि कहीं कुछ बम न हो, किन्तु बाद को लिफाफा देखकर यकीन हुई, लिखावट जालपा की थी। उसमें साफ-साफ यह बता दिया गया था कि रमानाथ पर कोई मुकदमा नहीं है, इसलिए उसे डर कर झूठी शहादत देने को आवश्यकता नहीं। उसके हृदय में अब यह इच्छा उत्पन्न हुई कि अब जालपा से मिल कर सब बातें तय करे, किन्तु यह असम्भव था, पुलिस वाले कभी भी उसे कहीं जाने न देते। इसलिए उसने निश्चय किया कि चोरी से इस बंगले से निकलकर जालपा से मिला जाय। तदनुसार उसने ऐसा ही किया। जालपा ने बयान देने के लिए अनुरोध किया। वह बदलने पर राजी हो गया, किन्तु जब उसने बँगले में लौट कर यह बातें दारोगा तथा डिप्टी साहब से बताया तो वे

लोग आगबबूला हो गये। बंगाली डिप्टी साहब ने रूखेपन से कहा—यह अच्छी बात न होगी।

रमा ने गर्म होकर कहा—आप के लिए न होगी। मेरे लिए तो सबसे अच्छी बात है।

डिप्टी—नहीं, आपके वास्ते इससे बुरी दूसरी बात नहीं है। हम तुमको छोड़ेगा नहीं। हम तुमको ऐसा लेसन दे देगा कि तुम उमिर भर न भुलेगा। आपको वही गवाही देना होगा जो आप दिया, अगर अगर तुम कुछ गड़बड़ करेगा, कुछ भी गोलमाल किया, तो हम तोम्हारे साथ दोसरा वर्ताव करेगा।

रमा ने तेज होकर कहा—आप मुझसे जबरदस्ती शहादत दिलायेंगे?

रमा—यह अच्छी दिल्लगी है।

डिप्टी—तोम पुलिस को धोखा देना दिल्लगी समझता है! अभी दो गवाह देकर साबित कर सकता है कि तुम राजद्रोह का बात कर रहा था। बस चला जायेगा सात साल के लिए। चक्की पीसते-पीसते हाथ में घट्टा पड़ जायेगा। यह चिकना-चिकना गाल नहीं रहेगा।

रमा जेल से डरता था। उसका चेहरा फीका पड़ गया।

मणिभूषण ने धीरे-धीरे सब जायदाद हथिया ली। जब बिल्कुल बंगला बेचने की बात आई तो वह आग-बगूली हो गई, किन्तु वह अपनी कानूनी परिस्थिति को भी समझती थी। जब मणिभूषण ने रतन को बहुत उत्तेजित देखा तो कुछ दब कर बोला—अगर आपकी इच्छा न हो तो मैं बंगला अभी न बेचूँ। रतन ने जलती हुई आँखों से उसकी ओर देखा। उसका चेहरा तमतमाया हुआ था, आँसुओं के उमड़ते हुये वेग को रोक कर बोली—मैंने कह दिया इस घर की चीज से मेरा नाता नहीं है। मैं किराये की लौंडी थी। लौंडी का घर से क्या सम्बन्ध। ईश्वर अगर कहीं है, उसके यहाँ कोई न्याय होता है तो एक दिन उसी

के सामने उस पापी से पूछूँगी, क्या तेरे घर में माँ बहनें न थी? अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुँचती, तो मैं सब स्त्रियों से कहती—बहिनों किसी सम्मिलित परिवार में विवाह न करना, और अगर करना, तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना। यह न समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरुष ने कोई तरका नहीं छोड़ा, तो तुम अकेली रहो, चाहे परिवार में एक ही बात है। तुम अपमान और मजूरीसे नहीं बच सकती। अगर तुम्हारे पुरुष ने कुछ छोड़ा है, तो अकेली रह कर तुम उसे भोग सकती हो, परिवार में रह कर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, काँटों की शय्या है, तुम्हारी पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जाने वाला जन्तु है।

वादा करने पर भी मुकदमें के समय रमानाथ ने पुलिस की ही गवाही दी। एक महीना गुजर गया। जालपा बहुत विकल रही। मुकदमें की सब कारवाई समाप्त हो चुकी, फैसला भी हो गया। फैसला क्या था, एक ख्याली कहानी थी, जिसका प्रधान नायक रमा था। फैसले में दिनेश को फाँसी की सजा, पाँच को दस-दस साल, और आठ को पाँच-पाँच साल की सजा हुई थी। मुकदमें के फैसले के बाद रमा को आजादी मिली, और वह एक दिन मोटर पर देवीदीन के घर पर पहुँचा। उस समय देवीदीन घर पर नहीं था, वह जालपा के कहने पर दिनेश के घर का पता लगाने गया था। जग्गो ने रमा को एक बार देखा फिर मुँह फेर लिया। रमा ने सोने की चार चूड़ियाँ जेब से निकाल कर जग्गो के पैरों पर रख दी, और बोला—'यह तुम्हारे लिए लाया हूँ, दादी, पहनो ढीली तो नहीं है।' जग्गो ने चूड़ियाँ उठा कर जमीन पर पटक दी, और उस पर बहुत बिगड़ी, तथा उससे वहाँ से चले जाने के लिए कहा। उसके अन्तिम शब्द ये थे—'अगर तुम मेरे

लड़के होते, तो तुम्हें जहर दे देती। क्यों खड़े मुझे जला रहे हो? चले क्यों नहीं जाते? मैंने तुमसे कुछ ले तो नहीं लिया है!' इसी समय जालपा भी जीने से उतर कर आई, उसने भी कड़े-कड़े लफ़्ज़ों से रमा का स्वागत किया। रमा चला गया।

रमा आवेश में जज साहब के बँगले की ओर चला जा रहा था। रास्ते में एक पुलिस वाले ने लालबत्ती दिखाई। रमा रुक गया, और सिर बाहर निकाल कर देखा तो वहीं दारोगाजी। नतीजा यह हुआ कि रमा को जज के बँगले में जाने का अभिप्राय त्याग देना पड़ा। फिर भी रमा के मन में यह बात बैठ गई थी कि किसी प्रकार बयान बदल दिया जाय। उसने अपने इरादे की बात पुलिस वालों से कह दी। परिणाम यह हुआ कि उन लोगों ने फिर उसकी आजादी पर रोक लगा दी। रमा की दिलवस्तगी के लिए जोहरा की एक वेश्या उसके पास भेजी जाती। अब जोहरा अधिक आने जाने लगी। जोहरा ने पुलिस-वालों को रिपोर्ट दी कि रमा से कोई डरने की बात नहीं। इसलिए उसे कुछ-कुछ आजादी फिर से मिलने लगी। एक दिन वह मोटर पर घूमता हुआ, हबड़ा ब्रिज़ की ओर पहुँचा, तो उसने देखा कि एक स्त्री सिर पर गंगा जल का कलसा रखे, घाट पर जा रही थी। ध्यान से देखने पर ज्ञात हुआ कि यह जालपा है। मोटर दन से निकल गई, किन्तु जालपा कितनी दुर्बल थी। मानो कोई वृद्धा अनाथा हो। न वह कान्ति थी, न वह लावण्य न वह चंचलता न वह गर्व। रमा हृदयहीन न था, उसकी आँखें सजल हो गईं। जब रमा सैर से लौटा तो जोहरा आई। यद्यपि जोहरा एक पेशेवर स्त्री के रूप में आई थी, किन्तु अब वह कुछ-कुछ रमा से प्रेम करने लगी थी। उसने जो रमा को अन्यमनस्क पाया तो कारण पूछा। रमा ने असली कारण बता दिया। जोहरा ने यह वादा किया कि वह जालपा का पता लगावेगी, और कई दिन में उसने यह पता दिया कि जालपा दिनेश के घर में रहती है। दिनेश को फाँसी की

सजा होने के कारण जितने साथी सोहबती थे, सब के सब मुँह छिपा बैठे। दो तीन फाँके तक हो चुके थे। जालपा ने ही जाकर इन सब को जिला लिया था। इन बातों को सुन कर रमा ने अबकी बार जाकर जज को सारी बातें बता दी। जज ने कहा कि मुकदमें की जाँच फिर से होगी। पुलिस वाले ने बड़े-बड़े जोर लगाये, पुलिस कमीश्नर ने यहाँ तक कहा कि इससे सारा पुलिस विभाग बदनाम हो जायेगा किन्तु जज ने किसी की न सुनी। झूठे सबूतों पर पन्द्रह आदमियों की जिन्दगी बरबाद करने की जिम्मेदारी सिर पर लेना, उसकी आत्मा के लिए असह्य था उसने हाईकोर्ट को सूचना दी और सरकार को भी; अखबारों ने भी इसपर आन्दोलन शुरू किया। ऐसी दशा में मुकदमा उठा लेने के सिवाय और क्या किया जा सकता था। तबेले की बला बन्दर के सिर गई। दारोगा तनज्जुल हो गये, और नायब दारोगा का तबादला तराई में कर दिया गया।

इसके बाद तीन साल गुजर गये। देवीदीन ने जमीन ली, बाग लगाया, खेती जमाई, गाय भैंसे खरीदी, और कर्मयोग में अविरत उद्योग में सुख, सन्तोष का अनुभव कर रहा है। वहीं पर रमानाथ, जालपा, दयानाथ, रतन, जोहरा सभी एकत्रित हैं। दयानाथ नौकरी से बर्खास्त हो गये थे, और अब देवीदीन के असिटेन्ट हैं। सब लोग गाँव वालों की सेवा करते हैं, और एक आदर्श ग्राम्य-जीवन व्यतीत करते हैं। यहीं पर रतन की मृत्यु होती है। रतन की मृत्यु के बाद जोहरा अकेली पड़ गई, क्योंकि वह अब तक उसी के साथ उठती, बैठती, हँसती, बोलती, सोती थी।

भादों का महीना था, सब लोग नदी किनारे बैठे थे। सहसा एक किश्ती नजर आई। उस पर अनेक स्त्री पुरुष बैठे थे। किश्ती का हाल बुरा था। बस यही मालूम होता था कि अब उलटी, अब उलटी। एकाएक किनारे पर बैठे हुये लोग क्या देखते हैं कि किश्ती उलट गई।

सभी प्राणी लहरों में समा गये। केवल एक उजली सी चीज किनारे की ओर चली आ रही थी। वह एक रेले में तट से कोई बीस गज तक आ गई। समीप से मालूम हुआ स्त्री है। जोहरा जालपा और रमा—तीनो खड़े थे, स्त्री की गोद में एक बच्चा भी नजर आता था। दोनों को निकाल लाने के लिए तीनों विकल हो उठे, पर बीस गज तक तैर कर उस तरफ जाना आसान न था। रमा तैरने में कुशल न था। इसलिए जोहरा नदी में कूद पड़ी। जोहरा ने कूदते हुये कहा, मैं अभी निकाले लाती हूँ, किन्तु थोड़ी दूर जाने पर वह एक लहर के झोंके में आ गई, और स्वयं डूब गई।

गबन (समालोचना)

यों तो प्रेमचन्द के कई उपन्यासों में, बल्कि सभी उपन्यासों में मध्यवित्त वर्ग जिसे पारिभाषिक तौर पर Petit bourgeois class कहते हैं, उसका चित्रण है, किन्तु गबन में लेखक इस वर्ग के चरित्र का जितना सुन्दर सजीव तथा मनोज्ञ उद्घाटन करने में समर्थ हुए हैं, उतना वे और किसी उपन्यास में नहीं कर पाए। यह पुस्तक मानों एक दर्पण है जिसमें मध्यवित्तवर्ग अपनी सजीव प्रतिच्छवि देख सकता है, जरा गर्दन झुकाई और इसमें अपनी तस्वीर नज़र आई। मध्यवित्तवर्ग की बड़ी अजीब परिस्थिति है। मानसिक रूप से उसका रुझान ऊपर की ओर अर्थात अपने से ऊपर के वर्गों की ओर रहता है, किन्तु आमदनी कम होने के कारण तथा नौकरी की प्रतियोगिता के कारण उसे हमेशा यह खतरा लगा रहता है कि कहीं वह जिस त्रिशंकु की अवस्था में है, उससे धम से गिरकर सर्वहारावर्ग में न शामिल हो जाय।

इस उपन्यास का नायक रमानाथ फटीचर बाबू श्रेणी का एक अन्य प्रतिनिधि है। हम यह नहीं कहते कि रमानाथ केवल एक टाइप

मात्र है तथा उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है, उसका व्यक्तित्व है, किन्तु उसका व्यक्तित्व इतना नहीं है कि वह अपने वर्ग से अलग हवा में उड़ता हुआ एक व्यक्ति मालूम दे। रमानाथ के व्यक्तित्व के विषय में हम फिर आलोचना करेंगे, यहाँ पहले यह दिखला दें कि किस हद तक वह अपने वर्ग का एक प्रतिनिधि है। रमानाथ अपनी विवाहिता स्त्री से खूब जीट उड़ाता है, खूब बढ़-चढ़कर बातें करता है। 'जमीन्दारी है। उससे कई हजार का नफा है, बैंक में रुपए हैं, उनका सूद आता है।' इत्यादि। इस प्रकार जीट उड़ाने में रमानाथ सही रूप से अपने वर्ग का प्रतिनिधि है। इसी वर्ग की यह कहावत है—Nothing is unfair in love and war अर्थात् प्रेम तथा युद्ध में कोई भी बात गर्हित नहीं है। पूछा जाय कि यदि प्रेम में कोई बात गर्हित नहीं है, यदि प्रेयसी या स्त्री से झूठ बोलना जायज है, तो सच कहाँ बोला जाय। ऐसा न समझा जाय कि इस प्रकार की कहावत केवल अंग्रेजी में ही है। महाभारत में कहा गया है।

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्त विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृताचाउरपातकानि ॥

अर्थात् 'हँसी में, स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, जब जान पर आ बने तब और सम्पत्ति की रक्षा के लिए—इन पाँच अवसरों पर झूठ बोलना पाप नहीं है।' स्त्री पुरुष के सम्बन्ध के विषय में यह अच्छी धारणा है कि उसमें झूठ बोलना जायज है। जब पारस्परिक विश्वास ही न हो, और झूठ बोलना पड़े, उस हालत में प्रेम की गुंजाइश कहाँ है? गबन में हम देखते भी यही हैं कि रमानाथ की जीटों के कारण ऐसी अजीब परिस्थिति हो जाती है कि रमानाथ को अन्त में उसका समाधान अपनी स्त्री के गहने चुरा कर करना पड़ता है, क्योंकि वह जीट उड़ा चुका है, स्त्री को अपने परिवार की सच्ची हालत बता नहीं सकता है, इसलिए जिस समय स्त्री सो जाती है, उस समय उसके

गहने को उठा कर सोनार के हवाले कर अपनी और अपने परिवार की 'इज्जत' बचा लेता है। फिर उसकी यह बहुमूल्य इज्जत भी बचती कहाँ है ? कहाँ तो वह रहा था जमीन्दारी है, कई हजार का नफा है, बैंक में रुपए हैं। उनका सूद आता है, और कहाँ जाकर उसे म्युनिसिपिलिटी के दफ्तर में तीस रुपए की नौकरी करनी पड़ती है। अवश्य वह अपनी स्त्री को तीस रुपए की बात नहीं बताता। फिर वही मध्यवित्तवर्ग की झूठी इज्जत की धारणा उसे स्त्री से झूठ बुलवाती है। तीस की नौकरी बताना अपमान की बात थी, इसलिए वह चालीस बताता है। साथ ही यह डरता है कि कहीं चालीस भी कम न समझा जाय, इसलिए उसी साँस में यह भी कह देता है कि जल्दी तरक्की होगी, जब कि सच बात यह है कि इस नौकरी में तरक्की की कोई विशेष गुँजाइश नहीं है। तरक्की होगी ऐसा कहना भी यथेष्ट समझा जाता है, इसलिए वह कहता है—'जगह आमदनी की है,' अर्थात् इसमें घूस मिलने की सम्भावना है। कितनी सुन्दर सम्भावना है, भविष्य जीवन की सुनहली अट्टालिका इसी आशा के भरोसे बनती है कि घूस मिलेगा। इधर पत्नी से तो तनख्वाह चालीस बताया है, किन्तु माँ से जाकर तीस बीस हो जाता है। जालपा स्वयं झूठ की शिकार है किन्तु इस बात पर उल्लसित हो जाती है कि रमानाथ अपनी माँ को बीस ही बतलायेगा। उसकी बाछें खिल जाती हैं, कहती है—'हाँ जी, बल्कि पन्द्रह ही कहना, ऊपर की आमदनी की तो चर्चा ही करना व्यर्थ है। भीतर का हिसाब वो ले सकते हैं, मैं सब से पहले चन्द्रहार बनवाऊँगी।' जब रमानाथ ने बाद में सरकारी रुपये खर्च कर डाले, और देखा कि सर पर कानून की तलवार लटक रही है, तो वह रमेश बाबू के पास सहायतार्थ जाता है, किन्तु वहाँ भी असली बात न बताकर यह बताता है कि उसकी जेब कट गई है, इसलिए रुपये घट गये। स्त्री से झूठ, मित्र से झूठ, पिता से झूठ, सभी से झूठ, यही हम इस उपन्यास में बार बार पाते हैं।

रमानाथ के पिता दयानाथ बड़े ही सज्जन तथा सहृदय व्यक्ति थे। कचहरी में नौकर थे, और पचास रुपये वेतन पाते थे, रिश्वत को हराम समझते थे। यह सब तो हुआ, किन्तु लड़के की शादी में वे कर्जा लेते हैं, तथा इस प्रकार वे अपने वर्ग की झूठी इज्जत सम्बन्धी धारणा के शिकार हो जाते हैं। वे सारे टीमटाम, नाच तमाशे, जिनकी कल्पना का गला उन्होंने घोट दिया था, वृहद रूप धारण करके सामने आ गये। धूमधाम से विवाह करने की ठानी। पहले जोड़े गहने को उन्होंने गौन समझ रखा था, अब वही सबसे मुख्य हो गया। ऐसा चढ़ाव हो कि मड़वे वाले देख कर फड़क उठें। इस प्रकार बात की बात में उनका वर्षों का संयम काफूर हो जाता है, और वे सैकड़ों के कर्जदार हो जाते हैं। केवल यही नहीं जब कर्ज के मारे बहू के गहने सोनार को लौटा देने या चुराने की बात चलती है, तो उसमें वे यह सुझाव देते हैं कि बहू के असली गहने ले लिये जायं, और उनके बदले मुलम्मे के गहने दिये जायं। यही उनके वर्षों की इमानदारी और घूस की जगह पर रहकर घूस न लेने के जीवन क्रम का परिणाम है। रमानाथ ने जो अन्त तक अपनी स्त्री के गहनों की चोरी की, उस चोरी करने में यदि दयानाथ का हाथ न भी माना जाय, तो भी उस चोरी के माल को वे ले जाकर सोनार को देते हैं, और जब बहू समझती है कि चोरी हो गई, तो उस पर चुप्पी साधे बैठे रहते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द ने कदाचित् यह दिखलाया है कि इस ढकोसलामूलक समाज में आदमी ईमानदार रह नहीं सकता।

गबन में यह दिखलाया गया है कि मध्यवित्तवर्ग का समाज ही ऐसा बन गया है कि यहाँ लोग खुद झूठ बोलते हैं, और दूसरों को झूठ बोलने पर मजबूर करते हैं, क्योंकि झूठ बोलने में इज्जत होत. है। जब रमानाथ अपनी स्त्री के साथ रतन और वकील साहब से मिलने जाते हैं, तो वकील साहब पूछते हैं—'आप यहाँ किसी आफिस में हैं?' इस पर

[illegible] यदि बता देते कि चुँगी के दफ़्तर में वह एक तीस रुपये का मुँशी [illegible] है, तो वकील साहब शायद पछतावें कि क्यों रतन ने ऐसे एक मामूली औकात के व्यक्ति को अपने यहाँ निमंत्रित किया, इसलिए वह कहता है—'जी हाँ म्युनिसिपिल आफिस में हूँ, कानून की तरफ़ जाने का इरादा था, पर नये वकीलों की जो यहां हालत हो रही है, उसे देख कर हिम्मत न पड़ी।' प्रेमचन्दजी लिखते हैं—'रमा ने अपना महत्व बढ़ाने के लिए जरा-सा झूठ बोलना अनुचित न समझा। इसका असर बहुत अच्छा हुआ।' क्या खूब! इस समाज में झूठ का असर अच्छा होता है। इस वर्ग का प्रत्येक व्याक्ति एक बुरका ओढ़ कर समाज के सामने आता है। खाना वह भले ही रद्दी से रद्दी खावे, उसकी दाल में भले ही घी न पड़ता हो, किन्तु कपड़े लत्तों से तथा अन्य बाहरी ठाठों से प्रत्येक व्यक्ति यह दिखाने की कोशिश करता है कि उसकी हैसियत जितनी है, उससे अधिक है। बीस रुपये की नौकरीवाला यह कोशिश करता है कि उसके सम्बन्ध में लोग यह समझें कि उसे चालीस मिलते हैं, और वह पचास के ठाठ-बाट से रहने की कोशिश करता है। पचासवाला सौ की और सौवाला दो सौ की, इत्यादि, यही इस समाज का चित्रण है। इस प्रकार की धारणा दूसरों को दिलाने के लिए कर्ज लेकर लड़के और लड़कियों की शादी की जाती है, हैसियत से अधिक अच्छे कपड़े पहने जाते हैं, जीट हाँकी जाती है। जीट केवल बाहरी लोगों के सामने ही उड़ाई जाती है, ऐसी बात नहीं। घर के अन्दर एक परिवार के अन्दर एक दूसरे को धोखा देने की कोशिश करते हैं। इस समाज का झूठ ही ओढ़ना है, और झूठ ही बिछौना है। ढोंग और ढकोसले ही इसके जीवन के मूल सूत्र हैं। और इस पर तुर्रा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति इसी के अन्दर यह भी कोशिश करता है कि मैं इमानदार समझा जाऊँ। दयानाथ अपने पुत्र को यह सुझाव देते हैं कि वह अपनी स्त्री के गहने उड़ा ले और उनकी जगह पर

मुलम्में के गहने रख दे। इसमें स्पष्ट ही चोरी करने की बात कही गई थी, बल्कि इससे भी अधिक, क्योंकि इसमें चोरी के अतिरिक्त धोखा देने की बात भी थी। किन्तु जब रमानाथ सचमुच गहने उठा लाता है, तो वे नाक भौं सिकोड़ते हैं, अनजान की तरह पूछते हैं—इसे क्यों उठा लाये ? जब रमा इस पर यह कहता है कि तो फिर क्या वह फिर गहने के बक्स को जहां का तहां रख आवे, तब वह कहते हैं—'अब क्या रख आओगे ? कहीं देख ले तो गजब ही हो जाय। वही काम करोगे जिसमें जग हँसाई हो। खड़े क्या हो, सन्दूकची मेरे बड़े सन्दूक में रख आओ, और जाकर लेट रहो। कहीं जाग पड़े तो बस।' संक्षेप में यह है कि वे इस चोरी के माल को हजम कर जाते हैं।

यही महाशय दयानाथ जब सुनते हैं कि रमानाथ घूस लेता है, तो वे आपे से बाहर हो जाते हैं, वे अपने पुत्र से कहते हैं—'कभी एक पैसा भी हराम का नहीं लिया। तुम में यह आदत कहां से आ गई। यह मेरी समझ में नहीं आता।' रमा इन्कार करता है। तब दयानाथ पूछते हैं—'तुम दस्तूरी नहीं लेते ?' रमानाथ इस पर कहता है कि दस्तूरी रिश्वत नहीं है, सभी लेते हैं, और खुल्लम-खुल्ला लेते हैं, लोग बिना माँगे आप ही आप देते हैं, मैं किसी से माँगने नहीं जाता इस पर दयानाथ झल्ला कर कहते हैं—'सभी खुल्लम-खुल्ला लेते हैं, और लोग बिना माँगे देते हैं, इससे तो रिश्वत की बुराई कम नहीं हो जाती।' वही अच्छी बात है, यह भी सच है कि दयानाथ ने कभी दस्तूरी भी नहीं ली, किन्तु उन्होंने अपनी बहू के चुराये हुये गहनों को लेकर अपनी जान बचाई कि नहीं।

इस प्रकार इस वर्ग की एक विशेषता यह भी है कि सत्तर चूहा खाकर भी उसका सदस्य अपने को दूध का धुला हुआ समझता है। रमानाथ जिस प्रकार रिश्वत लेने का समर्थन करता है, उसे हम देख चुके। वह रिश्वत को दस्तूरी समझता है। कहता है—'दस्तूरी का बन्द

कर देना मेरे बस की बात नहीं है। मैं खुद न लूँ, चपरासी और मुहर्रिर का हाथ तो नहीं पकड़ सकता हूँ। आठ-आठ नौ-नौ पानेवाले नौकर अगर न ले, तो उनका काम नहीं चल सकता। मैं खुद न लूँ, पर उन्हें नहीं रोक सकता। रमानाथ की माँ भी बराबर यह चाहती है कि दयानाथ घूस लें। उसे इस बात का बड़ा अफसोस है कि दयानाथ घूस नहीं लेते, इसलिए वह न गहने बनवा पाई, और न उसका कोई शौक ही पूरा हुआ। हम इसके ब्यौरे में नहीं जायेंगे। जालपा का यह हाल है कि जब वह सुनती है कि रमानाथ को म्युनिसिपलिटी में काम मिला है, और उसमें ऊपरी आमदनी है तो वह कुछ हिचकिचाती है। लगे हाथों हम यह बता दें कि उसका यह हिचकिचाना कुछ आश्चर्यजनक इसलिए है कि उसके पिता दीनदयाल बहुत पक्के घूसखोर थे, वह इसी वातावरण में पली थी, फिर उसे इस प्रकार की झिझक क्यों हुई, यह समझ में नहीं आती। जो कुछ भी हो, वह यह कहकर पति को एक ऊपरी चेतावनी सी देकर अपने विवेक के दंशन को शान्त कर लेती है कि गरीबों का गला न काटना। बल्कि बाद को तो वह बहुत खुश होती है, और हिदायत कर देती है कि माता जी से ऊपरी आमदनी की चर्चा न करना क्योंकि ऐसा करना व्यर्थ है। इस प्रकार उसका भी मन सन्तुष्ट हो जाता है कि वह बहुत इमानदार है, जब कि सच्ची बात यह है कि घूस से प्राप्त सारे पैसे उसी के प्रसाधन तथा अन्य फिजूल खर्ची में काम आते हैं।

अब इस समाज में जो पति-पत्नी का प्रेम है, उसका भी प्रेमचन्द जी सुन्दर चित्र देते हैं। थोड़े में पति-पत्नी के प्रेम की कैसी पोल दिखाई गई है। जब घूस से प्राप्त पैसों से रमानाथ जालपा को एक चन्द्रहार बना देता है, तो उस दिन से जालपा के पति स्नेह में सेवा भाव का उदय हुआ। हम देखते हैं, अब रमानाथ स्नान करने जाता है, तो उसे अपनी धोती चुनी हुई मिलती है, आले पर तेल और

साबुन रखा हुआ मिलता है, जब दफ़्तर जाने लगता है, तो जालपा उसके कपड़े लगा कर सामने रख देती है। पहले पान माँगने पर मिलते थे, अब जबरदस्ती खिलाये जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि जैसे-तैसे चन्द्रहार देने के कारण जालपा का पातिव्रत्य एकाएक जोर मारता है, और वह पति का रुख देखा करती है। इस प्रकार इस वर्ग के प्रेम, द्वेष, सदाचार, पातिव्रत्य सभी बातों में ढकोसला का ही जोर है। प्रेमचन्द इस उपन्यास में इस ढकोसले का खूब पर्दा फाश करते हैं। जो प्रेम असली हालत को न देखे, और पति को गहना देने का एक यंत्र मात्र समझे, वह प्रेम नहीं प्रेमशब्द का उपहास है।

श्री रामरतन भटनागर इस उपन्यास की समालोचना करते हुये कहते हैं कि 'इसे गहने की ट्रेजडी भी कहा जा सकता है।' मजे की बात है कि डाक्टर रामविलास भी इससे आगे नहीं जाते। वे भी कहते हैं—'यहाँ मूल समस्या गहनों को लेकर खड़ी हुई है।'[1] गहने तो केवल इस समाज की कमजोरियों के एक अंश को मूर्त करते हैं। सम्भव है प्रेमचन्दजी ने भी यही समझ कर इस पुस्तक को लिखा हो कि आमतौर से मध्यवित्तवर्ग की स्त्रियों में गहनों का जो मोह है, उसी को आधेय बना कर एक उपन्यास लिखा जाय, तदनुसार उन्होंने यह उपन्यास लिखा, किन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं, एक लेखक अपनी रचना में सज्ञानरूप जो कुछ रखना चाहता है, यह जरूरी नहीं है कि वह रचना वहीं तक सीमित रहे। एक रचना में लेखक जो कुछ चाहता है, उससे अधिक रहता है। अवश्य हम यह जोर देकर नहीं कहते कि प्रेमचन्द ने इस उपन्यास को गहना सम्बन्धी उपन्यास के अतिरिक्त कुछ समझा ही नहीं, किन्तु उनके समालोचकों के विषय में तो यह बात बहुत कुछ सत्य है। जिस मौलिक कारण से

---

[1] प्रे० डा० पृ० १६२

रमानाथ बात-बात पर झूठ बोलता है, वकील साहब झूठ बोलने पर रमानाथ की इज्जत करते हैं, रमानाथ और दीनदयाल घूसखोर हैं, इत्यादि, उसी कारण से इस समाज की स्त्रियाँ गहने पसन्द करती हैं। गहने का मोह सामाजिक रोग का एक लक्षण है न कि सारा रोग। यदि हम इस बात पर विचार करें कि इस प्रकार गहने का मोह पुरुष प्रधान सारी समाज पद्धतियों में क्यों पाया जाता है, तो हम देखेंगे कि इसके कई गहरे कारण हैं। पुरुष प्रधान समाज में नारी की कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं रही, अब धीरे-धीरे पुरुष प्रधानता के दायरे में भी उसका उदय होता जा रहा है, यह और बात है; किन्तु गहनों के रूप में स्त्रियों को हमेशा एक तरह से वैयक्तिक सम्पत्ति प्राप्त होती थी। इसके अतिरिक्त जिस समाज में नारी का सबसे बड़ा गुण, और चरितार्थता यह है कि वह पुरुष को रीझा सके, उसमें स्वाभाविक रूप से प्रसाधन के एक जबर्दस्त साधन के रूप में अलंकारों की चाह होना स्वाभाविक है। फिर जैसा कि हम इंगित कर चुके इस समाज में सब चाहते हैं कि अपनी हैसियत से अधिक करके अपने को दिखावें। इसके लिए भी अलंकार अच्छे साधन हैं। इस समाज में नारी का सबसे बड़ा गौरव यह भी है कि वह यह दिखा सके कि उसे पिता तथा बाद में पति का प्रेम प्राप्त है। यह प्रेम कितना है, इसको भी इस समाज में इस बात से नापने का रिवाज है पिता ने तथा बाद में पति ने किस स्त्री को कितने गहने दिये। जब इतनी बातें हैं तो फिर स्त्रियों में अलंकार का मोह क्यों न हो। इस पृष्ठ भूमि में यही स्वाभाविक ज्ञात होता है। ट्रेजडी गहने की नहीं है, बल्कि सारे मध्यवित्तवर्ग, बल्कि पुरुष प्रधान समाज की ट्रेजडी है। समस्या गहने की नहीं है, बल्कि समस्या इससे कहीं गहरी है, उसका रूप दोहरा है, एक ता यह कि इस समाज में नारी नर की आश्रिता है, दूसरा यह पुरुष की वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रधानता मूलक समाज है।

इस समाज में पातिव्रत्य की पोल तो हमने देख ही ली, प्रेमचन्दजी ने इसमें दान की पोल भी खूब दिखलाया है। करोड़ीमल अपने जूट की मिल में मजदूरों के साथ खूब जुल्म करते है, किन्तु कहीं मन्दिर बनवाते हैं, तो कहीं कम्बल बटवाते है, इत्यादि। वे दानी कहलाते हैं, किन्तु उनकी मिल में जाकर कोई देखे कि उनके धर्मात्मापन की क्या पोल है।

इस समाज में लीडर भी समाज की आम भूलचूक तथा त्रुटि से मुक्त नहीं हैं। देवीदीन यह जो कहता है कि लीडरों को बिना विलायती शराब के चैन नहीं आता, उसके घर में देशी चीज न मिलेगी, दिखाने को दस बीस कुर्ते गाढ़े के बनवा लिये हैं, घर का और सब समान विलायती है, ये सब बातें भी इस समाज की पोल को दिखलाते हैं। मध्यवित्तवर्ग के आन्दोलन में इस प्रकार के लोगों का पाया जाना, कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

जब हम इस उपन्यास के कथानक की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि निर्मला के अतिरिक्त प्रेमचन्द के किसी भी उपन्यास का कथानक इतना सुग्रथित नहीं है। प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यासों के पढ़ने से यह धारणा होती है कि लेखक विभिन्न sittings कथा को लिखते गये, और उसके बीच का सम्पर्क सूत्र अच्छी तरह कायम नहीं रह सका; हमें इन उपन्यासों में जीवन के कुछ सजीव चित्र जरूर मिलते हैं, किन्तु उनका संगठन अच्छी तरह नहीं किया गया है, किन्तु इस उपन्यास की बात और ही है। संगठन की दृष्टि से निर्मला और गबन प्रेमचन्द के श्रेष्ठतम उपन्यास हैं। रमा भाग कर जब तक कलकत्ते में देवीदीन के यहाँ पहुँचता है, तब तक का कथानक तो बहुत ही सुग्रथित है। बाद में कुछ-कुछ शिथिलता दिखलाई पड़ती है, क्योंकि प्रेमचन्द अभी-अभी जो आन्दोलन (१९३०-३१) हो चुका है, उसका कुछ पुट इसमें देने का लोभ संवरण नहीं कर पाते। खटिक के लड़कों का विदेशी कपड़ों की दूकानों पर पिकेटिंग करते हुये गोली के

शिकार होने का जो चित्र खींचा गया है वह इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया गया है। अवश्य इस कथा को भी मूल कथानक के साथ जोड़ने की कोशिश की गई है, और वह एक हद तक सफल भी है, किन्तु फिर भी कुछ शिथिलता रह जाती है। इसी प्रकार रतन की जो पूरी कथा को इस उपन्यास के अन्दर फिट करने की कोशिश की गई है, वह भी आंशिक रूप से ही सफल हो सकी है। यदि लेखक रतन के जीवन को उसके अन्तिम परिणति तक दिखाने का आग्रह न कर केवल वहीं तक दिखाते जहाँ तक रमानाथ और जालपा के चरित्र को परिस्फुट करने के लिए जरुरत थी, अर्थात् वकील साहब की मृत्यु तथा उनके भतीजे के द्वारा रतन का घर की मालकिन पद से उतार कर एक मामूली आश्रिता के पद तक पहुँचा देने की बात का वर्णन न करते तो कथानक की कोई हानि नहीं होती, बल्कि कथानक की सुग्रथिता कायम रहती। अवश्य जब यह कथा दी गई है, तो उस हालत में क्या परिस्थिति पैदा हुई, इसे भी हम एक वाक्य में देख लें! रतन जिस समय पति की मृत्यु के बाद पति के भतीजे के द्वारा एक तरह से निकाल-सी दी जाती है, उस समय वह जो उद्गार करता है—'बहिनो, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह न करना, और अगर करना तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना'—उसमें हम नारी की सम्पत्ति हीनता यहाँ तक कि अपने पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार न होने की ट्रेजडी मूर्त होकर हमारे सामने आती है। इसी प्रकार खटिक के लड़कों के शहीद होने की कथा स्वयं एक बहुत ही वीरता पूर्ण कहानी है, इससे भारत में वृटिश साम्राज्यवाद का नग्न-चित्र हमारे सन्मुख सजीव होकर आ जाता है। खटिक अपने पुत्रों के शहीद होने की कथा कहता है, उसी सिलसिले में वह रमानाथ के सन्मुख स्वराज्य का जो चित्र खिचता है, उनमें जनता किस प्रकार का स्वराज्य चाहती है, यह स्पष्ट हो जाता है। इस स्वराज्य के चित्रण

में स्पष्ट ही समाजवाद का पुट है। जनता यह नहीं चाहती कि केवल उसके प्रभुओं के चमड़े के रंग में तब्दीली हो जाय, बल्कि वह चाहती है कि शक्ति उसके हाथ में आवे। अपनी-अपनी जगह पर उल्लिखित सभी बातें अलग-अलग अच्छी हैं, उनमें जीवन भी है, किन्तु मूल कथानक के साथ वे अंगांगी रूप से (organically) सम्बद्ध नहीं हो पाये।

अब हम फिर मूलकथानक की ओर बढ़ते हैं, तो देखते हैं कि जिन परिस्थितियों में रमानाथ मुखबिर बन जाता है, वह बिल्कुल स्वाभाविक है, किन्तु इसके बाद के कथानक में कई बड़ी गड़बड़ियां हैं। जिस मुकदमे के लिए रमानाथ मुखबिर बनाया जाता है, वह मुकदमा राजनैतिक है, इसे प्रेमचन्दजी बहुत बाद को चल कर बतलाते हैं। अवश्य रस के परिपाक के लिए कहीं-कहीं यह जरूरी होता है कि किसी घटना के पूरे रहस्य को पहले ही न बताया जाय, किन्तु इस क्षेत्र में पाठक को यह मुकदमा मामूली डकैती का मुकदमा मालूम होने से रस में भंग होता है। वह यों कि साधारण डकैती के अभियुक्तों के साथ पाठक की कोई सहानुभूति नहीं होती, इसलिए ऐसे मुकदमें के लिए यदि रमानाथ बनावटी मुखबिर बनाया जाता है, तो उसके कारण उसके मन में उन भावनाओं का उदय नहीं हो सकता, जो उसके किसी राजनैतिक मुकदमें के लिए मुखबिर बनने से होता। इसलिए इससे रहस्य को गुप्त रखने से रस का भंग ही होता है।

रमानाथ मुखबिर हो जाने के बाद जिस प्रकार अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरता है उनका अच्छी तरह चित्रण हुआ है। वह एक अत्यन्त कमजोर दिल व्यक्ति के रूप में हमारे सन्मुख आता है। शुरू से ही वह ऐसा रहा है। उसमें चरित्रबल नाम का भी नहीं है अवश्य उसके चरित्र में भी कुछ भलाई के उपादान हैं। बुरे से बुरे आदमी में भी कुछ न कुछ भलाई होती ही है। प्रकृति द्वयात्मिका है। इसी द्वयात्मिकता की बदौ-

लत बाद को रमानाथ बिल्कुल गर्त के निम्नतम स्तर में गिर कर फिर उठता है। इस उपन्यास में उसके चरित्र का वह पहलू भी कभी-कभी सामने आता है, जब वह आसानी से आठ सौ रुपए रतन से कंगन के लिए पा रहा है, उस समय वह आठ सौ न लेकर छ सौ लेता है, जो उसका सही दाम है। जालपा के पत्र तथा उससे मुलाकात करने के कारण उसके भावनाओं में जो घातप्रतिघात होते हैं, वह प्रेमचन्द साहित्य का एक सुन्दर दान है। रमानाथ को मुखबिर बनाने के लिए पुलिस यहाँ तक कि तहकीकात करने वाले डिप्टी साहब जैसा-जैसा दाँव खेलते हैं, और जैसे-जैसे हथकंडे करते हैं, उनसे वृटिश भारतीय पुलिस का चित्र स्पष्ट रूप से हमारे सामने आता है। प्रेमचन्द साहित्य की यह एक विशेषता है कि जहाँ भी पुलिस का जिक्र आया है, वह उसे बहुत काले रंग में—जो उसका वास्तविक रंग है, चित्रित करते है। अपनी स्त्री के सामने रमानाथ की बार-बार मुखबिरी से तोबा करना, और फिर अदालत में जाकर पुलिस का सा बयान देना, यह उसके कमजोर चरित्र के लिए बिल्कुल स्वाभाविक है, साथ ही अन्त में वह अपनी स्त्री की दुर्दशा की बात सुनकर जिस प्रकार बदल जाता है, और जज साहब को सच्ची बात बता देता है, वह भी वस्तु अनुयायी है। कमजोर होते हुए भी शुरू से ही उसके चरित्र की यह विशेषता रही कि वह जालपा पर जान देता है। फिर भी मनोवैज्ञानिक रूप से उसके इस परिवर्तन को सफलता पूर्वक चित्रित कर सकने पर भी लेखक कई ऐसी भद्दी गलती कर देते हैं, जिससे जानकार पाठक के मन में इसकी कृत्रिमता स्पष्ट हो जाती है। किसी उपन्यास का मनोवैज्ञानिक सेटिंग या पृष्ठभूमि अच्छी और स्वाभाविक होने पर ही उपन्यास सफल नहीं हो सकता, आनेवाली घटनाओं का यथातथ्य वस्तुअनुयायी वर्णन भी होना चाहिए। यदि लेखक जेल का वर्णन कर रहा है तो उसे जेल के जीवन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए, यदि जेल के

वर्णन में लड़की की साड़ी पहिन कर नाच दिखलाया जाय, तो वह सही कहा जा सकता है, किन्तु यदि कोई उपन्यासकार जेल में रंडी का नाच दिखलावे, तो वह उचित न होगा। यदि किसी बिल्कुल अपवादात्मक क्षेत्र में ऐसा दिखाया भी जाय, तो पाठक को यह भी बता दिया जाय कि ऐसा क्यों कर हो सका, नहीं तो उसका वर्णन केवल सुश पाठक का हास्योद्रेक करेगा। इस उपन्यास में यह दिखलाया गया है मुखबिर रमानाथ के पास पिस्तौल है, यह वर्णन बिल्कुल मनमाना है। किसी भी हालत में किसी मुखबिर के पास पिस्तौल नहीं रखी जाती है। बड़े से बड़े राजनैतिक तथा मामूली मुकदमों के मुखबिरों के साथ भी यह रियायत नहीं की गई। यदि मुखबिर के प्राण का भय है तो उसका गारद दुगुना, तिगुना, चौगुना कर दिया जायेगा, किन्तु किसी भी हालत में उसको पिस्तौल नहीं दी जायेगी। मुखबिर को पिस्तौल दिया जाना बिल्कुल अस्वाभाविक है। इसी प्रकार मुकदमें में फैसला हो जाने के बाद मुखबिर रमानाथ जब जज साहब के पास जाकर सब बातें सच्ची सच्ची कह देता है, और उसके फलस्वरूप जज साहब मुकदमा वापस करा लेते हैं, यह बिल्कुल कानूनी रूप से असम्भव बात है किसी मुकदमे में फैसला सुना देने के बाद जज को उस मुकदमें के सम्बन्ध में कोई अधिकार नहीं रहता।

इस उपन्यास की अन्यतम नायिक जोहरा नाम की एक वेश्या है; वह रमानाथ के संस्पर्श में आकर वेश्या जीवन से तोबाकर लेती है। जिन्होंने शरतचन्द के 'देवदास' उपन्यास को पढ़ा होगा, उन्हें इस प्रसंग में चन्द्रमुखी की याद हो आयेगी, किन्तु चन्द्रमुखी का चरित्र परिवर्तन जिस कुशलता के साथ दिखलाया गया है, तथा देवदास जिस प्रकार कई बार इस उधेड़बुन में पड़ जाता है कि वह चन्द्रमुखी को अधिक प्रेम करता है, या पार्वती को. इस प्रकार की कोई नाटकीय परिस्थिति हम जोहरा की कहानी में नहीं पाते। जोहरा का सारा चरित्र बहुत कुछ

यांत्रिक ज्ञात होता है, और लेखक उसमें जीवन का संचार नहीं कर पाये। देवदास में देवदास ही मर जाता है, इसी घटना से पुस्तक की समाप्ति होती है, इसलिए चन्द्रमुखी की समस्या आकर भी नहीं आ पाती। जब देवदास ही मर गया तो फिर इस सवाल का क्या अर्थ हो सकता है कि उसे चन्द्रमुखी को ग्रहण करना चाहिये या नहीं, किन्तु 'गबन' में परिस्थिति दूसरी तरह की है। यहाँ रमानाथ एक आश्रम में जोहरा, जालपा आदि के साथ रहता है, जोहरा उससे प्रेम करती है, ऐसी हालत में यह सवाल उठकर रहता है कि जोहरा का क्या हो। जोहरा एक सुधरी वेश्या है। प्रेमचन्द इसका समाधान न कर जोहरा को डूबवा देते हैं, और इस प्रकार इस समस्या से बचते हैं। शरत बाबू ने भी देवदास में चन्द्रमुखी समस्या का कोई समाधान नहीं किया है, किन्तु वे जिस प्रकार इस समस्या को बरा जाते हैं, उसमें यह पूछने का अवकाश नहीं मिलता कि चन्द्रमुखी का क्या होगा! प्रेमचन्द और शरत चन्द दोनों इस समस्या का कोई हल न तो देते हैं, और न इसकी ओर इशारा करते हैं कि सुधरी हुई वेश्याओं के साथ समाज क्या करे, किन्तु शरतचन्द खूबी से इस समस्या से अपनी जान छुड़ाते हैं, मालूम ही नहीं होती कि यह समस्या भी है, किन्तु गबन में यह समस्या उठती है, और उससे बहुत कुछ लट्ठमार तरीके से अर्थात् एक आकस्मिक घटना करवा कर जान बचाई जाती है।

इस पुस्तक का अन्त एक आश्रम से हुआ है। प्रेमचन्द इसी प्रकार अपने कई उपन्यासों का अन्त करते हैं। कुछ भी कहा जाय, यह अन्त अच्छा नहीं कहा जा सकता है, और लेखक की असमर्थता ही प्रकट करता है—विशेषकर जब कि किसी न किसी रूप में इस प्रकार का अन्त सेवासदन, प्रेमाश्रम, प्रतिज्ञा, वरदान उपन्यासों में हो चुका है।

यों खोजने पर और भी त्रुटियाँ मिल सकती हैं। एक स्थान में

जालपा अपने पति से कुछ अलंकार उपहार में पाकर उन्मत्त होकर तब्रोती हुई दिखाई जाती है—तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ, ईश्वर तुम्हारी सारी मनोकामनायें पूरी करें (छटा संस्करण जनवरी १६४५ पृ० ६३ ।) क्या कोई स्त्री भी अपने पति को आशीर्वाद देती है। इसी प्रकार कहीं-कहीं कथोपकथन में अस्वाभाविकता झलक जाती है। कोई भी 'शरीफ' घराने की स्त्री अपने को वेश्या के साथ तुलना नहीं करती, किन्तु इसमें ऐसा भी दिखलाया गया है। फिर भी हम जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, यह समझते हैं कि यह पुस्तक प्रेमचन्द के सब से अच्छे उपन्यासों में है। इसमें मध्यवित्त वर्ग का जैसा चित्र खींचा गया है, उसकी कमजोरियाँ जिस नग्नरूप में हमारे सन्मुख आती है, वह भारतीय साहित्य में अतुलनीय है। शरत बाबू अपने उपन्यासों में मध्यवित्त वर्ग को चित्रित करते हैं, जहाँ तक स्त्री पुरुष के सम्बन्ध हैं, इस वर्ग को वे बहुत सुन्दर रूप से चित्रित करते हैं, उस क्षेत्र में उनका अभी तक कोई प्रति द्वन्दी नहीं है, मूक अवहेलिता, निर्मातिता नारी उनके उपन्यास में वाचाल हो जाती है, किन्तु वे भी किसी एक उपन्यास में यह नहीं दिखा पाये कि यह जो मध्यवित्त वर्ग है, वह कितना सड़ा-गला है, तथा उसके अन्दर क्या-क्या रोग हैं, जो उसे पंगु बना कर समाज के नेता वर्ग होने में असमर्थ कर देते हैं। इस वर्ग ने जब से अंग्रेज आये, भारत वर्ष को बहुत कुछ दिया, कभी इसका स्वर्णयुग था, किन्तु अब इसके दिन ढल चुके हैं, समाज के नेतृत्व के लिए किसी और वर्ग को सामने आना चाहिये। आँशिक रूप से शिथिल होते हुये भी गबन में हम यह जो एक वर्ग का सजीव चित्रण पाते हैं, यह कुछ कम देन नहीं है। यद्यपि मामूली समालोचकों ने इस उपन्यास को अधिक महत्व नहीं दिया, किन्तु यह उपन्यास बहुत यथार्थवादी है, इसमें सन्देह नहीं। श्री राम रतन भटनागर ने यह लिखा है कि रमानाथ प्रेमचन्द का प्रथम यथार्थवादी नायक है, और गबन प्रथम यथार्थवादी

उपन्यास है, हम इससे केवल सहमत ही नहीं हैं, बल्कि हम इसमें इतना और जोड़ देना चाहते हैं कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में दो ही उपन्यास यथेष्ट रूप से यथार्थवादी हैं, एक निर्मला, और दूसरा गबन। निर्मला के मुकाबिले में गबन का कथानक कुछ शिथिल होने पर भी इस शिथिलता की क्षति पूर्ति उसके विषय की विस्तृति से हो जाती है।

निर्मला

बाबू उदयभानु लाल अपनी कन्या निर्मला के विवाह में जी भर कर खर्च करना चाहते हैं। यों तो वे कोई धनी व्यक्ति नहीं है, किन्तु वर पक्ष की इस शराफत से वे बहुत मुग्ध हैं कि उनसे दहेज की कोई रकम नहीं माँगी गई है, इसलिए वे उधार लेकर भी खर्च करना चाहते हैं। उनकी स्त्री कल्याणी चाहती है कि निर्मला का विवाह ढंग से हो, किन्तु वह यह नहीं चाहती कि इसके लिए परिवार पर ऋण का इतना बड़ा बोझा लद जाय कि वह फिर उठ ही न पावे, उसे इस बात की फिक्र है कि और भी कन्याओं की शादी करनी है, इसलिए कुछ हाथ थाम कर खर्च किया जाय। इसी खर्च सम्बन्धी तर्क-वितर्क पर बात बढ़ जाती है। उदयभानु तैश में आकर कहते हैं—मैं कमाकर लाता हूँ, जैसे चाहूँ खर्च कर सकता है, किसी को बोलने का अधिकारी है।

कल्याणी—तो आप अपना घर सम्हालिये। ऐसे घर को मेरा दूर ही से सलाम है, जहाँ मेरी कोई पूछ नहीं है। घर में तुम्हारा जितना अधिकार है, उतना ही मेरा है। इससे जव भर की कम नहीं है। अगर तुम अपने मन के राजा हो, तो मैं भी अपने मन की रानी हूँ, तुम्हारा घर तुम्हें मुबारक रहे। मेरे लिए पेट की रोटियों की कमी नहीं है। तुम्हारे बच्चे हैं, मारो या जिलाओ, न आँखों से देखूँगी, न पीड़ा होगी। आँखे फूटी, पीर गई।

बात और बढ़ गई। यहाँ तक कि कल्याणी झुंझला कर वहां से हट गई। उसने मन में यह संकल्प किया कि घर को छोड़ दे, किन्तु उसके मन में संकल्प विकल्प होने लगे। पति की बातें याद आई, तो मन होता—घर को तिलांजली देकर चली जाऊँ, लेकिन बच्चों का मुँह देखती, तो वात्सल्य से चित्त गद्‌गद हो जाता। बच्चों को किस पर छोड़ कर जाऊँ। अन्त में वह तय करती है—नहीं प्यारो, मैं तुम्हें छोड़ कर न जाऊँगी। तुम्हारे लिए सब कुछ सहलूँगी। निरादर, अपमान, जली-कटी, खरी-खोटी, घुड़की-झिड़की सब तुम्हारे लिए सहूँगी। इधर तो कल्याणी ने यह इरादा किया, किन्तु दूसरी तरफ बाबू उदयभानु लाल ने यह तय किया कि ऐसा स्वाँग रचा जाय कि यह मालूम हो कि वह डूब गये, और इस प्रकार कल्याणी को अपनी करनी की सजा दी जाय।

तदनुसार वे लपके हुये गंगा की ओर चले जा रहे थे। उन्होंने अपना कुर्ता घाट के किनारे रख कर पाँच दिन के लिए मिर्जापुर चले जाने का निश्चय किया था। उनके कपड़े देख कर लोगों को उनके डूब जाने का विश्वास हो जायेगा, कार्ड कुर्ते की जेब में था। पता लगाने में कोई दिक्कत नहीं हो सकती थी। दम के दम में सारे शहर में खबर मशहूर हो जायेगी, आठ बजते-बजते तो मेरे द्वार पर सारा शहर जमा हो जायेगा, तब देखूँ देवीजी क्या करती हैं, यही सोचते हुये वे गंगा की ओर चल देते हैं। रास्ते में उनका पीछा करता हुआ मतई नामक एक बदमाश आता है, जिसको उन्होंने तीन साल पहले, तीन वर्ष की सजा कराई थी। गली सुनसान थी, और मतई लाठियों से उनका काम तमाम कर देता।

कल्याणी को जब इस बात का पता लगा तो उसे बहुत पश्चाताप हुआ। कुछ दिन शोक में कटा, किन्तु निर्मला के विवाह की समस्या जो ज्यों की त्यों थी, बल्कि दिन ब दिन और विकराल रूप धारण

करती गई। कल्याणी ने अपने पुरोहित मोटेराम को भालचन्द्र के पास भेजा। भालचन्द्र के लड़के से ही निर्मला की शादी तय हुई थी। भालचन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि उदयभानु लाल चल बसे तो वे बगले झाँकने लगे। मोटेराम ने बहुत कुछ समझाया, जब भालचन्द्र हर तरीके से निरुत्तर हो गए, तो उन्होंने ईश्वर की शरण ली और कहा—पंडितजी, हलफ से कहता हूँ, मुझे उस लड़की से जितना प्रेम है, उतना अपनी लड़की से भी नहीं है, लेकिन जब ईश्वर को मंजूर नहीं है, तो मेरा क्या बस है। यह मृत्यु एक प्रकार की अमंगल सूचना है, जो विधाता की ओर से हमें मिली है। यह किसी आनेवाले मुसीबत की आकाश वाणी है। विधाता स्पष्ट रीति से कह रहा है, यह विवाह मंगलमय न होगा।......नहीं जानबूझकर मक्खी निगली नहीं जाती।

भालचन्द्र अपनी स्त्री रंगीलीबाई से जाकर पूछा कि क्या राय है, तो उसने भी साफ मना कर दिया। बोली—साफ बात कहने में संकोच क्या है? हमारी इच्छा है नहीं करते। किसी का कुछ लिया तो नहीं है। जब दूसरी जगह दस हजार नकद मिल रही है, तो वहाँ क्यों न करूँ? उनकी लड़की कोई सोने की थोड़े ही है। वकील साहब जीते होते, तो शर्माते-शर्माते भी १५—२० हजार दे मरते। अब वहाँ क्या रखा है।

किन्तु रंगीली भाई ने जब पान खाकर कल्याणी का पत्र खोला, और पढ़ा, तो उसकी राय बदल गई। पहली ही पांती पढ़ कर उसकी आँखें सजल हो गईं, और पत्र समाप्त हुआ तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। इस प्रकार रंगीलीबाई तो शादी के पक्ष में हो गई। पति-पत्नी में इस प्रकार मतभेद हो गया तो यह तय हुआ कि इस पर पुत्र भुवन मोहन की राय ली जाय। उसने साफ-साफ कह दिया कि कहीं

ऐसी शादी करवाइये कि खूब रुपये मिलें। नतीजा यह हुआ कि मोटेराम को लौट जाना पड़ा।

निर्मला का विवाह तो होना ही था। मोटेराम ने दौड़ धूप कर कल्याणी की राय से मुंशी तोताराम के साथ उसकी शादी तय की। वे वकील थे। उनके तीन लड़के थे। बड़ा मंशाराम सोलह वर्ष का था, मझला जियाराम बारह और सियाराम सात वर्ष का। घर में वकील साहब की विधवा बहिन के सिवाय और कोई औरत नहीं थी। वही घर की मालकिन थी। उम्र पचास से ऊपर थी। ससुराल में कोई न था। स्वामी रीति से भाई के साथ रहती थी।

विवाह हो गया। पहला महीना गुजरते ही तोताराम ने निर्मला को अपना खजानची बना लिया। वकील साहब अच्छे वकीलों में थे, पैसे खूब आते थे। निर्मला वस्त्राभूषणों से लद गई, किन्तु जब वह अपने सौन्दर्य की सूचना पूर्ण आभा देखती तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था। उस वक्त उसके हृदय में एक-ज्वाला-सी उठती। मुंशीजी की बहिन रुक्मणी का हाल निराला था। वह लड़कों को निर्मला के पास फटकने न देती, मानों वह कोई पिशाचिनी है जो उन्हें निगल जायेगी। यह पता लगाना कठिन था कि रुक्मिणी किस बात से खुश होती थी, और किस बात से नाराज। रुक्मिणी निर्मला की आलोचना भी करती। इसके अतिरिक्त यह तोताराम से हमेशा निर्मला की शिकायत किया करती थी। मुंशीजी निर्मला पर लट्टू थे, उन्होंने सोचा चलो इसी बहाने निर्मला से कुछ बात कर ली जाय। निर्मला ने कहा—लड़कों को सिखा देती हैं कि जाकर माँ से पैसे माँगो, कभी कुछ कभी कुछ। लड़के आकर मेरी जान खाते हैं। घड़ी भर लेटना मुश्किल हो जाता है।

तोताराम ने जो यह सुना तो क्रोध से काँप उठे। बोले—तुम्हें जो

लड़का दिक करे, उसे पीट दिया करो। मैं भी देखता हूँ कि लौंडे शरीर हो गये हैं।

इस प्रकार घर में अशान्ति रहने लगी। निर्मला को बच्चों से सचमुच प्रेम था। जब मुँशी जी की डाँट डपट के कारण रुक्मिणी ने लड़कों पर अपना लगाम ढीला कर दिया, तो वे आकर अपनी विमाता के पास बैठने लगे। निर्मला को अब यह अच्छा काम मिला, अब वह बच्चों ही के लालन पालन में व्यस्त रहने लगी। निर्मला का तृषित हृदय प्रणय की ओर से निराश होकर इस अवलम्ब ही को गनीमत समझने लगा। मुँशी तोताराम ने सोचा था कि रुक्मिणी और निर्मला के झगड़े में उन्होंने निर्मला का पक्ष लिया था, इसलिए निर्मला अब उन पर प्रसन्न रहेगी, किन्तु अब उसके पास मुँशीजी के लिए बिल्कुल समय ही नहीं था। मुँशीजी मजबूर होकर एकान्त सेवन करने लगे। फिर भी स्त्री के प्रेम प्राप्त करने की इच्छा उनके मन में थी। एक मित्र से अपने दुखड़े रोये, तो उसने कहा कि उपहार आदि देने से प्रसन्न होती हैं। मुँशीजी ने कहा कि यह खूब कर चुका, दम्पति शास्त्र के सारे मंत्रों का इम्तहान ले चुका। तब मित्र ने कहा कि बिजली के डाक्टर के पास जाकर बुढ़ापे के सारे निशान लीजिये। डाक्टर पाँच सौ रुपये लेता था, मुँशीजी इतने खर्च के लिए तैयार नहीं थे। तब मित्र ने कहा—रंगीलेपन का स्वाँग रचो, यह ढीला-ढाला कोट फेंको, तन्जेब की चुस्त अचकन हो, चुन्नटदार पायजामा, गले में सोने की जँजीर जड़ी हुई, सिर पर जयपुरी साफा बँधा हुआ, आँखों में सुर्मा और बालों में हिना का तेल पड़ा हो। कहा—तोंद का पचकाना भी जरूरी है। दोहरा कमरबन्द बाँधो......जवाँमर्दी और साहस के काम करने का मौका ढूढ़ते रहो। रात को झूटमूठ शोर करो—चोर-चोर और तलवार लेकर अकेले पील पड़ो, हाँ जरा मौका देख लेना। ऐसा न कि सचमुच कोई चोर आ जाय, और तुम उसके पीछे दौड़ो, नहीं तो सारी कलई

खुल जायेगी, और मुफ़्त में उल्लू बनोगे। उस वक्त तो जवाँमर्दी इसी में है कि दम साधे खड़े रहो, जिसमें वह समझे कि तुम्हें खबर भी नहीं हुई, लेकिन ज्योंही चोर भाग खड़ा हो, तुम भी उछलकर बाहर निकलो, और तलवार लेकर कहाँ-कहाँ कहते दौड़ो।

मुँशीजी ने ऐसा ही किया। जब आते तो निर्मला को कोई न कोई अपनी बहादुरी की बात सुनाते। एक दिन इसी प्रकार अपनी बहादुरी की एक कहानी सुना रहे थे कि किस प्रकार एक छड़ी से उन्होंने तीन बदमाशों को मार भगाया, इतने में रुक्मिणी देवी दौड़ती हुई आई, और बोली कि मेरे कमरे में एक साँप निकल आया है। सुनते ही मुँशी जी के चेहरे का रंग उड़ गया गया, मुँह पर हवाइयाँ छूटने लगी, मगर मन के भावों को छिपाकर बोले—साँप यहाँ कहाँ? तुम्हें धोखा हुआ होगा। कोई रस्सी होगी।

रुक्मणी के बहुत विश्वास दिलाने पर कि रस्सी नहीं साँप है मुंशी जी घर से निकले, किन्तु रुक्मणी के कमरे की ओर जाने के बजाय लपके हुये बाहर चले गये। मंशाराम बैठा खाना खा रहा था, उसने जो साँप साँप की आवाज सुनी तो फौरन हाकी लेकर साँप पर पिल पड़ा, और उसे वहीं ढेर कर दिया। इधर मुंशीजी कई आदमियों को साथ में लेकर लौटे। जब देखा कि साँप मरा पड़ा है, तो मूँछों पर ताव देते हुये निर्मला के पास आकर बोले—मैं जब तक जाऊँ जाऊँ मंशाराम ने मार डाला। नासमझ लड़का डंडा लेकर दौड़ पड़ा। साँप को हमेशा भाले से मारना चाहिये। यही तो लड़कों में ऐब है। मैंने ऐसे ऐसे कितने साँप मारे हैं। साँप को खिला-खिला कर मारता हूँ। कितनों ही को मुट्ठी से पकड़ कर मसल दिया है।...

मुँशीजी इस प्रकार अपने मित्र के बताये हुये नुसखे को आजमाते जाते थे! उधर निर्मला यह सोचती थी—'भगवान क्या उन्हें सचमुच कोई भीषण रोग हो रहा है। क्या मेरी दशा को और भी दारुण बनाना

चाहते हो।' मुंशी जी समझ नहीं पाते थे कि मामला क्या है, नुसखा क्यों नहीं सफल होता ! एक दिन उन्होंने देखा कि मंशाराम और निर्मला में बहुत स्नेह है। मंशा स्कूल से आया, तो खाना माँगने लगा। जल्दी से खाना खाकर वह मैच खेलने के लिए रवाना हुआ। निर्मला ने कहा—'भई, जल्द आना, खाना ठंडा हो जायेगा, तो कहोगे भूख नहीं है।' मंशाराम ने निर्मला को सरल स्नेह भाव से देख कर कहा—'मुझे देर हो जाय तो समझ लीजियेगा, वहीं खा रहा हूँ। मेरे लिए बैठने की जरूरत नहीं।' वह चला गया तो निर्मला बोली—'पहले तो घर में आते ही न थे, मुझसे बोलते शर्माते थे, किसी चीज की जरूरत होती, तो बाहर ही मँगवा भेजते। जब से मैंने बुला कर कहा, तब से अब आने लगे हैं।' तोताराम ने कुछ चिढ़ कर कहा—'यह तुम्हारे पास खाने पीने की चीजें माँगने क्यों आता है ? दीदी से क्यों नहीं कहता ?' निर्मला ने यह बात प्रशंसा पाने के लोभ से कहा था। यह कोई बनावटी प्रेम नहीं था। उसे लड़को से सचमुच प्रेम था वह पति के प्रसन्न होने के बदले नाक भौं सिकोड़ने वा आशय न समझ कर बोली—'मैं क्या जानूं उनसे क्यों नहीं माँगते ? मेरे पास आते हैं तो दुत्कार नहीं देती। अगर ऐसा करूँ तो यही होगा कि यह तो लड़कों को देख कर जलती है।' मुंशीजी ने कुछ जवाब नहीं दिया, किन्तु उस दिन से जैसे उन्हें उस रहस्य का पता लग गया, जिसकी उन्हें तलाश की। अब वह कारण अकारण मंशाराम पर बिगड़ते। कभी कहते—तुम आवारा हो रहे हो, बहुत इधर-उधर घुमा करते हो, कभी कुछ कभी कुछ इस प्रकार जब मंशाराम पर डाँट पड़ने लगी, तो रुक्मिणी ने यह समझा कि निर्मला ने कुछ शिकायत की होगी, तभी मुंशीजी नाराज रहते हैं। यहाँ तक कि यह बात बहुत तूल पकड़ गई। मंशाराम अपने अवसर के समय निर्मला को अंग्रेजी पढ़ाता था, वह भी बन्द हो गया। अब मंशाराम बाहर ही बाहर रहता।

वकील साहब ने तय किया कि मंशाराम को बोर्डिङ्ग में रख कर पढ़ाया जाय। जब निर्मला ने यह बात सुनी, तो उसने वकील साहब से कहा कि मंशा से अंग्रेजी पढ़ती थी, उसके बोर्डिङ्ग में चले जाने पर उसे पढ़ने का हर्ज होगा। यह सुन कर वकील साहब की छाती पर साँप सा लोट गया, त्योरियाँ बदलकर बोले, कब से पढ़ा रहा है, तुम्हें ? मुझ से तुमने कभी नहीं कहा।

बात कुछ न थी मगर वकील साहब हताश होकर चारपाई से गिर पड़े, और माथे पर हाथ रखकर चिन्ता में मग्न हो गए। उन्होंने जितना समझा था, बात उससे कही बढ़ गई थी। उन्होंने अपने उपर क्रोध किया कि मैंने पहले ही क्यों न इस लौंढे को बाहर रखने का प्रबन्ध किया। आजकल जो यह महारानी इतनी खुश दिखाई देती हैं, इसका रहस्य अब समझ में आया। पहले कभी कमरा इतना सजा सजाया न रहता था, बनाव चुनाव भी न करती थी, पर अब देखता हूँ, कायापलट-सी हो गई है। उन्होंने फौरन यह तय किया कि इसे बोर्डिंग में भेज दिया जाय। तदनुसार मंशाराम बोर्डिंग में भेज दिया गया। बोर्डिङ्ग शहर ही में था, किन्तु उस दिन से मशाराम ने छुट्टी के दिन भी घर में पैर न रखा। कुछ दिनों ही में मंशा बोर्डिङ्ग में बीमार पड़ा, हेडमास्टर ने मुंशीजी को लिख भेजा कि फौरन इसे ले जाइये, यहाँ तीमारदारी नही हो सकती। मुंशीजी बोर्डिङ्ग में गये तो देखा कि मंशा सचमुच बीमार है, किन्तु बहुत कहने सुनने पर भी वह घर आने के लिए राजी न हुआ। मुंशीजी दिल से तो चाहते ही थे कि वह घर न आवे। वह अस्पताल पहुँचा दिया गया। वहाँ उसकी हालत खराब होती ही गई।

मुंशीजी कई दिन से अस्पताल ही में रहते थे। वे मन ही मन बहुत पश्चाताप करते कि क्यों शादी कर जहमत मोल ली। एक दिन उन्हें झपकी आ गई, तो उन्होंने देखा कि उनकी पहली स्त्री मंशाराम के सामने खड़ी कह रही है—स्वामी यह तुमने क्या किया......ऐसे

आदर्श चरित्र बालक पर तुमने इतना घोर कलंक लगा दिया ! तुम तो इतने शक्की कभी न थे........इतना भीषण कलंक। मैं तुम्हारे निर्दय हाथों से छिनकर उसे अपने साथ लिये जाती हूँ। जब मुंशीजी घर नहीं आये तो घर में चूल्हा ही नहीं जला। लड़कों के लिए बाजार से पूरियाँ लाई जाती थी। निर्मला को भी मंशा के सम्बन्ध में बहुत चिन्ता थी, किन्तु वह इस बात को कहती तो कैसे कहती। उसके पति ने इसका तो द्वार ही बन्द कर दिया था। जब निर्मला को यह पता लगा कि अब करीब-करीब अन्तिम दशा है, तब वह जाने के लिए तैयार हो गई। रुक्मिणी ने कहा—अब बाहरी खून पहुँचने पर जीवन की आशा है। कौन अपना ताजा खून देगा ? और क्यों देगा ? उसमें भी तो प्राणों का भय है।

निर्मला—इसीलिए तो मैं जाती हूँ। मेरे खून से क्या काम न चलेगा ?

तांगा आ गया, और निर्मला अस्पताल पहुँची। निर्मला को देखते ही मंशाराम चौंक कर उठ बैठा। उसकी समाधि टूट गई। उसकी विलुप्त चेतना प्रदीप्त हो गई। मुंशीजी ने जो यह देखा तो तीव्र स्वर में बोले—'तुम यहाँ क्या करने आई ?' निर्मला कुछ सोचने लगी, फिर बोली—'आप यहाँ क्या करने आये हैं ?' मुंशीजी के नथने फड़कने लगे। वह झल्लाकर चारपाई से उठे, और निर्मला का हाथ पकड़कर बोले—'तुम्हारे यहाँ आने की कोई जरूरत नहीं। जब मैं बुलाऊँ, तब आना, समझ गईं ?' अरे यह क्या अनर्थ हुआ। मंशाराम जो चारपाई से हिल न सकता था, उठ कर खड़ा हो गया, और निर्मला के पैरों पर गिर कर रोते हुये बोला—अम्माजी इस अभागे के लिए आपको व्यर्थ इतना कष्ट हुआ।......ईश्वर जानता है, मैंने आपको विमाता नहीं समझा। मैं आपको अपनी माता समझता रहा। आपकी उम्र मुझसे बहुत ज्यादा न हो, लेकिन आप मेरी माता के स्थान पर

थीं, और मैंने आपको सदैव इसी दृष्टि से देखा...अब नहीं बोला जाता, क्षमा कीजिये।

कहते-कहते मंशाराम अशक्त होकर वहीं जमीन पर लेट गया। निर्मला ने पति से साफ कहा कि वह अपना खून देने के लिए आई है, किन्तु मुँशीजी ने कहा—तुम अपना खून दोगी ? नहीं, तुम्हारे खून की जरूरत नहीं। इसमें प्राणों का भय है।

निर्मला—मेरे प्राण और किस दिन काम आयेंगे ?

मुंशीजी ने सजल नेत्र होकर कहा—नहीं निर्मला, उनका मूल्य मेरी निगाहों में बहुत बढ़ गया है। आज तक वह मेरे भोग की वस्तु थी, आज से वह मेरे भक्ति की वस्तु है। मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है, क्षमा करो।

मंशाराम चल बसे। मुंशीजी को पूरा विश्वास हो गया था कि निर्मला पर उनका जो सन्देह था, वह गलत था। पर अब तो हाथ से तीर निकाल चुका था। पश्चात्ताप के कारण उनका शरीर प्रति दिन घुलने लगा।

जिस डाक्टर साहब ने मंशाराम की दवा की थी, उनसे मुन्शीजी का यारानी हो गया, यहाँ तक कि दोनों की स्त्रियों में भी मित्रता हो गई। डाक्टर सिनहा की स्त्री सुधा अक्सर मुँशीजी के घर में आती, और निर्मला से घंटों सुधा की बातचीत होती। बातों बातों में सुधा को पता लगा कि जिस पुरुष के साथ पहले निर्मला का विवाह तय हुआ था, वह और कोई नहीं डाक्टर सिनहा ही हैं। निर्मला को इस बात का पता नहीं हुआ कि डाक्टर सिनहा वे ही सज्जन हैं, क्योंकि उसने पहले कभी उनको देखा तो था ही नहीं। एक दिन सुधा ने प्रकारान्तर से डाक्टर सिनहा को यह बता दिया कि पहले उनकी शादी निर्मला के साथ ही तय हुई थी। बोली—'आज अगर निर्मला को मालूम हो जाय

कि आप वही महा पुरुष हैं तो शायद फिर इस घर में कदम न रखे। घर में ईश्वर का दिया हुआ सब कुछ है, मगर जब प्राणी मन का नहीं तो और सब रहकर क्या करेगा ? धन्य है उसके धैर्य को कि उस बुड्ढे खूसट वकील के साथ जीवन के दिन काट रही है।......मेरे दादाजी ने पाँच हजार दिये थे, अभी छोटे भाई के विवाह में पाँच छ हजार और क्या मिल जायगा। फिर तो तुम्हारे बराबर धनी संसार में कोई दूसरा न होगा।......'। डाक्टर साहब पर इन बातों का इतना असर हुआ कि उन्होंने कोई कराकर अपने छोटे भाई की शादी निर्मला की छोटी बहिन से तय करवा दी, और यह शादी हो भी गयी।

तीनों बातें एक ही साथ हुईं—निर्मला की कन्या ने जन्म लिया, कृष्णा का विवाह निश्चित हुआ, और मुँशी तोताराम का मकान नीलाम हो गया। बात यह है इन दिनों मुँशीजी की आमदनी बहुत घट गई थी। वे मुकदमे बहुत कम लेते थे, और जिनको लेते थे, उन्हें ढंग से तैयार नहीं करते थे, इसलिए उनको मुकदमें और भी कम मिलते थे। उनका कुछ पुराना कर्जा था। एकाएक महाजनों ने मुकदमा दायर कर दिया, और उनका मकान नीलाम हो गया।

अपनी छोटी बहिन कृष्णा के विवाह के अवसर पर निर्मला को यह पता लगा कि डाक्टर सिनहा के ही छोटे भाई से कृष्णा का विवाह हो रहा है। इस पर उसे बहुत आश्चर्य हुआ, किन्तु धीरे-धीरे सारा रहस्य उस पर खुल गया। इस विवाह के अवसर पर वह दिल खोल कर अपनी बहिन से बात कर सकती है। बातचीत के दौरान में वह बतलाती है कि किस प्रकार उसके और मंशाराम के बीच कोई अनुचित सम्बन्ध है, ऐसा सन्देह मुंशीजी की ओर से किया गया था। वह यह भी बताती है कि मंशाराम को आँख के सामने रखने के लिए ही उसने अंग्रेजी पढ़ने का बहाना निकाला था। निर्मला ने यह भी कहा कि

उसके अपने मन में तो पाप नहीं था किन्तु यदि मंशाराम के मन में पाप होती तो वह उसके लिए सब कुछ कर सकती थी। 'यह सुनने में बुरी मालूम होती है, और है भी बुरी, लेकिन मनुष्य की प्रकृति को तो कोई बदल नहीं सकता।'

मंशाराम के मरने के बाद से घर में और भी अशान्ति बढ़ गई। जियाराम को यह शक था कि उसके बड़े भाई को अन्याय पूर्वक मार डाला गया है। वह समझता था कि मुंशीजी तथा निर्मला ने साजिश कर उसको मार डाला है। परिणाम यह हुआ कि अब उसके दिल में अपने पिता के प्रति कोई श्रद्धा भाव नहीं रहा। वह अब जब तब मुंशी जी से उलझ जाता है, यहाँ तक कि एक बार हाथापाई की नौबत आ गई। जब मामला बहुत बढ़ा तो एक दिन डाक्टर सिनहा ने जियाराम को अकेला बुला कर समझाया। बोले—मुझे तो भाई उन पर बड़ी दया आती है, यह जमाना उनके आराम करने का था। एक बुढ़ापा, उस पर जवान बेटे का शोक, स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं...तुम अभी और कुछ नहीं कर सकते, तो कम से कम अपने आचरण से तो उन्हें खुश रख सकते हो...वह तुम्हारी उद्दंडता देख कर मन ही मन कुढ़ते रहते हैं मैं तुमसे सच कहता हूँ कई बार रो चुके हैं। उन्होंने मान लो शादी करने में गलती की। इसे वह स्वीकार करते हैं, लेकिन तुम अपने कर्त्तव्य से क्यों मुँह मोड़ते हो! वह तुम्हारे पिता हैं, तुम्हें उनकी सेवा करनी चाहिये......।

जियाराम बैठा रोता रहा। अभी उसके सद्भावों का सम्पूर्णतः लोप नहीं हुआ था, अपनी दुर्जनता उसे साफ नजर आ रही थी। इतनी ग्लानि उसे बहुत दिनों से नहीं आई थी, फिर जो धारणा उसके दिमाग में बद्धमूल हो गई थी, वह कब तक असर न दिखाती। एक दिन रात को ऐसा हुआ कि निर्मला के कमरे से जियाराम ने उसके गहनों के बक्स को उड़ा दिया, और जाकर मित्रों को सौंप दिया। इन दिनों

कुछ शोहदों से उसकी मित्रता हो गई थी। निर्मला ने उसको कमरे से निकलते हुये देखा था, किन्तु उसने यह बात किसी से नहीं कही। उसको यह डर था कि अगर उसने ऐसा कहा तो लोग यही कहेंगे कि सौत के लड़के पर झूठमूठ दोष लगा रही है। एक को मार चुकी, दूसरे को जेल भिजवाना चाहती है। मुंशीजी ने चोरी की रिपोर्ट थाने में की। कुछ दिनों में थानेदार को गहनों का पता लग गया, और यह भी पता लग गया, कि जियाराम ने ही चुराकर गहने बदमाशों को दिये हैं। जब मुंशीजी को इस बात का पता लगा तो वे बहुत घबड़ाये, उन्होंने बड़ी रिश्वत देकर मामले को दबाया। जियाराम को पता लग चुका था कि उसकी करनी का भंडाफोड़ हुआ है, बस उसने आत्म हत्या कर ली।

मुंशीजी की आर्थिक अवस्था बदतर होती गई। गहनों के खोने की चोट तथा पुत्रशोक ने अभी बिल्कुल तिलमिला दिया। फिर भी जो कन्या पैदा हुई थी उसका मुँह देख कर वे फिर एक बार जूझने के लिए तैयार हो गये। बिना नागा कचहरी जाने लगे, मुकदमों को तैयार करने लगे। निर्मला ने अब अपनी लड़की का मुँह देख कर पैसे-पैसे जोड़ना शुरू किया था! मुंशीजी का क्या ठिकाना, न मालूम कब क्या होगा! गहने भी नहीं रहे थे। मुंशी की नौकरानी सौदा लाने में चोरी बहुत करती थी। इसलिए निर्मला सियाराम से सौदे मगाया करती, किन्तु सियाराम को यह बहुत बुरा मालूम देता। इस बात के कारण दोनों में खटपट रहती। ऊकता कर वह साधुओं के साथ एक दिन घर छोड़ कर चला गया। जब सियाराम देर तक घर नहीं लौटा, तब मुंशी जी बहुत परेशान हुये। तीन लड़कों में केवल एक बच रहा था, वह हाथ से निकल गया, तो फिर जीवन में अन्धकार के सिवाय और क्या है! कोई नाम लेने वाला भी न रहेगा। मुंशीजी लड़के को ढूढ़ने निकले। रात के बारह बजे बड़े निराश हो कर घर लौटे। दरवाजे पर लालटेन

जल रही थी, निर्मला द्वार पर खड़ी थी। देखते ही बोली—कहा भी नहीं, न जाने कब चल दिये, कुछ पता चला?

मुंशीजी ने आग्नेय नेत्रों से ताकते हुये कहा—हट जाओ, सामने से, नहीं तो बुरा होगा। मैं आपे में नहीं हूँ। यह तुम्हारी करनी है। तुम्हारे ही कारण आज मेरी यह दशा हो रही है। आज से छः साल पहले क्या इस घर की यही दशा थी? तुमने मेरा बना बनाया घर बिगाड़ दिया, तुमने मेरे लहलहाते बाग को उजाड़ डाला। केवल एक ठूँठ रह गया है। उसका निशान मिटा कर तभी तुम्हें सन्तोष होगा।......जो लड़के पान की तरह फेरे जाते थे, उन्हें मेरे जीते जी तुमने चाकर समझ लिया, और मैं आँखों से सब कुछ देखते हुये भी अन्धा बना बैठा रहा।......जाओ मेरे लिए थोड़ा-सा संखिया भेज दो। बस यही कसर रह गई है। वह भी पूरी हो जाय।

निर्मला ने रोते हुये कहा—मैं तो अभागिन हूँ ही, आप कहेंगे तब जानूँगी? न जाने ईश्वर ने मेरा जन्म क्यों दिया था। मगर यह आपने कैसे समझ लिया कि सियाराम आवेंगे ही नहीं।

मुंशीजी ने अपने कमरे की ओर जाते हुये कहा—जलाओ मत, जाकर खुशियाँ मनाओ। तुम्हारी मनोकामना पूरी हो गई।

मुंशीजी लड़के को खोजने के लिए निकल पड़े। एक महीना पूरा निकल गया। उनका कोई पत्र भी नहीं आया। निर्मला किसी तरह अपने जोड़े हुये पैसों से गृहस्थी चलाती थी। अब कभी-कभी सुधा के यहाँ जाना और उससे बातें करना ही उसका एक मात्र मनोरंजन कहा जाय, सान्त्वना कहा जाय, था। एक दिन वह सुधा के घर ऐसे समय पहुँच गई जब सुधा नहीं थी। डाक्टर साहब घर पर थे। डाक्टर साहब ने उसे सुधा के कमरे में बैठाया। वह कभी निर्मला से अधिक बोलते नहीं थे। बैठा कर वे बाहर नहीं गए। उनके मन में घोर द्वन्द मचा हुआ था। औचित्य का बन्धन नहीं, भीरुता का कच्चा तागा उनको

जबान को रोके हुए था। निर्मला ने कहा—'कहीं घूमने-घामने लगी होगी, मैं इस वक्त जाती हूँ।' भीरुता का कच्चा तागा भी टूट गया। डाक्टर साहब ने सिर उठा कर निर्मला को देखा, और अनुराग में डूबे हुए स्वर में बोले—'नहीं निर्मला, अब आती ही होगी। अभी न जाओ। रोज सुधा की खातिर बैठती हो, आज मेरी खातिर बैठो। बताओ कब तक इस आग में जला करूँ! सत्य कहता हूँ निर्मला... ...।' निर्मला ने और कुछ नहीं सुना। उसे ऐसा जान पड़ा मानों सारी पृथ्वी चक्कर खा रही है, मानो उसके प्राणों पर सहस्रों वज्रों का आघात हो रहा है। उसने जल्दी से अलगनी पर लटकती हुई चादर उतार ली, और बिना मुँह से एक शब्द निकाले कमरे से निकल गई। रास्ते में सुधा आती हुई दिखाई पड़ी, किन्तु उसने उससे कुछ भी नहीं कहा, और जल्दी से घर चली गई। सुधा ने यह हाल देखा तो पति से जा कर पूछा कि क्या मामला था, किन्तु डाक्टर साहब ने कुछ नहीं बताया। तब वह सीधे निर्मला के घर पहुँची। पहले तो निर्मला भी बताने से इन्कार करती रही, किन्तु जब सुधा बहुत गले पड़ी तो उसने कहा—'मत पूछो। तुम्हें सुनकर दुख होगा, और शायद मैं फिर तुम्हें अपना मुँह न दिखा सकूँ। मैं अभागिनी न होती तो यह दिन ही क्यों देखती। अब तो ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वे संसार से मुझे उठा ले। अभी यह दुर्गति हो रही है, तो आगे न जाने क्या होगा।' बुद्धिमती सुधा संकेत समझ गयी। बिना कुछ कहे सुने सिंहिनी की भाँति क्रोध में भरी हुई घर की ओर चली। निर्मला ने रोकना चाहा, किन्तु रोक न सकी। उसने जाकर डाक्टर साहब से बहुत भला बुरा कहा, नतीजा यह हुआ कि उन्होंने आत्महत्या कर ली।

निर्मला ने जब देखा कि जिधर उसका स्पर्श होता है, दुर्भाग्य ही दुर्भाग्य सामने आता है तो वह बीमार हो गई। अब रुक्मिणी को भी उस पर तरस आने लगा। निर्मला का रोआँ-रोआँ दुखी था, अन्त में

वह चल बसी। मुहल्ले के लोग जमा हो गये। लाश बाहर निकाली गई, कौन दाह करेगा? यह प्रश्न उठा। लोग इसी चिन्ता में थे कि सहसा एक बूढ़ा पथिक एक बुगचा लटकाये आकर खड़ा हो गया। यह मुंशी तोताराम थे।

× × ×

निर्मला प्रेमचन्द के छोटे उपन्यासों में है। साधारणतः यह उपन्यास अब ज्ञात हुआ है, किन्तु कहानी के गठन की दृष्टि से यह प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसका कथानक बिल्कुल सुग्रन्थित है, एक घटना से दूसरी घटना, और दूसरी से तीसरी चश्में से पानी की तरह निकलती चली जाती है। न कहीं बाधा है, न कहीं गति में खीझ है, और न कहीं शिथिलता। कथित भाग्य की तरह अनिवार्य और दुर्दमनीय रूप से हमारे सामने निर्मला की जीवन कथा खुलती चली जाती है। यह एक अजीब दुनिया है, जिसको देखते-देखते हम सोचने के लिए और अपने चारों ओर के समाज पर दृष्टिपात करने के लिए विवश हो जाते हैं। यह उपन्यास क्या है, युगों से दबाई हुई, सताई हुई नारी की कहानी है। यों बताया गया है कि इसकी कथा वस्तु का आधार दो सामाजिक कुरीतियाँ हैं, एक दहेज की प्रथा, और दूसरा दोहेजा से विवाह, किन्तु क्या इसमें नारी की सभी अन्य समस्यायें नहीं आ गई हैं?

अवश्य निर्मला इस कथानक की नायिका है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में सेवासदन के अतिरिक्त एक यही उपन्यास है जिसमें एक नारी ही कथानक की प्रधान नायिका है, वह इस उपन्यास में आये हुये किसी भी पुरुष पात्र से अधिक महत्वपूर्ण है। सारी कथा उसी के इर्दगिर्द घूमती है, किन्तु यह बात नहीं कि वही इस कथानक की एक मात्र स्त्री हो। उपन्यास के दूसरे ही परिच्छेद में जो उदयभानु लाल अपनी स्त्री कल्याणी से यह कहते हैं कि मैं कमाकर लाता हूँ, जैसे चाहूँ खर्च कर

सकता हूं, किसी को बोलने का अधिकार नहीं है, क्या इससे हमारे समाज की सभी नारियों—विशेषकर ऐसे वर्ग की नारियाँ जिसमें स्त्रियाँ उपार्जन के काम में बिल्कुल शरीक नहीं होतीं, अब सब नारियों की समस्यामूर्त नहीं हो गई हैं? कल्याणी करीब बीस साल से उदयभानु लाल की गृहिणी है, उसकी एक लड़की विवाह योग्य हो चुकी है, सच बात तो यह है कि उसी के विवाह के सम्बन्ध में पति-पत्नी में बात-चीत होती है, और उसी के दौरान में उसे उसका पति यह बताता है कि वह स्मरण रखे कि कमाता वह है, अतएव घर का मालिक वह है। अवश्य इस उपन्यास में निर्मला का उतना ही महत्व है, जितना सौर जगत में सूर्य का है, इस उपन्यास के सब नायक तथा नायिकायें ग्रह-उपग्रह के रूप में उसी के इर्द-गिर्द वर्णित अभिघूर्णित हो रहे हैं, किन्तु कल्याणी और उदयभानु की कथा का इसमें बहुत भारी महत्व है। एक तरह से कहा जाय तो यह कहानी जिसका अन्त उदयभानु लाल की हत्या से होता है, आत्मयथेष्ठ और अपने में आप सम्पूर्ण है।

उदयभानु केवल कल्याणी को अपनी कमाई की बात शाब्दिक रूप से जता कर ही चुप नहीं हो जाता, वह यह दिखाने के लिए कि उसके बगैर गृहस्थी नहीं चल सकती, गंगा में डूबने का स्वाँग करने का निश्चय कर घर से निकलता है। घर से निकलने के ऐन पहले वह जो कुछ सोचता है, उसका सारांश यही है कि इस घर में मैं ही मालिक हूँ क्योंकि मैं कमाता हूँ, और सब लोग मेरे ऊपर निर्भर रहते हैं। वह सोचता है—'मैके का घमंड होगा, लेकिन वहाँ कोई बात भी नहीं पूछेगा। अभी सब आवभगत करते हैं, जब जाकर सिर पड़ जायेगी, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायेगा।' अभी तक कल्याणी को आटे दाल का भाव मालूम नहीं था, उच्च तथा मध्यवित्त श्रेणी की विवाहोपजीवी को। (उच्च तथा मध्यवित्तवर्ग की स्त्री का

इसलिए यहाँ पर विशेष उल्लेख किया जा रहा है कि कथित निम्नवर्ग की स्त्रियाँ उत्पादन के कार्य में बहुत कुछ उपयोगी होती हैं, पुरुष यदि खेत जोतता है, तो स्त्री खेतों के ही अन्य काम करती है, इत्यादि, इसलिए उनमें स्वतंत्रता भी अधिक होती है। कथित निम्नवर्ग की किसी स्त्री से कोई पति उस प्रकार की बात नहीं कर सकता, जिस प्रकार उदयभानु ने कल्याणी के साथ की) को आटे दाल का भाव मालूम नहीं होता है, जीवन की सब आँधियों से पति के पक्षपुट में छिपी रहकर वह आटा-दाल का भाव नहीं जान पाती। यह भी द्रष्टव्य है कि कल्याणी इब्सन के गुड़िया के घर नामक पुस्तक में नोरा की तरह पहले तो घर छोड़ कर चले जाने की बात सोचती है, किन्तु नोरा की तरह वह अपने विचार को कार्य रूप में परिणत नहीं कर पाती, सन्तान स्नेह की आड़ में वह अपनी कमजोरी को छिपा कर बैठ जाती है।

इसी प्रकार इस उपन्यास में डाक्टर सिनहा और सुधा की कहानी भी एक महत्वपूर्ण कहानी है। हमें इसमें आश्चर्य नहीं कि समालोचकों ने प्रेमाश्रम, ंगभूमि, कर्मभूमि को ऐसे उपन्यासों में गिनाया है जिनमें एकाधिक कथायें एक साथ हैं; किन्तु इनकी सूची में निर्मला को नहीं गिनाया। निर्मला की कहानी इतनी सुग्रथित है कि उसमें पता ही नहीं चलता कि उसी के ताने-बाने के अन्दर दूसरी कहानियाँ मौजूद हैं। जो कुछ भी हो, डाक्टर सिनहा और सुधा की कहानी पृष्ठभूमि में रहते हुये भी उससे सब तरह से अच्छी तरह विवाहिता नारी की समस्या हमारे सन्मुख आती है। निर्मला की तो शादी दोहेजा के साथ हुई थी, उसके पति की पहली शादी के कई पुत्र मौजूद थे, किन्तु सुधा की बात तो ऐसी नहीं थी। उसकी शादी बड़ी अच्छी जगह हुई थी; वह पति की पहली स्त्री थी। पति को धन जन यौवन किसी बात का अभाव नहीं था; फिर क्या उसके जीवन

वह ट्रेजडी हुई जो किसी प्रकार निर्मला के जीवन की ट्रेजडी से शायद कम नहीं कही जा सकती। अवश्य दोनों ट्रेजडियों में फर्क यह है कि एक में ट्रेजडी एक ही चोट में हो जाती है, दूसरे क्षेत्र में ट्रेजडी धीरे-धीरे होती है। सुधा का पति क्यों ऐसी परिस्थिति में पड़ता है, जिससे उसका अवसान आत्महत्या से होता है? क्या इसमें हमारे सोचने के लिए कोई बात नहीं है? क्या इससे यह ज्ञात नहीं होता कि सुधा और डाक्टर साहब का प्रेम बालू की नींव पर स्थित था, और वह केवल ऊपर से मृग मरीचिका की तरह सरस। हमारा काम यह नहीं है, न इस छोटे से दायरे में हमारे लिए यह सम्भव ही है कि हम इस पर कुछ रोशनी डालें कि इस समस्या का रूप क्या है, और उसका समाधान क्या है। संक्षेप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हमारे समाज में विवाह कमोवेश एक ढकोसला है, मन के मेल के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। रुपये की थैलियाँ गिनी जाती हैं, और विवाह का निर्णय थैलियों की गिनती से होता है। ऐसी हालत में थैलियों की वास्तविकता तो सत्य हो जाती है, उसमें कोई धोखा नहीं होता, हर एक रुपया बजा कर लिया जाता है, किन्तु विवाह कैसा हुआ, इसका कुछ पता नहीं चलता। अवश्य मन के मेल से जो विवाह होंगे, वे हमेशा विवाहितों के आमरण काल तक के लिए सफल होंगे, ऐसी गारन्टी यहाँ नहीं दी जा रही है। यदि बाद को असफल ज्ञात हुई तो उसके लिए तलाक हो सकता है, कम से कम होना चाहिये। और भी बातें हैं, जिनकी गहराई में यहाँ जाना अनुचित होगा।

मुंशीजी जब निर्मला को शादी कर लाये, और थोड़े ही दिन में समझ गये कि उन्होंने शादी करके गलती की, तो यहाँ पर तलाक हो जाना चाहिये था, जीवन आखिर क्या है? प्रयोगों का समूह है। यदि किसी कारण से एक गलती हुई, तो दूसरा प्रयोग होना चाहिये। किन्तु हिन्दू समाज में इसकी गुञ्जाइश कहाँ? नतीजा यह है कि एक के बाद

एक ट्रेजडी निर्मला के—और केवल निर्मला ही के क्यों मुंशीजी के जीवन में भी ट्रेजडियाँ होती जाती हैं। बेचारी निर्मला को इन सब बातों का अपयश मिलता है, यद्यपि उसका दोष कुछ भी नहीं है, वह तो घटनाचक्रों के हाथों में एक खिलौना-सी हो रही है। यह सोचने की बात है कि निर्मला को यह सारा अपयश क्यों मिलता है, वह तो बेचारी अपनी शादी के लिए भी जिम्मेदार नहीं है। प्रेमचन्द ने निर्मला के जीवन में समाज के निष्पेषक दबाव को बहुत स्पष्ट कर दिया है। स्मरण रहे कुछ ऐसी ही परिस्थिति में सेवासदन की सुमन ने दूसरा समाधान किया था।

टेकनिक की दृष्टि से इस पुस्तक में खोजने पर कुछ त्रुटियाँ मिल सकेंगी। द्वितीय परिच्छेद में ये वाक्य आते हैं—'पर यह कौन जानता था कि वह सारी लीला विधि के हाथों रची जा रही है। जीवन रंग-शाला का यह निर्दय सूत्रधार किसी अगम्य गुप्त स्थान पर बैठा हुआ अपनी जटिल क्रूर क्रीड़ा दिखा रहा है। यह कौन जानता था कि नकल असल होने जा रही है, अभिनय सत्य का रूप ग्रहण करने वाला है।' यह उस समय का वर्णन है जब उदयभानुलाल गंगा में डूबने का स्वाँग रचने जा रहे थे। वर्णन कुछ प्राचीनता दोषपुष्ट है। इसी के बाद प्रकृति वर्णन दो हैं—'निशा ने इन्दु को परास्त करके अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। उसकी पैशाचिक सेना ने प्रकृति पर आतंक जमा रखा था। सद्वृत्तियाँ मुँह छिपाये पड़ी थीं, और कुवृत्तियाँ विजय गर्भ से इठलाती फिरती थी। वन में वन्य जन्तु शिकार की खोज में फिर रहे थे, और नगरों में नर पिशाच गलियों में मडराते फिरते थे।' एक आधुनिक उपन्यास में इस प्रकार के वर्णन से सौन्दर्य की कोई वृद्धि नहीं होती।

जहाँ यह दिखलाया गया है कि रँगीली बाई पहले तो पुत्र की शादी बिल्कुल निर्मला से नहीं करना चाहती थी, किन्तु ज्योंही वह

कल्याणी का पत्र पढ़ती है त्योंही वह बदल जाती है, उस स्थान पर यह नहीं ज्ञात होता कि आखिर उस पत्र में कौन-सी ऐसी बात थी जिससे उसके मत में यह एकाएक परिवर्तन हुआ। यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहिये था कि किन कारणों से यह एकाएक परिवर्तन हुआ।

मंशाराम की मृत्यु के समय जब वह निर्मला के चरणों में गिर पड़ता है तो उसे उठाया गया या नहीं उठाया गया, यह बिना बताये ही लेखक यह दिखलाते हैं कि किस प्रकार मुंशीजी पश्चात्तापग्रस्त हैं, और मुंशीजी और निर्मला में इसी आशय की बातचीत होने लगती है। अवश्य उपन्यासकार का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह सभी छोटी घटनाओं का वर्णन ही कर दे, बहुत कुछ पाठक की कल्पना शक्ति पर छोड़ देना चाहिये, किन्तु यहाँ पर एक छोटे से वाक्य में यदि मंशाराम को उठाने की बात लिख दी जाती, तभी मुंशीजी और निर्मला की बातचीत की पृष्ठभूमि स्पष्ट हो पाती।'

इस प्रकार की छोटी त्रुटियों के बावजूद निर्मला निर्मातित निष्पेषित पददलित नारी का एक बहुत सुन्दर चित्र है। 'निर्माता' यों तो देखने में दहेज की कुप्रथा को केन्द्र कर चलता है, किन्तु स्मरण रहे कि आखिरी विश्लेषण में इसकी आधारगत समस्या सामाजिक विषमता है। हमारे समाज में विवाह ऐसी घटना—जिसमें स्त्री-पुरुष के प्रेम के अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं होनी चाहिये, आर्थिक अवस्था ही सब कुछ है। निर्मला की यही समस्या है। यह समझना गलत होगा कि प्रेमचन्द ने इस पुस्तक में पहली स्त्री से सन्तान रहते हुये दूसरी स्त्री ग्रहण करने की निन्दा की है। कर्मभूमि में प्रेमचन्द दिखाते हैं कि सौतेली माँ हर हालत में खराब नहीं होती। भले ही इसमें लम्बे-लम्बे लच्छेदार भाषण न हों, भले ही इसमें कथानक दीर्घ न हो, किन्तु मध्यवित्त तथा उच्चवर्ग की विवाहोपजीवी नारी की समस्या इस उपन्यास में जितनी स्पष्ट हुई है, प्रेमचन्द के किसी अन्य उपन्यास में नहीं हुई है।

कर्मभूमि

लाला समरकान्त काशी के अत्यन्त मालदार व्यक्ति हैं। इनके पिता केवल एक झोंपड़ी छोड़ कर मरे थे, किन्तु उन्होंने अपनी चतुरता अर्थात् व्यापारी दक्षता तथा अपराधों से लाखों की सम्पत्ति जमा कर ली थी। अमरकान्त उन्हीं के पुत्र हैं, किन्तु पिता की उन पर मेहरबानी इतनी कम रहती है कि स्कूल की फीस तक ठीक समय पर अदा नहीं हो पाती, और अमरकान्त के मित्र तथा सहपाठी सलीम अक्सर उनकी फीस अदा कर देते हैं। अमरकान्त की माँ मर चुकी है। पत्नी वियोग के बाद समरकान्त ने दूसरी शादी की थी, और इसी दूसरी पत्नी से नैना नामक एक लड़की भी उत्पन्न हुई थी। नैना और अमरकान्त में बहुत सद्भाव था। समरकान्त की दूसरी पत्नी का भी देहान्त हो चुका था। अमरकान्त देह का दुर्बल और बुद्धि का मन्द था। दस साल पढ़ते हो गये थे, और अभी ज्यों-त्यों करके आठवें में पहुँचा था, किन्तु जब लालाजी ने देखा कि घर सूना है, तो उसकी शादी कर दी। अमरकान्त के लिए एक ऐसी दुलहिन मिली, जिसको उत्तराधिकार सूत्र में बड़ी जायदाद मिलने वाली थी, फिर लालाजी इस शादी में जल्दी क्यों न करते।

अमरकान्त को चरखा चलाने का चस्का था, किन्तु समरकान्त को चरखा फूटी आँखों न भाता था। वह अक्सर जलसों में भी जाया करता था। अक्सर हर तरफ से चरखा चलाने और जलसों में जाने पर कटाक्ष होता, इसका परिणाम यह हुआ कि अमरकान्त ने यह दिखा देना चाहा कि पढ़ने में भी वह पीछे नहीं है, और मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में प्रान्त में सर्वप्रथम आया। अमरकान्त की स्त्री सुखदा यह चाहती थी कि उसका पति और रईसों के लड़कों की तरह कमाने-धमाने की ओर ध्यान दे, और चरखे आदि की लत छोड़ दे।

वह चाहती कि अमरकान्त जाकर दूकान में अपने पिता के धन्धे में हाथ बटावें।

अमरकान्त की सास रेणुका बहुत ही बुद्धिमती तेजस्विनी साथ ही रईस तबीयत की स्त्री थी। कुछ दिनों से रेणुका आकर काशी में गंगा किनारे एक अच्छा-सा मकान लेकर रहने लगी। रेणुका का विशेषकर यह उद्देश्य था कि दामाद और बेटी के सम्बन्ध को घनिष्ठ बनाया जाय, क्योंकि इन दिनों उन्हें बराबर शंका हो रही थी कि इन दोनों में अच्छी तरह पटती नहीं है। जब से रेणुका काशी आई है तब से अमरकान्त अक्सर अवकाश का समय वहीं पर जाकर बिताता है। वहाँ रेणुका उसकी खूब आवभगत करती है, किन्तु अमरकान्त का असली चस्का गरीबों की भलाई करने में तथा उनकी अवस्था की जाँच करने में है। कभी वह अपने मित्र सलीम तथा डाक्टर शान्ति कुमार के साथ गाँव की ओर निकल जाता, और वहाँ गरीब किसानों से बातें करता। एक बार इसी प्रकार वह अपनी टोली के साथ एक गाँव में पहुँचा, तो देखा एक वृक्ष के नीचे दस-बारह स्त्री-पुरुष सशंकित भाव से दबके हुये खड़े हुये हैं। सबके सब सामनेवाले अरहर की खेत की ओर ताक रहे थे, और आपस में कानाफूसी में बात करते जाते थे। अमरकान्त की मंडली को कुतूहल हुआ। सामने दो गोरे भी खड़े थे। अचानक अरहर के खेत की ओर से किसी औरत का चीत्कार सुनाई पड़ा। छात्रमंडली आगे बढ़ी तो गोरे सैनिक ने छड़ी दिखाई। अब तो छात्रगण उसके ऊपर पिल पड़े, और उसको गिरा लिया। इतने में तीसरा गोरा अरहर के खेत से निकल आया, और उसने रिवाल्वर दाग दिया। शान्तिकुमार गिर पड़े। देहातियों को जोश आ गया डंडे लेकर गोरों पर पिल पड़े। गोरे काबू में आ गये। सलीम ने इस अवसर पर बहुत साहस दिखलाया। गोरों पर काबू पाने के बाद उसने मज़दूरों को भी खूब फटकारा कि तुम लोगों से यह न हुआ कि

एक स्त्री की रक्षा करते। सलीम ने इस अवसर पर जो सोचा वह भी अपनी एक विशेषता रखता है। उसने सोचा—'इन टके के सैनिकों की इतनी हिम्मत क्यों हुई? वो गोरे सिपाही इंगलैंड के निम्नतम श्रेणी के मनुष्य होते हैं। इनको इतना साहस कैसे हुआ। इसीलिए कि भारत पराधीन है। ये लोग जानते हैं कि यहाँ के लोगों पर उनका आतंक छाया हुआ है, जो वह अनर्थ चाहें करें। कोई चूँ नहीं कर सकता। यह आतंक दूर करना होगा। इस पराधीनता की जंजीर को तोड़ना होगा।' इस जंजीर को तोड़ने के लिए तरह-तरह के मन्सूबे बाँधे गये।

अब तो अमरकान्त इधर-उधर और भी व्याख्यान देकर फिरने लगा। सुखदा को लड़का होने वाला है, और उसने यह जोर डालना शुरू किया कि अमरकान्त व्याख्यान जलसों आदि से अलग रहे। सुखदा के स्वास्थ्य की गिरी हुई हालत को देखकर अमरकान्त को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह अब इन झंझटों में नहीं रहेगा। अब वह जलसों में बोलना तो दूर रहा, उनमें शरीक भी नहीं होता था, हां सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में अपने मनोदगारों को प्रकट करके सन्तोष लाभ कर लेता था। वह अब दूकान पर भी यदाकदा बैठ जाया करता था। एक दिन वह इसी प्रकार दूकान पर बैठा था, ऐसे समय काले खाँ नामक एक गुण्डा उसके पास आया, और उसने एक दस तोले का बड़ा जेवर अमरकान्त के हाथ बेचना चाहा। काले खाँ के मुँह से शराब की बू आ रही थी, फिर जिस ढंग से और जितने कम दाम पर वह उस जेवर को बेचने के लिए तैयार था, उससे साफ झलकता था कि यह माल चोरी का है। अमरकान्त ने ऐसे माल को लेने में आपत्ति की, और काले खाँ से कह दिया कि कभी इस प्रकार के माल लेकर यहाँ न आना। इससे काले खाँ को ही ताअजुब हुआ। उसने कहा—'यह तो तुम बिल्कुल नई बात कहते हो, भइया! लाला इस नीति पर चलते, तो आज महाजन न होते। हजारों रुपये की चीज तो मैं

ही दे गया था। अँगनू महराज, भिखारी, हिंगन सभी से लाला का व्यवहार है।'

अमरकान्त को अस्पष्ट रूप से यह ज्ञात था कि उसके पिता हर समय ईमानदारी पर नहीं चलते, किन्तु उसे अब मालूम हुआ कि उसके पिता कितनी बेईमानी से धन जोड़ने में समर्थ हुये हैं। एक बार जब अमरकान्त दूकान पर बैठे हुये थे, तो एक बुढ़िया आई। पूछने पर ज्ञात हुआ कि यह बुढ़िया प्रतिमास इस दूकान से पाँच रुपये पाती है, क्यों कि उसका पति भी लाला समरकान्त का विश्वस्त नोकर था। उसको बेवा हुये वर्षों हो गये थे, किन्तु लाला समरकान्त बराबर पाँच रुपये इसको देते जाते थे। अमरकान्त दूकान बन्द ही कर रहा था, इसलिए उसने यह सोचा कि बुढ़िया को घर पहुँचा दिया जाय। तदनुसार वह उसे घर पहुँचाने गया, और वहाँ उसकी पोती सकीना से उसकी जान-पहचान होती है। सकीना की शादी की उम्र हो चुकी है, किन्तु गरीबी के कारण वर नहीं मिलता। इस पहलू पर रोशनी डालती हुई बुढ़िया कहती है—'......हालाँकि हमारे नबी का हुक्म है कि शादी-ब्याह में अमीर-गरीब का ख्याल न होना चाहिये, पर उनके हुक्म को कौन मानता है। नाम के मुसलमान, नाम के हिन्दू रह गये हैं...।' सकीना रूमाल काढ़ा करती थी, बुढ़िया ने यह सोचा कि यदि वह रूमाल अमरकान्त के यार दोस्त में बिक जाया करे तो अच्छा है। अमरकान्त ने दो एक रूमाल लिये, और यह वादा करके चला गया कि वह इन रूमालों के लिए गाहक ढूढ़ेगा।

लाला समरकान्त को जब अमरकान्त के मुँह से यह मालूम हुआ कि उसने काले खाँ को लौटा दिया है, तो वे बहुत नाराज हुये। बेटे की मूर्खता पर उन्हें क्रोध आ गया। बोले—'तो फिर कौन रोजगार करोगे ? कौन रोजगार है, जिसमें तुम्हारी आत्मा की हत्या न हो; लेन-देन, सूद-बट्टा, अनाज, कपड़ा, तेल, घी, सभी रोजगारों में दावघात

है। जो दाँवघात समझता है, वह नफा उठाता है, जो नहीं समझता है, उसका दिवाला पीट जाता है। मुझे कोई ऐसा रोजगार बता दो, जिसमें झूठ न बोलना पड़े, बेईमानी न करनी पड़े। इतने बड़े-बड़े हाकिम हैं, बताओ कौन घूस नहीं लेता? एक सीधी-सी नकल लेने जाओ तो एक रुपया लग जाता है। बिना तहरीर लिये थानेदार रपट तक नहीं लिखता। कौन वकील है जो झूठे गवाह नहीं बनाता? लीडरों ही में कौन है जो चन्दे के रुपये में नोच-खसोट न करता हो? माया पर संसार की रचना हुई है, इससे कोई कैसे बच सकता है?"

इन बातों से अमरकान्त पर कोई असर नहीं हुआ। तब समरकान्त ने उनसे कहा—'तो क्या मजूरी करोगे?' इस पर भी अमरकान्त कुछ न बोला तो समरकान्त झुँझलाकर वहाँ से चले गये।

एक दिन लालाजी अपनी दूकान पर बैठे थे, इतने में दो गोरे और एक मेम वहाँ आये। मेम ने कोई ज़ेवर बेचना चाहा। मोल भाव के बाद लाला ने उस ज़ेवर को सस्ते दामों में खरीद लिया। इतने में एकाएक एक भिखारिन आई, और उसने छुरी निकालकर एक गोरे पर वार किया। छुरी छाती में चुभ गई। गोरे की पसली में छुरी घुस गई थी। इसके बाद उसने दूसरे गोरे पर भी वार किया, दोनों को चोटें आईं। दोनों जमीन पर पड़े तड़प रहे थे। मेम सहमी हुई खड़ी थी, और लाला समरकान्त का हाथ पकड़कर घसीट ले जाने की चेष्टा कर रही थी। थोड़ी देर में पुलिस आई, और उसने उस औरत को गिरफ़्तार किया। मालूम हुआ कि इस स्त्री को लोग पगली करके जानते थे। पुलिस वालों के बहुत पूछताछ करने पर 'पगली' ने बताया कि वह हत्यारिनी नहीं है, बोली—'आज से छः महीने पहले ऐसे ही तीन गोरों ने मेरी आबरू बिगाड़ी थी। मैं फिर घर नहीं गई। किसी को अपना मुँह नहीं दिखाया। मुझे होश नहीं कि मैं कहाँ

कहाँ फिरी, कैसे रही, क्या-क्या किया। इस वक्त भी मुझे जब होश आया तब मैं इन दोनों गोरों को घायल कर चुकी थी। तब मुझे मालूम हुआ कि मैंने क्या किया।......मैं यह इसलिए नहीं कह रही हूँ कि मैं फाँसी से डरती हूँ। मैं तो भगवान से मनाती हूँ कि जितनी जल्दी हो सके मुझे संसार से उठा लो। जब आबरू लुट गई, तो जीकर क्या करूँगी।' यह वही स्त्री थी जिसके ऊपर गोरों ने अरहर के खेत में बलात्कार किया था। अमरकान्त ने तो यह तय कर लिया था कि वह किसी झगड़े में नहीं पड़ेगा, किन्तु जब सुखदा ने इस 'पगली' की कहानी सुनी तो उसे बहुत जोश आ गया, इसके फलस्वरूप अमरकान्त में भी जोश आ गया।

मुकदमा जोरों से लड़ा गया। सुखदा और रेणुका ने इस मुकदमें में बहुत भाग लिया। सच बात तो यह है कि वे अगर इस मामले में न पड़तीं तो इस मुकद्में की इतनी सुन्दर तरीके से पैरवी न हो सकती थी। मुकदमा बहुत आगे बढ़ चुका था। वकीलों की बहस भी हो गई। फैसला सुनाना बाकी था। सलीम अमर आदि मित्रों में यह बातचीत हो रही थी कि यदि जज ने विरुद्ध फैसला दिया, और पगली को न छोड़ा, और उसे फाँसी की सजा दे दी गई तो उस हालत में क्या किया जायेगा? अमर ने कहा—किचलू साहब (जज) को सबक देने की जरूरत होगी, ताकि उन्हें भी मालूम हो जाय कि नौजवान भारत इन्साफ का खून देख कर खामोश नहीं रह सकता। सोशल बाईकाट कर दिया जाय, उनके महराज को मैं रख लूँगा, कोचमैन को तुम रख लेना। बच्चा को पानी भी न मिले। जिधर से निकले, उधर तालियाँ बजे।'

सलीम ने मुस्करा कर कहा—'सोचते-सोचते सोची भी तो वही बनियों की बात।' सलीम की योजना यह थी कि काले खाँ को रुपये देकर किचलू साहब को सबक दिलाया जाय। यह तय रहा कि इस

काम में जितने रुपयों की जरूरत हो, उनकी फिक्र अमर करे। अमरकान्त जब यह सब सलाह कर घर गये, तो वहाँ देखा कि सुखदा की प्रसववेदना उठ चुकी है, अब वह पागल की तरह इधर-उधर कहीं दाई को पुकारने में कहीं और किसी काम में फिरने लगा, और पगली की बात बिल्कुल भूल गया।

पगली उर्फ मुन्नी के फैसले का दिन था। अमरकान्त के अभाव में डाक्टर शान्ति कुमार सब कुछ कर रहे थे। इतने में एक देहाती युवक उनके पास आया। ज्ञात हुआ कि यह मुन्नी का पति है, और उसकी गोद में जो शिशु है, वह मुन्नी ही का बच्चा है। युवक ने डाक्टर से यह कहा कि यदि मुन्नी बरी हो जाय तो वह उसके चरण धो-धोकर पिये, और घर ले जाकर उसकी पूजा करे। भाई-बन्द नाक-भौं सिकोड़ेंगे, किन्तु उसने कहा कि जब आप लोग जैसे बड़े-बड़े आदमी मेरे पक्ष में हैं, तो मुझे बिरादरी की परवाह नहीं है। जज ने मुन्नी को बरी कर दिया। डाक्टर ने मुन्नी को यह बताया कि किस प्रकार उसका पति उसे लेने के लिए तैयार है, किन्तु इस बात को सुन कर उसे कुछ खुशी नहीं हुई। उसने कहा—'इन आदमियों से कह दीजिये वे अपने-अपने घर जायँ। मुझे आप स्टेशन पहुँचा दीजिये।...पति और पुत्र के मोह में पड़कर उनका सर्वनाश न करूँगी।' सचमुच वह पति के साथ मिलने पर तैयार न हुई, और न मालूम कहाँ चली गई।

अमरकान्त बीच-बीच में पठानिन के घर जाया करता था। एक बार अमरकान्त पठानिन के घर पहुँचा, तो उसे किवाड़ा तो खोल दया, किन्तु घर में अँधेरा था। उसे इस पर बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सोचा शायद चिराग में तेल न हो, किन्तु सकीना से पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसके कपड़े गीले हैं, अभी साबुन से धोकर उन्हें डाले हैं, इसलिए उसने चिराग बुझा रखा है। दूसरे शब्दों में सकीना उस समय नंगी थी, इस कारण चिराग नहीं जलाया गया था। उफ इतनी

घोर दरिद्रता ! अमरकान्त का कलेजा मसोस उठा। वह सीधा वहाँ से निकल पड़ा, और बजाजे में पहुँचा, किन्तु बजाजा बन्द हो चुका था, इसलिए वह घर पहुँचा, और चुपके से गठरी खोल कर उसमें से चार साड़ियाँ निकाल कर वह दबे पाँव घर से निकल आया। सकीना ने जो इन साड़ियों को देखा तो वह सकुचा गई। उसने कहा—बाबूजी आप नाहक साड़ियाँ लाये, अम्मा देखेंगी तो जल उठेंगी। फिर शायद आपका यहाँ आना मुश्किल हो जाय।......आप यहाँ ज्यादा आया भी न करें, नहीं ख्वामख्वाह लोगों को सुबहा होगा।

साड़ियों को अस्वीकार कर देने पर अमरकान्त को बहुत दुःख हुआ, और उसकी मुद्रा विषादग्रस्त हो गई। मालूम होता था रोया ही चाहता था। उसके जी में आया, साड़ियाँ उठा कर छाती से लगा ले, पर संयम ने हाथ न उठाने दिया। अमर ने साड़ियाँ उठा ली, और लड़खड़ाता हुआ द्वार से निकल गया मानो अब गिरा अब गिरा।

एक दिन पठानिन यह खबर लेकर अमर के पास आई कि सकीना की शादी हो चुकी है। वह अमर के पास कुछ आर्थिक मदद के लिए आई थी। अमर ने जो यह खबर सुनी तो उसकी नाड़ियों में जैसे रक्त न था। उसने आर्थिक मदद की बात टाल दी, और कहा कि वह लाला समरकान्त से भी इसके लिए सिफारिश नहीं कर सकता क्योंकि लाला जी जो कुछ करते हैं, वह अपनी राय से करते हैं। अमर पठानिन से छुट्टी पाकर सीधे सलीम के पास पहुँचा। वहाँ पर उसे खुलकर अपना मनोभाव व्यक्त करना पड़ा। सलीम को यह सुन कर बहुत आश्चर्य हुआ कि वह सकीना के इश्क में फँस चुका है। अमरकान्त वहाँ से सकीना के यहाँ पहुँचा, सकीना अकेली थी मुँह माँगी मुराद मिली। सकीना ने पूछा कि पठानिन तो उसी के यहाँ गई है, वह मिली या नहीं। इसके उत्तर में अमर ने खड़े-खड़े जवाब दिया—'हाँ मुझसे मिली थी, और उन्होंने जो खबर सुनाई, उसने मुझे दिवाना बना रखा

है ।...' इसी प्रकार बड़ी देर तक बातचीत के दौरान में यहाँ तक कह डाला—'अगर तुम्हें मेरी वफा के सबूत की ज़रूरत हो, तो उसके लिए खून की यह बूँदें हाजिर हैं ।' यह कहते हुये उसने जेब से छुरी निकाल ली । सकीना ने झपट कर छुरी उसके हाथ से छीन ली ।

अन्त में सकीना ने यह कह दिया कि वह शादी करने से इन्कार कर देगी, तभी यह वहाँ से टला । थोड़ी देर बाद पठानिन आई, तो उसने पठानिन से साफ कह दिया कि मैं शादी नहीं करूँगी ।

कुछ दिनों से अमरकान्त म्युनिसिपल बोर्ड के मेम्बर थे, लाला समरकान्त को यह बात पसन्द नहीं थी, वे चाहते थे कि लड़का अब अपना सारा समय दूकान में दिया करे, यह म्युनिसिपलिटी वाली बला कहाँ से आ गई । एक दिन इसी बात को लेकर पिता पुत्र में ठन गई, और जब समरकान्त ने कुछ वश चलते न देखा, तो उन्होंने पुत्र को यह कह दिया कि आप अपने बाल-बच्चे लेकर अलग हो जाइये । इस बात पर अमरकान्त को इतना क्षोभ हुआ कि उसने अलग मकान ठीक कर लिया, और स्त्री और नवजात पुत्र के साथ नये घर में जाकर बस गया । नैना भी उसके साथ चली गई । अमरकान्त ने खद्दर की एक दूकान से बेचने के लिए कमीशन पर कई थान खद्दर, खद्दर की साड़ियाँ, जम्पर, कुर्ते, चादरें आदि ले लीं, और उन्हें खुद अपनी पीठ पर लाद कर बेचने चला । दूकानदार ने कहा भी कि मजूर रख लो, किन्तु इस पर वह राजी न हुआ । उसके अन्तःकरण में क्रान्ति का तूफान उठ रहा है । सुखदा बालिका विद्यालय में ५०) रुपये पर नौकर हो गई है । पति-पत्नी में अब बनती नहीं है, घर का सारा काम, बच्चे को सम्हालना, रसोई पकाना, जरूरी चीजें बाजार से मँगाना—वह सब उसके मत्थे है । सुखदा घर के कामों के नगीच नहीं जाती । अमर आम कहता है, तो सुखदा इमली कहती है । इस दरिद्रावस्था में भी सुखदा उस पर शासन करती है । उधर लाला समरकान्त का यह

हाल था कि वे दूध पीकर रहते थे, क्योंकि वे किसी बाहरी के हाथ का पकाया खाना नहीं खाते थे। एक दिन उन्होंने रोटियाँ पकाईं, और हविस में आकर कुछ ज्यादा खा गये। अजीर्ण हो गया। दस्त और ज्वर भी आ गये। यह खबर सुनकर सुखदा पहुँची। उसने कुछ समय के लिए वहीं पर रहने का निश्चय किया। उसकी सेवा से ससुर का स्वास्थ्य सुधरने लगा।

यों तो आवेश में आकर सुखदा बालिका ने विद्यालय में नौकरी कर ली थी, किन्तु उसे अमरकान्त का सिर पर खादी लाद कर फेरी करना बहुत खटकता था। उसने पति को मना भी किया, किन्तु अमर ने एक न सुनी। इसलिए उसने कहना सुनना छोड़ दिया था। एक दिन घर जाते समय उसने अमरकान्त को खादी का गट्ठर लिये देख लिया। उसमें मुहल्ले की एक महिला भी सुखदा के साथ थी, सुखदा मानों धरती में गड़ गई। जब पति घर आये तो उसने बहुत बुरा-भला कहा, बोली—'अब तो संसार में परिश्रम का महत्व सिद्ध हो गया। अब तो बकुचा लादना छोड़ दो। तुम्हें शर्म न आती हो, लेकिन तुम्हारी इज्जत के साथ मेरी इज्जत भी तो बँधी हुई है। तुम्हें कोई अधिकार नहीं कि यों मुझे अपमानित करते फिरो।' अमर बोला—'जिस तरह मेरे मजदूरी करने से तुम्हारा अपमान होता है, उसी तरह तुम्हारे नौकरी करने से मेरा अपमान होता है, यह शायद तुम्हें विश्वास न आयेगा।'

इस प्रकार पति और पत्नी में सद्भाव घटता ही गया। कई हफ्तों से अमर सकीना के यहाँ नहीं गया था, अब वह एक दिन फिर वहाँ पहुँचा। सुखदा से उसे कटु बचन सुनने को मिलते थे, किन्तु सकीना ने कहा—'मुझे यकीन न आता था कि तुम अपने अब्बाजान से अलग हो गये। फिर यह भी सुना तुम सिर पर खद्दर लाद कर बेचते हो। मैं तो तुम्हें कभी सिर पर बोझ लादने न देती। मैं वह गठरी अपने सिर पर रख लेती, और तुम्हारे पीछे-पीछे चलती।' कितने प्यारे मीठे शब्द

थे। बात-बात में अमर ने कहा—चलो कहीं छोटी-सी कुटी बना लें, खुदगर्जी की दुनिया से अलग मेहनत-मज़दूरी करके जिन्दगी बसर करें, तुम्हारे साथ रह कर फिर मुझे किसी चीज़ की आरजू नहीं रहेगी। मेरी जान मुहब्बत के लिए तड़प रही है, उस मुहब्बत के लिए नहीं, जिसकी जुदाई में भी विसाल है, बल्कि जिसकी विसाल में भी जुदाई है। मैं वह मुहब्बत चाहता हूँ जिसमें ख्वाहिश है, लज्जत है। मैं बोतल की सुर्ख शराब पीना चाहता हूँ, शायरों की ख्याली शराब नहीं।

उसने सकीना को छाती से लगा लेने के लिए अपनी तरफ खींचा। उसी वक्त द्वार खुला, और पठानिन आई। अमर ने बात बनाना चाहा, किन्तु बुढ़िया ताड़ चुकी थी, और नाराज़ होने लगी। बुढ़िया की फटकार सुनकर अमर का ऐसा हाल हो गया, मानों उस पर फालिज गिर गया हो। वह सकपका कर वहाँ से निकल गया। बुढ़िया समरकांत के घर के लिए रवाना हो गई। उधर अमरकान्त सलीम के यहाँ पहुँचे। समरकान्त ने बुढ़िया की सब बातें सुन ली, उसे फटकारा, और सलीम के घर पहुँचे। उन्होंने बेटे से कहा जो हुआ सो हुआ, कोई ऐसी बात नहीं। समरकान्त ने बहुत समझाया, किन्तु अमरकान्त इस बात पर राजी नहीं हुये कि घर लौट चलें। उसने अपने पिता से यह भी पूछा कि अगर सकीना आकर उसकी पत्नी के रूप में उसके घर में रहे, तो उन्हें स्वीकार होगा या नहीं। लाला ने इसका उत्तर ना में दे दिया।

अमरकान्त भटकता हुआ एक दूर के देहात में जाकर पहुँचा। वह अब गाँव में सुधारों का प्रचार करता हुआ फिर रहा था। एक गाँव में पहुँचा, यहाँ के चौधरी का नाम गूदड़ था। इसी गाँव में वह पगली मुन्नी भी थी। गाँव वालों से तरह-तरह के वाद-विवाद होते थे, और अमरकान्त उनमें एक पैगम्बर-सा हो रहा था। यह गाँव चमारों का था। प्रश्न यह था कि अमर यहाँ क्या काम करे। किसी ने कहा घास

किया करो, किसी ने कहा जूते का काम अच्छा है, तल्लियाँ बनाओ, चरसे बनाओ, मेहनत करने वाला आदमी भूखों नहीं मरता। एक ने कहा खेती कर लो। पयाग ने सूजा चलाते हुये कहा—खेती के झंझट में न पड़ना भैया, चाहे खेत में कुछ हो या न हो, लगान जरूर दो। कभी ओला पाला, कभी सूखा, बूड़ा। उस पर कहीं बैल मर गया या खलिहान में आग लग गई तो सब कुछ स्वाहा। घास सबसे अच्छी। न किसी के नौकर न चाकर, न किसी का लेना न देना, सबेरे खुरपी उठाई, और दोपहर तक लौट आये।

काशी बोला—मजूरी मजूरी है, किसानी किसानी है। मजूर लाख हो, तो मजूर ही कहलायेगा। सिर पर घास लिये चले जा रहे हैं।...

पयाग का सूजा चलना बन्द हो गया, मरजाद लेकर चाटो। इधर-उधर से कमाके लाओ, वह भी खेती में झोंक दो।

बातचीत के दौरान में चौधरी ने अमर से पूछा कि क्या सभी जगह इसी प्रकार नजर नजराने लिये जाते हैं, सभी जगह गरीबों का लहू चूसा जाता है। अमर ने कहा हाँ ऐसा सर्वत्र होता है। चौधरी ने सदेह का सहारा लिया—भगवान ने छोटे-बड़े भेद क्यों लगा दिया, इसका मरम समझ में नहीं आता। उनके तो सभी लड़के हैं। फिर सब को एक आँख से क्यों नहीं देखता।

पयाग ने शंका समाधान करते हुये कहा—पूरब जन्म का संस्कार है। जिसने जैसे कर्म किये, वैसे फल पा रहा है।

चौधरी ने खंडन किया—यह सब मन को समझाने की बातें हैं बेटा, जिसमें गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोष रहे, और अमीरों के रागरंग में किसी तरह की बाधा न पड़े। लोग समझते रहे कि भगवान ने हमको गरीब बना दिया, आदमी का क्या दोष, पर यह कोई न्याय नहीं है कि हमारे बाल-बच्चे तक काम में लगे रहें, और पेट भर

भोजन भी न मिले और एक एक अफसर को दस-दस हजार की तलब मिले। दस तोड़े रुपये हुये। गदहे से भी न उठे।

अमर इन लोगों के मेहमान के रूप में रहने लगा, और उसने एक पाठशाला खोल दी। अमर जब जम गया तो घर से तो नहीं नैना से तथा सकीना से पत्र-व्यवहार करने लगा। उस गाँव में रहते समय अमर को एक दिन मालूम हुआ कि कहीं पास के गाँव में कोई गाय मरी है, उसकी मांस लेने के लिए सब गाँव वाले वहीं गये हैं, इस बात से अमर को बहुत चोट लगी। और उसने मुन्नी को यह बता दिया कि अब वह यहाँ न खा सकता है, न रह ही सकता है। मुन्नी पर इसका असर पड़ा, उसने लोगों को जाकर समझाया, किन्तु जब वे न माने तो वह बीच में घुस कर गाय के पास बैठ गई, और ललकार कर बोली—अब जिसे गड़ासा चलाना हो, चलावे। अन्त तक मुन्नी की ही बात मानी गई, और मुर्दा मांस वहीं पर छोड़ दिया गया।

लाला समरकान्त अपने ठाकुरद्वारे में कथा करा रहे थे, भीड़ बहुत बड़ी होती थी। एक दिन कथा के समय एक ब्रह्मचारीजी बहुत बिगड़े, मालूम हुआ कि कुछ अछूत रोज पीछे की कतार में कथा सुनने आते हैं, आज इसी का पता लग गया था, तभी ब्रह्मचारी जी बिगड़ रहे थे। लाला समरकान्त ने भी ब्रह्मचारीजी का साथ दिया। ब्रह्मचारी ने तो माथा पीट लिया। ये दुष्ट रोज यहाँ आते थे, रोज सबको छूते थे। इनका छुआ हुआ प्रसाद लोग रोज खाते थे। इससे बढ़ कर अनर्थ क्या हो सकता है! शान्तिकुमार भी वहीं थे। उन्होंने अछूतों का पक्ष लिया, बोले 'वाह रे ईश्वर भक्तो क्या कहना है, तुम्हारी भक्ति का।' फिर अछूतों की ओर मुड़ कर बोले—'तुम्हें इतनी भी खबर नहीं कि यहाँ सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं, तुम्हारी इतनी मजाल कि इस भगवान के मन्दिर में कदम रखो। तुम्हारे भगवान कहीं किसी झोपड़े में या पेड़ तले होंगे। यह भगवान रत्नों के आभूषण

पहनते हैं, मोहनभोग मलाई खाते हैं। चीथड़े पहनने वाले, और चबेना चबाने वालों की सूरत तक नहीं देखना चाहते।' इस बीच में अछूतों पर जूते लाठी पड़ चुकी थी।

अब तो मन्दिर प्रवेश आन्दोलन शुरू हो गया। एक तरफ शान्तिकुमार के नेतृत्व में अछूत एकत्रित हो रहे थे, दूसरी तरफ ब्रह्मचारी जी कई पुजारियों और पंडों के साथ द्वार पर लाठियाँ लिये खड़े थे। समरकान्त ब्रह्मचारी के पक्ष में थे, किन्तु नैना ब्रह्मचारी पर रुष्ट थी, उसे डाटती हुई बोलना चाहती थी कि आधी रात तक इसी मन्दिर में जुआ खेलते हो, पैसे-पैसे पर ईमान बेचते हो, झूठी गवाहियाँ देते हो, द्वार-द्वार भीख माँगते हो, तुम्हारे तो स्पर्श से ही देवता को कलंक लगता है।

मन्दिर प्रवेश में झगड़ा हो गया। अछूत तथा उनके नेता मार खा गये। शान्तिकुमार चोट खाकर गिर पड़े थे। अगली बार तो गोलियाँ भी चल गईं। सुखदा को भी जोश आ गया, और वह भागती हुई भीड़ के सामने जाकर डट गई, और उनसे बोली—भाइयों, बहिनो, भागो मत। तुम्हारे प्राणों का बलिदान पाकर ही ठाकुरजी तुमसे प्रसन्न होंगे। भीड़ मन्दिर की ओर बढ़ी। फिर बन्दूकें छूटीं, फिर कुछ लोग गिरे। भीषण दृश्य था। लोग फिर भी आगे बढ़े। मगर यह क्या? पुलिस के जवान क्यों संगीनें उतार रहे हैं। थोड़ी देर में पुलिसवाले वहाँ से चले गये। लाला समरकान्त सुखदा के समीप आकर ऊच्च स्वर में बोले—'मन्दिर खुल गया है, जिसका जी चाहे दर्शन कर सकता है, किसी के लिए रोक-टोक नहीं है।' इधर तो मन्दिर खुल गया, उधर अर्थियों को श्मशान में पहुँचाया गया, इधर गंगा के तट पर चितायें जल रही थीं, उधर मन्दिर इस उत्सव के आनन्द में दीपकों के प्रकाश से जगमगा रहा था। मानो वीरों की आत्मायें चमक रही हों।

शान्तिकुमार अस्पताल में बहुत दिनों तक पड़े रहे। उनको देखने के लिए नैना रोज जाया करती। सुखदा भी कभी-कभी चली जाती थी। उधर सलीम आई० सी० एस० की तैयारी कर रहे थे। उन्होंने छोटे से लेकर बड़े इम्तिहान तक सभी को अपनी बुद्धि से पार किया था। अमर के पास से सलीम के नाम एक खत आया था, उसमें कुछ इस किस्म की बात लिखी हुई थी कि मिशनरी बनना चाहिये। सलीम शान्तिकुमार से मिलने आया हुआ था, और उसी का जिक्र करते हुये कह रहा था कि मिशनरी होने का मतलब तो वह यह समझता है कि खैरात पर बसर हो। डाक्टर साहब ने इसके उत्तर में कहा—जिन्दगी का खैरात पर बसर होना, इससे कहीं अच्छा है कि वह जब्र पर बसर हो। गवर्नमेन्ट तो कोई जरूरी चीज नहीं, पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाये रखने के लिए एक संगठन बना लिया है, उसी का नाम गवर्नमेन्ट है। गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो, और गवर्नमेन्ट का खात्मा हो जाता है।

सलीम परीक्षा में पास हो गया। कायदे के मुताबिक उसे दो साल के लिए इंगलैंड जाना चाहिये था, किन्तु उसने कुछ ऐसा पैंतरा किया कि इस मजबूरी से भी बरी हो गया। सलीम को हाकिम बना कर उस हल्के का चार्ज दिया गया जहाँ अमरकान्त पहले ही से मौजूद थे। अब वह पहले की तरह से मन से आवारा नहीं था। बात यह है उसके दिल पर सकीना का सिक्का जम चुका था, और वह चाहता था कि इस ज्योति से वह अपने जीवन को आलोकित कर सके।

नैना का भी विवाह हो गया। शहर के प्रसिद्ध रईस सेठ धनीराम के पुत्र मनीराम से उसकी शादी हुई। सुखदा का जीवन पलट चुका था, और अब वह दिन-रात सेवाकार्य में एक करने लगी थी। इन्हीं लोगों के उत्साह से एक सेवाश्रम खुला था। इसमें वह काम करती थी। अब उसको तथा शान्तिकुमार को एक नई धुन यह सवार हुई कि

गरीबों के लिए सस्ते मकानों का प्रबन्ध किया जाय, मगर यह काम चन्दे का नहीं बल्कि म्युनिसिपिलटी के ही हाथों में होना चाहिये। हाफिज हलीम (सलीम के पिता) म्युनिसिपिलटी के प्रधान तथा लाला धनीराम उप-प्रधान थे। यह प्रश्न म्युनिसिपिलटी के प्रधान के सामने आया, किन्तु प्रस्ताव पाँच वोटों से गिर गया। इसके विरुद्ध आन्दोलन जारी रहा, और म्युनिसिपिलटी पर दबाव डाला जाने लगा कि वह इस काम को उटा ले, किन्तु म्युनिसिपिलटी के मेम्बरों में से अधिकांश खुद ही मकान वाले थे, और गरीब किरायेदारों की लूट-खसोट पर उनकी रईसी निर्भर थी, इसलिए वे इसका विरोध करते रहे। सुखदा आदि ने म्युनिसिपल बोर्ड के विरुद्ध हड़ताल करने की सोची, किन्तु इधर-उधर पूछताछ की तो लोगों को हड़ताल का विरोधी पाया। फिर भी कुछ कोशिश करने पर मेहतरों, इक्के-गाड़ी वालों, दूकानदारों की हड़ताल शुरू हुई। जब हड़ताल कुछ स्थायी हो गई तब पुलिसवालों ने सुखदा को गिरफ्तार करने का विचार किया। समरकान्त ने आकर सुखदा को खबर दी कि उसकी गिरफ्तारी होने वाली है।

सुखदा शान्तभाव से बोली—'जिस समाज का आधार ही अन्याय पर हो, उसकी सरकार के पास दमन के सिवाय और क्या दवा हो सकती है।.....' फिर और उत्तेजित होकर बोली—'मुझे गिरफ्तार कर लें, उन लाखों गरीबों को कहाँ ले जायेंगे, जिनकी आहें आसमान तक पहुँच रही है। यही आहें एक दिन किसी ज्वालामुखी की भाँति फटकर सारे समाज के साथ सरकार को भी विध्वंस कर देंगी।' लाला समरकान्त ने उसे बहुत कहा कि जमानत करवा ले, किन्तु वह इसके लिए तैयार नहीं हुई। सुखदा जेल चली गई।

अमरकान्त को ज्योंही मालूम हुआ कि सलीम अपने यहाँ का अफसर होकर आया है त्योंही वह उससे मिलने गया। बातचीत में उसे

ज्ञात हुआ कि सलीम इस समय सकीना पर जान दे रहा है। इस खबर ने अमरकान्त को इस बात के लिए मजबूर किया कि वह फिर से सब बातों को सोचे, किन्तु वहाँ अधिक सोचने का समय नहीं था। इस इलाके की समस्यायें उसे समाधान के लिए अपनी ओर निमंत्रण दे रही थी। इस इलाके के जमीन्दार एक महन्त जी थे। कारकुन और मुख्तार उन्हीं के चेले चापड़ थे। इसलिए लगान बराबर वसूल होता था। ठाकुरद्वारे में कोई न कोई उत्सव होता ही रहता था। किसानों का यह हाल था कि बेचारे एक तो गरीब, ऋण के बोझ से लदे हुये, दूसरे मूर्ख, न कायदा जानते थे न कानून। महन्त जी जितना चाहें इजाफा करें, जब चाहे बेदखल करें, किसी में बोलने का साहस न था। अक्सर खेतों का लगान इतना बढ़ गया था कि सारी उपज लगान के बराबर भी न पहुँचती थी, किन्तु लोग भाग्य को रोकर...... खेत जोतते जाते थे। करें क्या! कितनों ही ने जाकर शहर में नौकरी कर ली थी। कितने ही मजदूरी करने लगे थे। फिर भी असामियों की कमी न थी। कृषि-प्रधान देश में खेती केवल जीविका का ही साधन नहीं है, सम्मान की वस्तु भी है। गृहस्थ कहलाना गर्व की बात है, किसान गृहस्थी में अपना सर्वस्व खोकर विदेश जाता है, वहाँ से धन कमाकर आता है, और फिर गृहस्थी करता है। मान प्रतिष्ठा का मोह औरों की भाँति उसे भी घेरे रहता है। वह गृहस्थ रह कर जीना और गृहस्थी ही में मरना चाहता है। उसका बाल-बाल कर्ज से बँधा हो, लेकिन द्वार पर दो-चार बैल बाँध कर वह अपने को धन्य समझता है। उसे साल में ३६० दिन आधे पेट खाकर रहना पड़े, पुआल में घुस कर रातें काटनी पड़े, बेबसी से जीना और बेकसी से मरना पड़े, कोई चिन्ता नहीं, वह गृहस्थ तो है। यह गर्व उसकी सारी दुर्गति की पुरौती कर देता है। लेकिन इस साल किसानों का बहुत ही बुरा हाल हुआ। विकट समस्या थी। एक दिन गंगा तट पर इसी समस्या पर विचार करने के लिए

एक पंचायत हुई। इलाके के सब स्त्री-पुरुष जमा हुए। उस सभा में दो तरह के विचार आए। एक तरह के विचार ने फौरन कुछ कर दिखाने की सलाह दी। अमरकान्त ने इसका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि सभा बिना कुछ निश्चय किये भंग हो गई। अमर ने सोचा कि जाकर महन्त से बातचीत करें। महन्त को सब खबर थी। उसने मामलों को टालने के लिए कह दिया कि 'मैं इस फसल की वसूली रोक देता, मुझे पहले खबर क्यों न की। मैं इस विषय में बहुत जल्द सरकार से पत्र-व्यवहार करूँगा।'

अमर समझौते की उम्मीद कर रहे थे, और इधर गरम दल के नेता स्वामी जी यह रट लगाये हुये थे कि यह सब महन्त का धोखा है, कुछ होना हवाना नहीं है। दिन गुजरने लगे, और स्वामी जी सच्चे साबित होने लगे, क्योंकि आधी छूट का कोई हुक्म नहीं आया। अन्त में अमरकान्त भी इसी नतीजे पर आये कि लगान देना बन्द करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। अब अमर के व्याख्यानों में लगानबन्दी की बात रहती थी। जिला के हाकिम मिस्टर गजनबी ने सलीम को हुक्म दिया कि वह जाकर अमरकान्त को गिरफ्तार करे। इस अवसर पर मिस्टर गजनबी और सलीम में जो बातचीत हुई, उसमें मिस्टर गजनबी ने पुलिस के सम्बन्ध में मन्तव्य करते हुये कहा—'अगर सरकार पुलिस को सुधार सके तो स्वराज्य की माँग ५० साल के लिए टल सकती है। आज कोई शरीफ आदमी पुलिस से सरोकार नहीं रखना चाहता। थानों को बदमाशों का अड्डा समझ कर उधर से मुँह फेर लेता है। यह सीगा इस राज का कलंक है...।' उन्होंने यह भी कहा—'फौज का खर्च आधा कर दिया जाय तो किसानों का लगान बड़ी आसानी से आधा हो सकता है। मुझे अगर स्वराज्य से कोई खौफ़ है तो यह है कि मुसलमानों की हालत कहीं और खराब न हो जाय। गलत तवारीखें पढ़-पढ़ कर दोनों फिरके एक दूसरे के दुश्मन

हो गये हैं, और मुमकिन नहीं कि हिन्दू मौका पाकर मुसलमानों से फर्जी अदावतों का बदला न लें।...मजहब का दौर तो खतम हो रहा है, बल्कि यों कहो कि खतम हो गया। सिर्फ हिन्दुस्तान में उसमें कुछ-कुछ जान बाकी है। यह तो दौलत का जमाना है। अब कौम अमीर और गरीब, जायदादवाले और मरभूखे अपनी-अपनी जमायतें बनायेंगे। इनमें कहीं ज्यादा खूँरेजी होगी, कहीं ज्यादा तंगदिली होगी। आखिर एक दो सदी के बाद एक सल्तनत हो जायेगी। सबका एक कानून, एक निजाम होगा। कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे। मजहब शख्सी चीज होगी। न कोई राजा होगा, न कोई प्रजा।'

अमर गिरफ्तार हो गया। उसकी गिरफ़्तारी के समय दंगा होते-होते बचा। जब लाला समरकान्त को अपने लड़के के जेल में भेज दिये जाने की बात ज्ञात हुई तो वे उस इलाके में पहुँचे जहाँ अमरकान्त रहते थे। वे एक दिन कुछ किसानों के साथ जाँच करते हुये घूम रहे थे कि किसानों का क्या हाल है। सामने से पाँच सवार आते दिखाई दिये। लाला समरकान्त के साथ के एक किसान ने एक पत्थर उठाकर एक सवार पर निशाना मारा। उसकी पगड़ी जमीन पर गिर पड़ी। सवारों ने समरकान्त को घेर लिया, और एक ने हन्टर निकाल कर ऊपर उठाया ही था कि एकाएक चौंक पड़ा, और बोला—'अरे! आप हैं सेठजी, आप यहाँ कहाँ?

सेठजी ने सलीम को पहचान कर—हाँ हाँ चला दो, हन्टर रुक क्यों गये? अपनी कारगुजारी दिखाने का ऐसा मौका फिर कहाँ मिलेगा। हाकिम होकर अगर गरीबों पर हन्टर न चलाये तो हाकिमी किस काम की।

सलीम लज्जित हो गया। फिर दोनों में बातचीत होने लगी। लाला-जी ने उसे समझाया कि अगर किसानों के साथ नरमी से काम लिया जाय तो काम अधिक निकल सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह

कहा कि आँख मूँद कर हुक्म मानने से काम न चलेगा, बल्कि वह जिस बात को वाजिब समझता है उसकी रिपोर्ट निडर होकर सरकार से करे। अभी सलीम का हृदय इतना काला न हुआ था कि उस पर कोई रंग न चढ़ता। इस बीच में किसानों पर बहुत मार-पीट हो चुकी थी, और कुछ किसानों के घरों में आग भी लगा दी गई थी।

अमर जिस जेल में था, उसी में कालेखाँ भी था। कालेखाँ ने किसी चोरी के मामले में सजा पाई थी। वह अमर की ही चक्की नहीं बहुत से कैदियों का काम करा देता था। एक दिन चक्की पीस कर वह नमाज पढ़ रहा था। उसी वक्त जेलर साहब चार बार्डरों के साथ आटा तुलवाने आ पहुँचे। कैदियों ने अपना-अपना आटा बोरियों में भरा और तराजू के पास आकर खड़े हो गये। आटा तुलने लगा। जेलर ने अमर से पूछा—'तुम्हारा साथी कहाँ गया?' अमर ने बतलाया—नमाज पढ़ रहा है। अमर ने समझाया कि आटा हम तौला देते हैं, किन्तु जेलर राजी न हुआ, उसने समीप जाकर अपनी छड़ी उसकी पीठ में चुभाते हुये कहा—'बहरा हो गया है क्या बे! शामत तो नहीं आ गई?' कालेखाँ नमाज पढ़ने में मग्न था। पीछे फिरकर भी न देखा। जेलर ने झल्लाकर लात जमाई। कालेखाँ सिजदे के लिए झुका हुआ था। औंधे मुँह गिर पड़ा। पर तुरन्त सम्हल कर फिर सिजदे में झुक गया......। अब तो चारों तरफ से उस पर ठोकरें पड़ने लगी। हाँ प्रत्येक आघात पर उस मुँह से 'अल्ला हो अकबर' की दिल हिला देनेवाली सदा निकल जाती थी ..। काले खाँ के सिर से रुधिर बहने लगा। कालेखाँ वहीं पर मारते-मारते गिरा दिया गया। आगे दिन कालेखाँ ने जीवन लीला समाप्त कर दी।

लाला समरकान्त के चले जाने के बाद सलीम ने हर एक गाँव का दौरा करके असामियों की आर्थिक दशा की जाँच करनी शुरू की। अब उसे मालूम हुआ उनकी दशा उससे कहीं हीन है जितनी वह समझे

बैठी थी। पैदावार का मूल लागत और लगान से कहीं कम था। खाने कपड़े की गुञ्जाइश नहीं थी,...सलीम को असामियों से सहानुभूति होती जाती थी। कितना अन्याय है कि जो बेचारे रोटियों के मुहताज हैं, जिनके पास तन ढाकने को केवल चिथड़े हों, जो बीमारी में एक पैसे की दवा भी न कर सकते हों, जिनके घरों में दीपक भी न जलते हों, उनसे पूरा लगान वसूल किया जाय। जब जिन्स महँगी थी तब किसी तरह एक जून रोटियाँ मिल जाती थीं। इस मन्दी में तो उनकी दशा वर्णनातीत हो गई है।...

अब सलीम ने किसानों का सच्चा हाल लिखकर एक रिपोर्ट तैयार की, और उसे मिस्टर गजनबी के पास भेज दिया। दोनों में बहस होने लगी। गजनबी कहता था—'हमारा काम केवल अफसरों की आज्ञा मानना है। उन्होंने लगान वसूल करने की आज्ञा दी। हमें लगान वसूल करना चाहिये। प्रजा को कष्ट होता हो तो हो, हमें इससे प्रयोजन नहीं। हमें खुद अपनी आमदनी से टैक्स देने में कष्ट होता है, लेकिन मजबूर होकर देते हैं।' जब सलीम ने यह सुना तो उसने कहा—'हम सरकार के नौकर केवल इसलिए हैं कि प्रजा की सेवा कर सकें...।' गजनबी ने बहुत ऊँच-नीच सुझाया, लेकिन सलीम पर कोई असर नहीं हुआ। उसे डंडों से लगान वसूल करना किसी तरह मंजूर नहीं था। आखिर गजनबी ने मजबूर होकर उसकी रिपोर्ट ऊपर भेज दी, और एक ही सप्ताह के अन्दर गवर्नमेन्ट ने उसे पृथक कर दिया। इसके बाद सलीम किसानों में काम करता हुआ दिखाई देता है। सलीम की जगह मिस्टर घोष आये, वे एक नम्बर जालिम थे। उन्होंने किसानों से हर तरीके से लगान वसूल करना चाहा। किसान उत्तेजित हो गये, तो वे बुरी तरह मारे गये, कई को जान से हाथ धोना पड़ा। सलीम भी एक सब-इन्सपेक्टर और कई कान्सटेबलों के साथ एक लारी पर सदर भेज दिया गया। बाद को वह उसी जेल में पहुँचाया

गया जहाँ अमरकान्त था। अमर ने सलीम से पूछा—तुम तो सरकार के खैरख्वाह नौकर थे, तुम जेल में कैसे आ गये?

सलीम हँसा—तुम्हारे इश्क में।

—'दादा को किसका इश्क था?'

—'अपने बेटे का'

—'और सुखदा को?'

—'अपने शौहर का'

—'और सकीना को? और मुन्नी को? और इन सैकड़ों आदमियों को जो तरह-तरह की सख्तियाँ झेल रहे हैं?'

पठानिन तक गिरफ़्तार हो चुकी थी। बनारस में अजीब हाल था।

हथियारबन्द पुलिस का पहरा है। कोई भाषण नहीं दे सकता, कोई जलशा नहीं हो सकता। फिर भी लोगों ने जलशा किया। एक के बाद एक भाषणकर्त्ता गिरफ़्तार होते जाते थे। डाक्टर शान्तिकुमार भाषण दे रहे थे—'हमारे धनवानों को किसका बल है? पुलिस का। हम पुलिस ही से पूछते हैं, अपने कान्स्टेबल भाइयों से हमारा सवाल है कि क्या तुम भी गरीब नहीं हो?...' डाक्टर साहब भी गिरफ़्तार हो गये। डाक्टर के बाद नैना ने भाषण शुरू किया। उसने झंडा उठा लिया और बीस-पचीस हजार की भीड़ के साथ म्युनिसिपिलिटी के दफ़्तर की ओर रवाना हो गई। उधर म्युनिसिपल बोर्ड में यही प्रश्न छिड़ा हुआ था। टेलीफोन से कमेटी को पता लगा कि इस प्रकार एक अपार भीड़ दफ्तर की ओर आ रही है। डि० एस० पी० ने मेम्बरों से टेलीफोन पर यह पूछा कि फ़ायर किये बगैर जुलूस हटने वाला नहीं है, कमेटी के मेम्बरान यह बतलावें कि क्या वे ऐसी हालत में चाहते हैं कि भीड़ को रोका जाय। इस पर कमेटी में वोट लिया गया। बारह हाथ पक्ष में उठे, और दस विपक्ष में, यह तय हुआ कि गोली चलाकर भीड़ को रोका जाय। इतने में फिर टेलिफोन आया। हाफिज़जी ने कान

लगाया—डि० एस० पी० ने बताया कि लाला मनीराम ने अपनी बीबी को गोली मार दी। बात यह है कि मिस्टर मनीराम गुस्से में भरे हुये जलूस के सामने गये थे, और अपनी बीबी को वहाँ से हट जाने के लिए कहा। बीबी अर्थात् नैना ने इन्कार किया। कुछ कहा-सुनी हुई। मनीराम के हाथ में पिस्तौल था फौरन शूट कर दिया।

हाफिज़ ने मेम्बरों को यह खबर सुनाई तो सारे बोर्ड में सनसनी दौड़ गई। हाफिज ने बोर्ड से यह अख्तियार लिया कि वे जाकर जनता से कह दें कि उनकी माग मान ली गई है और वह जमीन उन्हें दी जायगी। उन्होंने ऐसा ही किया। भीड़ नैना देवी की जय से गूँज उठी।

औरत जेल की बात है। सकीना, सुखदा, पठानिन, मुन्नी, रेणुका सब वहीं थी। इनकी रिहाई का हुक्म आ चुका था। उसी वक्त जनाने वार्ड के द्वार खुले, और तीन कैदी अन्दर दाखिल हुये...आज से जनाने जेल की पुताई होने वाली थी। ये मजदूर और कोई नहीं अमर, और सलीम थे। अमर इन देवियों को देखकर विस्मय भरे गर्व से फूल उठा। उनके सामने वह कितना तुच्छ था, कितना नगण्य। सब में बातचीत होने लगी और एक दूसरे को आपबीती सुनाने लगे। अमर ने सुखदा से माफी माँगी इतने में सेठ समरकान्त भी आ गये। सलीम आदि की भी रिहाई का हुक्म था। सलीम और सकीना का विवाह भी तय हो जाता। सब छूटकर घर जाते हैं। सरकार ने यह फैसला किया था कि पाँच आदमियों की एक कमेटी बनेगी, वह जो कुछ हरिद्वार के उस इलाके के लगान के सम्बन्ध में तय करेगी, वही होगा। इस कमेटी में सलीम और अमरकान्त भी लिए गए थे। बाकी तीन आदमियों को भी यही दो आदमी चुनेंगे, इसकी सम्भावना थी। गवर्नर साहब की सज्जनता और सहृदयता की प्रशंसा होती है, लोग कहते हैं कि वे फिजूल ही बदनाम किये जा रहे थे।

× × ×

प्रेमचन्द पर विशेषकर कर्मभूमि पर लिखते हुए, सुप्रसिद्ध समालोचक डाक्टर रामविलासजी लिखते हैं 'उनके (प्रेमचन्द के) चित्रण में विशेषता यह है कि अन्य रोमान्टिक लेखकों की भाँति उन्होंने अपने आवारों को आदर्श रूप में नहीं रखा, न समाज के शिक्षित व्यक्तियों को उनकी तुलना नितान्त अधम और पातकी ही बतलाया है।' पता नहीं ये मन्तव्य किस लेखक पर लक्ष्य करके किये गये हैं, किन्तु इस मन्तव्य की सबसे बड़ी ट्रेजडी यह है कि जिस कर्मभूमि के सिलसिले में उन्होंने ये मन्तव्य किये हैं, उसका नायक अमरकान्त एक Glorified vagabond अर्थात एक यशमंडित आवारे के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शुरू से ही वह हवा में उड़ता है। उसके कोई निश्चित विचार नहीं हैं, न कोई Moorings या विचारगत बन्धन है। अजीब नौजवान है। जब उसके जी में जो आता है, करता है। वह रईस का लड़का और रईस का दामाद है। खाने-पीने की उसे कोई फिक्र नहीं है। जैसे रईसों के बिगड़े हुए लड़के होते हैं, वह उसी प्रकार है, हाँ उसमें कुछ आदर्शवाद का पुट है, किन्तु यह आदर्शवाद उसे एक समय तो कालेखाँ द्वारा लाया हुआ चोरी का माल खरीदने से रोकता है, किन्तु दूसरी ओर एक सुशीला स्त्री के रहते हुए उसे पठानिन की लड़की सकीना से प्रेम करने के लिए मना नहीं करता। सच बात तो यह है कि इसी प्रेम में असफलता के कारण वह घूमता फिरता हुआ एक इलाके में पहुँचता है, वहाँ वह किसानों के आन्दोलनों में भगा लेने लगता है। उसका छात्र-जीवन भी इसी प्रकार है। वह एक गाँव में घूमने जाता है, वहाँ गोरों को मुन्नी पर बलात्कार करते हुए पाता है, बस उन पर पिल पड़ता है। इसके बाद जब मुन्नी दो गोरों की हत्या कर डालती है, तो वह औरों के साथ मिल कर बड़े जोरों के साथ मुकदमा लड़ता है, किन्तु जब घर में आकर देखता है कि लड़का पैदा हुआ है, तो उसके उत्सव की तैयारी में मुन्नी के विषय में सब बातें

भूल जाता है। वह नाच के विरुद्ध है, किन्तु अपने विचारों के विरुद्ध इस उत्सव के लिए नाच करवाने पर तैयार हो जाता है। वह गंडा तावीज में विश्वास नहीं करता, किन्तु बच्चे के गले में बुढ़िया की दी हुई तावीज बाँधता है। जब मुन्नी छूट जाती है, और उसके मित्र डाक्टर शान्तिकुमार का बहुत नाम होता है, तो वह इस बात से दुखित हो जाता है। कहता है—'जो काम खुद न देखो, वही चौपट हो जाता है। मैं तो इधर फँस गया, उधर किसी से इतना भी न हो सका कि उस औरत को समझाता। मैं होता तो मजाल थी कि वह यों ही चली जाती।...मैंने तो समझा डाक्टर साहब और बीसों ही आदमी हैं, मेरे न रहने से ऐसा क्या घी का घड़ा लुढ़क जाता, लेकिन वहाँ किसी को क्या परवाह।' मुन्नी जो छूट गई, उसका सारा श्रेय वह खुद लेने लगा, घर तथा बाहर हर जगह वह इसी प्रकार की डींग मारता है। अवश्य वह बाद को किसानों के झगड़े में जेल जाता है, किन्तु यह भी हवा में बहकर।

इसमें सन्देह नहीं कि अमरकान्त एक अवारा है, अवश्य उसके विचारों तथा कार्यों में राजनैतिक पुट है, यह दूसरी बात है; किन्तु आन्तरिक रूप से वह अपने आवारापन को कभी छोड़ नहीं पाता। उसके आवारापन का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसकी सारी देश-भक्ति प्रेम में चोट खा जाने के कारण है। उसके किसान आन्दोलन में पड़ जाने का आन्तरिक रहस्य यही है। जब उसने देखा कि सकीना से विवाह होना कठिन है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा का प्रत्येक अणु सकीना के लिए कराह रहा है, उसके लिए सकीना के बिना जीना असम्भव है, तब वह घर से भाग निकलता है, बस वह परिस्थितियों में पड़ कर (अवश्य इसमें उसका पुराना रुझान भी काम देता है) राज-नैतिक बल्कि किसान आन्दोलन में भाग लेता है। रांची मानसिक चिकित्सालय के सुप्रसिद्ध मनोरोग विशेषज्ञ वर्कले हिल ने बंगाल के

'आतंकवादियों' के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त पेश किया था कि ये लोग सबके सब ऐसे व्यक्ति हैं, जिनको अपने प्रेम जीवन में प्रत्याख्यान मिला है, किसी प्रकार का धक्का लगा है, या इसी क्षेत्र में किसी प्रकार से वे तृप्ति से वंचित रहे हैं, इसी के कारण उन लोगों ने क्रान्तिकारी जीवन को अपनाया है। हम यहाँ पर इस पचड़े में नहीं पड़ेंगे कि यह सिद्धान्त सही था या गलत। सामाजिक शक्तियाँ न मालूम किस-किस व्यक्ति से किस-किस मिस से काम निकाल लेती हैं, यह कौन बता सकता है। इसी उपन्यास में सामाजिक शक्तियों के हाथों में व्यक्ति किस प्रकार कार्य करता है, इसके अन्य उदाहरण मौजूद हैं। जिस समय सलीम जेल में गया है उस समय अमरकान्त के पूछने पर कि वह कैसे जेल में आया है, सलीम कहता है—'तुम्हारे इश्क में।'

अमरकान्त ने पूछा—'दादा को किसका इश्क था?'

सलीम—'अपने बेटे का!'

—'सुखदा को?'

—'अपने शौहर का।'

—'और सकीना को? और मुन्नी को? और इन सैकड़ों आदमियों को जो तरह-तरह की सख्तियाँ झेल रहे हैं?' इत्यादि।

इन थोड़े से वाक्यों में प्रेमचन्द इस महान सामाजिक सत्य को जिसे समझाने के लिए मोटे से मोटे ग्रन्थ लिखे गए हैं, उसको स्पष्ट कर दिया। वह यह कि हम भावुकता के क्षेत्र में चाहे जो भी सोचें और समझें, हमारी भावुकता की आड़ में समाज की उत्पादन शक्तियाँ काम करती रहती हैं। जब तक कोई विचार इक्के-दुक्के व्यक्तियों तक महदूद रहता है, तब तक हम उसे खामख्याली, जल्पना या भावुकता जो चाहे सो कह लें, किन्तु जब लोगों में भावुकता एक तरह की होती है, या कई तरह की भावुकताओं का परिणाम अगर एक तरह के कार्य तथा आचरण में होता है, तब उस कार्य या आचरण को समझने के लिए

इक्के-दुक्के व्यक्तियों की भावुकता के विश्लेषण की भले ही वैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यकता हो, किन्तु उसे सामाजिक दृष्टि से ही देखना पड़ेगा। मुन्नी ने, सुखदा ने, अमरकान्त ने, सलीम ने, सभी ने किसी न किसी प्रकार की भावुकता से परिचालित होकर किसान या अछूत आन्दोलन को—अर्थात् उस समय के एक न एक प्रगतिशील आन्दोलन को अपनाया, इसका क्या कारण है, जब हम इसे समझने की कोशिश करेंगे, तभी हम उस समाज को तथा उसकी गति की ढाल को समझ सकेंगे। भावुकतायें तो बने हुए माल हैं, उनका कच्चा माल कहीं और है। इसलिए यदि वर्कले हिल यह कहते हैं कि कुछ क्रान्तिकारी ऐसे हैं जो प्रेम जीवन में धक्का खाकर ही क्रान्तिकारी बने हैं तो इससे न तो क्रान्ति पर ही कोई बट्टा लगता है, और न उन विशेष व्यक्तियों के क्रान्तिकारित्व पर कोई धब्बा आता है। इस प्रकार अमरकान्त ने सकीना के प्रेम की जटिलताओं का सामना न कर पाकर जो किसान सेवा अपनाई, न तो वह व्यर्थ है, और न उससे उसके चरित्र पर कोई विशेष धब्बा आता है। फिर भी हम जो इस बात पर जिद् कर रहे हैं कि अमरकान्त एक आवारा है, उसका कारण यह है कि वह जिस समय प्रेम जीवन में धक्का खाकर एकाकी यात्रा में निकल पड़ा था, उस समय उसे बिल्कुल पता नहीं था कि आगे वह कौन-सा जीवन अपनायेगा। इसके अतिरिक्त हम उसमें बात-बात पर कई तरह के निम्नमध्यवित्त जनोचित कुसंस्कार भी देखते हैं। यों तो वह डींग मारने को तो यह डींग मारता है कि वह श्रम की मर्यादा को समझता है, घर में अपमानित होने पर खादी का गट्ठर लेकर चलता है, किन्तु वह ऐसा केवल अपने ऊपर जबर्दस्ती कर, सीनाजोरी कर करता है, यह स्पष्ट है। उसकी स्त्री सुखदा तो खैर एक दिन उसे खादी का गट्ठर सिर पर लादकर जाते हुए देख लेती हैं, और अपमान से उसका माथा नीचा हो जाता है, किन्तु सुखदा स्कूल में नौकरी करती है, इस पर उसे स्वयं

अपमान का बोध होता है। इस प्रकार अपनी हड्डियों तक वह पेटी बुर्जुआ है। इस उपन्यास का यही व्यक्ति नायक है।

उसके आवारापन का सबसे अकाट्य प्रमाण यह है कि उसे अपनी रोजी की फिक्र कभी नहीं होती, हाँ, कुछ दिनों तक वह खादी का गट्ठर लादकर फेरी करता है, किन्तु वह कुछ दिनों तक है, और उससे उसके उस चरित्र में फर्क न आकर बल्कि वह और अधिक पुष्ट होता है। उसके लिए वह काम सबसे अस्वाभाविक है। वह खादी का गट्ठर लादकर इस प्रकार चलता है जैसे कोई कायर किसी तरह दाँत दबाकर हाथ में पिस्तौल ले ले, और जिस शत्रु को मारना चाहता है, उसे न मारकर घबड़ाहट में किसी और ही को मार डाले, या उससे निशाना चूक जाय। जो कुछ भी हो, अमरकान्त एक पेटी बुर्जुआ आवारा है। अवश्य चरित्रहीन के सतीश, श्रीकान्त आदि आवारा से वह भिन्न है, किन्तु बहुत भिन्न नहीं है। सतीश भी बहुत परोपकारी है, मुफ्त में दवा-दारू करता है। श्रीकान्त भी जब तब दूसरों के लिए अपने को होमने के लिए तैयार रहता है। शरतबाबू के सभी आवारा पात्र इसी श्रेणी के हैं। अवश्य उनमें से पथेरदावी के अतिरिक्त किसी का नायक न तो जेल जाता है, और न जेल जाने के लिए शायद तैयार ही है। इस दृष्टि से अमरकान्त प्रेमचन्द की निराली उपज है, किन्तु जैसा कि हमने देख लिया, इससे पात्र के चरित्र में कोई मौलिक विशेषता नहीं आती।

'कर्मभूमि' भी कम से कम दो कथानकों का उपन्यास है। एक तो चमारों के गाँव की कथा है, दूसरी शहर की कथा है। इन दोनों कथाओं को अमरकान्त तथा उसके परिवार वालों के द्वारा जोड़ा गया है, किन्तु प्रत्येक पाठक को यह अनुभव होता है कि ये कथायें कुछ शिथिल तरीके से जुड़ी हुई हैं। एक कथा को पढ़ते-पढ़ते हम दूसरी

कथा को करीब-करीब भूल जाते हैं, और उन दोनों में कोई आवश्यक सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता, ऐसा मालूम होता है कि जैसे लेखक ने इन दोनों कथाओं को जबरदस्ती जोड़ा है। हडसन ने कथानक की बनावट के सम्बन्ध में कुछ मन्तव्य किये हैं, जो इस सम्बन्ध में विचार्य हैं। वे लिखते हैं 'उपन्यास का कथानक सरल अथवा यौगिक (compound) हो सकता है, अर्थात् इसमें केवल एक कथा हो सकती है या एकाधिक कथा हो सकती है, और एकता के नियम का यह तकाजा है कि यौगिक कथानक के हिस्से इस प्रकार संयुक्त हों कि वे मिलकर एक समग्र ज्ञात हों। Vainty Fair के कथानक के निर्माण के सम्बन्ध में हमारा यही कहना है कि इसमें दो कथायें हैं, एक तो अमेलिया सेडली की कथा तथा दूसरी बेकी शार्प की कथा है, और ये दो कथायें अच्छी तरह संयुक्त नहीं हुई हैं। इसी प्रकार Middlemarch, Daniel Deronda तथा आनाकरनिना के सम्बन्ध में यही मन्तव्य किया जा सकता है। इसके विपरीत Bleak House नामक उपन्यास में एस्थर समर्सन की कथा, लेडी डेडलाक की पाप की कथा, तथा जारन-डाइस बनाम जारनडाइस वाले मुकदमे की कथा बहुत चतुरता के साथ जोड़ दी गई हैं, इस प्रकार इस उपन्यास में हमें अत्यन्त जटिल उपादानों की एकता करके कहानी कहने का एक बहुत अच्छा नमूना मिलता है। अक्सर उपन्यासकारगण ऐसा करते हैं कि जब उनके उपन्यास में कई अलग-अलग उपादान आते हैं, तो वे इन कथाओं को एक दूसरे से बेलेन्स कर देते हैं, या एक कथा के द्वारा दूसरी कथा को स्पष्टतर कर देते हैं। डिकेन्स का यह तरीका था कि वे अपने अतिनाटक को एक विस्तृत सुखान्त करके खतम कर देते थे, यही उन दिनों रोमान्टिक नाटककारों की योजना थी। Vainty Fair में भी जहाँ दो कथाओं को संयुक्त करने का बहुत कम प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है, वहाँ भी उनके नैतिक तथा नाटकीय contrast या विरोध को

स्पष्ट करके रखा जाता है। इस प्रकार का नैतिक और नाटकीय विरोध हमें आनाकारनिना की दो कथाओं में मिलेगा।"[1]

इस प्रकार हमने देख लिया कि टालस्टाय और थैकरे ऐसे लेखकों की उत्कृष्टतम रचनाओं के सम्बन्ध में यह कहा गया है उनकी रचनाओं के कथानक में परस्पर सम्बद्धता की कमी है। हम इस विषय पर आगे और लिखेंगे, किन्तु यहाँ यह बता दें कि स्वयं प्रेमचन्द भी शायद कर्मभूमि के कथानक की शिथिलता के सम्बन्ध में परिचित थे, उन्होंने जो अपने ४०० पन्ने के उपन्यास को पाँच भागों में बाँटा है, इससे इस सम्बन्ध में उनकी सज्ञानता जाहिर होती है। यहाँ यह भी बता दिया जाय कि हमारे पूर्वोल्लिखित साहित्य विशेषज्ञ हडसन सब बातों को विचार करने के बाद इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह बात कोई जरूरी नहीं है कि किसी उपन्यास का कथानक सुग्रथित हो, और उसमें शिथिलता न हो। डिकेन्स की रचनाओं में Pickwick papers का कथानक बहुत ही शिथिल कथानक युक्त है। डिकेन्स के अन्य उपन्यासों में David Copperfield, Martin Chuzzlewit के कथानक न अधिक शिथिल हैं, न अधिक सुग्रथित। इसके विपरीत जेन आस्टन और तुर्गनीव के उपन्यास बिल्कुल सुग्रथित हैं। इन सब बातों को विचार करने के बाद भी हडसन कहते हैं कि 'अन्तिम तरीके से एक मुहूर्त के लिए भी यह नहीं मान लिया जा सकता है कि सुग्रथित उपन्यास शिथिल उपन्यास से कला की दृष्टि से उच्चतर सतह पर है, यद्यपि स्काट बराबर अपने पाठकों से इस बात के लिए माफी माँगते रहे कि उनके कथानक शिथिल हैं...। सच बात तो यह है कि एक वास्तविक रूप से अच्छा उपन्यास बहुत सम्भव है शिथिल तरीके का ही हो न कि सुग्रथित तरीके का।' अवश्य ही हडसन की यह राय मान्य नहीं हो सकती। यह कहना दूसरी बात है कि अक्सर बहुत अच्छे

[1] I. S. T. p. 142

उपन्यास और गुणों के बावजूद सुग्रथित नहीं हो पाये, यह एक तथ्य है, किन्तु यदि उनके और गुणों के साथ-साथ वे सुग्रथित भी होते तो वे अधिक अच्छे न होते, यह कहना गलत है। स्वयं हडसन शायद इस बात को समझते हैं, इसलिए वे आगे कहते हैं 'किन्तु इसी के साथ सुग्रथिता और आंगिक सौष्ठव से निस्सन्देह रूप से सौन्दर्योपभोग से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह हमें मिलता है, और हम अवश्य ही ऐसी रचना की प्रशंसा करते हैं। Vainty fair आदि रचनाओं में और जो उत्कृष्टतायें है उनके बावजूद उनके कथानक में सुग्रथिता का अभाव है, उसे हम नज़रन्दाज़ नहीं कर सकते।' हम आगे चलकर देखेंगे किस अन्य यौगिक कथानकयुक्त उपन्यासों में प्रेमचन्द ने अपनी कला को किस प्रकार निबाहा है, तथा इस सम्बन्ध में शरत बाबू की क्या परिस्थिति है।

जिन दिनों यह पुस्तक लिखी गई थी, उन दिनों (१९३० के बाद) अछूत समस्या को लेकर सवर्ण हिन्दुओं में कुछ आन्दोलन हो रहा था। इसलिए इसमें हमें आश्चर्य नहीं है कि इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या अछूत समस्या है। अवश्य इस अछूत समस्या के साथ किसानों की समस्या भी संयुक्त है। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में शहर के अछूतों तथा गाँव के अछूतों की समस्या को अलग-अलग करके दिखलाया है। शहर के अछूतों की समस्या को उन्होंने मन्दिर प्रवेश और कथा सुनने के अधिकार के रूप में अर्थात् नागरिक स्वतंत्रता के लिए युद्ध के रूप में दिखलाया है; किन्तु गाँव के अछूतों की समस्या में उन्होंने इस समस्या के अन्तर्निहित आर्थिक पहलू को भी स्पष्ट करके दिखलाने की चेष्टा की है। एक उपन्यास की समालोचना में हमें इस विषय को विस्तारपूर्वक बताने की न तो जरूरत है और न अवसर ही है कि किस प्रकार अछूतों की समस्या मौलिक रूप से एक आर्थिक समस्या ही है, सच तो यह है कि इस विषय में हमने अन्यत्र बहुत विस्तार के

साथ लिखा है। फिर भी इस बात को देखते हुये कि बहुत कम जानकार लोग भी इस समस्या के इस अन्तर्निहित रूप को समझते हैं, हम कुछ तथ्यों को यहाँ पर पेश करेंगे। पहले सब आर्य एक वर्ण थे। फिर ऐसा ज्ञात होता है ईरान में ही आर्यों में किसी न किसी प्रकार की वर्ण व्यवस्था का सूत्रपात हो चुका था, किन्तु अनार्यों के संस्पर्श में आकर शूद्रवर्ण की उत्पत्ति हुई। स्मरण रहे जब वर्णों का अच्छी तरह प्रस्तरीकरण हुआ, उस समय शूद्रों का काम सेवा करना बताया गया था। मनुस्मृति में हम शूद्रों को इसी रूप में चित्रित पाते हैं। प्राचीन आर्य समाज में शूद्र ही सबसे अधिक शोषितवर्ग थे। अवश्य बाद को कुछ शूद्र राजा भी हुये, किन्तु साधारण शूद्रों की हालत इससे कुछ सुधरी नहीं। ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ आर्य भी आर्थिक कारणों से शूद्रत्व में जा गिरे। इसी प्रकार ऐतिहासिक रूप से यह भी देखा गया है कि कई जातियों के एक अंश को तो अछूत समझा गया, और दूसरे को उच्चवर्ण का मान लिया गया। इस प्रकार जो एक अंश को अछूत और दूसरे अंश को उच्चवर्ण का समझा गया, वह कोई आकस्मिक बात नहीं थी, बल्कि पता चला है कि जिस अंश के लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी रही, वह तो ऊंच समझा गया, और दूसरा अंश नीच और छोटा समझा गया। ऐसी हालत में अछूत समस्या मूलतः एक आर्थिक समस्या है, अवश्य इतने सैकड़ो वर्ष से जो धारणायें समाज शरीर में घर कर गई हैं, वे परिवार विशेष के आर्थिक उन्नयन से नष्ट नहीं हो जायेगी, इसीलिए अछूतों के आर्थिक रूप से उन्नयन के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि विचारों की सतह पर भी उनका संग्राम चले, और वे इस बात को मनवा लें कि उनमें और सवर्ण हिन्दुओं में कोई फर्क नहीं है। यदि पूछा जाय कि अछूत समस्या के समाधान के लिए आर्थिक उन्नयन अधिक जरूरी है या सवर्ण हिन्दू तथा अछूतों के विचारों में परिवर्तन अधिक जरूरी है तो

यह एक निरर्थक प्रश्न होगा। दोनों समस्याओं की अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। गान्धीजी ने अछूतोद्धार का जो आन्दोलन चलाया है, उसमें इन दोनों पहलुओं का ख्याल रखा गया है, इसलिए साधन बहुत ही कठिन है। गान्धीजी के अछूतोद्धार में मन्दिर प्रवेश और खानपान में छूत का दूरीकरण है, किन्तु बेटी का लेनदे ननहीं जिसके बगैर वर्ण धर्म बहुत कुछ जहाँ का तहाँ रह जाता है, और ऊँचे और नीचे का सम्बन्ध उसी प्रकार बना रहता है। मन्दिर-प्रवेश तथा खानपान में छूत के निषेध की भी बहुत दबी जबान में सिफारिश की गई है। मन्दिर-प्रवेश के लिए यह जरूरी है कि मन्दिर वाले का हृदय परिवर्तित कराकर तब मन्दिर में घुसा जाय। इसी प्रकार खानपान में छुआ छूत के निषेधवाले हिस्से में भी सवर्ण हिन्दू के हृदय परिवर्तन की जरूरत है। आर्थिक उन्नयन के क्षेत्र में बहुत ही थोड़े से अछूतों के लिए छात्र-वृत्ति की चेष्टा की गई है, बाकी लोगों को बेंत की टोकरी, कुर्सी आदि बीनना ही सिखाया जाता है।

स्वाभाविक रूप से गान्धीवाद के अन्तर्गत अछूतोद्धार का कार्यक्रम उसके सर्वांगीन सुधारवाद के दायरे में ही रहता है, अवश्य इस क्षेत्र में भी मन्दिर में अहिंस रूप से प्रवेश करने की चेष्टाकर, के सिर फुड़वा कर, मार खाकर, जेल आदि जाकर मन्दिर के मालिक ऊपर दबाव डालने की व्यवस्था है। शेषोक्त उपाय के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार के दबाव के लिए भी अछूतों को संगठित नहीं किया गया है। हम इससे अधिक ब्योरे में न जाकर इतना ही बतायेंगे कि कर्मभूमि का कर्मक्षेत्र अछूतोद्धार के इसी दायरे में अवस्थित है। अवश्य चमारों के गाँव में अछूतोद्धार की समस्या के साथ किसान जमीन्दार की समस्या को जिस प्रकार ग्रथित दिखलाया गया है, उसमें प्रेमचन्द गान्धीवाद से कुछ आगे निकल गये हैं। अवश्य ऐसा समझने की कोई आवश्यकता नहीं है कि ऐसा उन्होंने सचेत न होकर किया, एक वस्तु अनुयायी कलाकार के नाते

बहुत सम्भव है उनकी रचना में समस्या का यह रूप उनके अज्ञान के बावजूद आ गया है। गान्धी कहीं भी यह नहीं कहते सुने गये कि मन्दिरों में सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं, किन्तु प्रेमचन्द शान्तिकुमार की जबान से अछूतों को यह कहते हैं—'तुम्हें इतनी भी खबर नहीं कि यहाँ सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं...।' थोड़े से शब्द हैं, किन्तु इतने में सारी समस्या को कितना स्पष्ट कर दिया गया है। भगवान भी दो हैं, एक तो सेठ महाजनों के, एक गरीबों के। सेठ महाजनों के भगवान ऊँचे मन्दिरों में रहते हैं, हलुआ पूड़ी खाते हैं, तरह-तरह की दिव्य सुगन्धियों से तथा मीठे तानों से उनकी आराधना होती है, और गरीबों के भगवान, उनका तो कोई स्थान ही नहीं है। जब अछूत—सबसे जटिल तरीके के गरीब और शोषित-सेठ महाजनों के भगवान के पास फटकने की चेष्टा करते हैं, तो स्वाभाविक रूप से उनके भाड़े के टट्टू पंडे, पुजारी और ब्रह्मचारी उन पर जूते लेकर पिल पड़ते हैं। जब इसी अछूत आन्दोलन के सिलसिले में डाक्टर शान्तिकुमार का सिर फट जाता है तो वे राष्ट्र का रूप भी बहुत अच्छी तरह समझ जाते हैं। 'पढ़े-लिखे आदमियों ने गरीबों को दबाये रखने के लिए एक संगठन बना लिया है। इसी का नाम गवर्नमेन्ट है—गरीब और अमीर का फर्क मिटा दो और गवर्नमेन्ट का खातमा हो जाता है।' क्या कोई वैज्ञानिक तरीके से समाजवाद का समझने वाला मार्क्सवादी इससे अच्छी तरह अपने विचारों को व्यक्त कर सकता है, किन्तु इस क्षेत्र में यह केवल तजर्बे से उत्पन्न है।

इस उपन्यास के पात्रों में सलीम भी एक है, वह भी एक आवारा ही है। वह पहले अपने वर्ग के मामूली नौजवानों की तरह केवल सुखान्वेषी तथा तितली प्रकृति था, किन्तु अमरकान्त, बल्कि समरकान्त के कारण उसका हृदय परिवर्तित हो जाता है, और वह एक जालिम हाकिम से जेल जाने वाले देशभक्त में परिणत हो जाता है। उसका

यह हृदय परिवर्तन बिल्कुल आकस्मिक तो नहीं है, इस दृष्टि से यह प्रेमचन्द के ऐसे पात्रों से अच्छा ही है, किन्तु फिर भी उसका हृदय जितनी आसानी से परिवर्तित हुआ है, उतनी आसानी से वास्तविक जीवन में परिवर्तन नहीं होते। लाला समरकान्त का भी हृदय परिवर्तन हुआ है, किन्तु उनके हृदय परिवर्तन को लेखक ने शायद सबसे अच्छी तरह निभाया है। उनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ऐसे कारण मौजूद थे जिनसे उनका हृदय परिवर्तन होना जरूरी था। नैना देवी की हत्या के बाद म्युनिसिपिलटी के मेम्बरों का हृदय परिवर्तन होता है, यह हृदय परिवर्तन है, या जनता के दबाव के सामने नगर पिताओं का आत्मसमर्पण है, इसमें सन्देह है। इस उपन्यास में और एक व्यक्ति का हृदय परिवर्तन हुआ, वह है सकीना, यद्यपि उसकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जाती। अवश्य वह हृदय परिवर्तन दूसरी ही तरह का है। पहले वह अमरकान्त पर आसक्ता थी, किन्तु बाद को यह दिखलाया जाता है कि वह सलीम की बीबी हो गई। यह कैसे ? लेखक ने सकीना के साथ इस सम्बन्ध में जो अन्याय किया है, उसकी तुलना नहीं है। यह बात सच है कि अमरकान्त से मुलाकात होने से पहले वह एक मामूली भारतीय बल्कि पिछड़े हुए पुरुष-प्रधान समाज की एक मामूली लड़की थी। उसकी दादी चाहे जिससे उसका निकाह करवा सकती थी, किन्तु अमरकान्त के प्रेम ने उसके जीवन की अवरुद्ध धारा को मुक्त कर दिया, और वह धारा तब से अपनी एक स्वतंत्रगति से प्रवाहित होने लगी। अब वह उस लता की तरह नहीं रही जिसको चाहे जिस पेड़ पर चढ़ा दिया जाय, वह पुष्पित, पल्लवित होती। अब वह सोचने लगी थी। जिस समय अमरकान्त सकीना को छाती से लगा लेने के लिए अपनी तरफ खींचता है, उस समय एकाएक द्वार खुलता है, पठानिन अन्दर आती है। सकीना एक कदम पीछे जरूर हटती है, किन्तु अमरकान्त की तरह वह डरती नहीं है। जब अमर चला जाता

है, तब वह साफ-साफ पठानिन से कह देती है—'अगर उनकी जिन्दगी गारत हुई, तो मेरी भी गारत होगी, इतना समझ लो।' उसका जीवन अब अमर के जीवन से बँध चुका है। वह इस बन्धन को बराबर निभाती है। फिर एकाएक यह कैसे होता है कि वह अमर को छोड़कर सलीम से ब्याह कर लेती है। यहीं पर प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यास के अन्य पात्रों की जरूरत की बलिवेदी पर सकीना को बल्कि मनोविज्ञान को चढ़ा दिया। प्रेमचन्द को सुखदा और अमर का मिलन कराना था, अमरकान्त को एक मुसलमान लड़की के साथ शादी करने से बचाना था, फिर क्या था, सकीना का बलिदान हो गया। इस प्रकार 'असामाजिक' उपसंहारों से बचाने के लिए ही मुन्नी को अपने पति से मिलने नहीं दिया जाता। जब मुन्नी का पति उसे लेने के लिए तैयार है, उस हालत में एक गाँव की लड़की को इस दार्शनिक तबीयत का चित्रित करना कहाँ तक उचित हुआ है, यह विचार्य है। अवश्य मुन्नी कोई मामूली लड़की नहीं है, क्योंकि बलात्कृत होने के बाद से वह बराबर गोरों के खून की प्यासी होकर घूमती रही। नैना और सुखदा गौण पात्रियाँ हैं, औसत तरीके पर उनका चरित्र-चित्रण अच्छा ही रहा है। इस उपन्यास में कई पात्रियाँ हैं, और ये सब पात्रियाँ पात्रों से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि वे अधिक ही महत्वपूर्ण हैं। मुन्नी तो एक बहुत ही विशिष्ट पात्री है। यह सब होते हुये भी इस उपन्यास को पढ़कर यह खेद रह जाता है कि इसमें लेखक यथेष्टरूप से प्राण संचार करने में सफल नहीं रहे हैं। कहीं-कहीं कथानक का सूत्र बहुत उखड़-सा जाता है। शरत बाबू की पात्रियों की तरह ये पात्रियाँ हमारे मन पर कोई अमिट छाप नहीं छोड़ जातीं। मुन्नी ऐसी स्वतन्त्र क्रियाशीला एक भी पात्री शरत साहित्य में नहीं है, किन्तु फिर भी मुन्नी हमारे सामने सजीव नहीं हो पाती। कुछ ऐसा मालूम होता है कि उसका कोई स्वतंत्र जीवन नहीं है। वह एक कठपुतली मात्र है।

इस उपन्यास के दोनों भागों में सत्याग्रह की किस्म के आन्दोलन होते हैं। लेखक ने यह दिखलाया है कि एक ओर तो मन्दिराधिकारी के द्वारा मन्दिर के खोल दिये जाने से इस आन्दोलन का अवसान होता है, और दूसरी ओर सरकार के द्वारा एक कमीशन की नियुक्ति से आन्दोलन समाप्त होता है। क्या लेखक ने इस प्रकार दबावमूलक आन्दोलन की अन्तिम परिणति क्या हो सकती है इस पर इस प्रकार एक फबती कस दी है, या एक वस्तु अनुयायी लेखक के नाते जो बात उन्होंने ऐसे आन्दोलनों से होते देखा, उसे सचाई के साथ दिखा दिया। जो कुछ भी हो इस उपन्यास को जिस माने में भी लिया जाय, यह सत्याग्रह की परिणति का अच्छा चित्रण करता है। समालोचकों ने यह कहा है कि गोदान में चलकर प्रेमचन्द एक नये मार्ग की ओर इंगित करते हैं, किन्तु कर्मभूमि को ही यदि तार्किक रूप से समझा जाय, तो इसी में हम उस मार्ग की सूचना पा सकते हैं। अवश्य वह सूचना बहुत अस्पष्ट रूप में है, किन्तु वह है, इसमें सन्देह नहीं।

गोदान

इस उपन्यास का नायक होरी एक मामूली किसान है। चार-पाँच बीघे जमीन जोतता है। पुस्तक के द्वितीय पृष्ठ में ही प्रेमचन्द जी किसान जीवन की सबसे बड़ी परेशानी को स्पष्ट कर देते हैं। 'चाहे कितनी ही कतरब्योंत करो, कितना पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान बेबाक होना मुश्किल है।...उसकी छः संतानों में अब केवल तीन जिन्दा हैं, एक लड़का गोबर कोई सोलह साल का, और दो लड़किया सोना और रूपा बारह और आठ साल की। तीन लड़के बचपन ही में मर गये। उनका मन आज भी कहता था, अगर उनकी दवादारू होती तो वे बच जाते, पर वह (होरी की स्त्री धनिया) एक धेले का भी दवा नहीं कर सकी थी।' होरी समय-समय पर एक व्यर्थ आशा के वशवर्ती होकर अपने जमीन्दार रायसाहेब के यहाँ सलाम बजाने चला जाता है। यह नहीं कि इस मिलने-जुलने से होरी को कोई फायदा ही नहीं था। जिस समय वह राय साहब के घर के लिए रवाना होता था, या वहाँ से वापस आता था, उस समय 'दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देखकर राम-राम करते, और सम्मान भाव से चिलम पीने का निमंत्रण देते।' होरी के मन में एक गाय अपने दरवाजे पर बाँधने का बड़ा शौक था। इसमें भी वह एक साधारण भारतीय किसान बल्कि सब देशों के किसानों की मनोवृत्ति को अभि-व्यक्त करता है। 'गऊ से ही तो द्वार की सोभा है, सबेरे-सबेरे गऊ के दर्शन हो जायँ तो क्या कहना। न जाने कब यह साध पूरी होगी।'

जब होरी राय साहब के यहाँ जा रहा था, तो उससे उसी गाँव से मिले हुये एक छोटे गाँव के भोला नामक एक ग्वाले से भेंट हुई। होरी

के मन में गऊ बाँधने की लालसा थी, और विधुर भोला के मन में फिर से शादी करने की इच्छा थी। होरी ने इसमें कोई बुराई नहीं देखी कि भोला के विवाह कराने का वादा कर दिया जाय, और उससे एक दूध देने वाली गाय उधार में ले ली जाय। होरी उधार को एक तरह से मुफ़्त समझता था। उधार को इस प्रकार मुफ़्त समझना भी किसान जीवन की एक विशेषता है, क्योंकि यदि किसान बहुत आगे की सोचने लगे तब तो वर्तमान परिस्थितियों में जी ही न पावे। ऋण का बोझा बढ़ता जाता है, बढ़ता रहे, इस समय तो काम चलता जाता है। जब तक ऋण मिले तब तक किसान की हालत अच्छी ही है, यही है किसान जीवन की अच्छाई का मानदण्ड।

होरी ने जो भोला को बिना कुछ सोचे ही सगाई की उम्मीद दिलाई, यह छल भी peasant craftiness का एक नमूना है, जो सार्वदेशिक है, और जो किसानों की अन्तर्निहित शरारत नहीं, बल्कि उनके जीवन की ट्रेजडी को सूचित करता है। 'सगाई न भी हुई, तो होरी का क्या बिगड़ता है। यही तो होगा भोला बारबार तगादा करने आयेगा, बिगड़ेगा, गालियाँ देगा, लेकिन होरी को इसकी ज्यादा शर्म नहीं थी। इस व्यवहार का वह आदी था।...इस तरह का छल तो वह दिन रात करता था। पर यह छल उसकी नीति में छल न था। यह केवल स्वार्थ सिद्धि थी, और यह कोई बुरी बात नहीं थी। घर में दो-चार रुपये पड़े रहने पर भी महाजन के सामने कस्में खा जाता था कि एक पाई भी नहीं है। सन को कुछ गीला कर देना, और रुई में कुछ विनौले भर देना, उसकी नीति में जायज था।' फिर भोला के साथ जो छल किया जा रहा था, उसमें थोड़ा मनोरंजन भी था। 'बुड्ढों का बुढ़भस हास्यास्पद वस्तु है, और ऐसे बुड्ढों से अगर कुछ ऐंठ भी लिया जाय तो कुछ दोष नहीं है।'

होरी में केवल किसान सुलभ आत्मरक्षामूलक छल ही है, ऐसी बात नहीं है। उसमें अपार उदारता भी है। 'किसान पक्का स्वार्थी होता है, इसमें सन्देह नहीं। उसकी गाँठ से रिश्वत के पैसे बड़ी मुश्किल से निकलते हैं, भावताव में भी वह चौकस होता है, ब्याज की एक-एक पाई छुड़ाने के लिए वह महाजन की घंटों चिरौरी करता है, जब तक पक्का विश्वास न हो जाय, वह किसी के फुसलाने में नहीं आता।' जब होरी ने सुना कि भोला के यहाँ भूसा नहीं है, तो उसका मन विगलित हो गया और उसने उसे मुफ़्त में भूसा देने का वादा कर लिया। 'क्या हुआ, दस-पाँच मन भूसा चला जायेगा। बेचारे को संकट में पड़कर अपनी गाय तो बेचनी न पड़ेगी।'

राय साहब अमरपालसिंह होरी के जमीन्दार हैं। वे कांग्रेसी जमीन्दार हैं, वे न केवल एक व्यक्ति हैं, बल्कि वे अपने वर्ग के प्रतीक है। 'पिछले सत्याग्रह संग्राम में राय साहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेम्बरी छोड़ कर जेल चले गये थे। तब से उनके इलाके के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गई थी। ये नहीं कि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई खास रियायत की जाती हो, या डाँड़ और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो, मगर यह सारी बदनामी मुख्तारों के सिर जाती थी। राय साहब की कीर्ति पर कोई कलंक नहीं लग सकता था। प्रेमचन्दजी ने यहाँ पर कांग्रेसी जमीन्दारों को बड़ी अच्छी मीठी चुटकी ली है। और सुनिये,—'राय साहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेलजोल बनाये रखते थे। उनकी नजरें और डालियाँ और कर्मचारियों की दस्तूरियाँ जैसी की तैसी चली आती थीं।' उनके यहाँ अक्सर हाकिम हुक्काम निमंत्रित भी होते थे। राय साहब को इस समय पाँच-सात दिनों के अन्दर बीस हजार का प्रबन्ध करना था। उन्होंने होरी से इसके लिए कहा और साफ-साफ कहा—'हम भी दान देते हैं, धर्म करते हैं, लेकिन जानते हो क्यों? अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के

लिए। हमारा दान और धर्म कोरा अहंकार है, विशुद्ध अहंकार। हम में से किसी पर डिग्री हो जाय, कुर्की आ जाय, बकाया मालगुजारी की इल्लत में हवालात हो जाय, किसी का जवान बेटा मर जाय, किसी के घर में आग लग जाय, कोई किसी वेश्या के हाथों उल्लू बन जाय, या अपने असामियों के हाथों पिट जाय, तो उसके और सभी भाई उस पर हँसेंगे, बगले बजायेंगे मानों सारे संसार की सम्पदा मिल गई है। और मिलेंगे तो इतने प्रेम से जैसे हमारे पसीने की जगह खून बहाने को तैयार हैं। अरे, और तो और, हमारे चचेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसेरे भाई जो इसी रियासत की बदौलत मौज उड़ा रहे हैं, कविता कर रहे हैं, और जुयें खेल रहे हैं, शराबें पी रहे हैं, और ऐय्याशी कर रहे हैं, वे भी मुझसे जलते हैं, और आज मर जाऊँ तो घी के चिराग जलावें। मेरे दुःख को दुःख समझनेवाला कोई नहीं है। उनकी नजरों में मुझे दुःखी होने का कोई अधिकार ही नहीं है। मैं अगर रोता हूँ, तो दुख की हँसी उड़ाता हूँ। मैं अगर बीमार होता हूँ तो मुझे सुख होता है। मैं अगर अपना ब्याह करके अपने घर में कलह नहीं बढ़ाता तो यह मेरी नीच स्वार्थपरता है। अगर ब्याह कर लूँ तो वह विलासान्धता होगी। अगर शराब नहीं पीता तो मेरी कंजूसी है। शराब पीने लगूँ तो वह प्रजा का रक्त होगा। अगर ऐय्याशी नहीं करता तो अरसिक हूँ, ऐय्याशी करने लगूँ तो फिर कहना ही क्या है? इन लोगों ने मुझे भोगविलास में फँसाने के लिए कम चालें नहीं चलीं, और अब तक चलते जाते हैं। उनकी यही इच्छा है कि मैं अन्धा हो जाऊँ और ये लोग मुझे लूट लें, और मेरा धर्म यह है कि सब कुछ देखकर भी कुछ न देखूँ सब कुछ जानकर भी गदहा बना रहूँ।'

इस प्रकार पुस्तक के प्रारम्भ में ही भारतीय ग्राम्य समाज के दोनों स्तम्भों अर्थात् किसानों और जमींदारों के जीवन के खोखलेपन को स्पष्ट कर दिया है। हमने यह देख लिया कि किस प्रकार होरी के तीन

लड़के मामूली दवादारू के अभाव के कारण मर गये, किन्तु राय साहब अपने मुँह से अपने वर्ग के सम्बन्ध में क्या कहते हैं, यह द्रष्टव्य है—'वह बड़ा आदमी ही क्या जिसे कोई छोटा रोग हो। मामूली ज्वर भी आ जाय तो हमें सरसाम की दवा दी जाती है, मामूली फुंसी भी निकल आये तो वह जहरवाद बन जाती है। अब छोटे सर्जन और बड़े सर्जन तार से बुलाये जा रहे हैं, मसीहुल मुल्क को लाने के लिए दिल्ली आदमी जा रहा है, और भिषगाचार्य को लाने के लिए कलकत्ता। उधर देवालय में दुर्गापाठ हो रहा है, और ज्योतिषाचार्य कुण्डली का विचार कर रहे हैं, और तंत्र के आचार्य अपने अनुष्ठान में लगे हुये हैं......।'

ये जमींदार अपने किसानों के लिए तो शेर हैं, किन्तु राय साहब की स्वीकारोक्ति के अनुसार वह तो संसार का सबसे अभागा प्राणी है। साहब शिकार खेलने आये या दौरे पर, मेरा कर्त्तव्य है कि उनकी दुम के पीछे लगा रहूँ। उनकी भौंहों पर शिकन पड़ी, और हमारे प्राण सूखे......पिछलगुओं की खुशामदों ने हमें इतना अभिमानी और तुनुकमिजाज बना दिया है कि हममें शील और विनय और सेवा का लोप हो गया है।' राय साहब भी यह महसूस करते हैं कि लक्षण कह रहे हैं कि बहुत जल्दी उनके वर्ग की हस्ती मिट जाने वाली है।

होरी का लड़का गोबर नई पीढ़ी का है, वह यह नहीं समझ पाता कि उसका बाप अपना खेती करता है, लगान देता है, फिर क्यों बड़े आदमियों की हाँ में हाँ मिलाने [नियमपूर्वक पहुँचा रहता है। इस पर होरी उसे बताता है 'जब सिर पर पड़ेगी तब मालूम होगा बेटा, अभी जो चाहे कह लो। पहले मैं भी यही सब बातें सोचा करता था, किन्तु अब मालूम हुआ कि हमारी गर्दन दूसरों के पैरों के नीचे दबी हुई है, अकड़कर निबाह नहीं हो सकता।' यह है किसान जीवन की वास्त-

बिकता। किसान को चूसनेवाला केवल जमींदार ही हो, ऐसी बात नहीं है। साहूकार भी उसके खून का प्यासा रहता है। 'हमारा जनम इसीलिए हुआ है कि अपना रक्त बहायें, और बड़ों का घर भरें। मूल का दुगुना सूद भर चुका, पर मूल ज्यों का त्यों सिर पर सवार है। लोग कहते हैं सादी-गमी में, तीरथ-बरत में, हाथ बाँध कर खरच करो। मुदा रास्ता कोई नहीं दिखाता है।'

इसी पुस्तक में आगे चलकर प्रेमचन्दजी साहूकार किसान को किस भाँति चूसता है, इसका एक अच्छा चित्र देते हैं—

मगरू ने शोभा को बहुत बुरा-भला कहा—जमा मार, बेईमान आदि। लेने की बेर तो दुम हिलाते हो, जब देने की बारी आती है, तो गुर्राते हो। घर बिकवा लूँगा, बैल बधिये नीलाम करवा लूँगा।

शोभा ने फिर छेड़ा—अच्छा, ईमान से बताओ शाह कितने रुपये दिये थे जिसके अब तीन सौ रुपये हो गये हैं ?

'जब तुम साल के साल सूद न दोगे तो आप ही बढ़ेंगे।'

'पहले-पहल कितने रुपये दिये थे तुमने ? पचास ही तो।'

'कितने दिन हुये, यह भी तो देख।'

'पाँच-छः साल हुये होंगे।'

'दस साल हो गये पूरे, ग्यारहवाँ जा रहा है।'

'पचास रुपये के तीन सौ रुपये लेते तुम्हें जरा भी शर्म नहीं आती ?'

'शरम कैसी, रुपये दिये हैं कि खैरात माँगते हैं।'

अन्यत्र एक किसान यह कह रहा है—'बड़ा अच्छा हुआ काका, बेबाकी हो गई, बीस लिये थे, इसके १६० भरे, कुछ हद है।'

किसान स्वयं शोषित है, किन्तु एक जगह पर अर्थात् स्त्री के प्रश्न पर वह भी अजीब शोषक का रूप धारण करता है। होरी को एक किसान कह रहा है—'बड़ी नाकिस जात है, महतो, किसी की नहीं

होती......औरत को भगवान सब कुछ दें, रूप न दें, नहीं तो वह काबू में नहीं रहती।' पुरुष-प्रधान समाज के लिए इस प्रकार की धारणायें आश्चर्यजनक नहीं हैं।

अन्त में भोला ने होरी को एक गाय उधार पर दे दिया। होरी श्रद्धाविह्वल नेत्रों से गाय को देख रहा था, मानों साक्षात देवी ने घर में पदार्पण किया हो। 'आज भगवान ने यह दिन दिखाया कि उसका घर गऊ के चरणों से पवित्र हो गया। यह सौभाग्य! न जाने किसके पुण्यप्रताप से।' किसान की कितनी छोटी उच्चाकांक्षा है, किन्तु फिर भी वह पूर्ण नहीं होती। गाय आने की बात गाँव में फैल गई। सारा गाँव गाय देखने आया। नहीं आये तो शोभा और हीरा जो होरी के सगे भाई थे, और अब उससे न केवल अलग ही रहते थे, बल्कि एक तरह से बोलचाल तक बन्द थी। होरी चाहता था कि वे एक बार आकर गाय को देख लेते, और प्रसन्न हो जाते, तो उसकी मनोकामना पूरी होती। होरी ने चुपके से अपनी छोटी लड़की रूपा को भाइयों के यहाँ भेजकर बुलाना चाहा, किन्तु धनिया ने देख लिया, और वह बिगड़-कर बोली कि—'बड़ा परेम है तो आप क्यों नहीं जाते? अभी पेट नहीं भरा जान पड़ता है।' होरी को अपने भाइयों से सचमुच अभी तक बड़ा प्रेम था, किन्तु स्मरण रहे इसी होरी ने पाँच रुपये के लिए भाइयों को धोखा देना चाहा था। इस घटना का संक्षिप्त सार यह है कि होरी ने शामिलात के बाँस को देखने में पन्द्रह रुपये में और असल में बीस रुपये में एक बसोरे के हाथ बेचा। ये बाँस पन्द्रह रुपये में बहुत सस्ते थे। इसलिए जब होरी के भाई हीरा की स्त्री पुन्नी को यह ज्ञात हुआ कि ये बाँस पन्द्रह रुपये में कट रहे हैं तो उसने लपक कर बसोरे के हाथ पकड़ लिये, और उसे बाँस काटने से रोकने लगी। चौधरी हाथ छुड़ाता था, और पुन्नी बार-बार पकड़ लेती थी। एक मिनट तक यही हाथापाई होती रही। अन्त में चौधरी ने उसे जोर से पीछे ढकेल

दिया। पुत्री धक्का खाकर गिर पड़ी, मगर फिर सम्हली, और पाँव से तल्ली निकालकर चौधरी के सिर मुँह पीठ पर अन्धा-धुन्ध जमाने लगी। इतने में होरी दौड़ा हुआ आया, उसने समझा चौधरी ने पुनिया को मारा है। होरी के खून ने जोश मारा, और अलगौझे की ऊँची बाँध को तोड़ते हुये उसने चौधरी को एक लात जमा दी। अन्त में हीरा के आ जाने से झगड़ा खतम हो गया। बाँस काट कर जाते समय चौधरी ने साढ़े सात रुपये होरी को दिये। होरी यह उम्मीद करता था कि उसे वे जायद रुपये भी मिलेंगे, किन्तु चौधरी ने कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थीं, अब उसे किसका डर था। होरी के मुँह में तो ताला पड़ा हुआ था। होरी क्या करता माथा ठोककर रह गया, और कहा—यह अच्छी बात नहीं है चौधरी, दो रुपये दबाकर राजा न हो जाओगे।

चौधरी ने इस पर तीक्ष्ण स्वर में कहा—'और तुम क्या भाइयों के थोड़े से पैसे दबाकर राजा हो जाओगे? ढाई रुपये पर अपने ईमान बिगाड़ रहे थे, उस पर मुझे उपदेश देते हो, अभी पर्दा खोल दूँ तो सिर नीचा हो जाय।' अब होरी इस पर क्या कहता चुप हो गया।

इतना होने पर भी होरी यह चाहता था कि उसके भाई आकर उसकी गाय को देख जायँ। जब वह रूपा को भेजने में असमर्थ रहा तो वह खुद हीरा के घर चला, किन्तु वहाँ पहुँचने के पहले ही उसने दोनों भाइयों को आपस में बात करते सुना, जिसका सारांश यह था कि हीरा कह रहा था कि पहले की कमाई से ही यह गाय आई है, अर्थात् होरी ने अपने भाइयों से छिपाकर जो रुपये रख लिये थे, उन्हीं से यह गाय ली गई है। केवल यही नहीं उसने एक भाई को यह भी कहते सुना कि 'बेइमानी का धन जैसे आता है, वैसे ही जाता है। भगवान चाहेंगे तो बहुत दिन गाय घर में न रहेगी।' होरी उल्टे पाँव लौट आया, और उस पर इस बातचीत के सुनने का यह असर हुआ कि गाय

को जहाँ का तहाँ लौटा दें, किन्तु धनिया बीच में पड़ी, और गाय लौटाई न जा सकी। यही नहीं धनिया लड़ने के लिए हीरा के यहाँ पहुँच गई कि क्यों वह ऐसा समझता है कि गाय धोखे से प्राप्त रुपये से खरीदी गई। बड़ी मुश्किलों से झगड़ा खतम हुआ।

गाय लेने के लिए गोबर भी भोला के यहाँ गया था। इस लेन-देन के दौरान में भोला की विधवा लड़की झुनिया से उसकी जान-पहचान हो गई। यहाँ से जो प्रेम का सूत्रपात हुआ, वह बढ़ता ही गया, किन्तु समाज बीच में बाधक था। प्रेम ने गुप्त प्रणय का मार्ग ग्रहण किया।

एक दिन भीतर बहुत उमस हो रही थी, हवा बन्द थी। एक पत्ती भी न हिलती थी। होरी ने गाय को बाहर बाँध दिया था। इन दिनों शोभा बीमार थी, होरी उसे देखने गया था। जिस समय वह रात ग्यारह बजे घर लौट रहा था, उस समय उसने देखा कि गाय के पास कोई आदमी खड़ा है। पूछा—'कौन है वहाँ खड़ा ?' हीरा बोला—'मैं हूँ दादा, तुम्हारे कौड़े में आग लेने आया था।' होरी जैसे कृतकृत्य हो गया। दोनों ने साथ चिलम पी, हीरा अपने घर गया, होरी अन्दर भोजन करने गया। धनिया होरी से शिकायत करने लगी कि गोबर के रंग-ढंग अच्छे नहीं हैं, वह झुनिया से फँसा ज्ञात होता है। इतने में गोबर ने आकर घबड़ाई हुई आवाज में कहा—'दादा सुन्दरिया (गाय) को क्या हो गया ? थाली छोड़कर होरी निकल आया। तीनों बाहर गये, चिराग लेकर देखा, सुन्दरिया के मुँह से फिचकुर निकल रहा था। गाँव के पशु चिकित्सक पंडित दातादीन बुलाये गये। गाय को किसी ने कुछ खिला दिया, लक्षण स्पष्ट थे। साफ विष दिया गया था। आधीरात तक होरी के दरवाजे जमघट रहा। गोबर और दोनों लड़कियाँ रो-धोकर सो गईं। हीरा कभी होरी के कौड़े में आग लेने नहीं आता था, स्पष्ट ही पकड़ जाने पर उसने यह बहाना किया था। उसने इस बात को गाँव वालों से छिपाया, किन्तु धनिया से यह वादा कराकर कह दिया कि वह

किसी भी हालत में इस बात को किसी से न कहेगी। किन्तु धनिया के पेट में यह बात नहीं पची, उसे बहुत जबर्दस्त क्रोध आया। उसने इसका हल्ला सारे गाँव में कर दिया। कई तरह से हीरा के अपराध के बात की तशदीक भी हो गई। शोभा आठ दिन से शय्यागति था, किन्तु उसने यह बतलाया कि 'कल शाम को हीरा मेरे घर खुरपी माँगने गया था, कहता था, एक जड़ी खोदना है।'

खबर थाने तक पहुँची। ऐसे ही मौकों पर तो पुलिस की बन आती है। हमारे ग्राम्य-जीवन का एक बहुत बड़ा उपादान पुलिस के साथ सम्बन्ध तथा पुलिस है। दारोगा ने आकर होरी से पूछा कि उसे किसी पर शुबहा है, होरी ने कहा नहीं, गाय अपनी मौत से मरी होगी। धनिया पीछे खड़ी थी, उसने कच्चा चिट्ठा खोल दिया। अब तो दारोगा-जी का बन आया। उसने फौरन यह कहा कि हीरा के घर की तलाशी ली जाय। हीरा लापता था। होरी सब कुछ जानते हुए भी कि हीरा ने ही गाय को जहर देकर मार डाला है, यह समझता था कि जैसे हीरा के घर की तलाशी हुई, वैसे उसकी हुई। 'उसके पास रुपये होते तो इसी वक्त पचास रुपये लाकर दारोगाजी के चरणों पर रख देता। होरी की इस कमजोरी का फायदा उठाने के लिए गाँव के बुजुर्गों में काना-फूसी होने लगी। तीस पर मामला तय हुआ। बीस रुपये दारोगाजी के और दस गाँव के पटवारी आदि को। यह तय हुआ कि होरी आज ही कागद लिख देगा, इस वादे पर उसे तीस रुपये मिले। होरी ने रुपये लिये, और अँगोछे के कोर में बाँधे प्रसन्न मुख आकर दारोगाजी की ओर चला।

सहसा धनिया झपटकर आगे आ गई, और उसने एक झटके से सारे रुपये बिखरा दिये। नागिन की तरह फुफकारकर वह बोली—'......ऐसी बड़ी है तेरी इज्जत, जिसके घर में चूहे लोटें वह भी इज्जत वाला है! दारोगा तलाशी ही तो लेगा। ले ले जहाँ चाहे तलाशी।

एक तो सौ रुपये की गाय गई, उस पर यह पलेथन ! वाह री तेरी इज्जत ।

दारोगाजी इतनी जल्दी हार मानने वाले न थे । वे बोले—'ऐसा मालूम होता है कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फँसाने के लिए खुद गाय को जहर दे दिया ।' धनिया इस पर घबड़ाई नहीं, बल्कि हथकड़ियाँ पहनने को तैयार हो गई, और दारोगाजी से बोली—'देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारे अकल की दौड़ । गरीबों का गला काटना दूसरी बात है ।' दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात ।' इस पर होरी उस पर लपका, किन्तु गोबर बीच में पड़ा । धनिया भी तेज होकर बोली कि घर में तलाशी होने से इसकी इज्जत जाती है, किन्तु अपनी मेहरिया को सारे गाँव के सामने लतियाने से इसकी इज्जत नहीं जाती । धनिया ने यह कितनी अच्छी बात कही । लगे हाथों हम यह देख लें कि किस प्रकार हमारे समाज का स्त्रियों के सम्बन्ध में आजीब दृष्टिकोण सामने आता है ।

धनिया ने दारोगाजी के सामने चीजों को और भी साफ किया—'... ...हम बाकी चुकाने को पचीस रुपया माँगते थे, किसी ने न दिया । आज अँजुली भर रुपये ठनाठन निकाल कर दिये । मैं सब जानती हूँ । यहाँ तो बाटबखरा होने वाला था । सभी के मुँह मीठे होते । ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं गरीबों का खून चूसने वाले । सूद ब्याज, डेढ़ी, सवाई-नजर-नजराना, घूस-घास जैसे भी हो, गरीबों को लूटो । नतीजा यह है कि नेताओं के मुँह में कालिख-सी लग गई, दारोगाजी के मुँह पर झाड़ू-सा फिर गया । दारोगाजी लौट गये, किन्तु उन्हें तो रुपये चाहिये ही थे । उन्होंने कहा कि जब रुपये वसूल नहीं हुये तो गाँव के मुखिया उसे भरें, और पन्द्रह की जगह पचास भरें । पहले तो गाँव के नेताओं ने समझा यह दिल्लगी है, किन्तु जल्दी ही दारोगाजी ने मामला साफ कर दिया कि वे दिल्लगी नहीं कर रहे हैं । तब इनको रुपया मारन

पड़ा। अभी जो लोग स्वयं लूट के माल में हिस्सा बटाने को तैयार थे, उनमें से कोई तो सराप देने लगा, किसी ने कहा ऐसा धन कभी फलते नहीं देखा, किसी ने कहा हराम की कमाई हराम में जायगी। इस प्रकार जब दमन का चक्र इन पर घूमा तो ये रोने लगे, और ईश्वर तथा परलोक की बातें कहने लगे। यों तो हम बाद को होरी के चरित्र का विश्लेषण करेंगे, किन्तु यहाँ यह बता दिया जाय कि यह जो प्रेमचन्द-जी ने होरी को इतना बड़ा स्नेही भ्राता या आदर्शवादी बना दिया है कि उसकी गाय को जहर देकर मारने वाले भाई की 'इज्जत' को बचाने के लिए वह एक बड़ी रकम (उसके लिए बड़ी) ऋण लेने के लिए तैयार हो जाता है, अपराध को छिपाता ही नहीं, बल्कि उस पर मुलम्मा चढ़ाकर भाई की रक्षा करता है, । यहाँ तक कि इस रहस्य को न छिपाने के कारण दारोगा के सामने स्त्री को मारने के लिए तैयार हो जाता है। यहीं पर प्रेमचन्दजी वस्तुवाद से हटकर आदर्शवादी रूप में सामने आते हैं, और इस जगह पर यह कहना कुछ सही-सा ज्ञात होता है कि होरी प्रेमचन्दजी का ही एक रूप मात्र है।

हीरा लापता हो गया। होरी ही उसके खेत पर खेती करता। वह अपने खेतों में धान न रोप सका, किन्तु उसने हीरा की बीबी पुनिया के खेत में रात-रात तक काम करके धान रोपे। होरी की इस प्रकार की उदारता के कारण उसकी स्त्री धनिया तथा उसके पुत्र गोबर ने उसका बायकाट-सा कर दिया। इस बीच में होरी बीमार पड़ा, और इस बीमारी के कारण फिर पति-पत्नी में मेल हो गया। एक दिन धनिया ने होरी से बताया कि गोबर ने सबके मुँह में कालिख लगा दी। बात यह है गोबर बार-बार अहिराने जाता था, और झुनिया को गर्भ रह गया था। जब गर्भ अधिक दिन का हो गया, तब झुनिया आकर होरी के यहाँ खड़ी हो गई। धनिया ने होरी को जब मुनिया के आने की खबर दी तो वह बहुत बिगड़ा और कहने लगा कि बात की बात में झुनिया को निकाल बाहर करूँगा,

किन्तु जब वह उस लड़की के सामने पहुँचा, तो उस लड़की ने ज्योंही यह कहा कि—'दादा; अब तुम्हारे सिवाय मुझे दूसरा ठौर नहीं है, मुझे दुरदुराओ मत, त्योंही होरी का दिल पसीज गया, और उसने उसे अभय-दान दे दिया।

झुनिया तो इस प्रकार होरी के यहाँ आकर रहने लगी, किन्तु गोबर लापता हो गया। इस प्रकार बिना शादी के झुनिया को आश्रय देने के कारण गाँव का समाज होरी पर बहुत रुष्ट हुआ, किन्तु धनिया की उग्रमूर्ति से घबड़ाकर चुप रहता था, किन्तु कब तक? अन्त में पंचायत हुई, और पंचो ने यह तय किया कि होरी पर सौ रुपये तवान लगा दिया जाय। धनिया किसी प्रकार इस जुर्माने को अदा करने को तैयार न थी, किन्तु होरी ने सब अनाज उठाकर दे दिया।

ओंकारनाथ 'दैनिक बिजली' के सम्पादक थे। एक गुमनाम पत्र से उनको यह ज्ञात हुआ कि रायसाहब ने अपने इलाके के एक असामी से अस्सी रुपये तावान इसलिए वसूल किये कि उसके पुत्र ने एक विधवा को घर में डाल लिया था, इस पर ओंकारनाथ ने रायसाहब को यह लिख-कर भेज दिया कि इस आशय की सूचना उनके पास प्रकाशनार्थ आई है, वे कृपया सूचना दें कि कहाँ तक यह बात सही है। रायसाहब ने जो यह पत्र पढ़ा, तो वे फौरन मोटर पर सम्पादक के पास पहुँचे। पहले तो रायसाहब अकड़े, और उन्होंने कहा—आखिर मैं आपके पत्र का पँच-गुना चन्दा क्यों देता हूँ, केवल इसलिए कि वह मेरा गुलाम बना रहे। मुझे परमात्मा ने रईस बनाया है। आपके बनाने से नहीं बना हूँ। साधारण चन्दा पन्द्रह रुपया है, ७५) रुपया देता हूँ, इसलिए कि आपका मुँह बन्द रहे......हर मौके पर आपकी कुछ न कुछ मदद करता हूँ। दीपावली, दशहरा, होली में आपके यहाँ बैना भेजता हूँ, और साल में पचीस बार आपकी दावत करता हूँ किस लिए? आप रिश्वत और कर्त्तव्य दोनों साथ-साथ नहीं निभा सकते।

ओंकारनाथ उत्तेजित होकर बोले—मैंने कभी रिश्वत नहीं ली।

रायसाहब ने फटकारा—अगर यह व्यवहार रिश्वत नहीं है, तो रिश्वत क्या है ?.....क्या आप समझते हैं कि आपको छोड़कर और सभी गदहे हैं, जो निस्वार्थ भाव से आपका घाटा पूरा करते हैं ? निकालिये अपनी बही और बतलाइये, अब तक आपको मेरी रियासत से कितना मिल चुका है । मुझे विश्वास है हजारों की रकम निकलेगी । अगर आपको स्वदेशी चिल्लाकर विदेशी दवाओं और वस्तुओं को विज्ञापन छापते शर्म नहीं आती, तो मैं क्यों अपने असामियों से डाँड़ और तावान और जुर्माना लेते शर्माऊँ......आपके पास जमीन नहीं, जायदाद नहीं, मर्यादा का झमेला नहीं, आप निर्भीक हो सकते हैं, लेकिन आप भी दुम दबाये बैठे रहते हैं । आपको कुछ खबर है अदालतों में कितनी रिश्वतें चल रही हैं, कितने गरीबों का खून हो रहा है, कितनी देवियाँ भ्रष्ट हो रही हैं । है बूता लिखने का ? सामग्री मैं देता हूँ, प्रमाण सहित ।

इस पर ओंकारनाथ कुछ नरम हुये, और फिर रायसाहब भी नरम पड़े । अन्त में रायसाहब ने यह प्रस्ताव रखा कि उनके खर्चे से सौ आदमियों के नाम फ्री पत्र जारी किये जायँ । इस प्रकार सम्पादकजी को पन्द्रह सौ रुपये मिल गये ।

तावान आदि अदाकर होरी की हालत नाजुक हो गई । प्रेमचन्दजी ने यह दिखलाया है कि होरी वर्तमान समय में मौजूद शोषक-पद्धति के कारण—अर्थात् जमींदार, साहूकार, तथा गाँव के सनातन रूढ़िवादी समाज के कारण—ही नहीं पिसा, बल्कि वह एक बड़ी हद तक अपने आदर्शवाद, करुणा तथा भलमनसाहत के कारण पिस गया । इस प्रकार एक तरफ प्रेमचन्दजी ने यह तो दिखला दिया कि वर्तमान समाज-पद्धति में ईमानदार, सच्चा तथा आदर्शवादी होने में नुकसान ही है (अवश्य ही प्रेमचन्द्रजी का मन्शा, यह दिखाना हर्गिज न रहा होगा, क्योंकि वे यह मानते थे कि हर हालत में ईमानदारी अच्छी है,

किन्तु एक वस्तुवादी कलाकार के नाते वे यहाँ पर अपने सुचिन्तित विचारों के विरुद्ध चित्रण कर गये, इससे उनके आदर्शवाद पर भले ही बट्टा लगा हो, किन्तु उनकी कला में चार चाँद लग गये)। दूसरी तरफ इस चित्रण से वर्तमान पद्धति की शोषकता उतनी स्पष्ट न हो पाई, क्योंकि कई बार होरी के विषय में पढ़ते-पढ़ते यह विचार बिना आये नहीं रहता कि यदि होरी औसत दर्जे का ईमानदार व्यक्ति होता, तो शायद समाज की मार उस पर इतनी न पड़ती।

होरी की बातचीत से भी यही बात ज्ञात होता है। होरी समझता है कि उसके दुर्भाग्य के लिए दैवदुर्विपाक ही जिम्मेदार है, वह समाज की शोषकता को महसूस नहीं कर पाता। होरी का यह चित्रण उचित ही है, क्योंकि अभी भारत का किसान यह नहीं समझ पाया था कि क्यों वह दुखी है। जब होरी सर्वहारा हो गया, उस समय उसके सामने मजूरी ही एक मात्र मार्ग रह गया। उस समय वह कहता है—मजूरी करना कोई पाप नहीं है। मजूर बन जाय तो किसान हो जाता है। किसान बिगड़ जाय तो मजूर हो जाता है। मजूरी करना भाग्य में न होता तो यह सब विपत क्यों आती? क्यों गाय मरती? क्यों लड़का नालायक निकल जाता?

अधिक ब्यौरे में जाना सम्भव नहीं, किन्तु गोदान में प्रेमचन्दजी स्त्री स्वाधीनता की समस्या पर कहीं-कहीं बहुत सुन्दर मन्तव्य कर जाते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वे यह समझते थे कि स्त्रियों की पराधीनता का कारण पुरुषों पर रोटी के लिए उनका आश्रित होना है। मिल मालिक खन्ना मालती नामक एक बहुत ही आधुनिक स्त्री पर आशिक हैं, उनका अपनी पत्नी के साथ व्यवहार अच्छा नहीं है। यहाँ तक कि वह पत्नी एक दिन इब्सन की नोरा की तरह घर छोड़कर जाने पर तैयार हो गई। वह कहती है—दस-बीस रुपये कमा लेना ऐसा क्या मुश्किल है। अपने पसीने की कमाई तो खाऊँगी। फिर तो मुझ

पर कोई रोब नहीं जमायेगा। ये महाशय इसीलिए तो इतना मिजाज करते हैं कि वह मेरा पालन करते हैं, अब मैं खुद अपना पालन करूँगी।

जब झुनिया होरी के घर आई थी तो उसी के साथ गोबर भी घर आ रहा था, किन्तु बीच रास्ते में कुछ डर से और कुछ शर्म से वह फरार हो गया, और शहर में जाकर रहने लगा। उसने पहले महीने तो मजदूरी की, और आध पेट खाकर थोड़े से पैसे जमा कर लिये, फिर वह कचालू, मटर और दही बड़े के खोंचे लगाने लगा। उसने अंग्रेजी फैशन के बाल कटवा लिया, महीन धोती और पम्प शू पहन लिया, पान सिगरेट का भी शौकीन हो गया। थोड़े दिनों बाद उसने यह सोचा कि घर लौट चला जाय, और वहाँ से अपनी स्त्री को ले आकर आराम से रहा जाय। इस बीच में होरी मजूर हो चुका था। प्रेमचन्दजी ने यह भले ही दिखलाया हो कि होरी बहुत कुछ अपने आदर्शवाद के कारण एक किसान से खेतिहर मजूर हो गया, किन्तु फिर भी उसका जीवन इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार आसानी के साथ निम्नमध्यवित्तश्रेणी का व्यक्ति सर्वहारा श्रेणी में जाकर गिर पड़ता है। मजदूर अवस्था में भी होरी आदर्शवादी है, वह काम से जी नहीं चुराता। वह उन्मत्तों की भाँति सिर से ऊपर गड़ासा उठा-उठाकर ऊख के टुकड़ों के ढेर करता जाता था...सिर में फिरकी-सी चल रही थी, फिर भी उसके हाथ यंत्र की गति से बिना थके, बिना रुके उठ रहे थे। उसकी देह से पसीने की धार निकल रही थी, मुँह से पिचकुर छूट रहा था, और सिर में धम-धम का शब्द हो रहा था, उस पर जैसे कोई भूत सवार हो गया हो। सहसा उसकी आँखों में निविड़ अन्धकार छा गया, गड़ासा हाथ से छूट गया, और वह औंधे मुँह जमीन पर पड़ गया।

जब इस प्रकार दिन गुजर रहे थे तो गोबर शहरी ठाठ-बाट के

साथ घर पहुँचा। गोबर ने जब सब हाल सुना तो वह समझ न पाया कि कैसे बाकी रुपये के कारण घर के बैल खोल लिये गये, कैसे पंचायत हुई, डाँड़ लगे, इत्यादि। उसने अपने बच्चे को भी देखा। गोबर के सामने भी एक घटना हुई जो उसे बहुत नापसन्द आई। दातादीन नामक एक ब्राह्मण से आठ-नौ साल हुये होरी ने तीस रुपये उधार लिये थे। अब दातादीन ने जो गोबर को देखा तो वसूल करने पर तैयार हो गया। गोबर ने जमीन पर ठीकरे पर हिसाब लगाकर कहा—'दस साल में छत्तीस रुपये होते हैं, असल मिला कर छाछठ। उसके सत्तर रुपये ले लो। इससे बेसी एक कौड़ी भी न दूँगा।' दातादीन के हिसाब से रुपये दो सौ होते थे। गोबर इस बात को मानने पर तैयार न था, और कहा अदालत जाओ। तब दातादीन यह कहकर चले जाने पर तैयार हुये कि यदि वह ब्राह्मण है तो अपने पूरे दो सौ रुपये लेकर दिखा देगा, और होरी उसके द्वार पर हाथ बाँध कर आयेगा, और हाथ बाँध कर रुपये देगा।

अब यहाँ पर फिर होरी का आदर्शवाद सामने आता है। यहाँ धर्म रूप में यह आदर्शवाद विशेषकर जोर पकड़ता है। होरी के पेट में धर्म की क्रान्ति मच गई। यदि ठाकुर या बनिये के रुपये होते तो उसे ज्यादा चिन्ता न होती, लेकिन ब्राह्मण के रुपये! उसकी एक पाई भी दब गई तो हड्डी तोड़कर निकलेगी। इस प्रकार होरी धर्म के कारण शोषण का पात्र होने पर तैयार हो जाता है। इस स्थान पर प्रेमचन्दजी ने बहुत ही वास्तविक चित्रण कर यह दिखला दिया कि धर्म किस प्रकार शोषण के हथियार के रूप में सिद्ध होता है।

इसी रुपये को भरने के सम्बन्ध में गोबर और होरी में मनमुटाव हो जाता है। वह अन्त में यह कहकर पिता के सामने से अलग हो गया कि—'मेरा गदहापन था कि तुम्हारे बीच में बोला, तुमने खाया है तुम भरो। मैं क्यों अपनी जान दूँ।' उसने जाकर अपनी स्त्री से कहा—'मैं

क्यों उनकी खोदी हुई खन्दक में गिरूं, इन्होंने मुझसे पूछकर कर्ज नहीं लिया, न मेरे लिये लिया, मैं उसका देनदार नहीं हूँ। गाँव के नेताओं ने यह षड़यन्त्र किया कि गोबर को काबू में लाने के लिए होरी को और फँसाया जाय। तदनुसार उन्होंने होरी को बुलाया। जब होरी घर लौटा तो गोबर ने पूछा कि किस मतलब से कारिन्दा उसे लेने आया था।

होरी ने भरांई हुई आवाज में कहा—मैंने पाई-पाई लगान चुका दिया। वह कहते हैं तुम्हारे ऊपर दो साल की बाकी है......।

गोबर ने पूछा—तुम्हारे पास रसीद तो होगी !

'रसीद कहाँ देता है !'

'तो तुम बिना रसीद लिये रुपये देते ही क्यों हो।'

गोबर उसी समय नोखेराम की चौपाल पर गया, और उससे मनवा लिया कि लगान चुकता हो गया है, किन्तु इन बातों से उसका जी गाँव से इतना ऊब गया कि वह फिर शहर जाने के लिए तैयार हो गया। उसने होरी को इतना लथाड़ा कि बेचारा स्वार्थभिरु बूढ़ा रुआंसा हो गया। बात बढ़ते-बढ़ते बढ़ गई, बीच में धनिया पड़ी। उसने माँ को यहाँ तक कह दिया—जब तक बच्चा था दूध पिला दिया, फिर लावारिस की तरह छोड़ दिया। जो सबने खाया वही मैंने खाया। मेरी जिन्दगी तुम्हारा देना भरने के लिए नहीं है। मेरे भी तो बाल-बच्चे हैं।

प्रेमचन्दजी यहाँ दिखलाते हैं धनिया सन्नाटे में आ गई, उसके जीवन का मृदु स्वप्न जैसे टूट गया। फिर भी उसने बेटे को दोषी न समझकर पतोहू पर सारा दोष मन ही मन मढ़ दिया। वहीं बैठे-बैठे वह इसे मन्तर पढ़ा रही है। यहाँ शौक सिंगार करने को नहीं मिलता, घर का कुछ न कुछ काम करना ही पड़ता है। वहाँ रुपये पैसे हाथ में आवेंगे, मजे से चिकना खायेगी, चिकना पहनेगी, और टाँग फैलाकर सोयेगी......इत्यादि। धनिया ने ऐसा कहा भी। नतीजा यह हुआ कि पतोहू के साथ भी झगड़ा शुरू हो गया। देखते ही देखते बिस्तर बँध

गया। चलते समय होरी ने आर्द्र कण्ठ से कहा—बेटा तुमसे कुछ कहने का मुंह तो नहीं है, किन्तु कलेजा नहीं मानता, क्या जरा जाकर अपनी अभागिनी माता के पाँव छू लोगे, तो कुछ बुरा होगा ! जिस माता की कोख से जन्म लिया, और जिसका रक्त पीकर पले हो, उसके साथ इतना भी नहीं कर सकते ?

गोबर ने मुँह फेरकर कहा—मैं उसे अपनी माता नहीं समझता।

होरी ने आखों में आँसू लाकर कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। जहाँ रहो सुखी रहो।

झुनिया ने सास के पास जाकर उसके चरण को आंचल से छुआ। धनिया के मुँह से आसीस का एक शब्द तक न निकला। उसने आँख उठाकर देखा तक नहीं। इस प्रकार यह ट्रेजडी सम्पूर्ण हो गई। गोबर शहर में चला गया।

राय साहब की कन्या के विवाह की बातचीत चल रही है, साथ ही साथ राय साहब एलेक्शन भी लड़ने जा रहे हैं। एलेक्शन लड़ने में किस प्रकार केवल झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त करने का उद्देश्य होता है, न कि जनता की सेवा, इसे प्रेमचन्दजी ने बहुत अच्छी तरह दिखलाया है। एलेक्शन में क्या-क्या दाँव-पेच होते हैं, किस प्रकार वोट खरीदे जाते हैं, किस प्रकार निर्वाचन के लिए खड़ा व्यक्ति अपने मुकाबिले में खड़े व्यक्ति से रुपये लेकर एलेक्शन से अलग होकर बैठ जाता है, इन सब बातों की झलक इस वर्णन में है। राय साहब के खिलाफ अब की बार एक राजा खड़े हैं जो डंके की चोट से एलान कर रहे थे कि चाहे हर एक वोटर को एक-एक हजार ही क्यों न देना पड़े, पचास लाख की रियासत मिट्टी में मिल जाय, मगर वे राय अमरपालसिंह को कौंसिल में जाने न देंगे। इस अवसर पर मिस्टर तन्खा नामक एक व्यक्ति एलेक्शन के दाँव पेच विशेषज्ञ के रूप में सामने आता है। इस सिलसिले में मालती नाम की एक बहुत ही पढ़ी-लिखी और चालाक

स्त्री भी इन लोगों के बीच में आती है। उसमें बहुत से गुण हैं। सबसे बड़ा गुण या अवगुण यह है कि वह लोगों को उल्लू बनाना खूब जानती है। वह स्त्री आन्दोलन की नेत्री है, इस प्रकार यह कहानी जटिल रूप धारण करती है, और जिसे शहर का High society या उच्च समाज कहा जाता है, उसका हमें पूरा दिग्दर्शन होता है।

होरी को अक्सर आदर्शवादी दिखाने की चेष्टा करते हुये भी प्रेमचन्दजी अपनी वस्तुवादी कला की अनिकार्यता के कारण कई बार उसमें एक मामूली किसान के दुर्गुण भी दिखला जाते हैं। हम देख सकते हैं कि कैसे कुछ थोड़े से रुपये के लिए उसने बाँस के मामले में अपने भाइयों को धोखा देने की कोशिश की थी। इसी प्रकार हम यह देखते हैं कि यों तो होरी का यौन चरित्र बड़ा अच्छा है, किन्तु वह गाँव की दुलारी साहुवाइन से दो-चार दिल्लगी कर लेना बुरा नहीं समझता है। साहुवाइन गुलाबी साड़ी आदि पहनकर एक दिन जा रही थी तो होरी ने उससे कहा—आज तो भाभी तुम सचमुच जवान लगती हो। साहुवाइन ने बात को टाला, किन्तु होरी ने फिर कहा—तुम अभी बुढ़िया कैसे हो गई भाभी? मुझे तो अब भी······।

'अच्छा चुप भी रहना, नहीं डेढ़ सौ गाली दूँगी।'

साहुवाइन के पास होरी कर्जदार भी था।

बाद को चलकर उसी दुलारी से अपनी बड़ी लड़की सोना की सगाई के लिए होरी दो सौ रुपये कर्ज लेना चाहता है। कर्ज का वादा करते समय दुलारी और होरी में जो बातचीत होती है, वह भी ग्राम समाज का वस्तुवादी चित्रण है। दुलारी ने कटाक्ष करके कहा—तुम तो मेहरिया के जैसे गुलाम हो गये।

'तुमने पूछा ही नहीं तो क्या करता!'

'मेरी गुलामी करने को कहते, तो मैंने लिखा लिया होता, सच।'

'तो अबसे क्या बिगड़ा है, लिखा लो न। दो सौ में लिखता हूँ, इन दामों महँगा नहीं हूँ ?' इत्यादि

केवल कानून बदलने से कुछ नहीं होगा। (अव्वल तो कानून को बदलना मुश्किल है) इस बात को प्रेमचन्दजी गाँव के एक नेता के जरिये से कितनी अच्छी तरह से कहलाते हैं। झिंगुरी सिंह कह रहे हैं—तुम क्या कहते हो पंडित, क्या तब संसार बदल जायेगा ? कानून और न्याय उसका है, जिसके पास पैसा है। कानून तो है कि महाजन किसी आसामी के साथ कड़ाई न करे, कोई जमीन्दार किसी काश्तकार के साथ सख्ती न करे, मगर होता क्या है ? रोज ही देखते हो। जमीन्दार मुस्क बँधवाकर पिटवाता है, और महाजन लात और जूते से बात करता है। जो किसान पोढ़ा है, उससे न जमीन्दार बोलता है, न महाजन। ऐसे आदमियों से हम मिल जाते हैं, और उनकी मदद से दूसरे आदमियों की गरदन दबाते हैं। तुम्हारे ही ऊपर रायसाहब के ५०० रुपये निकलते हैं, लेकिन नोखेराम में है इतनी हिम्मत कि तुमसे कुछ बोलें ? वह जानते हैं तुमसे मेल करने ही में उनका हित है। किस आदमी में इतना बूता है कि रोज अदालत दौड़े। सारा कारबार इसी तरह चला जायेगा, जैसे चल रहा है। कचहरी अदालत उसीके साथ है, जिनके पास पैसा है। हम लोगों को घबड़ाने की कोई बात नहीं है।

झिंगुरीसिंह की बातचीत दूसरे शब्दों में यही है कि राष्ट्र शासकवर्ग की कार्यकारिणी है, किन्तु झिंगुरीसिंह ने इस बात का पता किताबों से नहीं बल्कि अनुभव से प्राप्त किया है।

प्रेमचन्दजी ने मातादीन चरित्र में सनातन धर्म की भी खूब पोल खोली है। मातादीन के बाप दातादीन अपनी जवानी में बड़े रसिया थे, किन्तु वे नेम से कभी नहीं चूके, कभी एक एकादशी नागा नहीं की,

कभी बिना स्नान-पूजन किये, मुँह में पानी नहीं डाला। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि वे कुछ खुशहाल भी थे। मातादीन ने सिलिया नामक एक चमाइन को रख लिया था, किन्तु वे न तो उसका छुआ पानी पीते थे, और न उसे चौखट के अन्दर आने देते थे। इन दिनों सिलिया को वे एक मजदूरनी के रूप में इस्तेमाल करते थे। सिलिया अब उनकी निगाह में काम करने की मशीन थी, और कुछ नहीं। होली के दिन सिलिया दुलारी साहुवाइन से दो पैसे का रंग लाई थी, आज दुलारी उसे वसूल करने आई थी। मातादीन वहीं खड़े थे, किन्तु ज्योंही दुलारी की आहट सुनी, वे समझ गये, लेन-देन की बात है, बस वे वहाँ से सरक गये। जब दुलारी ने पैसे के लिए बातचीत शुरू की, तो सिलिया ने यह चाहा कि कुछ अनाज देकर उससे पल्ला छुड़ाया जाय, उसने अन्दाज से कोई सेर भर अनाज साहुवाइन को दे दिया। उसी वक्त मातादीन पेड़ की आड़ से झल्लाया हुआ निकला, और साहुवाइन तथा सिलिया दोनों को नाराज होकर कहा कोई लूट नहीं है। साहुवाइन ने अनाज ढेर में डाल दिया, और सिलिया हक्का-बक्का होकर मातादीन की ओर देखने लगी। सिलिया ने तन मन सभी मातादीन को दिया था, किन्तु उसे एक पैसे के अनाज पर भी अधिकार न था। यही मातादीन थे, उसके तलुवे सहलाते थे, इन्होंने ही जनेऊ हाथ में लेकर कहा था—'सिलिया जब तक दम में दम है, तुझे ब्याहता की तरह रखूँगा। जब वह प्रेमातुर होकर हाट में और बाग में और नदी के तट पर उसके पीछे-पीछे पागलों की भाँति फिरा करता था।

अभी दुलारी गई ही थी, इतने में सिलिया की माँ, बाप, दोनों भाई, और कई अन्य चमारों ने न जाने किधर से आकर मातादीन को घेर लिया। सिलिया की माँ ने आते ही कार्यरत सिलिया के हाथ से अनाज की टोकरी छीनकर फेंक दी, और गाली देने लगी—राँड़ जब तुझे

मजूरी ही करनी थी, तो घर की मजूरी छोड़कर यहाँ क्यों मरने आई, इत्यादि।

जब मातादीन के साथियों ने देखा कि इस प्रकार मातादीन घिर गया है, तो वे उसके रक्षार्थ दौड़ पड़े। सिलिया के बाप हरखू ने कहा—हम आज या तो मातादीन को चमार बनाकर छोड़ेंगे, या उनका और अपना रकत एक कर देंगे। सिलिया कन्या जात है, किसी न किसी के घर तो जायेगी ही। इस पर हमें कुछ नहीं कहना है, मगर उसे जो कोई भी रखे, हमारा होकर रहे। तुम हमें बाभन नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें बाभन बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह सामर्थ नहीं है, तो फिर तुम ही चमार बनो, हमारे साथ खाओ-पिओ, हमारे साथ उठो-बैठो। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धर्म हमें दो।

इस प्रकार बातचीत के दौरान में दो चमारों ने लपककर मातादीन के हाथ पकड़ लिये, तीसरे ने झपटकर उसका जनेऊ तोड़ डाला, और इसके पहले कि दातादीन और झिंगुरीसिंह अपनी-अपनी लाठी सम्हाल सकें, दो चमारों ने मातादीन के मुँह में एक बड़ी सी हड्डी का टुकड़ा डाल दिया। मातादीन ने दाँत जकड़ लिये, फिर भी वह घिनौनी वस्तु उनके होठो में तो लग ही गई। उन्हें मतली हुई, और मुँह आप से आप खुल गया, और हड्डी कण्ठ तक पहुँची......। गाँव वालों ने मदद न दी, क्योंकि वह गाँव की बहू-बेटियों को घूरा करता था, इसलिए मन में सभी उसकी दुर्गति से प्रसन्न थे।

मातादीन कै कर चुकने के बाद निर्जीव-सा जमीन पर लेट गया, मानो कमर टूट गई हो। जिस मर्यादा के बल पर उसकी रसिकता, घमंड और पुरुषार्थ था, वह मिट चुकी थी। उस हड्डी के टुकड़े ने उसके मुँह को ही नहीं, उसकी आत्मा को भी अपवित्र कर दिया था। उसका धर्म इसी खान-पान, छूत विचार पर टिका हुआ था। आज

उस धर्म की जड़ कट गई। अब वह लाख प्रायश्चित करे, लाख गोबर खाय, और गंगा जल पिये, लाख दान-पुण्य और तीर्थ-व्रत करे, उसका मरा हुआ धर्म जी नहीं सकता। अगर अकेले की बात होती तो छिपा ली जाती, यहाँ तो सबके सामने उसका धर्म लूटा।

सिलिया की हालत अजीब हो गई। भाई पकड़कर उसे घसीटने लगे, वह जाने पर तैयार नहीं हुई, तब सिलिया के पिता ने कहा कि अच्छा अब इसे छोड़ दो, समझ लेंगे मर गई। सिलिया की माँ सिलिया पर झपटी, और कई लातें जमाईं, किन्तु उसके पिता ने बचा लिया। सब चमार चले गये। अब दातादीन ने जुलाहे का गुस्सा दाढ़ी पर उतारा। उसने सिलिया से कहा तू चली क्यों न गई। बड़ी देर में मातादीन ने अपने पिता से पूछा कि क्या होगा, तब उन्होंने पुत्र को ढाढ़स देते हुये बताया कि पंडितों की जैसी व्यवस्था होगी, वैसा होगा, किन्तु उसे सिलिया को त्यागना पड़ेगा। मातादीन ने फौरन इस पर अपनी सम्मति दे दी। अन्त में सिलिया की ऐसी अजीब हालत हुई कि वह न घर की रही न घाट की। अन्त में उसको होरी के यहाँ आश्रय मिला।

भोला ने अन्त में एक जवान स्त्री से शादी कर ली। उसका घर में न पटा, और वह स्त्री को लेकर नोखेराम के आश्रय में पहुँच गया। नोखेराम से उसकी स्त्री का ताल्लुक हो गया, और नोखेराम के बदौलत वह अब अपने को गाँव की जमींदारिनी समझने लगी। यद्यपि नोखेराम स्वयं जमींदार का एक कारिंदा मात्र था। भोला ने चेष्टा की कि फिर घर लौटा जाय, किन्तु उसकी स्त्री राजी नहीं हुई। इस प्रकार एक ही साथ वृद्ध विवाह तथा कारिन्दों के कारनामें का स्वरूप हमारे सामने आ जाता है।

सोना ने जब सुना कि उसके ब्याह के लिए दो सौ रुपये उधार लिये जा रहे हैं तो वह उस पर खुश नहीं हुई। अन्त में भोला को

स्त्री केवल अपनी नामवरी के लिए यह रुपया देने पर तैयार हो गई। इस रुपये के लिए होरी ने जिस प्रकार ठकुरसुहाती कही है, वह भी वस्तुवादी कला की जीत का एक नमूना है। होरी प्रत्येक गाँव वाले की तरह अच्छी तरह जानता था कि भोला की स्त्री किस प्रकार अपने पति के बुढ़भस का फायदा उठाकर नोखेराम से फँसी हुई है, फिर भी उन्होंने उस औरत की कैसी खुशामद की है, यह देखने योग्य है। उस स्त्री ने कहा कि वे कभी लड़कों के साथ रहने की सोचते हैं, कभी लखनऊ जाकर रहने की सोचते हैं, नाक में दम कर रखा है मेरे।

होरी ने ठकुरसुहाती की—'यह भोला की सरासर नादानी है। बूढ़े हुये, अब तो उन्हें समझ आनी चाहिये।' यहाँ पर हम वही पूर्वोल्लिखित Peasant craftiness का परिचय पाते हैं।

गोबर जब शहर में आया तो उसे ज्ञात हुआ कि जिस अड्डे पर वह खोंचा लगाता था, वहाँ दूसरे ने अपना खोंचा लगाना शुरू कर दिया है। गाहक उसे भूल गये हैं। इस बीच में उसका लड़का भी मर गया। गोबर ने . क्कर के मिल में मजदूरी कर ली। यहाँ पर प्रेमचन्द-जी मजदूर जीवन का चित्रण यों करते हैं कि गोबर को वहाँ बड़े सबेरे जाना पड़ता, और दिन भर के बाद जब वह दिया जले पर घर लौटता, तो उसकी देह में जरा भी जान न होती। 'घर पर भी उसे इससे कम मेहनत न पड़ती थी, लेकिन वहाँ उसे जरा भी थकान न होती थी। बीच-बीच में वह हँस बोल भी लेता था। फिर, उस खुले हुये मैदान में उन्मुक्त आकाश के नीचे जैसे उसकी क्षति पूरी हो जाती थी। वहाँ उसकी देह चाहे जितना काम करे मन स्वच्छन्द रहता था। यहाँ देह की उतनी मेहनत न होने पर भी जैसे उस कोलाहल, उस गति और तूफानी शोर का उस पर बोझा-सा लदा रहता था। यह शंका भी बनी रहती थी कि न जाने कब डाट पड़ जाय। सभी श्रमिकों की यही दशा थी। सभी ताड़ी या शराब में अपनी दैहिक थकान और मानसिक अव-

सान को डुबाया करते थे। गोबर को भी शराब का चस्का पड़ा। घर आता तो नशे में चूर, और पहर रात गये। और आकर कोई न कोई बहाना खोजकर झुनियाँ को गालियाँ देता, घर से निकालने लगता, और कभी-कभी पीट भी देता।'

प्रेमचन्दजी के इस वर्णन में मजदूर जीवन की वास्तविकता है, किन्तु साथ ही मजदूर जीवन की जो परोपकारी गांधीवादी समालोचना है, उसकी भी झलक स्पष्ट है। हमने इस समालोचना को गान्धीवादी बतलाया, इससे शायद कुछ गलत फहमी हो, इसलिए स्पष्ट कर दिया जाय कि गान्धीजी के एक सौ वर्ष पहले भी लोग मजदूर जीवन की इस प्रकार स्वाप्निक और परोपकारी समालोचना करते थे। इन आलोचनाओं को पढ़ने से यह ज्ञात होता है मानों मिलों में ही खराबी है, और यह धारणा बिल्कुल गलत है। गलती मिलों में नहीं बल्कि मिलों की वर्तमान पद्धति में है जिसमें उत्पादन तो सामाजिक है किन्तु मिल्कियत तथा उत्पादन के साधन वैयक्तिक हैं।

प्रेमचन्दजी ने गोबर के जीवन के सिलसिले में मजदूरों के हड़ताल का भी जिक्र किया है। बेकारी इतनी अधिक है कि कम्पनी के डाइरेक्टर कभी-कभी स्वयं ही यह चाहते हैं कि मिल में हड़ताल हो। हड़ताल हो जाने में ही उनका हित होता। इसके आधे वेतन पर ऐसे ही आदमी आसानी से मिल सकते हैं। मजूर चाहते थे कि ऐसे समय हड़ताल हो जब माल थोड़ा रह जाय, और माँग की तेजी हो, किन्तु मिल के मालिकों ने पहले हमला बोल दिया। एकाएक एक दिन जब मजूर लोग शाम को छुट्टी पाकर चलने लगे तो मजदूरी घटाने के सम्बन्ध में डाइरेक्टरों का ऐलान सुना दिया गया। उसी वक्त पुलिस भी आ गयी। मजूरों को अपनी इच्छा के विरुद्ध उसी वक्त हड़ताल करना पड़ा। उस समय गोदाम में इतना माल भरा हुआ था कि बहुत तेज माँग होने पर भी छः महीने से पहले लौट सकता था। हड़तालियों की एक न चली।

नये मजूरों का टिड्डीदल मिल के द्वार पर डट गया। उनमें अधिकांश ऐसे भूखमरे थे जो इस अवसर को किसी तरह भी छोड़ना नहीं चाहते थे। नतीजा यह हुआ कि मजदूरों और नये मजदूरों में फौजदारी हो गई। गोबर बुरी तरह घायल हुआ। उसके हाथ की एक हड्डी टूट गई, सिर खुल गया, और अन्त में वहीं ढेर हो गया। गोबर की मरहम पट्टी कर पहुँचा दिया गया। बड़ी सेवाओं से वह ठीक हुआ।

मिल मालिक मिस्टर खन्ना का भी चित्रण ध्यान योग्य है। "वे अपना स्वार्थ त्यागने को तैयार हो सकते थे, अगर उनकी ऊँची मनोवृत्तियों को स्पर्श किया जाता है, लेकिन हिस्सेदारों के स्वार्थों की रक्षा न करना यह तो अधर्म था। यह तो व्यापार है, कोई सदाव्रत नहीं कि सब मजूरों को ही बाँट दिया जाय।......वे केवल एक हजार रुपये महीना लेते थे।" स्मरण रहे कि खन्नाजी जिले के प्रमुख नेता रहे थे, दो बार जेल भी गये थे।

ऐसा मालूम हुआ कि मिल में आग लग गई है। खन्ना जब मिल के पास पहुँचे, और देखा कि मिल जल रही है, बच नहीं सकती तो वह बौखला गये, उस समय उसने जो कुछ कहा है, वह भी बहुत मार्के की है—'मैं एक घंटा नहीं आध घंटा पहले दस लाख का आदमी था। जी हाँ, दस लाख, मगर इस वक्त फाकेमस्त हूँ—नहीं दिवालिया हूँ! मुझे बैङ्क को दो लाख देना है। जिस मकान में रहता हूँ वह भी अब मेरा नहीं है......मैंने अपने सिद्धांतों की कितनी हत्या की है, कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी ली हैं। किसानों की ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाँट रखे......' यह कहकर वे अपने हाथों से सिर पीटकर जोरों से रोने लगे। किसी तरह समझा-बुझाकर उन्हें घर पहुँचाया गया।

हम पहले ही दिखला चुके हैं कि मालती के रूप में प्रेमचन्दजी एक तितलीनुमा स्त्री की सृष्टि करते हैं, जो गोदान के कई पात्रों को उँगुलियों

पर नचाती फिरती है। बाद को चलकर प्रेमचन्दजी इसी स्त्री को बहुत ही बदले हुये रूप में दिखलाते हैं। अब उसमें वह तितलीपना नहीं है, वह सेवा मार्ग को अपनाती है। इसी सम्बन्ध में मेहता नामक एक व्यक्ति इस उपन्यास में आता है जो एक ग्रन्थकीट और साथ ही बहुत सच्चरित्र व्यक्ति है। वे किसी सर्वज्ञ ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे। अपनी नास्तिकता को प्रकट नहीं करते थे, क्योंकि इस विषय पर किसी निश्चित मत पर पहुँचना वह अपने लिए असंभव समझते थे। इस व्यक्ति के संस्पर्श में आकर मालती बदल रही थी। 'अब तक जितने मर्द उसे मिले सभी ने उसकी विलासवृत्ति को ही उसकाया। उसकी त्यागवृत्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती थी, पर मेहता के संसर्ग में आकर उसकी त्याग भावना सजग हो उठी थी।' एक दिन ये दोनों सेवा के उद्देश्य से घूमते-घामते होरी के गाँव में पहुँचे। इस प्रकार जो उनको होरी के गाँव में पहुँचाया गया, यह केवल मूल कथाभाग से इसके सम्बन्ध को जोड़ने के लिए ही किया गया है, यह स्पष्ट है। सच बात तो यह है कि गोदान में शहर और गाँव के जीवन के जो चित्रण दिये गये हैं, उनको कई सूत्रों से जोड़ने पर भी वे अच्छी तरह जुड़ न सके, उनमें कोई वास्तविक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया, बहुत कुछ दोनों कहानियाँ अलग ही रह गईं। जो कुछ भी हो होरी के गाँव में पहुँचकर मेहता पुरुषों से बातचीत करते रहे, और मालती स्त्रियों के रोजमर्रे की जरूरत की बातें—जैसे शिशुपालन आदि के सम्बन्ध में बातचीत करती रही।

मालती ने स्त्रियों के साथ जो बातचीत की है, उसमें समस्याओं के प्रति कोई क्रान्तिकारी दृष्टिकोण नहीं बल्कि एक परोपकार सुधारवादी मनोवृत्ति का ही परिचय मिलता है। होरी की स्त्री ने उसे अपनी अनजान में इस सम्बन्ध में टोक भी दिया। जब मालती ने सफ़ाई आदि की बात बहुत कही तो धनिया ने कहा—'यहाँ सब सफ़ाई और संजम कैसे होगा, सरकार! भोजन तक का ठिकाना तो है ही नहीं।' इसी

प्रकार प्रेमचन्दजी ने यह दिखाया है कि मालती को 'ग्रामीणों पर क्रोध आ जाता था। क्या तुम्हारा जन्म इसलिए हुआ है कि तुम मर-मर कर कमाओ और जो कुछ पैदा हो, उसे खा न सको ? जहाँ दो-चार बैलों के लिए भोजन है, वहाँ एक दो गाय भैंसों के लिए चारा नहीं है ? क्यों यह लोग भोजन को जीवन की मुख्य वस्तु न समझ कर उसे केवल प्राण रक्षा की वस्तु समझते हैं ? क्यों सरकार से नहीं कहते कि नाम-मात्र के ब्याज के रुपये देकर उन्हें सूदखोर महाजनों के पंजे से बचाये ? हमने जिस किसी से पूछा, यही मालूम हुआ कि उसकी कमाई का बड़ा भाग महाजनों का कर्ज चुकाने में खर्च हो जाता है। बटवारे का मर्ज भी बढ़ता जाता था।' और अधिक उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है, मालती केवल एक परोपकारी स्त्री के रूप में सामने आती है। यों तो हम दिखा चुके हैं कि प्रेमचन्दजी पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध में जो गुलाम मालिक भावना है, उसकी जड़ में क्या बात है, उसे मानो intuitionally या अन्तः प्रेरणा से, बल्कि एक वस्तुवादी कलाकार के सहज instinct या सहजात से समझ जाते हैं किन्तु मालती के मुँह से वे ऐसे भी भाव प्रकट कराते हैं, मानो पुरुष और स्त्री का जो वर्तमान सम्बन्ध है, वह अनिवार्य रूप से एक आर्थिक-सामाजिक सम्बन्ध नहीं है, बल्कि एक शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न मात्र है। मालती बहुत सुशिक्षिता, बल्कि प्रतिभाशालिनी स्त्री है, किन्तु फिर भी वह स्त्रियों में ऐसी बात कहती हुई पाई जाती है—'पुरुष निर्दयी है, माना; लेकिन है तो इन्हीं माताओं का बेटा। क्यों माता ने पुत्र को ऐसी शिक्षा नहीं दी कि वह माता की, स्त्री जाति की पूजा करता ? इसीलिए कि माता को यह शिक्षा देनी नहीं आती, इसीलिए उसने अपने को इतना मिटाया कि उसका रूप ही बिगड़ गया, उसका व्यक्तित्व ही बिगड़ गया।'

मेहताजी भी इसी प्रकार पुरुषों में जाकर किसानों की कुश्ती देख रहे हैं। कुश्ती देखते जाते थे, और 'उन्हें आश्चर्य हो रहा था,

ऐसे प्रौढ़ और निरीह बालकों के साथ अशिक्षित कहलाने वाले लोग कैसे शिक्षित हो जाते हैं। अज्ञान की भाँति ज्ञान भी सरल, निष्कपट और सुनहले स्वप्न देखने वाला होता है...। काश ये आदमी ज्यादा, और देवता कम होते, तो यों न ठुकराये जाते......उनकी आत्मा जैसे चारों ओर से निराश होकर अपने अन्दर ही टाँगे तोड़कर बैठ गई है।' इत्यादि।

मेहता और मालती के प्रेम को दिखलाने में भी प्रेमचन्दजी आदर्शवादी धारा से काम लेते हैं। 'ज्यों-ज्यों वह मालती को निकट से देखते थे, उनके मन में आकर्षण बढ़ता जाता था। रूप का आकर्षण तो उन पर कोई असर नहीं कर सकता था। यह गुण का आकर्षण था।' इसके बाद प्रेमचन्दजी एक ऐसी बात कहते हैं जिसका मतलब समझना कठिन है। वे कहते हैं 'यह वह (मेहता) जानते थे। जिसे सच्चा प्रेम कहते हैं, केवल एक बन्धन में बँध जाने के बाद ही पैदा हो सकता है।' यहाँ पर प्रेमचन्दजी का इशारा हिन्दू विवाह से तो नहीं है? वे आगे लिखते हैं 'इसके पहले जो प्रेम होता है, वह तो रूप की आसक्ति मात्र है, जिसका कोई टिकाव नहीं, मगर इसके पहले यह निश्चय तो कर लेना ही था कि जो पत्थर साहचर्य के खराद पर चढ़ेगा, उसमें खरादे जाने की क्षमता है भी या नहीं। इस प्रकार प्रेमचन्दजी कुछ हद तक कोर्टशिप की ओर भी इशारा करते हैं, और इस प्रकार उनका दृष्टिकोण सनातन समाज के मुकाबिले में कहीं प्रगतिशील है।

जिस समय मालती गाँव का चक्कर लगाकर लौटी उस समय मालती और मेहता, दोनों नदी की ओर सैर करने चल दिये। 'मालती का कलेजा आज न जाने क्यों धकधक करने लगा। मेहता के मुख पर आज उसे एक विचित्र ज्योति और इच्छा झलकती हुई नजर आई।' इस प्रकार दोनों नदी के किनारे जाते हैं, वहाँ मेहता ने जेब

से चाकू निकालकर झाऊ की टहनियाँ काटी, फिर वहीं से सरपत तोड़कर उसकी रस्सी की सहायता से एक नाव बनी। कई बार मेहता की उँगुलियाँ चिर गईं, खून निकला। तख्ता डगमगाता, कभी तिरछा, कभी सीधा, कभी चक्कर खाता हुआ चला जाता था। प्रेमचन्दजी ने मालूम होता है, यह हिस्सा सिनेमा जगत की (जैसी उसके सम्बन्ध में अभी उस जगत में धारणा है) आवश्यकता के अनुसार लिखा है। जो कुछ भी हो, इस दृश्य के कारण गाँव में जाकर उनकी सेवावाला दृश्य बिल्कुल एक तमाशा-सा, बल्कि उनकी कोर्टशिप का एक दृश्य मात्र होकर रह गया। संक्षेप में कहानी यह है कि इन दोनों में एकाध बार आलिंगन होने के बाद ये लोग सम्हल गये। इस सिलसिले में प्रेम के सम्बन्ध में जो तर्क वितर्क इन दोनों में हुआ है, वह किसी भी दृष्टि से ऊँचे दर्जे का नहीं है, न तो उसमें कोई साहित्यरस ही है, न मनोविज्ञान और न भावुकता। सच बात तो यह है कि प्रेमचन्दजी ने इन दोनों को आदर्श अर्थात् शारीरिक मिलन, लिप्साहीन, प्लेटोनिक प्रेमिक-प्रेमिका बनाने की धुन में इन दोनों पात्र-पात्रियों की हत्या कर डाली है, और उन्हें बहुत ही अस्वाभाविक बना दिया है।

रायसाहब के तीनों मन्सूबे पूरे हो गये थे। कन्या की शादी धूम-धाम से हो गई थी, मुकदमा जीत गये थे, और निर्वाचन में सफल ही नहीं हुये थे, होम मेम्बर हो गये थे। उनको राजा की उपाधि भी मिल गई। जीवन की सबसे बड़ी विजय फिर भी उनकी उस समय हुई, जब उनके पुराने परास्त शत्रु सूर्यप्रतापसिंह ने उनके बड़े लड़के रुद्रपालसिंह से अपनी कन्या के विवाह का सन्देशा भेजा। रुद्रपाल एम० ए० में पढ़ते थे, आदर्शवादी नौजवान थे। जब रायसाहब, अब राजा साहब ने पुत्र से आये हुये शादी के प्रस्ताव के सम्बन्ध में बताया, तो उन्होंने इस शादी से इन्कार किया। रुद्रपाल ने पिता से बता दिया कि मालती की बहिन सरोज से उसकी शादी होगी। जब राजा साहब ने इस पर

यह कहा कि ऐसा तो उसके मरने के बाद ही हो सकता है, तो रुद्रपाल ने बता दिया कि शादी तो हो चुकी है। जब राजा साहब ने सूर्यप्रताप को यह बात बताई कि उनका लड़का अपने कब्जे में नहीं है, तो सूर्यप्रताप भी बहुत नाराज हो गये। दुख का प्याला अभी और भरा। उनके दामाद दिग्विजयसिंह पक्के ऐय्याश थे, और राजा साहब की लड़की अपने ससुराल से लड़झगड़कर चली आई। इस प्रकार आते समय उस लड़की ने भरी महफिल में रंडी के सामने उग्रमूर्ति धारण किया था, नतीजा यह है कि तब से स्त्री पुरुष दोनों एक दूसरे के खून के प्यासे थे। इस अंश में प्रेमचन्दजी ने रईसों के जीवन का अच्छा चित्रण किया है, किन्तु इस चित्रण से इस बात की झलक आ जाती है कि प्रेमचन्दजी का मन्शा शायद यह भी दिखाना है कि धन से ही या ओहदे से कोई सुखी नहीं हो सकता।

जब गोबर अच्छा हुआ तो वह मालती के यहाँ पन्द्रह रुपये महीने पर माली हो गया। उसका लड़का बीमार था, मालती की देख-रेख में वह भी स्वस्थ हो गया।

होरी के घर में रहते समय सिलिया को एक लड़का हुआ, बात यह है कि वह गर्भवती अवस्था में आई थी। 'मातादीन को कई सौ रुपये खर्च करने के बाद अन्त में काशी के पंडितों ने फिर से ब्राह्मण बना दिया था। उस दिन बड़ा भारी हवन हुआ, बहुत से ब्राह्मणों ने भोजन किया, और बहुत से मंत्र और श्लोक पढ़े गये। मातादीन को शुद्ध गोबर और गोमूत्र खाना-पीना पड़ा। गोबर से उसका मन पवित्र हो गया। मूत्र से उसकी आत्मा में अशुचिता के कीटाणु मर गये...... हवन के प्रचण्ड अग्निकाण्ड में उसकी मानवता निखर गई, और हवन की ज्वाला के प्रकाश में उसने धर्म स्तम्भों को अच्छी तरह परख लिया। उस दिन से उसे धर्म के नाम से चिढ़ हो गई। उसने जनेऊ उतार फेंका, और पुरोहित को गंगा में डुबो दिया। अब वह पक्का

खेतिहर था। उसने यह भी देखा कि यद्यपि विद्वानों ने उसका ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लिया, लेकिन जनता अब भी उसके हाथ का पानी नहीं पीती। उससे मुहूर्त पूछती है, साइत और लगन का विचार करवाती है, उसे पर्व के दिन दान भी दे देती है, पर उससे बर्तन नहीं छुआती।' जब उसने अपने पुत्र के जन्म की बात सुनी तो उसे बहुत खुशी हुई, गर्व से उसकी छाती तन गई, और उँगलियाँ बार-बार मूछों पर पड़ने लगीं। अन्त में वह बच्चा को देखने पहुँचा। यह बच्चा अन्त में मर गया। मातादीन उस दिन खुल पड़ा। उसने शव को दोनों हथेलियों पर उठा लिया और अकेला नदी के किनारे तक ले गया, जो एक मील का पाट छोड़कर एक पतली-सी धार में समा गई थी। आठ दिन में उसके हाथ सीधे न हो सके। किसी ने कुछ कहा भी नहीं, बल्कि सभी ने उसके साहस और दृढ़ता की तारीफ की। अन्त में प्रेमचन्दजी ने यह दिखलाया है कि वह ढोंगी और लम्पट मातादीन एकदम सुधर गया, और वह सिलिया के साथ फिर से खुल्लम-खुल्ला रहने को तैयार हो गया।

सिलिया ने पूछा- और तुम्हारा खाना कौन पकायेगा?

'मेरी रानी सिलिया।'

'तो बाम्हन कैसे रहोगे?'

'मैं बाम्हन नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धर्म पाले, वही बाम्हन है, जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है।'

सिलिया ने उसके गले में बाहें डाल दी। इस प्रकार सिलिया और मातादीन की कहानी भी समाप्त हो गई यदि देखा जाय तो होरी की कथा से इस कथा को जबरदस्ती जोड़ा गया है, नहीं तो यह भी एक बिलकुल स्वतंत्र कहानी है।

होरी की हालत गिरते-गिरते यह नौबत पहुँची थी कि अब उसका खेत बेदखल होने जा रहा था। ऐसे समय पंडित दातादीन ने उसे

आकर यह सुझाया कि रूपा का ब्याह रामसेवक नामक एक अधेड़ से कर दे तो सारा काम बन जाय। रामसेवक होरी से दो ही चार साल छोटा था, कहाँ फूल-सी रूपा, और कहाँ वह बूढ़ा ठूँठ। 'जीवन में होरी ने बड़ी-बड़ी चोटें सही थीं, मगर यह चोट सबसे गहरी थी। आज उसके ऐसे दिन आ गये हैं कि उससे लड़की बेचने की बात कही जाती है, और उसमें इन्कार करने का साहस नहीं है।' धनिया ने इस ब्याह का विरोध किया, किन्तु आफत के मारे उसका पल्ला हल्का होता जाता था। चौथे दिन रामसेवक महतो खुद आ पहुँचे। रामसेवक बड़ी ठाठ-बाट से आया था। अन्त में विवाह का मुहूर्त ठीक हो गया। विवाह के लिए गोबर को भी बुलाया गया, और वह आया। गोबर ने पहुँचकर जो घर की दशा देखी तो ऐसी निराशा हुई कि इसी वक्त यहाँ से लौट जाय। गोबर का जी उचाट था। अब इस घर के सम्हलने की क्या आशा है। इस अवसर पर प्रेमचन्दजी मजदूर और किसान दोनों के जीवन की बड़ी सुन्दर तुलना करते हैं, यह तुलना किताबी सैद्धान्तिक तुलना नहीं है, यह गोबर और होरी के जीवन की तुलना है, करीब छः सौ पृष्ठ तक इन दोनों के जीवन को दिखाने के बाद ही वे यह तुलना करते हैं। यह क्रमशः सामन्तवादी-पद्धति का तथा पूँजीवादी-पद्धति के शोषितों का तुलनात्मक वर्णन है।—"वह गुलामी करता है, लेकिन भर पेट खाता तो है। केवल एक ही मालिक का तो नौकर है। यहाँ तो जिसे देखो वही रोब जमाता है गुलामी है; पर सूखी। मेहनत करके अनाज पैदा करो, और जो रुपये मिले, वह दूसरों को दे दो। आप बैठे राम राम करो। दादा ही का कलेजा है कि यह सब सहते हैं। उससे तो एक दिन न सहा जाय। और यह दशा कुछ होरी की ही नहीं थी, सारे गाँव पर यह विपत्ति थी। ऐसा एक आदमी भी नहीं जिनकी रोनी सूरत न हो, मानों उनके प्राणों की जगह वेदना ही बैठी, उन्हें कठपुतलियों की तरह नचा रही हो। चलते-फिरते थे, काम करते थे, पिसते थे,

घुटते थे इसलिये कि पिसना और घुटना उनकी तकदीर में लिखा था। जीवन में न कोई आशा है, न कोई उमंग, जैसे उनके जीवन के सोते सूख गये हों, और सारी हरियाली मुर्झा गई हो। जेठ के दिन हैं, अभी तक खलिहानों में अनाज मौजूद है, मगर किसी के चेहरे पर खुशी नहीं है। बहुत कुछ तो खलिहान में ही तुलकर महाजनों और कारिन्दों की भेंट हो चुका है, और जो कुछ बचा है, वह भी दूसरों का है। भविष्य अन्धकार की भाँति उनके सामने है। उसमें उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझता। उनकी सारी चेतनायें शिथिल हो गई हैं। द्वार पर मानों कूड़ा जमा है, दुर्गन्ध उड़ रही है, मगर उनकी नाक में न गन्ध है, न आँखों में ज्योति। सरेशाम से द्वार पर गीदड़ रोने लगते हैं, मगर किसी को गम नहीं। सामने जो कुछ मोटा झोटा आ जाता है, वह खा लेते हैं, उसी तरह जैसे इंजिन कोयला खा लेता है। उनके बैल चूनी-चोकर के बगैर नाद में मुँह नहीं डालते मगर उन्हें केवल पेट में डालने को कुछ चाहिये। स्वाद से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। उनकी रसना मर चुकी है। उनके जीवन में स्वाद का लोप हो गया है। उनसे धेले-धेले के लिए बेइमानी करवा लो, मुट्ठी भर अनाज के लिए लाठियाँ चलवा लो। पतन की वह इन्तहा है, जब आदमी शर्म और इज्जत को भी भूल जाता है।" प्रेमचन्दजी ने यहाँ पर ग्राम्य जीवन का अर्थात् गाँव में जमीन्दारों के अलावा जो लोग रहते हैं, उनके जीवन का जो चित्र खींचा है, वह बहुत ही वस्तु अनुसारी है, और जो लोग दूर से बैठकर ग्राम पंचायत आदि का स्वप्न देखा करते हैं, तथा ग्राम जीवन को Idyllic अर्थात् वेणुवादन और गोचारणमूलक स्वप्नलोक समझते हैं, उनके लिए आँख खोलने वाला साबित हो सकता है। इसमें सबसे ध्यान योग्य बात यह है कि गान्धीवादी आदर्शों के प्रति द्वन्द्वगत रूप से (Subjectively) झुके होने पर भी प्रेमचन्दजी ने इस पुस्तक में अपनी वस्तुवादी कला की अपरिहार्यता के कारण चीजों का

सही चित्रण कर यह बतला दिया है कि मजदूर का जीवन किसान के जीवन से अच्छा है, और इस प्रकार इस बात की ओर इशारा हो जाता है कि समाधान किस दिशा में है—अधिकतर औद्योगीकरण में या गाँवों में लौट चलो, नारे से है।

गोदान के अन्तिम पृष्ठों में प्रेमचन्दजी इंगित से कहीं आगे जाते हैं।—'गोबर ने राजनैतिक जलसों में पीछे खड़े होकर भाषण सुने, और उनसे अंग अंग बिधा है। उसने सुना है, और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से इन आफतों पर विजय पाना होगा। कोई देवता, कोई गुप्त शक्ति उनकी मदद करने नहीं आवेगी......दुख ने तुम्हें एक सूत्र में बाँध दिया है, बन्धुत्व के इस दैवी बन्धन को क्यों अपने तुच्छ स्वार्थों से तोड़ डालते हैं।' अवश्य जैसा कि अन्तिम वाक्यों में ज्ञात होता है, समाधान सही होकर के भी फिर उसमें कुछ आदर्शवाद का पुट आ ही जाता है।

रूपा का विवाह हो गया। जिस समय गोबर चलने लगा, उस समय होरी ने धनिया के सामने कहा—'बेटा, मैंने जमीन के मोह से पाप की गठरी सिर पर लादी। न जाने भगवान् मुझे इसका क्या दण्ड देंगे।' मजे की बात यह है कि रूपा अपने ससुराल में खुश थी। 'जिस दशा में उसका बालपन बीता था, उसमें पैसा सबसे कीमती चीज थी। मन में कितनी साधें थीं, जो मन में ही घुट-घुट कर रह गई थीं। वह अब उन्हें पूरा कर रही थी। रामसेवक अधेड़ होकर भी जवान हो गया था। रूपा के लिए वह पति था, उसके जवान, अधेड़ या बूढ़े होने से उसकी नारी भावना में कोई अन्तर न आ सकता था। उसकी यह भावना पति के रंगरूप या उम्र पर आश्रित न थी, उसकी बुनियाद इससे बहुत गहरी थी।...किसी तरह की अपूर्णता का भाव उसके मन में न आता था। अनाज से भरे हुये बखार और गाँव के सिवान तक फैले हुये खेत और द्वार पर ढोरों की कतारें और किसी प्रकार की अपूर्णता को उसके

अन्दर आने ही नहीं देती थी, और उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा थी, अपने घरवालों को सुखी देखना।' यह जो रूपा एक अधेड़ के साथ शादी होते हुये भी खुश ही हुई, और सुखी हुई, यह हमें आश्चर्य में डालने के बजाय स्वाभाविक ज्ञात होता है। रूपा का यह समझ न पाना कि एक अधेड़ के साथ उसकी शादी कर उसके साथ अन्याय किया गया है, उसके सुख में कुछ कमी की गयी है, यही तो इस ट्रेजडी की सबसे बड़ी बात है, और प्रेमचन्द ने इसका जो इस रूप में चित्रण किया है, इससे उनमें वस्तुवादी कला की विजय ही सूचित होती है।

बहुत दिनों बाद हीरा लौट आया। वह गऊ मारने के कारण एक तरह से पागल हो गया था। वह गऊ हर समय उसके सामने खड़ी ज्ञात होती, सोते-जागते कभी आखों से ओझल नहीं होती। वह पागल हो गया था, और पाँच-सात पागलखाने में रहा था, वहाँ से निकले छः महीने हुये थे। माँगता खाता फिरता रहा। यहाँ आने की हिम्मत न पड़ती थी। संसार को मुँह कैसे दिखाता। आखिर जी न माना, कलेजा मजबूत करके चला आया। दोनों भाइयों में खूब मिलन हुआ।

होरी को लू लग गयी थी। देह भीतर से झुलसी जाती थी। कै हुई, हाथ-पाँव ठंडे होने लगे। उसकी आँखें बन्द हो गईं, 'और जीवन की सारी स्मृतियाँ' सजीव होकर हृदय-पट पर आने लगीं, लेकिन बेक्रम, आगे की पीछे, पीछे की आगे, स्वप्न चित्रों की भाँति बेमेल, विकृत और असम्बद्ध। वह सुखद बालपन आया, जब वह गुल्लियाँ खेलता था, और माँ की गोद में सोता था। फिर देखा जैसे गोबर आया है, और उसके पैरों पर गिर रहा है, फिर दृश्य बदला, धनिया दुलहिन बनी हुई, लाल चुनरी पहने उसको भोजन करा रही थी, फिर एक गाय का चित्र सामने आया।' इत्यादि। धनिया पहुँच गई। होरी ने कहा — 'मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया! अब जाता हूँ। गाय की लालसा मन में ही रह गई। अब तो यहाँ के रुपये क्रिया-कर्म में जायेंगे। रो मत

धनिया, अब कब तक जिलायेगी ? सब दुर्दशा तो हो गई। अब मरने दे।' होरी को उठा कर घर ले जाया गया। चारों तरफ से आवाज आ रही थी—'गोदान करा दो, अब यही समय है।' धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लाई और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली —'महराज घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा, यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है।'

और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

× × ×

'गोदान' प्रेमचन्द का अन्तिम उपन्यास है। इसके बाद उन्होंने 'मंगल सूत्र' नामक एक उपन्यास लिखना शुरू किया था, किन्तु वे उसे सम्पूर्ण न कर पाये। गोदान एक वृहदाकार उपन्यास है, किन्तु रंगभूमि से कहीं छोटा है, और 'प्रेमाश्रम', 'कायाकल्प' के साथ करीब-करीब उसका आकार बराबर है; फिर भी इस उपन्यास का सामाजिक Canvas या क्षेत्र इतना बड़ा है, जितना उनके लिखे हुये किसी भी उपन्यास का नहीं है। सच बात तो यह है, इसमें भारतीय शहरी और ग्राम्य-जीवन की सभी परिस्थितियाँ तथा समस्यायें किसी न किसी रूप में आ जाती हैं। शरत् या रवीन्द्र के भी किसी उपन्यास का क्षेत्र इतना विशाल नहीं है, यद्यपि उनकी रचनाओं में हम गोदान के आकार के उपन्यास कई पाते हैं। गोदान में हम पचास साल के भारतीय इतिहास को जिस खूबी से वर्णित पाते हैं, वह लेखक की महान रचनाशक्ति का परिचायक है। भारतवर्ष में भी अब इधर Triology लिखने की प्रथा चल पड़ी है, किन्तु छः-सात सौ पृष्ठ के अन्दर जिस प्रकार प्रेमचन्द ने गागर में सागर भर कर रख दिया, वह भारतीय साहित्य में अभूतपूर्व है।

कहीं इतिहास शब्द के व्यवहार से कुछ भ्रम न हो, इसलिए बता दिया जाय कि गोदान में जो इतिहास वर्णित है, उससे हम क्या समझते

है। पारिवारिक क्षेत्र में सामन्तवादी युग का द्योतक संयुक्त परिवार प्रथा का भंग हो जाना, किसानों में से एक हिस्से का जमीन पर अत्यधिक दबाव के कारण मजदूर होते चले जाना, इस प्रकार सामन्तवादी जूयें से किसान की मुक्ति होना और फिर मजदूर के रूप में मिल मालिक के अधीन हो जाना, पुरातन विवाह-प्रथा में घुन लगना, और उसका बिखरते चले जाना, साहूकार और जमीन्दार की चक्की में किसान का पिसना—ये कुछ बातें हैं जो इतिहास की बहुत बड़ी घटनायें हैं। इन बातों को समझाने के लिए तथा इनकी प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराने के लिए वृहदाकार ग्रन्थ लिखे गये हैं। मार्क्स ने केवल इसके आर्थिक पहलू को समझाने के लिए तीन भागों में एक वृहद ग्रन्थ लिख डाला। प्रेमचन्द गोदान में सामन्तवाद के बिखरने की प्रक्रिया को, साथ ही पूँजीवाद के शोषण को बहुत स्पष्ट करके इस उपन्यास में दिग्दर्शन कराते हैं। इसके अलावा भी वे और भी बहुत कुछ करते हैं।

होरी की नसों में सामन्तवाद के अधीन शोषित का रक्त प्रवाहित होता है। वह कोई दूध का धुला व्यक्ति नहीं है, किन्तु फिर भी वह अपने शोषकों से कहीं अच्छा है। वह चन्द रुपयों के लिए अपने भाई को धोखा देने पर तैयार हो जाता है, किन्तु उसके जमींदार उससे अच्छे कहाँ हैं? लगान चुकता कर दिये जाने पर भी रसीद न देने का जो तरीका है, उसका फायदा उठाकर वह पूरे लगान का दावा करने पर तैयार तो नहीं हो जाता, जैसा कि उसके जमींदार उसके साथ करते हैं। फिर वह अगर भाई को धोखा देने के लिए तैयार हो जाता है, तो उसी की गाय मार कर जब उसका भाई फरार हो जाता है, और पुलिस भाई के घर की तलाशी लेने आती है, तो वह उधार लेकर घूस देकर भाई की मरजाद को बचाने के लिए तैयार हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह वर्षों तक अपने भाई की स्त्री का पालन करता है। होरी और कई मौकों पर छोटा-मोटा झूठ बोलता है, धोखा

देता है, बल्कि देना चाहता है, ठकुरसुहाती कहता है, किन्तु उसने जो कुछ किया हो, उसे ऐसा कहने की नौबत कभी नहीं आई जैसे खन्ना कहते हैं—'आप नहीं जानते मिस्टर मेहता, मैंने अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या की है, कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं, किसानों को ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाँट रखे।' होरी आदर्श व्यक्ति नहीं था, किन्तु वह अपने जमींदारों से, महाजनों तथा पूँजीपतियों से कहीं अच्छा था। प्रश्न व्यवहारिक है, कागजी या स्वाप्निक नहीं। इनमें से किसको वरण किया जाय? होरी को या उसके मालिकों को, मालिकों को इसलिए कि उसके कई मालिक हैं। जिसकी जमींदारी में वह है, वह उसका मालिक है। जिसका वह कर्जदार है, वह साहूकार उसका मालिक है। जमींदार जब चाहे तब उसे बेदखल कर दे। साहूकार जब चाहे तब दाखिल हवालात कर दे। और हाँ, हम पुलिस वालों को तो भूल ही गये। पुलिस वाले भी उसके मालिक हैं। एक बहाना भर चाहिये, बस जो चाहें सो कर डालें। नाम सरकार का किन्तु असली राज पुलिस वालों का। इसके अतिरिक्त जाति की पंचायत के रूप में तथा अन्य अनेक रूप में पुरोहित, पंडे, ग्राम समाज के स्तम्भ उसके मालिक हैं। होरी अपने छोटे-मोटे झूठ, ठकुरसुहाती, खुशामदीपन के बावजूद अपने इन सभी मालिकों से सभी दृष्टियों से श्रेष्ठतर है।

सबसे बड़ी बात यह है कि ये सब मालिक हरामखोर हैं, शोषक हैं, लुटेरे हैं, दिन दहाड़े डाका डालने वाले हैं। किसी ने किसी बात की आड़ ले रखी है, तो किसी ने किसी की। जमीन इनकी है, रुपये इनके हैं, पुलिस इनकी है, अदालत इनकी है, धर्म इनका है, इहलोक तो इनका है ही, परलोक भी है। ये इहलोक के मालिक हैं, चाहें तो परलोक में भी गारत करके छोड़ दें। होरी भारतीय किसान वर्ग का प्रतीक है। वह अपनी जीवन डोंगी को खेता है, एक तो यों ही तरंगे

उसकी दुश्मन हो रही हैं, तिस पर सर्वत्र न मालूम कितने बड़े-बड़े जहाज, मगरमच्छ, ग्राह और न मालूम क्या-क्या विपदायें इस सागर में हैं। इन विपत्तियों के बीच से होकर वह अपनी छोटी-सी डोंगी खेते हुये चलता है। हर समय उसके डूबने का भय रहता है। न मालूम कब किससे टक्कर लग जावे, और डोंगी की भवलीला समाप्त हो जाय। इसलिए गोदान एक व्यक्ति के—और चूँकि वह व्यक्ति भारत का वृहत्तम वर्ग है, इसलिए सारे किसान वर्ग के जीवन संग्राम का इतिहास है। किस प्रकार होरी इतनी विपत्तियों और इतने शत्रुओं के बीच से होते हुये चलता जाता है, इसीकी (epic) कहानी गोदान में हम देखते हैं। होरी को हमने भारतीय किसान वर्ग का प्रतिनिधि-पात्र या प्रतीक कहा है, किन्तु यह स्मरण रहे कि होरी के पास चार-पाँच बीघे जमीन है। इसलिए वह उन लाखों खेतिहर मजदूरों से खुशहाल है, जिनके पास कोई जमीन नहीं है, और जिनको दूसरों की जमीन पर मजदूरी करते हुये जीवन के दिन काट देने पड़ते हैं। चार-पाँच बीघे जमीन के तथा हल बैल के मालिक होते हुये भी होरी पर जैसी-जैसी मुसीबतें आती हैं, उससे हम इसका अनुमान कर सकते हैं कि उन लाखों किसानों की क्या हालत होगी, जिनके पास जमीन नहीं है। अवश्य स्वयं होरी खेतिहार मजदूर हो जाने पर मजबूर हो गया है, यह भी इस उपन्यास में दिखा दिया गया है, इस प्रकार हम यह भी देख रहे हैं कि किस तरह बराबर मामूली किसान सर्वहारा वर्ग में गिरते चले जा रहे हैं। गोदान में यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष की एक बहुत बड़ी समस्या यह है कि जमीन पर दबाव कम किया जाय। इसका एक मात्र तरीका यह है कि देश का औद्योगीकरण हो। इस बात से गान्धीवादी (स्मरण रहे स्वयं गान्धीवाद में इस सम्बन्ध में बहुत परिवर्तन हो चुका है, गान्धीजी ने १६०८ लिखित हिन्द स्वराज्य में मिलों की इतनी निन्दा की थी कि उन्होंने यह कहा था कि बम्बई में

कपड़ों की मिल खोलने के बजाय यह अच्छा होगा कि हम मैनचेस्टर से अपने कपड़े बुनवा कर मँगवायें, ऐसी हालत में हम केवल धन ही खोयेंगे, किन्तु यदि भारत में मिलें खुल गईं, तब तो हम नैतिक रूप से पतित हो जायेंगे) भले ही नाक-भौं सिकोड़ें, किन्तु गोदान के वस्तुवादी लेखक ने यह दिखलाया है कि जमीन पर दबाव घटने में ही कल्याण है। गोबर जब बाप-दादों की जमीन छोड़कर शहर में जाकर रोजगार करने लगता है, तो उसकी हालत सुधरती है न कि बिगड़ती है। जो लोग केवल कल्पना को पूँजी बना कर आदर्श छाटा करते हैं, गोदान के लेखक उनमें से नहीं हैं। उन्होंने जीवन में जैसा देखा, वैसा उसे चित्रित किया। किसानों का मिल मजदूर हो जाना, उनकी उन्नति है, न कि अवनति इसे हम गोदान में देखते हैं।

हमने यह बताया कि गोदान में हम होरी के जीवन संग्राम के एपिक इतिहास को पढ़ सकते हैं, किन्तु यह संग्राम किस लिए है ? यह संग्राम केवल इसलिए है कि होरी किसी प्रकार अपने सिर को पानी मे ऊपर रख सके, किसी प्रकार अपने अस्तित्व को कायम रख सके। यह किसी बड़े या महान आदर्श के लिए संग्राम नहीं है, सच्चे मानों में यह केवल जीवन संग्राम है। होरी के लिए अपने जीवन को कायम रखना ही इतनी बड़ी समस्या है, और उसके प्रतिकूल इतनी शक्तियाँ हैं कि उसे दुनिया को बेहतर बनाने के लिए लड़ने की फुरसत नहीं है। यह सवाल ही उसके लिए नहीं उठता। इतना बड़ा एपिक संग्राम, इतने घात-प्रतिघात, इतनी कुर्बानियाँ और इसका कोई ढंग का उद्देश्य नहीं ! यह एक ट्रेजडी है, किन्तु यह ट्रेजडी आज सारे भारतवर्ष के बल्कि सारी दुनिया के अभी तक अजागरूप शोषितों की ट्रेजडी है। गोदान इसी ट्रेजडी की गुत्थियों को हमारे सामने स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। जब हम इस दृष्टिकोण से गोदान को देखेंगे, तभी हम इसकी महत्ता को अच्छी तरह हृदयंगम कर सकेंगे। होरी की यह ट्रेजडी किस प्रकार

छोटी-छोटी घटनाओं, झगड़ों को लेकर खुलती गई है, उसमें आर्थिक कारणों के साथ-साथ अन्य द्वितीय कारण (secondary causes) कैसे काम करते हैं, तथा किस प्रकार Climax या अन्तिम परिणाम तक पहुँचने में मदद देते हैं, यह एक देखने की वस्तु है।

'गोदान' उपन्यास में प्रेमचन्द गांधीवाद से निस्सन्देहरूप से हटे हुये ज्ञात होते हैं। इस उपन्यास में किसानों की हमदर्दी करने के लिए, उनके नेता बनने के लिए प्रेमशङ्कर, चक्रधर, अमरकान्त आदि कोई व्यक्ति दिखाई नहीं पड़ता। गोदान में तो होरी अपनी नाव आप ही खेता है। अवश्य अभी उसकी पतवार आत्मसम्वृत, सजग, आत्मज्ञान सम्पन्न नहीं हुई है। उसे न तो अपने गन्तव्य स्थान का पता है, न पथ का ज्ञान है, किन्तु अब प्रेमचन्द यह नहीं दिखा रहे हैं कि प्रेमशङ्कर आदि व्यक्तियों से किसानों की भलाई होगी। किसान अभी नहीं जानता कि कैसे उसका उद्धार होगा, किन्तु अब उसे इन सत्य के साथ प्रयोग-कारियों पर विश्वास नहीं है। वह उनकी तरफ अपने उद्धार के लिए नहीं ताकता, जैसे प्रेमाश्रम, कायाकल्प या कर्मभूमि के किसान ताका करते थे। श्री जनार्दन झा ने अपनी प्रेमचन्द-सम्बन्धी पुस्तक में यह जो लिखा है कि 'गोदान को प्रेमाश्रम का परिवर्तित और कुछ-कुछ परिष्कृत रूप समझना चाहिये क्योंकि इसमें कोई नवीन समस्या, कोई नूतन सन्देश नहीं परिलक्षित होता,' यह बिल्कुल बचपन भरी बात है, और इससे झाजी की सारी समालोचना ही गलत प्रमाणित होती है। वे इतनी मोटी-सी बात को भी समझ नहीं पाये कि दोनों में युगों का अन्तर है, यह आश्चर्य की बात है। किस अर्थ में वे यह कहते हैं कि यह उपन्यास प्रेमाश्रम का ही परिवर्तित और कुछ-कुछ परिष्कृत रूप है, यह समझ में नहीं आता। गोदान में न तो भावुकतावादी प्रेमशंकर ही है, और न काल्पनिक आदर्श जमींदार मायाशंकर ही है। यों तो दोनों उपन्यासों में शहर और गाँव के चित्र हैं किन्तु इतने ही से इन दोनों को अभिन्न

कहा जाय तो फिर तो दुनिया के सभी उपन्यास अभिन्न हो जायँ। झा-जी का यह कहना कि 'श्रमजीवियों तथा सुखसेवियों के जीवन संग्राम का वर्णन इसमें भी प्रायः उसी ढर्रे पर किया जाय जो प्रेमाश्रम के आकर्षण का केन्द्र है', यह बिल्कुल अस्पष्ट है। पहली बात तो यह है कि दोनों उपन्यासों में एक ही ढर्रे पर वर्णन किया गया है, यह गलत है। क्यों हम ऐसा समझते हैं यह आगे स्पष्ट हो जायगा। यहाँ यह भी बतला दिया जाय कि सभी बुद्धिमान आलोचक यह समझते हैं कि गोदान में प्रेमचन्दजी ने यह नया रुख लिया है। यह रुख किसी को पसन्द न आवे, यह बात दूसरी है। मनुष्यों का रुख अपने-अपने वर्ग-स्वार्थों से सम्बद्ध होता है, किन्तु यह कहना कि गोदान तथा अन्य उपान्यासों में कोई फर्क नहीं है, यह बिल्कुल गलत है। गोदान में प्रेमचन्द ने कोई मार्ग नहीं दिखलाया है, उन्होंने केवल सामाजिक शक्तियों के रुख को दिखला दिया है। यह भला श्री हरिभाऊ उपाध्याय और अवध उपाध्याय ऐसे लोगों को कैसे पसन्द आ सकता था। उन्हें तो प्रेमचन्द की अन्य रचनायें पसन्द हैं। तभी तो हरिभाऊजी लिखते हैं—'गोदान मैंने उनकी अन्तिम कृति के योग्य आदर के साथ पढ़ा, पर मेरे हृदय को उसमें वह वस्तु न मिली, जो रंगभूमि में मिली थी। रंगभूमि में गरीब अन्धे भिखारी ने अपने त्याग और आत्मबल के द्वारा एक विलक्षण जागृति और आन्दोलन खड़ा कर दिया था। आत्मबल क्या कर सकता था, इसका वह नमूना था। गोदान में ऐसा कोई धीरोदात्त पात्र नहीं मिलता। उनके दूसरे उपन्यासों से वह जुदे प्रकार का है, यह यथार्थ-वादी है।' हरिभाऊजी ने गोदान को इसलिए भी नापसन्द किया कि इसमें कोई हल किसी तत्व या व्यक्ति के रूप में पेश नहीं किया गया है, फिर भी वे मानते हैं कि 'जहाँ तक समाज की इन दो श्रेणियों का यथार्थ चित्रांकन से संबंध है वहाँ तक गोदान में प्रेमचन्दजी बहुत सफल हुये हैं।' फिर हरिभाऊजी को और क्या चाहिये था ? वे यथार्थवाद से

क्यों घबड़ाये हुये हैं ? यदि यही सत्य है कि धीरोदात्त पात्र अपने त्याग और आत्मबल से किसी का उद्धार नहीं कर सकते, तो इसे वे सीधे से मान क्यों नहीं लेते। हरिभाऊजी यथार्थवाद से नाराज हैं, वे मानते हैं 'मुझे यथार्थवादी चित्रांकन से तृप्ति नहीं होती। जो कुछ समाज में है और हो रहा है, उसे हम देखते और जानते भी हैं। पुस्तक में उन्हें पढ़ने और देखने से कई चित्रों का और कई दृश्यों का एक साथ एक जगह सम्मिलित रूप में अवलोकन हो जाता है, और उसका कुछ विशेष परिणाम मन पर जरूर होता है, परन्तु सर्वसाधारण को उसमे कोई मार्ग नहीं दिखाई देता।' यह हरिभाऊजी की अजीब जिद् है कि समाधान यथार्थता में नहीं है। यथार्थता में ही क्यों न हल ढूँढ़ा जाय ? क्या हल उतना ही यथार्थ नहीं है, जितना समस्या यथार्थ है, फिर हम घबड़ा कर यूटोपिया में क्यों बहक जायँ, और कृत्रिम तथा काल्पनिक हल ढूँढ़ें। यथार्थता के अन्दर ही हल निहित है। गोदान के लेखक ने कोई हल पेश नहीं किया, सही है, किन्तु क्या हल हो सकता है, इसे हम उस यथार्थ चित्र से ही क्यों न ढूँढ़ें ? क्यों हम एक prejudice लेकर चलें ? फिर प्रेमचन्दजी ने पन्द्रह साल तक धीरोदात्त पात्रों के प्रयोगों को तो खूब देख लिया था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि वे गोदान में जिस रूप में आये हैं, उसी रूप में आते।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क भी कुछ इसी प्रकार के मन्तव्य करते हैं। उनका कहना है कि यदि 'हमारे जमीन्दारों में एक भी मायाशङ्कर निकलता, तो प्रेमचन्द को अपनी जीवन सन्ध्या में निराश होकर 'गोदान' न लिखना पड़ता।' वे इस प्रकार यह मानते हैं कि अब तक प्रेमचन्द ने जिस बेताल अगिया (Will o' the Wisp) को आदर्श के रूप में अपनाया था, वह स्वाप्निक था—एक यूटोपिया था, जिसका वास्तविक जगत में कोई अस्तित्व नहीं था। फिर भी जब प्रेमचन्दजी का गोदान सामने आता है, तो अश्कजी उस पर अश्रु पात करने लगते हैं। वे

बड़े ही (Longwinded) तरीके से इस बात का वर्णन करते हैं कि प्रेमचन्दजी की रचना में केवल गोदान ही हैं, लोग ऐसा न समझें। 'प्रेमचन्द की आँखों के सामने सदैव तारिकी ही तारिकी रही है, उन्होंने गिरते, धँसते और विनाश की ओर शीघ्रता से अग्रसर होने वाले गाँव ही देखे हैं, ऐसा नहीं। उन्होंने आदर्श गाँव का स्वप्न भी देखा है, और उस स्वप्न की सत्यता आपको प्रेमाश्रम के लखनपुर में दृष्टिगोचर होगी। मायाशङ्कर के उस भाषण में जो उसने तिलकोत्सव पर किया, इस आदर्श की झलक मिलती है।......व्यापक दरिद्रता और दीनता को देख कर माया का कोमल हृदय तड़प कर रह गया था, और उसने कम से कम अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर लिया था।......' तिलकोत्सव के अवसर पर वह जमीन्दारी त्याग देता है, और उसकी घोषणा के फलस्वरूप 'हम प्रेमाश्रम के अन्तिम पृष्ठों में स्वतन्त्र और सम्पन्न लखनपुर की तस्वीर देखते हैं।......मायाशङ्कर ने देहातियों की जो दशा स्वयं देखी थी, और जो दशा बाद को हुई उसमें कितना अन्तर है! यह है देहातियों का वह स्वर्ग जिसके स्वप्न प्रेमचन्द देखते थे।'

अश्कजी को इस स्वप्न के टूट जाने पर बहुत अफसोस है, ऐसा उनके वर्णन से मालूम होता है, किन्तु तथ्य बड़े क्रूर होते हैं। करीब बीस वर्ष तक प्रेमचन्दजी इस स्वप्न के द्वारा परिचालित होकर साहित्य सृष्टि करते रहे, अब यदि इतने दिनों के बाद भी उनका स्वप्न सत्य नहीं हुआ, और उनकी कला में यह भ्रान्ति भंग प्रतिफलित हुआ, तो इसमें दुख की कौन-सी बात है? जो प्रवृत्ति प्रेमचन्द की कला की प्रगतिशीलता का सबसे बड़ा प्रमाण है, अश्कजी को उसी पर अफसोस है। हम तो इसके विपरीत यह समझते हैं कि इससे उनके क्रान्तिकारित्व का परिचय मिलता है। एक लेखक भी जब एक rut लीक में पड़ जाता है, तो उसके लिए उससे मुक्त हो जाना बहुत कठिन हो जाता है.

किन्तु फिर भी प्रेमचन्द अपनी सारी परम्परा से अलग होकर आगे की ओर बढ़ सके, यह बहुत ही अभिनन्दनीय है।

फिर भी गोदान में प्रेमचन्दजी अपनी पुरानी परम्परा से अपने को सम्पूर्ण रूप से मुक्त नहीं कर पाये। यदि वे और जीवित रहते तो सम्पूर्ण रूप से अपने को परम्पराओं से मुक्त कर लेते, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु गोदान में उनका old love—पुरानी परम्परा कुछ न कुछ चल रही है। इसीका फायदा उठा कर श्री बाबू रावविष्णु पराड़कर न मालूम क्या-क्या कह जाते हैं। वे कहते हैं—'गोदान में प्रेमचन्द के विचार परिबद्ध हुये दिखाई देते हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। वह कोण प्रेम का नहीं, सेवा और त्याग का है। महात्मा गान्धी का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। साम्यवाद का औचित्य स्वीकार करते हुये भी प्रेमचन्द सर्वत्र सेवा और त्याग पर जोर देते दिखाई दे रहे हैं। चित्र की उच्च-नीच वृत्तियों को बेनकेल छोड़ देना और उन्हें समाज में स्वच्छन्द विचरण करने देना आप नारीत्व और नरत्व के पूर्ण विकास में बाधक समझ रहे हैं।······प्राच्य त्याग और पाश्चात्य भोग, प्राच्य संयम और पाश्चात्य अनियम, ईश्वर पर अन्ध विश्वास और मानवत्व में ईश्वर को प्राप्त करने की लालसा त्यागमय पारिवारिक जीवन और बाप-दादों के ऋण को अस्वीकार करने की कामना, इन विचारों का सम्मिश्रण गोदान में जगह-जगह दिखाई देता है। प्राच्य पाश्चात्य संघर्ष से जीवन का एक शास्त्र गोदान में क्रमशः विकसित हो रहा है, पर दुर्भाग्यवश पूर्ण विकास नहीं हो पाता, और प्रेमचन्दजी हमें मँझधार में छोड़ कर सहसा अन्तर्धान हो जाते हैं।' श्री पराड़कर ने गोदान में प्राच्य और पाश्चात्य आदर्शों का संघर्ष देखा है, यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। मेहता के कुछ व्याख्यानों तथा तौर तरीकों से उन्हें ऐसा भ्रम हुआ है, किन्तु अव्वल तो मेहता

इस उपन्यास का कोई मुख्य पात्र नहीं है, दूसरा उनके व्याख्यानों में भी कोई ऐसी बात नहीं है, जिसे प्राच्य की बपौती कही जा सके। मेहता के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि मेहता अज्ञेयवादी है, और यहीं पर पराड़करजी का सिद्धान्त बिल्कुल खतम हो जाता है। प्राच्य और पाश्चात्य आदर्शों के संघर्ष की बात जल्पना मात्र है। आमतौर से ऐसी धारणा राममोहन राय से लेकर राधाकृष्णन तक के प्रचारकार्य से हो गई है, कि भारतीय सभ्यता अध्यात्मवादी है, और पाश्चात्य सभ्यता भौतिकवादी। यह धारणा सत्य से कोसों दूर है। सच बात तो यह है कि पाश्चात्य देशों के निवासी (रूस को इस श्रेणी से निकाल देना पड़ेगा) उतने ही अध्यात्मवादी हैं, जितने भारतीय बतलाये जाते हैं। पाश्चात्य देशों में बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जो भौतिकवादी हैं, अवश्य जागरूक मजदूर वर्ग में भौतिकवादियों की संख्या बढ़ रही है, किन्तु ऐसे लोगों को पाश्चात्य के विचार नेता-गण अपवाद के रूप में ही लेते हैं, न कि नियम के रूप में। इस प्रसङ्ग में इस विषय पर इससे अधिक आलोचना सम्भव नहीं है। यहाँ तो केवल प्रश्न यह है कि क्या गोदान में पाश्चात्य और प्राच्य आदर्शों का संघर्ष दिखलाया गया है या नहीं। इसके उत्तर में यह तो हम बता ही चुके कि पाश्चात्य और प्राच्य आदर्शों में विरोध की बात कपोल कल्पना मात्र है। भौतिकवाद अथवा अध्यात्मवाद—केवल यही नहीं, अध्यात्मवाद की विभिन्न किस्मों के सम्बन्ध में जैसे बहुदेववाद, एकदेववाद, पुनर्जन्मवाद, कर्म आदि के सम्बन्ध में बहुत अच्छी तरह यह दिखलाया जा सकता है कि समाज के उस विशेष विकास-सोपान से उनका सम्बन्ध जिनमें वे उद्भूत हुये अथवा पनपे। ऐसी हालत में यदि भारतीयों की विचारधारा में और यूरोपियनों की विचार-धारा में (यहाँ धार्मिक आध्यात्मिक विचारों का ही विशेषकर उल्लेख किया जा रहा है) यदि कुछ प्रभेद है तो वह इस कारण है कि भारतवर्ष

अभी यूरोप के मुकाबिले में पिछड़ा हुआ है और बहुत कुछ उसकी आत्मा अब भी इस घोर पूँजीवाद के युग में सामन्तवाद के युग में भटक रही है। गाँव को लौटो, प्रत्येक गाँव की आत्मयथेष्टता, चरखा इत्यादि नारे साथ ही पिछड़े हुए धर्म में आस्था ये सब बातें भारत की पिछड़ी हुई आर्थिक सामाजिक अवस्था की ही सूचना करती हैं। अवश्य इस दृष्टि से देखने पर भी पाश्चात्य के आगे बढ़े हुए विचारों के साथ यहाँ के अपेक्षाकृत पिछड़े हुए विचारों का कुछ संघर्ष बराबर रहा, यह मानना पड़ेगा, यह संघर्ष मोटे तौर पर उन्नत किन्तु ह्रासशील पूँजीवादी तथा समान रूप से म्रियमाण सामन्तवाद के विचारों का संघर्ष है। किसी भी प्रकार इस संघर्ष को अध्यात्मवाद और भौतिकवाद या भारतीय संस्कृति तथा यूरोपीय संस्कृति का संघर्ष नहीं कहा जा सकता। फिर जिस वस्तु को हम भारतीय संस्कृति का नाम देते हैं, उसमें से बहुत कुछ विश्लेषित होने पर महज एक पिछड़ी हुई आर्थिक सामाजिक पद्धति की हिन्दू विचार प्रधान संस्कृति निकलेगी। यदि किसी प्रकार इसे गोदान से हानि पहुँची है, तो इसमें हमें कोई दुख करने की बात दिखाई नहीं देती।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने गोदान की विस्तृत समालोचना लिखी है। उनका कहना है 'आर्यसमाज की जागृति से पूर्व के सामाजिक जीवन से चल कर गांधी युग की कांग्रेस तक पहुँच कर गोदान में प्रेमचन्द फिर उस करुण गृहस्थी में लौट गए जहाँ से वे बाहर चले थे। एक विकल विहग की भाँति जीवन के सम्बल की खोज में सार्वजनिक जगत के विस्तीर्ण आकाश में उन्होंने यात्रा की थी, किन्तु जब फिर अपने बसेरे की ओर लौटे तो देखा कि बाहरी दुनिया की इतनी हलचलों के बावजूद भी इस गृहस्थी में अभाव ही अभाव है। जागृति दिवस का स्वर्णप्रकाश प्रासादों के शिखरों को झिलमिलाता हुआ, होरी की कुटिया में अन्धकार (पूँजीभूत ट्रेजडी) ही छोड़ता चला गया है।' शान्तिप्रियजी ने

इतने शब्दाडम्बर के साथ जो कुछ कहा है, उसका यदि यह मतलब है कि गोदान में प्रेमचन्द चीजों तथा घटनाओं को सामूहिक दृष्टि से देखना छोड़ कर बिलकुल वैयक्तिक तथा गृहस्थी की दृष्टि से देखते हैं तो यह बिल्कुल गलत है। अब तक प्रेमचन्द गांधीवाद के स्वर्णिम स्वप्न के आवेश में थे, किन्तु गोदान में उनका स्वप्न भंग हो चुका है। इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि वे अब गृहस्थी के उपन्यासकार हो चुके हैं। यह तो शान्तिप्रियजी भी मानते हैं कि एक तरफ प्रासादों की जगमगाहट और दूसरी तरफ कुटियों का पुँजीभूत अन्धकार है, क्या यह दृष्टिकोण गृहस्थी का दृष्टिकोण है ? क्या यह सूचित करता है कि प्रेमचन्द अब सामूहिक जीवन से अलग होकर अपनी लेखनी को चला रहे हैं ? अब तक वे जिन काल्पनिक डैनों के सहारे अपने आकाश में उड़ान भर रहे थे, उन्होंने देख लिया है कि वे डैने कहीं ले जाने में समर्थ नहीं हैं। इसलिए वे अपने वास्तविक जगत में लौट कर अपने पैरों पर खड़े होकर आकाश की ओर देख रहे हैं। उन्होंने उन आलंकारिक डैनों को गोदान में त्याग दिया है, किन्तु उनको अपने ही शरीर के अंग रूप में स्थित उन वास्तविक डैनों का भी कुछ बल्कि बहुत अधिक आभास हो चुका है, और वे जीवन संग्राम के क्षेत्र में इन पक्षों से सशस्त्र होकर उतरने ही वाले हैं। यह दृश्यमान शान्ति आँधी के पहले की गुमसुम है। इसे गृहस्थी में लौटना समझना गलत है। यह बृहत्तर संग्राम की तैयारी मात्र है। गोदान अवश्य ही एक बड़ी हाय है किन्तु यह पराजयवादी की हाय नहीं, बल्कि इतने दिनों तक जिस आदर्श को कामधेनु समझ कर अपनाया गया, उसकी व्यर्थता की अनुभूति की हाय किन्तु साथ ही इसमें नवीन वास्तविक मार्ग को अपनाने का बहुत बड़ा इंगित भी है।

हमने यह कहा है कि प्रेमचन्द गोदान में सम्पूर्ण रूप से अपने पूर्व संस्कारों से मुक्त न हो सके, हमारे इस कथन को कुछ और प्रमाण

पुष्ट करने की आवश्यकता है। मेहता इस उपन्यास के मुख्य पात्रों में न होने पर भी प्रेमचन्द उसे एक आदर्श-चरित्र व्यक्ति के रूप में दिखलाते हैं, यहाँ तक आदर्श-चरित्र कि उसके संसर्ग में आकर तितली स्वभावा मालती भी एक समाज सेविका हो जाती है, इसलिए मुख्य पात्र न होने पर भी उसके विचारों से प्रेमचन्द के सामाजिक विचारों का पता लगता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में इस व्यक्ति के विचार औसत दर्जे के समाज-सुधारक के विचार हैं। स्त्रियों के लिए यह व्यक्ति बताता है कि इनका जीवन इनका घर है, यहीं इनकी सृष्टि होती है, यहीं इनका पालन होता है, यहीं जीवन के सारे व्यापार होते हैं। मेहता यह नहीं चाहते कि स्त्रियाँ दफ़्तरों, अदालतों में जायँ, वोटों के लिए आन्दोलन करें, इत्यादि। संक्षेप में मेहता स्त्रियों को गृहलक्ष्मी के रूप में देखना चाहते हैं। निस्सन्देह ये विचार प्रगति-विरोधी हैं, क्यों ऐसा है, इसके बारे में यहाँ जानने की आवश्यकता नहीं है। जब तक स्त्रियाँ उत्पादन के क्षेत्र में पुरुष के मुकाबिले में पिछड़ी हुई रहेंगी, तब तक यह सम्भव नहीं कि वे समाज में पुरुषों के साथ बराबरी का दर्जा हासिल करें। जिन युगों में स्त्रियाँ उत्पादन के क्षेत्र में पुरुषों के बराबर या पुरुषों से ऊँची सतह पर रही हैं, उन युगों में स्त्रियाँ सम्पूर्णरूप से स्वतन्त्र रही हैं। जो कुछ भी हो मेहता के ये विचार गोदान में आते हैं, और डाक्टर रामविलास ऐसे लेखक यह मानते हैं कि मेहता का समाजशास्त्र प्रेमचन्द का समाजशास्त्र है। मेहता के चरित्र में कुछ सत्याग्रह या रामकृष्ण मिशन किस्म की चीजों की बू आती है। फिर भी प्रेमचन्द की सफाई में यह कहा जा सकता है कि गोदान में मेहता का चरित्र इसलिए आया है कि समाज में इस तरह के विचार हैं, मेहता उन्हीं विचारों के प्रतीक के रूप में सृष्ट है।

गोदान में ग्राम-समाज का जो चित्र है, वह कवित्व पूर्ण नहीं बल्कि अत्यन्त वस्तुवादी है। दातादीन, पटेश्वरी, झिंगुरीसिंह, अनोखे

राम ये ग्राम्य-समाज के स्तम्भ हैं, किन्तु कितने सड़े-गले स्तम्भ हैं। इब्सन ने जो 'समाज के स्तम्भ' नामक नाटक लिखा है, उसे वस्तुवादी होने के नाते बहुत सराहा गया है, किन्तु ग्राम-समाज का जो चित्र प्रेमचन्द गोदान में हमें देते हैं वह उससे कुछ कम प्रशंसनीय नहीं है। शरत् बाबू ने अपने 'पल्ली-समाज' में ग्राम-जीवन के इस पहलू को कदाचित् समान सफलता के साथ चित्रित किया है, किन्तु पल्ली-समाज के चित्र से इस चित्र का फर्क यह है कि प्रेमचन्द ग्राम-समाज के निम्नतर स्तर का चित्र देते हैं। इसके अतिरिक्त शरत् बाबू ग्राम-समाज के चित्र पेश करते हुए यम को तो नहीं भूलते, उन पर वे भी खूब फब्तियाँ कसते हैं, किन्तु पुलिस को वे बिल्कुल भूल जाते हैं। अवश्य इसके लिए यह कहा जा सकता है कि बंगाल में पुलिस का प्रभाव उतना नहीं था, जितना प्रेमचन्द के प्रान्त में था, किन्तु फिर भी इस चित्र में पुलिस का न आना बहुत खटकता है। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द का यह चित्र अधिकतर सर्वांग सुन्दर और निर्भीक है। प्रेमचन्द अपने प्रथम प्रकाशित उपन्यास सेवासदन के प्रथम दृश्य से लेकर बराबर पुलिस को कभी नहीं भूलते। गोदान में भी वे पुलिस की खूब खबर लेते हैं, और यह स्पष्ट कर देते हैं कि गाँववालों की मुसीबत यदि जमींदार और उनके कारिन्दों के कारण है, उनके आपसी फूट तथा गन्दगी के कारण है, तो साथ ही उनके जीवन को नरक बनाने में पुलिस का बड़ा भारी हाथ है।

छापेखानों के प्रवर्तन के साथ-साथ भारतवर्ष में अखबारों की स्थापना और उन्नति हुई। ये अखबार यदि एक तरफ जनता को ऊपर उठाने के उद्देश्य से तथा मूक जनता को वाणी देने के उद्देश्य से निकाले गये, और एक निस्वार्थ लेखक श्रेणी का उद्भव हुआ, तो दूसरी तरफ उन्हीं की बदौलत एक ऐसे हरामखोरवर्ग का उदय हुआ जो जनता के रक्षक का बाना पहिन कर उसका भक्षक बन

गया। ओंकारनाथ इसी प्रकार के हरामखोर लेखकों की श्रेणी में है। वह लेखक कम और ब्लेक-मेलर या धमकी देकर रुपये वसूल करने वाला है। पत्रकार कला की वृद्धि के साथ-साथ इस प्रकार के लोगों के लिए गुंजाइश बढ़ती गई है, और आज तो ऐसे लेखकों की भरमार है जो पूँजी के इशारे पर सब कुछ लिखने और कहने के लिए तैयार हैं। ऐसे एक टाइप को भला प्रेमचन्दजी की तीक्ष्ण दृष्टि कैसे छोड़ देती! मातादीन पहले के युग का परोपजीवी है, उसका टाइप बहुत पुराना है, किन्तु ओंकारनाथ का टाइप ताजा है। प्रेमचन्दजी के लिए यह बहुत प्रशंसा की बात है कि वे अपने पुराने टाइपों को ही नये-नये उपन्यासों में दिखाते नहीं रहे, बल्कि जीवन से नये-नये टाइप लेते रहे। हम यहाँ पर कोई तात्विक प्रश्न नहीं उठाना चाहते, किन्तु भाड़े के लेखकों (इससे हमारा मतलब उन लेखकों से है जो रुपये पाने पर अपने मत के विरुद्ध भी कलम उटा सकते हैं), की सफाई में यह कहा जा सकता है कि जब वकील यह जानते हुये भी कि उसके मुवक्किल ने अपराध किया है, उसके वकील के रूप में अदालत में खड़ा होकर भी भला आदमी कहला सकता है, तो भाड़े का लेखक क्यों न भला आदमी समझा जाय। अवश्य इस पर वकील का तरफदार यह कह सकता है कि वकील तो केवल अदालत को भला-बुरा दोनों पहलू दिखला देता है, जिससे अदालत अपराध का सही-सही निर्णय कर सके, इसलिए उसकी परिस्थिति दूसरी है। थोड़ा सोचने पर ही ज्ञात होगा, यह सफाई गलत है क्योंकि इसी प्रकार से भाड़े का लेखक भी तो यह कह सकता है कि वह भी तो उसी प्रकार से जनता के सामने चीज के दोनों पहलू को रखने में मदद देता है, फिर उसीको क्यों बेईमान समझा जाय। सन्देह नहीं यह एक बहुत उलझा हुआ प्रश्न है। अस्तु।

श्री जैनेन्दकुमार ने गोदान के सम्बन्ध में लिखा है—'गोदान चित्र

की भाँति असमाप्त और कालप्रवाह के समान थोड़ा-बहुत अनिर्दिष्ट है।' उनके मतानुसार 'सेवासदन की सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता (complete causal wholeness) गोदान में नहीं है। पिछली रचनायें पहले की भाँति नैतिक उद्देश्य के ढँकने से ढकी सुरक्षित और बन्द नहीं है, मानों कहीं अनढकी और खुली रह गई है—इसका कारण यही है।' नैतिक उद्देश्य से कहाँ तक गोदान ढका है या नहीं है, इसकी हम पहले ही आलोचना कर चुके हैं। अवश्य इसका अर्थ यदि यह है कि गोदान में 'art for art's sake —कला कला के लिए' वाले सर्वथा लचर नुस्खा को अपनाया गया है, तो वह खयाल गलत है। अवश्य ही गोदान में लेखक कोई ready made solution लेकर सामने नहीं आते। वे मार्ग नहीं बताते, किन्तु गोदान को पढ़ कर कौन यह कह सकता है कि उसमें मार्ग का कोई निर्देश नहीं है। एंगेल्ज ने एक उपन्यासकार यशप्रार्थिनी मीनाकाउट्स्की को सलाह देते हुये यह बतलाया था कि 'लेखक के मत का प्रकाश खुद-बखुद परिस्थिति और कार्य के जरिये से होना चाहिये, उस पर विशेष जोर नहीं देना चाहिये, और लेखक पर इस बात की कोई मजबूरी नहीं है कि वह जिन सामाजिक संघर्षों का चित्रण कर रहा है उनका एक बना बनाया ऐतिहासिक समाधान दे दे।' राल्फफाक्स ने इसीको दूसरे शब्द में यह कहा है कि 'दृष्टिकोण को प्रचार कार्य के रूप में रखने की जरूरत नहीं है, परिस्थितियों तथा चरित्रों से वह बिल्कुल स्वाभाविक रूप से निसृत हो, तभी कला की बड़ाई है।'[१] इसलिए जैनेन्द्रजी ने जिसे अनढका बतलाया है, कला की दृष्टि से केवल वही ढका है, बाकी जिनको उन्होंने ढका बतलाया है, वे अनढके हैं।

रहा यह उपन्यास पूर्ण रूप से सुसम्बद्ध नहीं है, यह बात सही है।

[१] N. P., p. 91.

अवश्य सभी बड़े उपन्यास सुसम्बद्ध नहीं होते, ऐसी बात नहीं, किन्तु बड़े उपन्यासों में ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है। सब त्रुटियों के बावजूद और बड़ी से बड़ी रचना में कुछ त्रुटियाँ होती ही हैं, गोदान भारतीय साहित्य की एक अमर कृति है। प्रेमचन्द यदि केवल इसी पुस्तक को लिख जाते, तो अमर रह जाते। क्या गोदान एक समाजवादी उपन्यास है? हाँ, जितना कि एक असमाजवादी समाज में हो सकता है। गोदान से हमें समाजवादी परिणाम निकालना पड़ेगा। यही इसका समाजवाद है। अवश्य यहाँ पर स्मरण रहे कि समाजवादी दृष्टि से गोदान में एक बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि समाधान की ओर बहुत ही दबा इंगित होने पर भी इसमें किसानवर्ग को वर्गरूप में संघर्ष करता हुआ नहीं दिखलाया गया है। होरी के जीवन से किसानवर्ग के अपरिसीम दुख का चित्र हमारे सामने आ जाता है। होरी संग्रामशील भी है, किन्तु वह अभी अपनी समस्या को अपने वर्ग की समस्या के एक अंग के रूप में नहीं देख रहा है। वह संग्राम करता है, उसमें अपरिमित साहस, अभिनिवेश तथा कर्मशक्ति है, किन्तु उसमें वर्ग चेतना कतई नहीं है। इस दृष्टि से बल्कि प्रेमाश्रम का बलराज उससे कहीं श्रेष्ठ है। इस बहुत बड़ी कमी के होते हुये कदाचित यह कहा जाय कि इस उपन्यास को सर्वहारा साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। जैसा हम बता चुके, एक हद तक ऐसा कहने वाला सही होगा, किन्तु फिर भी इस पुस्तक का रुख प्रायः समाजवादी कहला सकता है, इसमें सन्देह नहीं। गोदान हमें इस नतीजे पर पहुँचने के लिए विवश करता है कि इस समाज का आमूल परिवर्तन परमावश्यक है, तथा ऐसा किसी सुधारवादी उपाय से नहीं होगा।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एच लेवी ने कला पर अपने विचार व्यक्त करते हुये लिखा था 'दो युगों के बीच के परिवर्तन कालीन युग में कलाकारों और लेखकों के कन्धों पर एक विशेष जिम्मेदारी रहती है। उन्हीं पर

इस बात का कर्त्तव्य भार रहता है कि वे भविष्य की आहट लें, ह्रास से उन मान्यताओं और मूल्यों को बचावें जो मनुष्य के लिए कल्याण-कारी हैं, इन मान्यताओं को अपनी रचनाओं में व्यक्त करें, भूतकाल की अच्छी से अच्छी वस्तु को भविष्य के निर्माण में लगावें।'[1] इस दृष्टि से देखने पर गोदान में प्रेमचन्द ने एक तरफ गान्धीवादी और उसके बाद आनेवाली वर्गसंग्राम की तीव्रता की वृद्धि पर आधारित कर्म-पद्धति तथा दूसरी तरफ विषमतामूलक वर्तमान समाज-पद्धति और आगामी समाज-पद्धति जिसमें मनुष्य के द्वारा मनुष्य को शोषण असम्भव हो जायेगा—इन दोनों तरह की कर्म-पद्धति तथा समाज-पद्धति के प्रति अपना कर्त्तव्य बहुत अच्छा तरह निभाया है। पहले की कर्म पद्धति तथा समाज-पद्धति को उन्होंने मृत्युदण्ड दिया है, और आगामी कर्म-पद्धति तथा आगामी समाज को उन्होंने एक कलाकार का आशीर्वाद दिया है। अभी हमारे इतिहास में जो युग आगामी था, १९४२ में नहीं १९३५ में ही उसकी आहट सुन लेना, और उसको अपनी कला में प्रतिफलित कर दिखलाना, यह एक बहुत ही विराट शक्ति का परिचायक है। प्रेमचन्द का गोदान इस दृष्टि से हमारी राजनीति से आगे बढ़ गया। गोदान आगामी युग का पेशखेमा था, किन्तु अवश्य साथ ही साथ वह पहले के युगों का मुकुर भी है। सच बात तो यह है कि गोदान में यही दिखलाया गया है कि पहले के युगों में ही आगामी युग अन्तर्निहित है, वह आ रहा है, उसे कोई रोक नहीं सकता। सहस्र वज्रों तथा ऐटम बमों की तरह उसकी शक्ति है, म्रियमाण तथा ह्रासशील समाज-पद्धतियाँ और विचारधारायें उसकी जययात्रा को रोक नहीं सकतीं। वह युग आ कर ही रहेगा। इसीमें गोदान की श्रेष्ठता है, इसीमें उसका अमरत्व है, इसी कारण और कला की कृतियों के मुकाबिले में उसकी श्रेष्ठता है।

---

[1] P. M. M. p. 239

प्रेमचन्द की कहानियाँ

प्रेमचन्द ने अपने जीवन-काल में २५० के करीब कहानियाँ लिखीं, इसलिए कहानी लेखक के रूप में उनका महत्व उपन्यासकार के रूप में उनके महत्व से कम नहीं है। जैसे हमने उनके उपन्यासों के सम्बंध में यह किया कि प्रत्येक उपन्यास से पाठक का परिचय कराया, और उनकी समालोचना की, वैसा इन कहानियों के सम्बंध में करना न तो सम्भव ही है, और न वाञ्छनीय ही है। इसलिए हम उनकी कुछ चुनी हुई कहानियों से ही पाठक का परिचय करायेंगे। स्वयं प्रेमचन्दजी ने अपने मराठी अनुवादक को पत्र लिखते हुये (११-१-१९२८ को तथा फिर ४-४-१९२८ को) यह बतलाया था कि हमारी अमुक अमुक कहानियाँ सर्वश्रेष्ठ हैं। यह जरूरी नहीं है कि प्रेमचन्दजी स्वयं जिन कहानियों को अपनी कहानियों में सर्वश्रेष्ठ समझते थे वे ही वास्तव में सर्वश्रेष्ठ हों। रवीन्द्रनाथ ने जब अपनी कविताओं का चयन कराया था, तो यह देखा गया था कि कवि की अपनी कविताओं में कौन-सी कवितायें सर्वश्रेष्ठ हैं, इस सम्बन्ध में उनमें और उनके बहुत विद्वान् पाठकों में मतभेद है। जो कुछ भी हो रवीन्द्रनाथ के क्षेत्र में भी यह मालूम हुआ था कि कवीन्द्र के मत में तथा सुज्ञ पाठकों के मत में प्रभेद होते हुये भी वह प्रभेद बहुत अधिक नहीं है। इसलिए वर्तमान आलोचना में हम मुख्यतः प्रेमचन्दजी ने जिन कहानियों को सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ बतलाई हैं उन्हीं तक अपनी आलोचना को सीमित रखेंगे।

जिन कहानियों को प्रेमचन्दजी अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानी समझते थे, उनमें राजा हरदौल, रानी सारन्धा, तथा शतरंज के खिलाड़ी भी हैं। हमने जो इन तीन कहानियों को अन्य सर्वश्रेष्ठ कहानियों से अलग

करके गिनाया है इसका कारण यह है कि ये कहानियाँ एक बीते हुये युग के—ह्रासशील सामन्तवाद के युग के पात्रों तथा पात्रियों को लेकर लिखी गई हैं। प्रेमचन्दजी ने इसी युग को लेकर मर्यादा की बेदी, पाप का अग्निकुंड, जुगनू की चमक, कामनातरु, सती आदि कहानियाँ भी लिखी हैं। ये कहानियाँ बहुत कुछ रोमान्टिक ढङ्ग पर लिखी गई हैं, अद्‌भुत वीरता, राजपूत की टेक, जो चक्र टर जाय, सूर्य टर जाय, सारा जगत व्यवहार टर जाय, फिर भी नहीं टरती, प्रेम, सतीत्व आदि को लेकर लिखी गई हैं, और अद्‌भुत घटनावलियाँ इनके प्राण हैं। इन कहानियों की जाँच करते समय हम केवल एक ही कसौटी अपने सामने विशेष करके रख सकते हैं, वह यह है कि क्या प्रेमचन्दजी इस ह्रासशील सामन्तवादी वर्ग के प्रेमविरह, मित्रता विग्रह, सुख-दुख, मान-अपमान, आनवान, शङ्का तथा आशाओं को चित्रित करने में तथा उस युग को मूर्त करके हमारे सामने रखने में समर्थ हुये हैं या नहीं ! इस सम्बन्ध में एक बात यह स्मरण रहे कि हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि प्रेमचन्दजी ने सज्ञान रूप से इस ह्रासशील सामन्तवादी वर्ग के चित्रण करने की चेष्टा की है। हम समझते हैं, सत्य इससे कहीं दूर है, किन्तु एक बहुत कुछ वस्तुवादी कलाकार के नाते, कहानी लिखने के आनन्द में वे उस युग के सम्बन्ध में लिख गये हैं, और वस्तुस्थिति स्वयं ही उनमें आती गई है। प्रेमचन्दजी केवल कहानी लिख रहे थे, किन्तु कलाकार की तीक्ष्ण दृष्टि के अधिकारी होने के कारण उनकी आँखे उस युग की सफेदी और स्याही पर लगी हुई थीं, इसलिए सज्ञान रूप से न लिखते हुये भी वे इस युग को अपनी इन कहानियों में पकड़ रखने में समर्थ हुये हैं। हमें यह देखना है कि वे कहाँ तक इसमें सफल रहे हैं।

१—राजा हरदौल

'राजा हरदौल' बुन्देलखंड के सम्बन्ध में एक कहानी है। शाहजहाँ

जिस समय दिल्ली के बादशाह थे उस समय खाँ जहाँ लोदी ने बलवा किया तो ओरछा के राजा जुझारसिंह ने दिल्ली के बादशाह की मदद की। इस सहायता के कारण जुझारसिंह को बादशाह ने दक्षिण का शासन भार सौंपा। दक्षिण की यात्रा के पहले राजा ने अपने छोटे भाई हरदौल को राजपाट सौंप दिया। उनकी रानी भी ओरछा में ही रह गईं। विदाई बहुत करुण रही। जुझारसिंह के शत्रु भी थे और मित्र भी, किन्तु हरदौलसिंह का कोई शत्रु न था, सब मित्र ही थे। सारी प्रजा उन पर मुग्ध थी। होली आई, इन्हीं दिनों दिल्ली का नामवर फकैत कादिरखाँ ओरछा में आया। उसने लोगों को सूचना दी कि खुदा का शेर दिल्ली का कादिरखाँ, ओरछा आ पहुँचा है, जिसे अपनी जान भारी हो आकर अपने भाग्य का निपटारा कर ले। ओरछे के बुन्देले सूरमा यह घमंड भरी बानी सुन कर गरम हो उठे। कालदेव और मालदेव बुन्देलों की नाक थे, वे सैकड़ों मैदान मार चुके थे। वे कादिरखाँ से प्रतियोगिता के लिए चुने गये। दूसरे दिन किले के सामने कालदेव और कादिरखाँ तलवार लेकर एक दूसरे पर शेरों की तरह कूद पड़े। बड़ी देर तक चोटें होती रहीं। एकाएक कादिरखाँ ने अल्लाहो अकबर चिल्लाया, मानो बादल गरज उठा और उसके गरजते ही कालदेव के सिर पर बिजली गिर पड़ी। दूसरे दिन मालदेव से कादिरखाँ का सामना हुआ, मालदेव अभी लड़ ही रहे थे, एकाएक उनकी तलवार टूट गई। राजा हरदौल अखाड़े के सामने खड़े थे, उन्होंने मालदेव की तरफ तेजी से अपनी तलवार फेंकी। मालदेव तलवार लेने के लिए झुका ही था कि कादिरखाँ की तलवार उसकी गर्दन पर आ पड़ी। घाव गहरा न था, केवल एक चरका था, पर उसने लड़ाई का फैसला कर दिया।

जब राजा हरदौल ने यह हाल देखा तो वे स्वयं अगले दिन मैदान में उतरे। तलवार टूटने का डर था, इसलिए उन्होंने अपनी भाभी

रानी कुलीना से तलवार माँगी। इस तलवार के लिए जुझारसिंह को आज्ञा थी कि किसी दूसरे की परछाई भी इस पर न पड़े, किन्तु हरदौल के अनुरोध पर रानी ने तलवार दे दी। इस तलवार को लेकर राजा हरदौल युद्ध क्षेत्र में उतरे और उन्होंने कादिरखाँ को हरा दिया।

राजा जुझारसिंह लौट कर अपने राज्य में वापस आ रहे थे, वे रास्ते में विश्राम कर रहे थे, इतने में हरदौल के साथ बहुत से योद्धा शिकार करते हुये, उधर आ निकले, जुझारसिंह अकेले बैठे थे, किसी ने उनको देखा नहीं। थोड़ी देर में हरदौलसिंह की आँख उधर गई तो घोड़े से कूद पड़े, और भाई को प्रणाम किया। राजा ने उठ कर हरदौल को छाती से लगाया, पर उस छाती में अब भाई की मुहब्बत न थी। मुहब्बत की जगह ईर्ष्या ने घेर ली थी, और केवल इसीलिए कि हरदौल दूर से नंगे पैर उनकी तरफ न दौड़ा। दोनों भाई राजमहल में गये। कुलीना ने स्वयं भोजन बनाया था, स्वयं थाल परोसे थे, और स्वयं ही सामने लाई थी, पर दिनों का चक्र कहो, या भाग्य के दुर्दिन, उसने भूल से सोने का थाल हरदौल के आगे रख दिया, और चाँदी का राजा के सामने। हरदौल ने कुछ ध्यान न दिया। वह वर्ष भर से सोने की थाल में खाते खाते उसका आदी हो गया था, पर जुझारसिंह तलमिला गये। रात के समय कुलीना और राजा की भेंट हुई। दूर ही से रानी ने ताड़ लिया कि राजा क्रोध में है। कुलीना ने अपने अपराध की क्षमा माँगी, किन्तु राजा ने कहा कि इसका प्रायश्चित करना होगा।

कुलीना—क्योंकर?

राजा—हरदौल के खून से।

रानी बहुत उधेड़-बुन में पड़ गई कि निर्दोष का क्योंकर वध किया जाय, वह बोली—मेरे खून से दाग न मिटेगा?

राजा—तुम्हारे खून से और पक्का हो जायगा।

रानी—और कोई उपाय नहीं है ?

राजा—नहीं ।

अब एक दासी ये सब बातें सुन रही थी। उसने जाकर हरदौल को पूरा विवरण बता दिया। उसने यह तय कर लिया कि वह आत्म-दान करेगा। जुझारसिंह के सामने ही उन्होंने विष मिश्रित पान का बीड़ा खा लिया। सच बात तो यह है कि जुझारसिंह ने ही यह बीड़ा स्वयं उठा कर भाई को दिया था। यह पान कंठ के नीचे उतरते ही हरदौल के मुखड़े पर मुर्दनी छा गई, और आँखें बुझ गई। जुझारसिंह अपनी जगह से जरा भी न हिले। उनके चेहरे पर ईर्ष्या से भरी हुई मुस्कराहट छाई हुई थी, पर आँखों में आँसू भर आये थे। उजेले और अँधेरे का मिलाप हो गया था।

२-रानी सारन्धा

यह कहानी भी बुन्देलखंड की ही है। अनिरुद्धसिंह वीर राजपूत थे। एक दिन उनकी स्त्री शीतला और उनकी बहिन सारन्धा आपस में बैठी हुई बात कर रही थीं। शीतला को नींद नहीं आ रही थी, क्योंकि अनिरुद्धसिंह लड़ाई में गये हुये थे। इतने में द्वार खुला, और एक गठे हुये बदन के रूपवान पुरुष ने भीतर प्रवेश किया। यही अनिरुद्ध थे। उसके कपड़े भीगे थे, और बदन पर कोई हथियार नहीं थे। सारन्धा ने पूछा कि ये कपड़े भीगे क्यों हैं, तो मालूम हुआ कि अनिरुद्ध नदी पैर कर आये हैं।

सारन्धा—हथियार क्या हुये ?

अनिरुद्ध—छिन गये।

सारन्धा—और साथ के आदमी ?

अनिरुद्ध—सब ने वीरगति पाई।

शीतला ने दबी जबान से कहा—'ईश्वर ने ही कुशल किया'—

मगर सारन्धा के तेवरों पर बल पड़ गये, और मुखमंडल गर्व से सतेज हो गया। बोली—भैय्या तुमने कुल की मर्यादा खो दी। ऐसा कभी नहीं हुआ था।

शीतला को यह बात बुरी लगी, किन्तु अनिरुद्ध के दिल में यह बात चुभ गई। शीतला ने नागिन की तरह बल खाकर कहा—मर्य्यादा इतनी प्यारी है!

सारन्धा—हाँ।

शीतला—अपना पति होता तो हृदय में छिपा लेतीं।

सारन्धा—ना, छाती में छुरी चुभा देती।

शीतला ने ऐंठकर कहा—झोली में छिपाती फिरोगी,—मेरी बात गिरह में बाँध लो।

सारन्धा—जिस दिन ऐसा होगा, मैं भी अपना वचन पूरा कर दिखाऊँगी।

यथासमय सारन्धा की शादी ओरछा कुलतिलक राजा चम्पतराय से हुई। राजा के रनिवास में पाँच रानियाँ थीं। घटनाचक्र से चम्पतराय मुगल बादशाह के आश्रित हो गये। अब सारन्धा बहुत दुखी रहने लगी। एक दिन जब चम्पतराय ने इस बात पर बहुत जिद्द की कि वे बतावें कि क्यों वे दुखी रहती हैं, तब उन्होंने कहा—ओरछा में मैं एक राजा की रानी थी, यहाँ मैं एक जागीरदार की चेरी हूँ। ओरछा में मैं वह थी जो अवध में कौशल्या थी, परन्तु यहाँ मैं बादशाह के एक सेवक की स्त्री हूँ। जिस बादशाह के सामने आज आप आदर से सिर झुकाते हैं, वह कल आपके नाम से काँपता था। रानी से चेरी होकर भी प्रसन्न चित्त होना मेरे बस में नहीं है। आपने यह पद और यह विलास की सामग्रियाँ बड़े महँगे दामों में मोल ली हैं।

चम्पतराय के नेत्रों से एक पर्दा-सा हट गया। आज से उन्हें फिर उसी उजड़ी बस्ती की फिक्र हुई, जहाँ से धन और कीर्ति की अभि-

लाशायें खींच लायी थीं। इसी बीच में शाहजहाँ बीमार पड़ा, शाहजादों में पहले से ईर्ष्या की अग्नि दहक रही थी। यह खबर सुनते ही ज्वाला प्रचण्ड हो गई, संग्राम की तैयारियाँ होने लगीं। शाहजादा मुराद और मोहीउद्दीन कदम बढ़ाते हुये धौलपूर के निकट चम्बल के तट पर आ पहुँचे, परन्तु यहाँ उन्होंने बादशाही सेना को अपने शुभागमन के निमित्त तैयार पाया। विवश होकर चम्पतराय के पास सन्देश भेजा। राजा ने रानी से सलाह माँगी, तो रानी ने यह सलाह दी कि हाथ फैलाने की मर्यादा भी तो निभानी चाहिये। स्मरण रहे चम्पतराय दाराशिकोह के दोस्त थे, और इस प्रकार इन शाहजादों को मदद देना उनके विरुद्ध पड़ता था। जो कुछ भी हो राजा की मदद से विजयलक्ष्मी शाहजादों की अंकशायिनी हुई। विजय के बाद लूट मची। लोगों को बादशाही सेना का सेनापति वलीबहादुरखाँ की लाश दिखाई दी। उसके निकट उसका घोड़ा खड़ा हुआ अपनी दुम से मक्खियाँ उड़ा रहा था। राजा को घोड़ों का शौक था। यह इराकी जाति का अति सुन्दर घोड़ा था। एक एक अंग साँचे में ढला हुआ, सिंह को-सी छाती, चीते की सी कमर इत्यादि। कोई उस घोड़े को पकड़ न सका। तब सारन्धा अपने खेमे से निकली, और निर्भय होकर घोड़े के पास चली गई, घोड़े ने गर्दन झुका दी। वह इस तरह चुपचाप सारन्धा के पीछे-पीछे चला, मानो सदैव से उसका सेवक रहा हो।

अन्त में औरङ्गजेब गद्दी का मालिक हुआ। वह गुणज्ञ था। उसने बादशाही सरदारों के अपराध क्षमा कर दिये, उनके राज्यपद लौटा दिये। राजा चम्पतराय को बारहहजारी मन्सब दे दिया। मालूम होता है वलीबहादुरखाँ असल में मरा नहीं था, क्योंकि बाद को हम उसे जीवित देखते हैं। एक दिन चम्पतराय के ज्येष्ठ-पुत्र छत्रसाल उसी के घोड़े पर सवार होकर सैर करते-करते वलीबहादुर के महल की तरफ जा निकला। वलीबहादुर ने जो उस घोड़े को देखा तो उसने

घोड़ा छिनवा लिया, और उसी घोड़े पर सवार होकर दरबार चले गये। रानी सारन्धा ने जब यह बात सुनी तो वह स्वयं २५ योद्धाओं को लेकर दरबार की तरफ चली। दरबार में हलचल मच गई। आलमगीर भी सहन में निकल आये। लोग अपनी-अपनी तलवार सम्हालने लगे। सारन्धा ने उच्च स्वर से कहा—खाँ साहेब बड़ी लज्जा की बात है कि आपने वह वीरता जो चम्बल के तट पर दिखानी चाहिये थी, आज एक अबोध बालक के सन्मुख दिखाई है। क्या यह उचित थी कि आप उससे घोड़ा छीन लेते?

खाँ साहब—किसी गैर को क्या मिजाज है कि मेरी चीज अपने काम में लाये।

रानी—वह आपकी चीज नहीं, मेरी है। मैंने उसे रणभूमि में पाया है, और उस पर मेरा अधिकार है। क्या रणनीति की इतनी मोटी बात भी आप नहीं जानते?

खाँ साहब—वह घोड़ा मैं नहीं दे सकता। उसके बदले में सारा अस्तबल आपको नजर है।

रानी—मैं अपना घोड़ा लूँगी।

खाँ साहब—मैं उसके बराबर जवाहरात दे सकता हूँ, परन्तु घोड़ा नहीं दे सकता।

रानी—तो फिर इसका निश्चय तलवारों से होगा।

बादशाह बीच में पड़े, उन्होंने कहा—आप सिपाहियों को रोकें, घोड़ा आपको मिल जायगा, परन्तु उसका मूल्य बहुत देना पड़ेगा।

रानी ने कहा, वह इसके लिए सर्वस्व त्यागने को तैयार है। बादशाह ने पूछा कि क्या वह जागीर और मन्सब भी त्यागने पर तैयार है, इस पर रानी ने कहा कि जागीर और मन्सब कोई चीज नहीं। बादशाह ने पूछा—अपना राज्य भी।

रानी—हाँ, राज्य भी।

बादशाह—एक घोड़े के लिए!

रानी—नहीं—उस पदार्थ के लिए जो संसार में सबसे अधिक मूल्यवान है।

बादशाह—वह क्या है?

रानी—अपनी आन।

इस भाँति रानी ने एक घोड़े के लिए अपनी विस्तृत जागीर, उच्च राज्यपद और राज्यसम्मान सब हाथ से खोया, और केवल इतना भी नहीं, भविष्य के लिए काँटे बोये।

इसके बाद चम्पतराय ओरछा में लौटे, किन्तु वहाँ भी उन्हें शान्ति न मिली। साथियों में बहुतों ने उन्हें छोड़ दिया, दगा कर गये, यहाँ तक कि उन्हें ओरछा छोड़ देना पड़ा, और सघन पर्वतों में छिपे रहे। अन्त में बादशाही सेना ने भी उन पर हमला बोल दिया। राजा चम्पतराय स्वयं ज्वर से पीड़ित थे। उन्होंने कई दिन से चारपाई नहीं छोड़ी थी। उन्हें देख कर लोगों को कुछ ढारस रहता था, लेकिन उनकी बीमारी से सारे किले में नैराश्य छाया हुआ था। रानी ने सलाह दी कि किला छोड़ कर चल दिया जाय, किन्तु राजा ने कहा जिन मर्दों ने अपनी जान हमारी सेवा में अर्पण कर दी है, उनकी स्त्रियों और बच्चों को मैं यों कदापि नहीं छोड़ सकता।

सारन्धा—लेकिन यहाँ रह कर हम उनकी कुछ मदद भी तो नहीं कर सकते।

राजा—उनके साथ प्राण तो दे सकते हैं।

सारन्धा ने लज्जित होकर सिर झुका लिया, और सोचने लगी, अपने प्रिय साथियों को आग की आँच में छोड़ कर अपनी जान बचाना घोर नीचता है। अन्त में इसने राजा से कहा—यदि आपको

विश्वास हो जाय कि इन आदमियों के साथ कोई अन्याय न किया जायगा, तब तो चलने में कोई बाधा न होगी।

राजा—(सोचकर) कौन विश्वास दिला येगा ?

सारन्धा—बादशाह के सेनापति का प्रतिज्ञा-पत्र।

रानी ने छत्रसाल को बुलाया और बादशाह के सेनापति के पास भेज दिया। अन्त में वह प्रतिज्ञा-पत्र मिल गया, किन्तु छत्रसाल के दामों पर। चम्पतराय वहाँ से निकल गये तो बीच रास्ते में बादशाह की सेना ने उनकी डोली घेर ली। राजा बीमार होते हुये भी तलवार लेकर झपटे किन्तु गिर पड़े। चम्पतराय यह नहीं चाहते थे कि गिरफ़्तार होकर दिल्ली के कैदखानों में सड़ें, उन्होंने रानी से कहा—तुमने मेरी बात कभी नहीं टाली।

सारन्धा—मरते दम तक न टालूँगी।

राजा—यह मेरी अन्तिम याचना है। इसे अस्वीकार न करना।

सारन्धा यह समझी कि राजा यह कह रहे हैं कि वह (सारन्धा) आत्महत्या कर ले। राजा ने कहा—मैं तुमसे एक वरदान माँगता हूँ।

रानी—सहर्ष माँगिये।

राजा—यह मेरी अन्तिम प्रार्थना है। जो कुछ कहूँगा करोगी ?

रानी—सिर के बल करूँगी।

राजा—देखो तुमने वचन दिया है, इंकार न करना।

रानी—(काँप कर) आपके कहने की देर है।

राजा—अपनी तलवार मेरी छाती में चुभा दो।

रानी के हृदय में वज्रपात-सा हो गया। बादशाह के सिपाही राजा की तरफ लपके। राजा ने नैराश्य-पूर्ण भाव से रानी की ओर देखा। रानी क्षण भर अनिश्चित रूप से खड़ी रही। फिर सारन्धा ने दामिनी की भाँति लपक कर अपनी तलवार राजा के हृदय में चुभा दी।

राजा के हृदय से रुधिर की धारा निकल रही थी, पर चेहरे पर शान्ति छाई हुई थी। बादशाही सिपाहियों के सरदार ने आगे बढ़ कर कहा—रानी साहबा, खुदा गवाह है, हम सब आपके गुलाम हैं। आपका जो हुक्म हो उसे बसरो चश्म बजा लायेंगे।

सारन्धा ने कहा—अगर हमारे पुत्रों में से कोई जीवित हो, तो ये दोनों लाशें उसे सौंप देना।

यह कह कर उसने वही तलवार अपने हृदय में चुभा ली। जब वह अचेत होकर धरती पर गिरी, तो उसका सिर राजा चम्पतराय की छाती पर था।

३—मर्यादा की वेदी

इस कहानी को प्रेमचन्दजी ने या किसी भी समालोचक ने सर्वश्रेष्ठ कहानियों में नहीं लिखा है। इसलिए हम इस कहानी के सम्बन्ध में बहुत संक्षेप में केवल इतना ही कह देंगे कि इस कहानी में भी सामन्त-वाद के युग का एक पहलू चित्रित है। इस कहानी का कथानक यों है कि मालावाड़ की राजकुमारी प्रभा का विवाह मन्दार के राजकुमार के साथ तय हुआ था। राजकुमारी इस राजकुमार से प्रेम भी करने लगी थी। विवाह की सब तैयारियाँ हो चुकी हैं, इतने में चित्तौड़ के राना आते हैं, और आकर राजकुमारी को हरण करके ले जाते हैं। प्रभा चित्तौड़ में उदास रहती थी राना भी उसे उदास देख कर उसके पास नहीं आते थे। इतने में एक दिन मन्दार के राजकुमार किसी प्रकार मौका लगा कर राजमहल में घुस आये और उन्होंने राजकुमारी से अनुरोध किया कि मेरे साथ चलो, किन्तु प्रभा ने ऐसा करने से इन्कार किया। प्रभा का कहना यह था कि संसार की दृष्टि में वह चित्तौड़ की रानी हो चुकी है, अब राना जिस भाँति उसे रखेंगे, उस भाँति रहेगी। वह अन्त समय तक उनसे घृणा करेगी, जलेगी, कुढ़ेगी, जब जलन न सही जायगी, विष खा लेगी, या छाती में कटार मार कर मर जायगी, किन्तु इसी भवन में। वह इस

घर से बाहर कदापि पैर न रखेगी। अब राजकुमार ने जो ये बातें सुनी तो वह आपे से बाहर हो गये, और उन्होंने उग्रभाव से कहा कि यदि मैं तुम्हें यहाँ से उठा ले जाऊँ। प्रभा बोली—तो मैं वही करूँगी, जो ऐसी अवस्था में क्षत्राणियाँ किया करती हैं, या तो अपने गले में छुरी मार लूँगी, वा तुम्हारे गले में।

राजकुमार ने इस पर ताना देते हुये कहा कि जिस समय राणा तुमको उठा लाये थे, उस समय यह छुरी कहाँ गई थी? प्रभा को यह कटुवचन बहुत बुरा लगा, और उसने बताया—उस समय छुरी के एक वार से खून की नदी बहने लगती। मैं नहीं चाहती थी कि मेरे कारण मेरे भाई-बन्धुओं की जान जाय। इसके सिवाय मैं कुँवारी थी। मेरी मर्यादा के भङ्ग होने का कोई भय नहीं था...

बात-बात में बात बढ़ गई, और राजकुमार ने तलवार खींच ली, और प्रभा की तरफ़ लपके, इतने में पीछे से राणा लपककर आये। दोनों में युद्ध हुआ, प्रभा बीच में आ गई, राना की तलवार का पूरा हाथ उसके कन्धे पर पड़ा, रक्त की फुहार छूटने लगी। "प्रेम के रहस्य निराले हैं। अभी एक क्षण हुये राजकुमार प्रभा पर तलवार लेकर झपका था। उसके खून का प्यासा था। ईर्ष्या की अग्नि उसके हृदय में दहक रही थी, वह रुधिर की धारा से शान्त हो गई। कुछ देर तक वह अचेत बैठा रोता रहा। फिर उठा, और उसने तलवार उठाकर जोर से अपनी छाती में चुभो ली। फिर रक्त की फुहार निकली, दोनों धारायें मिल गईं, और उनमें कोई भेद नहीं रहा। प्रभा उसके साथ चलने पर राजी न थी। किन्तु वह प्रेम के बन्धन को तोड़ न सके। दोनों उस घर ही से नहीं संसार से एक साथ सिधारे।"

४—पाप का अग्निकुण्ड

पाप का अग्निकुण्ड भी इसी पहलू की एक कहानी है। कुँवर पृथ्वीसिंह महाराज जसवन्तसिंह के पुत्र थे, इनकी एक बहिन राजनन्दिनी भी भाई की तरह सर्वगुण सम्पन्न थी। इसका ब्याह कुँवर धर्मसिंह से हुआ। पृथ्वीसिंह की स्त्री दुर्गा कुँवारी बहुत सुशीला और चतुरा थी। ननद-भावज में बहुत सद्भाव था। एक दिन जब पृथ्वीसिंह और धर्मसिंह महाराज के साथ अफगानिस्तान की मुहीम पर गये थे, उस समय ब्रजविलासिनी नामक एक विदुषी स्त्री से उनकी मुलाकात हुई। यह स्त्री गुप्त रूप से एक व्रत धारण किये हुये थी। उसके व्रत का उदभव यों हुआ था कि एक दिन वह अपने द्वार पर खड़ी थी, इतने में उसकी प्यारी गाय मोहिनी जङ्गल से लौटी, तो वहाँ उसका बच्चा एक सजीले राजपूत से टकरा गया। गाय उस राजपूत पर झपटी। राजपूत ने शायद सोचा कि यदि भागता हूँ तो कलंक का टीका लगता है, तुरन्त तलवार म्यान से खींच ली और गाय पर झपटा। राजपूत ने उस गाय को जान से मार डाला। इतने में ब्रजविलासिनी के पिता वहाँ पर आये, और उन्होंने जब गाय को मरी हुई पाया तब बहुत झल्ला गये। ब्रजविलासिनी के पिता ने अपनी बेटी से कहा कि चूँकि उनका कोई बेटा नहीं है, इसलिए इसका बदला लेने का भार उसी पर है, उन्होंने अपनी तलवार देते हुये कहा—'यह मेरी तलवार लो, जब तक तुम यह तलवार उस राजपूत के कलेजे में भोक न दो तब तक भोग-विलास न करो।' यह कहकर पिता तो चल बसे, और ब्रजविलासिनी उस राजपूत को ढूँढने लगी। इसी हालत में वह इन राजकुमारियों के पास पहुँची थी।

राजकुमारियों ने ब्रजविलासिनी के साथ हमदर्दी जाहिर की। बहुत दिनों बाद धर्मसिंह और पृथ्वीसिंह मुहीम से लौटे। उनका स्वागत

हुआ, अब ब्रजविलासिनी ने देखा तो धर्मसिंह ही वे राजपूत निकले। इधर पृथ्वीसिंह की स्त्री ने पृथ्वीसिंह को ब्रजविलासिनी के टेक के सम्बन्ध में बताया और उनसे प्रतिज्ञा करा ली, कि यदि वह दुष्ट राजपूत मिल गया तो वे उससे बदला लेंगे, उसे मालूम नहीं था कि धर्मसिंह ही वह व्यक्ति है, जिसकी तलाश ब्रजविलासिनी कर रही थी। धर्मसिंह और पृथ्वीसिंह अफगानिस्तान से लौटने के दूसरे दिन शिकार पर गये, वहाँ पृथ्वीसिंह ने अपने साथी को यह बतलाया कि उन्होंने तय कर लिया है कि वे उस दुष्ट का वध करेंगे जिसने ब्रजविलासिनी को सताया है। धर्मसिंह ने पूछा कि यदि वह तुम्हारा कोई नातेदार हो तो भी इस प्रतिज्ञा को निभाओगे, पृथ्वीसिंह ने कड़क कर कहा—'कोई हो यदि वह मेरा भाई भी हो तो भी जीता चुनवा दूँ।' अन्त में धर्मसिंह ने यह बताया कि वह स्वयं ही वह व्यक्ति है। पृथ्वीसिंह ने घबड़ाकर कहा—ऐं, तुम ?—मैं।

धर्मसिंह—राजपूत अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो।

इतना सुनते ही पृथ्वीसिंह ने बिजली की तरह कमर से तेगा खींच लिया, और उसे धर्मसिंह के सीने में चुभो दिया। धर्मसिंह जमीन पर गिरकर धीरे से बोले—'पृथ्वीसिंह मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ, तुम सच्चे वीर हो। तुमने पुरुष का कर्त्तव्य पुरुष की भाँति पालन किया। पृथ्वीसिंह यह सुनकर जमीन पर बैठ गये और रोने लगे। राजनंदिनी अपने पति के साथ सती होने को तैयार हो गई। कुँवर पृथ्वीसिंह हाथ जोड़कर सती से अपने अपराध की क्षमा माँगने लगे, किन्तु सती ने उत्तर दिया —'क्षमा नहीं हो सकती। तुमने एक नौजवान राजपूत की जान ली है, तुम भी जवानी में मारे जाओगे।' बाद को सती का यह वचन पूरा हुआ। इस पर प्रेमचन्दजी अन्त में कहते हैं—'पाप की आग कैसी तेज होती है ! एक पाप ने कितनी जान ली ? राजवंश के दो कुमार और दो कुमारियाँ देखते-देखते इस अग्निकुण्ड में स्वाहा हो गईं। सती का

वचन सच हुआ, और सात ही सप्ताह के भीतर पृथ्वीसिंह दिल्ली में कत्ल किये गये, और दुर्गाकुमारी सती हो गई।'

५—जुगनू की चमक

पंजाब के सिंह राजा रणजीतसिंह के मरने के बाद उनका सुन्दर किन्तु खोखला भवन अब नष्ट हो गया था। कुँवर दिलीपसिंह अब इंगलैण्ड में थे और रानी चन्द्रकुँवारी चुनार के दुर्ग में कैद थी। कथा केवल इतनी है कि वे एक दिन मौका पाकर चुनार के दुर्ग से भाग निकलीं, और भिखारिन के भेष में इधर-उधर घूमने लगीं। एक जगह उनसे नैपाल के एक सर्दार की भेंट हो गई, और उन्होंने उनसे कहा कि वे चलकर नैपाल के राजा के यहाँ आश्रय लें। रानी ने आश्चर्य से कहा कि नैपाल कब हमारा मित्र रहा है, वही जंगबहादुर तो है जो अभी-अभी हमारे विरुद्ध लार्ड डलहौजी को सहायता देने पर उद्यत था। इस पर उस नैपाली ने कहा—तब आप महारानी चन्द्रकुँवारी थी, आज आप भिखारिणी हैं। ऐश्वर्य के द्वेषी और शत्रु चारों ओर होते हैं, लोग जलती हुई आग को पानी से बुझाते हैं, पर राख माथे पर चढ़ाई जाती है।

महारानी ने जाकर नैपाल में आश्रय लिया, किन्तु राजसभा में इस पर बड़ा झगड़ा मचा। बहुतों ने आपत्ति की कि अंग्रेज सरकार हमारी मित्र सरकार है, अतएव उसके शत्रु को आश्रय देना उचित न होगा, अन्त में राणा जंगबहादुर ने शरणागत पालन धर्म के अनुसार लोगों को समझाया, और लोगों ने आपत्ति वापिस ले ली। राणा ने अपनी राज-सभा को यह विश्वास दिलवाया कि रानी यहाँ पर एक व्यक्ति की तरह रहेगी न कि षड्यन्त्रकारिणी की तरह। नैपाल की राज-सभा ने पचीस हजार रुपये से महारानी के लिए एक उत्तम भवन बनवा दिया, और उनके लिए दस हजार रुपये मासिक नियत कर दिया।

पोलिटिकल रेजिडेन्ट ने गवर्नमेन्ट को रिपोर्ट दी, इस बात की शंका की थी कि गवर्नमेन्ट आफ इंडिया और नैपाल के बीच कुछ खिचाव हो जाय, किन्तु गवर्नमेन्ट को राणा जङ्गबहादुर पर पूर्ण विश्वास था, और जब नैपाल की राज-सभा ने विश्वास और सन्तोष दिलाया कि महारानी चन्द्रकुँवारी को किसी शत्रु भाव के प्रयत्न का अवसर न दिया जायेगा, तो भारत सरकार को भी सन्तोष हो गया। प्रेमचन्दजी यह कहकर इस गल्प का अन्त करते हैं 'इस घटना को भारतीय इतिहास की अँधेरी रात में 'जुगनू की चमक' कहना चाहिये।'

६—शतरंज के खिलाड़ी

शतरंज के खिलाड़ी नामक कहानी को स्वयं प्रेमचन्दजी ने अपनी उत्कृष्टतम कहानियों में गिना है, और इसमें सन्देह नहीं कि वह एक बहुत अच्छी कहानी है। जिस प्रकार की कहानियों के सम्बन्ध में अब तक हमने आलोचना की है, उन कहानियों में यह कहानी सर्वश्रेष्ठ है। इस कहानी में ह्रासशील सामन्तवाद का इतना सुन्दर चित्र खींचा गया है कि बहुत बड़ी पुस्तक लिख करके भी इस मरणशीलता को इतना मूर्त नहीं किया जा सकता था। जिस समय सामन्तवाद का उदय हुआ था, तथा जिस समय वह एक प्रगतिशील सामाजिक शक्ति थी, उस समय उसका रंग ही कुछ और था। किन्तु अब उसकी अमावस्या आ चुकी है। प्रेमचन्द इस कहानी में इतने सफल हैं कि वे एक सज्ञान कलाकार के रूप में हमारी आखों के सामने आते हैं। डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने इस कहानी के सम्बन्ध में यह जो लिखा है कि "मीर और मिर्जा तो केवल निमित्त मात्र हैं, कहानी का प्रधान उद्देश्य तो शतरंज की लत का कलापूर्ण चित्रण है"[1] यह बिल्कुल गलत है। डाक्टर साहब ने इस

---

[1] आ० हि० सा० वि० पृ० ३३६

प्रकार प्रेमचन्द की कला को समझा ही नहीं और उसे बिल्कुल ही छोटा कर दिया। अवश्य ही शतरंज की लत दिखाना लेखक का उद्देश्य है, किन्तु उन्होंने इस लत के जरिये से कुछ दूसरी ही बातें दिखलाई हैं, जिनको डाक्टर साहब समझने में सम्पूर्णरूप से असमर्थ रहे। केवल यही नहीं जो बात इस कहानी का सबसे बड़ा गुण है—और वह है एक पूरे युग के सागर को एक कहानी के छोटे से गागर में भरकर पेश कर देना, उसीको डाक्टर साहब ने इस कहानी का अवगुण बताया है। उन्होंने लिखा है—'प्रेमचन्द का शतरंज के खिलाड़ी को ले लीजिये। लेखक ने पहले वाजिदअली शाह के समय में लखनऊ के विलासमय जीवन का सुन्दर चित्र खींचा है। इस वातावरण ने कहानी को अनुरंजित अवश्य कर दिया, परन्तु इससे कथानक के विकास में सहायता नहीं मिलती। कथानक का विकास तो शतरंज खेलने के अपूर्व आनन्द की भावना से होता है। कहानी के पात्र तो केवल निमित्त मात्र हैं।' यह कहानी कि इस कहानी में वातावरण से कथानक के विकास में सहायता नहीं मिलती, तथा कथानक की सारभूत बात शतरंज खेलने का आनन्द है, लालबुझक्कड़ी की हद है। हमें आश्चर्य है कि डाक्टर साहब ने इतनी भारी गलती कर डाली। विशेषकर आश्चर्य इसलिए है कि स्वयं प्रेमचन्दजी इस कहानी में पाठक का हाथ पकड़कर और उसकी आँखों में उँगली डालकर बता देते हैं कि वे क्या दिखाने जा रहे हैं। इस कहानी में प्रेमचन्द एक बहुत ही सज्ञान कलाकार के रूप में प्रकट होते हैं, और किसी भी प्रकार इस सम्बन्ध में गलती नहीं हो सकती थी कि उनका अभिप्राय क्या है। शुरू से आखिर तक यह कहानी उस समय के समाज के चित्रण से भरी हुई है। जैसे एक कार्टूनिस्ट अपनी विषयवस्तु को चित्रित किसी व्यक्ति की नाक बड़ी करके या कान बड़ा करके या अन्य किसी प्रकार से स्पष्ट करता है, जैसे कोई हास्यरस का लेखक समाज के

किसी दुर्गुण को लेकर उसका मजाक बनाकर उसकी ओर दृष्टि आकर्षित करता है, उसी प्रकार प्रेमचन्दजी ने शतरंज की लत को अपनी कला के वाहन के रूप में चुना है, इसलिए उस लत को ही इस कहानी का सर्वस्व समझ लेना या यह समझ लेना कि प्रेमचन्द का उद्देश्य केवल शतरंज की लत पर फब्तियाँ कसना है, यह बिल्कुल ही उसकी कला को न समझना है, तथा उसका अपमान करना है। क्या कोई कलाकार ऐसा करेगा कि मैं यह कहना चाहता हूँ, मेरा यह उद्देश्य है, मेरे व्यंग का निशाना अमुक गुण है? कभी नहीं। फिर भी इस कहानी में ही प्रेमचन्दजी ने कला के दायरे में रहते हुये जितनी भी स्पष्टता के साथ अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया जा सकता था, उन्होंने किया है। हम इस कहानी की तथा पतनशील सामन्तवाद के सम्बन्ध में उनकी जिन कहानियों के साथ हमने पाठक का परिचय कराया है, उनकी विस्तृत समालोचना करेंगे, किन्तु ऐसा करने के पहले हम अपने नियमानुसार शतरंज के खिलाड़ी का संक्षिप्त विवरण पाठक के सामने पेश करेंगे। इस कहानी की उत्कृष्टता के कारण हम अन्य कहानियों के मुकाबिले में कुछ तफसील में इसका सारसंकलन करेंगे. विशेषकर हम उस हिस्से को ज्यों का त्यों उद्धृत करने की चेष्टा करेंगे जो पतनशील सामन्तवाद के चित्र को हमारे सामने मूर्त करता है।

यह कहानी लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह के समय को चित्रित करता है। 'लखनऊ विलासिता के रं में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुये थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम क पीनक के मजे लेता था।' स्मरण रहे यहाँ पर प्रेमचन्दजी ने छोटे-बड़े, अमीर-गरीब शब्द का प्रयोग किया है, वह सामन्तवादीवर्ग में से छोटे-बड़े तथा अमीर-गरीब का अर्थ रखता है, इससे उन अर्धगुलामों का मतलब नहीं लेना चाहिये, जिनकी हड्डियों के ढेर पर यह विलासिता का दौरदौरा च ा

रहा था। 'जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन विभाग में, साहित्यक्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कलाकौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुर्मे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे।' समाजवादी साहित्य की भाषा में सभी श्रम इस समय विलासिता के द्रव्यों के उत्पादन में लगा हुआ था।

"सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसको किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है, पौबारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है।" यहाँ पर डाक्टर श्रीकृष्णलाल को देख लेना चाहिये कि शतरंज की अधिकता केवल समाज के रोगों में से एक रोग था, रहा यह कि प्रेमचन्दजी ने शतरंज को ही अपनी कला का वाहन क्यों बनाया यह समझना कोई कठिन नहीं है। शतरञ्ज सर्वजन बोध्य खेल होने के कारण तथा उसके जरिये से रस का परिपाक अधिक अच्छी तरह हो सकता है, इस कारण प्रेमचन्दजी ने एक कलाकार की पैनी दृष्टि से इसीको अपना वाहन बनाया। आगे प्रेमचन्दजी लिखते हैं—'राजा से रङ्क तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फकीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न खाकर अफीम खाते या मादक पीते। शतरञ्ज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचारशक्ति का विकास होता है पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है, ये दलीलें जोर के साथ पेश की जाती थीं।' संक्षेप में यह कि लोगों ने अपनी नकर्मण्य आदतों के समर्थन में उन्हीके अनुरूप विचारधारा भी उत्पन्न की थी।

आगे कहानी यह है कि मिर्जा सज्जादअली और मीर रोशन अली, अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे। दोनों के पास मौरूसी जागीरें थी, जीविका की कोई चिन्ता न थी, घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। सबेरे से शाम तक ये दोनों सज्जन शतरञ्ज में जुटे रहते थे। घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता, खाना तैयार पड़ा रहता, किन्तु दोनों बेहोश खेलते रहते, अन्त में खाना वहीं आ जाता। ये दोनों साहब यों तो एक नम्बर आलसी थे, किन्तु इस लत के कारण बहुत सबेरे उठते, और रात में देर को सोते। एक दिन बेगम साहिबा के सिर में दर्द होने लगा, घर से कई बार खबर आई किन्तु मिर्जाजी उठते ही न थे, बात यह है कि बड़ी दिलचस्प बाजी चल रही थी। मिर्जाजी झुँझलाकर बोले—क्या ऐसा दम लबों पर है! जरा सब्र नहीं होता?

अन्त में मीर साहब के अनुरोधों के कारण उन्हें वहाँ से उठना पड़ा। जब अन्दर गये तो बेगम साहिबा ने कराहते हुये कहा—तुम्हें निगोड़ी शतरञ्ज इतनी प्यारी है। चाहे कोई मर जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते......।

मिर्जा—क्या कहूँ मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वे खुद निखट्टू हैं, वैसे ही दूसरे को समझते हैं, उनके भी तो बाल-बच्चे हैं, या सबको सफाया कर डाला।

मिर्जा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है तो मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुत्कार क्यों नहीं देते?

मिर्जा—बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिजा करना ही पड़ता है।

बेगम साहिबा ने नौकरनी से कहा कि जाकर शतरंज उठा ला और उन्हें कह दे कि अब शतरंज न होगी। अब मिर्जाजी ने जब यह हाल देखा कि अनर्थ हो रहा है तो नौकरनी को रोक लिया, तब बेगम साहिबा स्वयं उठीं और झल्लाई हुई दीवानखाने की ओर चलीं। मिर्जा बेचारे का रंग उड़ गया। बीबी की मिन्नतें करने लगे—खुदा के लिये तुम्हें हजरत हुसेन की कसम। मेरे ही मैय्यत देखे जो उधर जाय। लेकिन बेगम ने एक न मानी। उसने जाकर मोहरों को बाहर फेंक दिया। जब मीर साहेब ने चूड़ियों की झनक और मोहरों का बाहर फेंका जाना देखा तो वे घबड़ाकर वहाँ से चल दिये। मिर्जा ने यह सब हाल देखा तो हकीम के घर जाने के बदले मीर के घर पहुँचे और सारा वृत्तान्त कहा। अन्त में यह तय हुआ कि अब शतरंज मीर साहब के यहाँ जमा करे।

मीर साहब की बेगम एक सरदार से फँसी हुई थी, वह चाहती थी कि मीर साहब घर पर जितना ही कम रहें उतना ही अच्छा है। इसलिए वह उनकी लत की कभी आलोचना नहीं करती थी, बल्कि कभी-कभो मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थी। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गम्भीर है। जब दीवानखाने में बिसात बिछने लगी और मीर साहब दिन भर घर में रहने लगे तब उसको बहुत तकलीफ रहने लगी। इसलिये उसने अपने एक आशिक से षड्यंत्र किया। एक दिन दोनों मित्र बैठे शतरंज की दल-दल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फौज का अफसर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गये। ये बला किस लिए आई। ये तलबी किस लिए हुई। अब खैरियत नजर नहीं आती। घर के दरवाजे बन्द कर लिये। नौकरों से बोले—कह दो घर में नहीं हैं।

सवार—घर में नहीं तो कहाँ हैं?

नौकर—यह मैं नहीं जानता, क्या काम है ?

सवार—काम तुझे क्या बतलाऊँ ? हुजूर में तलबी है, शायद फौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गये हैं, जागीरदार हैं कि दिल्लगी ! मोर्चे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम पड़ेगा।

नौकर ने यह कहा कि यह सन्देशा दे दिया जायगा। अब जब मिर्जाजी और मीर साहब को यह बात मालूम हुई तो उन लोगों ने सलाह की कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं विराने में नकशा जमें, वहाँ किसे खबर होगी, सवार आकर आप ही लौट जायगा। इस प्रकार दोनों मित्र मुँह अन्धेरे घर से निकल खड़े होते, बगल में एक छोटी-सी दरी दबाये, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती पार की एक पुरानी मसजिद में चले जाते, और वहाँ पर शतरंज की चालें होती। दोपहर को जब भूख मालूम होती तो दोनों मित्र किसी नानबाई के दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। इसी तरह चलता रहा। एक दिन दोनों मित्र मस-जिद के खण्डहर में बैठे हुये शतरंज खेल रहे थे, मीर साहब की बाजी कुछ कमजोर थी। मिर्जा साहब उन्हें किश्त पर किश्त दे रहे थे। इतने में गोरी फौज दिखाई दी जो लखनऊ पर आक्रमण करने जा रही थी।

मीर साहब बोले—अंग्रेजी फौज आ रही है, खुदा खैर करे।

मिर्जा—आने दीजिये, किश्त बचाइये। लो यह किश्त।

मीर—जरा देखना चाहिये, यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिर्जा—देख लीजियेगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त।

मीर—तोपखाना भी है, कोई पाँच हजार आदमी होंगे, कैसे जवान हैं, लाल बन्दरों के से मुँह हैं, सूरत देखकर खौफ मालूम होता है।

मिर्जा—जनाब हिल्ले न कीजिये। ये चकमे किसी और को दीजियेगा—यह किश्त।

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं, यहाँ तो शहर पर आफत आई

हुई है, और आप को किश्त की सूझी है। कुछ इसकी भी खबर है कि शहर घिर गया तो घर कैसे चलेंगे ?

मिर्जा—जब घर चलने का वक्त आयेगा तो देखा जायगा यह किश्त। बस, अब की शह में मात है।

फौज निकल गई। फिर बाजी बिछी। मीर साहब इस बात के लिए व्याकुल थे कि बदला लिया जाय। यह बाजी रात को दस बजे शुरू हुई। अबकी खेलते-खेलते रात खतम होने लगी। इस अवसर का वर्णन प्रेमचन्दजी ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में यों किया है—'चार का गजर बज ही रहा था कि फौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड़ लिये गये थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न कोई मार-काट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। अब तक किसी स्वाधीन देश के राजा का पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह खून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था जिस पर बड़े से बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनैतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिर्जा ने कहा—हुजूर नवाब साहब को जालिमों ने कैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिये शह।

मिर्जा—जनाब जरा ठहरिये। इस वक्त इधर तबीयत नहीं लगती। बेचारे नवाब साहब इस वक्त खून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहा नसीब होगी—यह किश्त।

मिर्ज़ा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ, सो तो है ही, यह लो फिर किश्त, बस अबकी किश्त में मात है, बच नहीं सकता।

मिर्ज़ा—खुदा की कसम आप बड़े बेदर्द हैं, इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुख नहीं होता। हाय गरीब वाजिदअली शाह।

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइये, फिर नवाब साहब का मातम कीजियेगा। यह किश्त और मात। लाना हाथ!'

यह कहानी यहीं खतम हो सकती थी किन्तु प्रेमचन्द्रजी को यह भी दिखलाना था कि वैयक्तिक रूप से लोग बिल्कुल बुजदिल हो गये हों, ऐसी बात नहीं थी, किन्तु नवाब के लिए तथा नवाबी के लिए उनके दिल में कोई स्थान नहीं था। एक दिन मिर्ज़ाजी की हार पर हार हो रही थी। दोनों में चोंचें होने लगी। मोहरा उठाने पर झगड़ा हो गया। एक ने कहा चाल हो गई, दूसरे ने कहा नहीं। तकरार बढ़ने लगी। मिर्ज़ा बोले—किसी ने खान्दान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये, आप शतरंज क्या खेलियेगा। रियासत और चीज है। जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आये हैं।

बात बढ़ने लगी। 'दोनों दोस्तों ने कमर से तलवार निकाल ली। नवाबी जमाना था, सभी तलवार पेशकब्ज, कटार वगैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे, पर कायर न थे। उनमें राजनैतिक भावों का अधः-पतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें? पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव कम न था। दोनों ने पैतरे बदले,

तलवारें चमकी, छपाछप की आवाजें आईं। दोनों जख्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़प कर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्होंने शतरंज की वजीर की रक्षा में प्राण दे दिये।'

यों तो हम प्रेमचन्दजी की सब कहानियों की एक साथ आलोचना करेंगे, किन्तु यहाँ पर सामन्तवादी युग के पतनकाल की जिन छः कहानियों का सार सङ्कलनकर हमने पाठकों के सम्मुख रखा उनके सम्बन्ध में हम सामूहिक रूप से दो-चार शब्द कहेंगे।

हमने जिन छः कहानियों को विशेष समालोचना के लिए इस सम्बन्ध में चुना है, उनमें से शतरंज के खिलाड़ी को छोड़कर सभी कहानियाँ नवनिधि नामक गल्प-संग्रह में प्रकाशित हुई हैं। हंस के प्रेमचन्द अंक में (१९३७) लिखते हुये श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने इन ऐतिहासिक कहानियों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह इस अवसर पर विचार्य है—

'नवनिधि में अधिकतर ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। कहानियाँ सभी मनोरंजक है, किन्तु प्रेमचन्द की गल्पकला इन कहानियों में उतनी उच्चकोटि की नहीं। कथानक के उतार-चढ़ाव में और चरित्र-चित्रण में लेखक की कल्पना को उतनी स्वतंत्रता नहीं। प्रेमचन्द की कहानी कला का एक विशेषगुण कथानक गुम्फन है। कसीदे के समान घटना का जाल उसकी कल्पना बनाती है। किन्तु यहाँ कल्पना बँध-सी गई है। ऐतिहासिक कहानी की नस्ल खच्चर के समान है। न वह इतिहास ही, न सफल कहानी ही। लेस्लीस्टिफन ने उसे Hybrid (मिश्रित रक्त की) बताया है। ऐतिहासिक कहानी तब सफल होती है जब ऐतिहासिक वातावरण में कल्पना के चरित्र विचरें। ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर कहानीकार अपनी सब स्वतंत्रता खो देता है। ये ऐतिहासिक कहानियाँ मुख्यतः मुगल साम्राज्य के मध्याह्न काल की हैं। पहली दो

कहानियाँ राजहरदौल और रानी सारधा बुन्देलों की वीरता और आन से ओत-प्रोत है। इन कहानिया को पढ़कर मन में राजपूताने की वीर कथायें हरी हो जाती हैं।'[1]

अवश्य ही एक प्राचीन युग को मूर्त कर देना, उसके कंकाल में रक्त मांस का संचारकर उसकी धमनियों में जीवन की धारा बहा देना, यह बहुत ही कठिन बात है, कम से कम वर्तमान युग जिसमें हम जी रहे हैं, उसको मूर्त करने से यह काम कहीं अधिक कठिन है, यह हम मानते हैं। ऐतिहासिक कहानी तभी खचर हो जायेगी जब लेखक जिस युग का तथा जिस समाज का चित्रण कर रहा है, उसको चित्रित करने में वर्तमान युग का पुट उसमें डाल दे, तथा उस पर वर्तमान युग की भावनाओं का आरोप करें; और हम जानते हैं कि कलाकार कितना भी वस्तु तांत्रिक हो, वह एक हद तक ऐसा करेगा ही, क्योंकि कहानी जिस जनता के लिए लिखी जाती है, उसके लिए वह तब तक दुर्बोध्य रहेगी, जब तक उसे कुछ हद तक वर्तमान का जामा पहनाकर पेश न किया जाय। इस अर्थ में लेस्लीस्टिफेन का कथन सही है। फिर भी जैसा कि हम देखेंगे इस बाधा के बावजूद प्रेमचन्दजी इन कहानियों में बड़ी हद तक सफल रहे हैं।

रहा इस समालोचक ने यह जो लिखा है कि ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर कहानीकार अपनी सब स्वतंत्रता खो देता है, क्या यह बात उसी हद तक वर्तमान युग के चरित्रों के लिए लागू नहीं है। आखिर जिस स्वतंत्रता के खो जाने की बात इस सम्बन्ध में कही गई है, उसका स्वरूप क्या है? किसी भी हालत में लेखक जिस युग, जिस समाज तथा जिस टाइप की सृष्टि कर रहा है, उससे बँधा तो रहेगा ही। इसके लिए भूतकाल और वर्तमान काल को कोई बन्दिश नहीं है। कलाकार

---

[1] ह० प्रे० पृ० ६४०

स्वतंत्र तभी हो सकता है जब वह कला का गला घोट दे अन्यथा नहीं। कलाकार को जो कुछ स्वतंत्रता है, वह केवल यही है कि वह अपने व्यक्तियों, टाइपों, समाज तथा युग को चुने। कलाकार को इस बात की स्वतंत्रता है कि वह एक विशेष पहलू को, या कई पहलुओं को दिखलावे, किन्तु उसे यह स्वतंत्रता कदापि नहीं है कि वह अपने पात्रों से मनमानी करवाये। कलाकार व्यक्ति, समाज, युग के नियमों को जानकर ही उनका प्रयोग कर सकता है, उन नियमों को बना या बिगाड़ नहीं सकता है। इसलिए जो स्वतंत्रता उसे है ही नहीं उसके लिए विलाप करना व्यर्थ है।

प्रेमचन्द ने स्वयं ही यह लिखा है—'किसी ने बहुत ठीक कहा है कि कहानी में नाम और सन् के सिवाय सब कुछ सत्य है, और इतिहास में नाम और सन् के सिवाय कुछ भी सत्य नहीं है। गाकुर्त बन्धु ने (Goucourt) इसीसे मिलती-जुलती एक बात कही है 'Lhistoire est dw roman qui a ete; le roman est de l' histoire qui aurait pu etre अर्थात् इतिहास एक ऐसा उपन्यास है जो कभी हो चुकी है, और उपन्यास एक ऐसा इतिहास है जो हो सकता था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस हद तक उपन्यास लेखक को स्वतन्त्रता है, और किस हद तक उसे स्वतन्त्रता नहीं है। उपन्यासकार को ऐतिहासिक उपन्यास रचना में उतनी ही स्वतन्त्रता है जितनी वर्तमान-कालीन उपन्यास की रचना में है, हाँ केवल फर्क यह है कि वह अपने समय से अधिक परिचित होने के कारण इसमें अधिक अच्छी तरह विचरण कर सकता है, इसके अतिरिक्त कोई और विशेषता नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यास या ऐतिहासिक कहानी को देखकर एक अपरिपक्व बुद्धि वस्तुवादी के लिए नाक भौं सिकोड़ना सम्भव है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास तथा कहानी वस्तुवाद से कितने सम्बद्ध हो सकते

हैं, इसका पता हमें सोवियट के ऐतिहासिक उपन्यासकारों की रचना से ज्ञात हो सकता है। १९४४ के मार्च के ऐन पहले यह प्रश्न सोवियट लेखकों के एक सम्मेलन के सामने आया था कि इस समय जब कि सिर पर नात्सियों का आक्रमण जारी है, उस समय भी ऐतिहासिक उपन्यासों तथा कहानियों के लिखने का कोई मतलब हो सकता है या नहीं। कुछ लेखकों ने यही मत लिया कि ऐसे समय में इस प्रकार की रचनायें वाग्विलास की श्रेणी में आ जाती हैं, इस पर यह कहा गया कि नहीं, ऐसी बात नहीं, हम तो अपने युग के मनुष्यों के वीरतापूर्ण कार्यों में भूतकाल की उत्कृष्टतम परम्पराओं को ही मूर्त देख रहे हैं। यदि इतिहास में मानवीय अभिज्ञता के कुल योगफल को अन्तर्गत समझा जाय, और इतिहास को प्राचीनयुग की कुछ दिलचस्प कहानियों का संग्रह मात्र न समझा जाय, तो उस हालत में इस युग के लोग उसे शिक्षाप्रद पायेंगे। यह न केवल लोगों को अपने ऐतिहासिक विकास की धारावाहिकता को हृदयंगम करने में सहायक होता है, बल्कि यह भविष्य के मार्ग का निर्देश भी करता है और यहीं पर कलाकार को एक बहुत बड़ा हिस्सा अदा करना है। उसीकी रचनाओं में जनता की स्मृतियाँ जीवित हो जाती हैं, अपनी जादूभरी कला के द्वारा वह इतिहास के उन पृष्ठों को जो धुँधले पड़ चुके हैं, अपने पूर्व पुरुषों के कृत्यों, कष्टों तथा साहसिक कार्यों को और अपनी अमरता में विश्वास को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। वस्तुवाद की जोशीली सेवा में जो सच्चा कलाकार होता है, वह मनुष्य के ऐतिहासिक भूतकाल के उन पहलुओं को खोलकर दिखलाता है जो उसे आज अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति की रक्षा के लिए उद्बुद्ध करता है।"[१]

सोवियट साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों, कहानियों का स्थान

[१] I. L. F. (March 1941)

नगण्य नहीं है। एलेक्सेयी टालस्टाय ने 'पीटर महान' उपन्यास लिखा। इसमें पीटर को एक नई रोशनी में— रूस के एक महान सुधारक के रूप में दिखलाया गया है। इसी प्रकार कोस्टीलियाफ ने 'इवान भयंकर' नाम से इवान के सम्बन्ध में एक उपन्यास लिखा है। इसमें इवान के सम्बन्ध में यह दिखलाया गया है कि इन्होंने सामन्तवादी झगड़ों, विश्वासघातों के विरुद्ध लड़ाई की, और यह साफ कर दिया है कि उन्होंने किस-किस • • • और क्यों जुल्म किये थे। इसी प्रकार विक्टर श्क्लोवस्की ने 'मिनीन और पोजारस्की नामक उपन्यास में दो देशभक्तों का चित्रण किया है, इन लोगों ने १६१२ के युग में पोलों के आक्रमण के विरुद्ध रूस की स्वतंत्रता की रक्षा की थी। अधिक ब्यौरे में न जाकर यह बता दिया जाय कि अन्य प्रसिद्ध सोवियट उपन्यासकारों में सरजेई गोलुबाफ ने 'बागरेशन', वियाचेस्लाव शिशकाफ ने 'एमेलियान पुगाचाफ तथा बहुत हाल में यूजीनलान ने प्राचीन इङ्गलेण्ड, वा लेरीयाजविटस्की ने 'धुआँ और लपट के बीच' नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। रूसी समालोचक बोरीस सुचकाफ ने यह बतलाया है कि 'ऐतिहासिक उपन्यासकारों की रचनाओं में सच्ची ऐतिहासिकता हम उसीको कहेंगे, जब उनकी रचनाओं में इतिहास का इस प्रकार चित्रण तथा विश्लेषण हो कि यह ज्ञात हो जाय कि लेखक ने सही रूप से इतिहास के विकास के अन्तिम उद्देश्य को—यानी एक बुद्धिमत्तापूर्ण नीव पर सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण को समझ लिया है।'

हमने रूसी ऐतिहासिक उपन्यास पर कुछ अधिक ब्यौरे के साथ इसलिए लिखा कि यह ज्ञात हो जाय कि इस युग में भी ऐतिहासिक उपन्यासों की उपयोगिता है। यह द्रष्टव्य है कि सोवियट रूस में विशेषकर नात्सीवाद के विरुद्ध युध्यमान रूस में इतिहास को भी वर्तमान की सेवा में जोत दिया गया है। 'यागानीनी को सजा' नामक ऐतिहासिक उपन्यास के लेखक आनाटोली विनो-

आडोफ ने इतिहास पर सोवियट लेखक किस दृष्टिकोण से देखते हैं, यह इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं—'हमारे लिए भूतकाल का आकर्षण इस बात में है कि हम जानना चाहते हैं कि हमारे इस वीरत्व के युग का निर्माण किस नीव पर हुआ है।' इस प्रकार वाल्शेविकवाद के प्रारम्भ में जबकि सीधा-सीधा भूतकाल से लोहा लिया जा रहा था, और भूतकाल एक प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में था, भूतकाल के प्रति जो असहिष्णु दृष्टिकोण था, उसका लोप होकर एक स्वास्थ्यकर दृष्टि का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से जब हम प्रेमचन्द की ऐतिहासिक कहानियों को देखेंगे तो भले ही हम उनमें उपयुक्त मात्रा में वह दूर दृष्टि न पावें, किन्तु भूतकाल के साथ हमारे सम्बन्ध की धारावाहिकता को उन कहानियों में स्पष्ट करने की कोशिश की गई है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सम्भव है यह सब उन्होंने सज्ञान रूप से न किया हो, यह दूसरी बात है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में सबसे पहले बँगला में नव-जागरण का युग आया। हम देखते हैं कि बंगाल में इस नवजागरण की छाप साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यासों के जरिये से प्रकट हुई। साहित्य क्षेत्र में वकिम बंगाली राष्ट्रीयता के ऋषि हुये। जिस प्रकार से उस युग में राष्ट्रीय आन्दोलन हिन्दूमध्यवित्तवर्ग तक सीमित था, उसी प्रकार से इन ऐतिहासिक उपन्यासों को भी अखिल बंगाली राष्ट्रीयता (जिसमें मुसलमान भी सम्मिलित हो) का रूप न मिलकर हिन्दूमध्यवित्तवर्गीय रूप प्राप्त हुआ। वन्देमातरम् गान का प्रयोग मातृभूमि के मुस्लिम शोषकों के विरुद्ध हुआ था, और इसलिए बाद को उसे जो मुस्लिम विरोधी रूप दे दिया गया, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वंकिम के अतिरिक्त दीनबन्धु मित्र तथा रमेशचन्द्र दत्त ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। वे भारतवर्ष के आर्थिक इतिहास के बहुत बड़े विशेषज्ञ थे, किन्तु बंगालियों ने उन 'रक्तोजपूत जीवन संध्या' और 'महाराष्ट्र

जीवन प्रभात' के लेखक के रूप में जाना। नवीनचन्द्र तथा अन्यान्य कवियों ने भी इसी प्रकार ऐतिहासिक कथानक लिये, और उन्हीं को अपना उपजीव्य बनाया। भले ही अखिल भारतीय या अखिल बंगाली संस्कृति और साहित्य की आवश्यकता के सामने बंकिम, रमेश को अब वह स्थान न दिया जा सके, भले ही वंकिम को आगामी लोकतांत्रिक या सर्वहारा राष्ट्रीयता की जरूरत के कारण साम्प्रदायिक ऋषि मात्र माना जाय, राष्ट्रीय ऋषि न माना जाय, किन्तु साहित्य और भाषा के इतिहास में उनका स्थान अमर रहने के लिए बाध्य है। अवश्य ही भविष्य राष्ट्रीयता की धारणा में किसी भी साम्प्रदायिक दृष्टिकोणयुक्त साहित्य का स्थान नहीं हो सकता, किन्तु फिर भी हमारे राजनैतिक इतिहास के एक पर्याय को प्रतिफलित करने की सेवा के कारण इन रचनाओं में ऐतिहासिक दिलचस्पी अवश्य ली जायेगी।

प्रेमचन्द की ऐतिहासिक कहानियां तथा कर्बला नाटक को जब हम देखते हैं तो उन्हें सम्पूर्णरूप से साम्प्रदायिकता से दोष मुक्त पाते हैं। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द वंकिम आदि से आगे के युग के कथाकार हैं। जबकि वंकिम रमेश की रचनाओं को आगामी अखिल भारतीय राष्ट्रीयता (वह चाहे लोकतांत्रिक राष्ट्रीयता हो या समाजवादी राष्ट्रीयता हो) में कोई प्रत्यक्ष स्थान नहीं मिलेगा, हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि प्रेमचन्द की ऐतिहासिक कहानियो को आगामी युग में भी स्थान प्राप्त होगा। रहा इन कहानियों की कला सो इस पर हम आगे विचार करते हैं।

राजा हरदौल कहानी में हम सामन्त सरदारों की बहादुरी को हरदौल में मूर्त पाते हैं, किन्तु इस बहादुरी पर स्पष्ट ही सामन्तवाद के युग का ठप्पा लगा हुआ है। हरदौल जब देखते हैं कि कादिरखाँ के सामने ओरछा का कोई सूरमा टिक न सका, तो वह स्वयं ताल ठोककर सामने आते हैं। हरदौल और जुझारसिंह के सम्बन्ध में हम उस युग के

सामन्तवादियों में भाइयों में जैसा बर्ताव होता था, उसे मूर्त देख सकते हैं। एक तरफ तो इतना प्रेम कि राज्य सौंप गये, दूसरी तरफ केवल नंगे पाँव आगे बढ़कर अगुवानी न करने के लिए भाई पर शक किया जाता है, और उसे मार डालने की इच्छा प्रकट की जाती है। हरदौल खुशी से विष का बीड़ा खा लेता है, वीरता है, किन्तु कितनी सड़ी गली किस्म की वीरता है कि जिससे न तो कोई समाज को ही फायदा है, और न उस वर्ग को ही फायदा है जिसका वह सदस्य है, बल्कि ऐसी वीरताओं से वह वर्ग और भी कमजोर पड़ा।

यह द्रष्टव्य है कि प्रेमचन्दजी ने यह जो कहानी लिखी है, यह कपोलकल्पित नहीं, बल्कि वास्तविक ऐतिहासिक नामों तथा उपकरणों को लेकर लिखी गई है। Modern Review की मई १६४५ की संख्या में श्री अम्बिकाप्रसाद दिव्य ने बुन्देलखंड के एक लोकगीत की आलोचना की है, उससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि प्रेमचन्द-जी ने केवल एक पुरानी कहानी को एक नया रूप दिया है। अवश्य जैसा कि हम देखेंगे इस नये संस्करण में उस कहानी का रूप बिल्कुल बदल गया है। जहाँ मौलिक कहानी में केवल थोड़ी-सी घटनायें हैं वहाँ प्रेमचन्दजी के हाथों ने इस कहानी में एक जटिल रूप धारण किया है। श्री वर्मा के अनुसार लोकगीतों में इस कहानी का रूप यों था—'जुझारसिंह का हरदौल नामक एक भाई था। जुझारसिंह की स्त्री महारानी का हरदौल के प्रति मातृस्नेह का व्यवहार था, और वह अक्सर हरदौल से मिला करती थीं। कुछ दुष्टों ने इस सम्बन्ध का अनर्थ लगाया, और इस सम्बन्ध में महाराजा के कानों में कुत्सा पहुँचाई। जुझारसिंह को रानी पर शक हो गया, और उन्होंने रानी के सामने एक बड़ी भारी परीक्षा रख दी। महारानी से यह कहा गया कि वह हरदौल को खाना खाने बुलावें, और उसे खाने के साथ विष खिला दें। महारानी ने बहुतेरा अपने निर्दोष होने की बात कही, किन्तु राजा ने एक न सुनी।

अन्त में उन्हें पति का आदेश मानकर हरदौल को विष देकर मारना पड़ा। हरदौल पहले ही से राजा के मन की बात जान गये थे, और एक 'शहीद की तरह' मृत्यु प्राप्त की। सम्भव है इसी प्रकार रानी सारन्धा आदि कहानी भी ऐतिहासिक उपकरणों पर लिखित हो, किन्तु उनका पता हमें न लग सका।

प्रेमचन्दजी ने बहुत सम्भव है इन कहानियों में ऐतिहासिक नाम और घटनाओं पर अपनी कहानियों को आधारित रखा है, किन्तु ऐतिहासिक कहानी या उपन्यास लिखने के लिए यह जरूरी नहीं है कि ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओं को लेकर ही ये उपन्यास तथा कहानियाँ लिखी जायँ। ऐतिहासिक उपन्यास तथा कहानी के लेखक के लिए केवल एक बात अत्यावश्यक है कि वह अपने युग अर्थात् जिस युग का वह वर्णन कर रहा है, उसके प्रति अर्थात् उस समय के सामाजिक सम्बन्धों के प्रति सच्चा रहे। ऐसा रहने के बाद उसका मन चाहे तो बिल्कुल ही काल्पनिक व्यक्तियों को लेकर अपनी रचना तैयार कर सकता है, अवश्य यहाँ काल्पनिक व्यक्ति से अर्थ ऊलजलूल चरित्र से नहीं है, क्योंकि किसी भी हालत में उस चरित्र को समय के तथा युग के प्रति सच्चा तो रखना ही पड़ेगा। इसलिए वह केवल इस अर्थ में ही काल्पनिक हो सकता है कि वह अनैतिहासिक है, किन्तु फिर भी वह उस युग की दृष्टि से असंभव चरित्र नहीं है।

रानी सारन्धा कहानी में रानी का चरित्र बहुत वीरतापूर्ण दिखलाया गया है, किन्तु इस वीरता में भी कोई तुक नहीं है। शरणागत पालन के नाम पर अपने पूर्व मित्र की विरुद्धता बिना कारण करना कहाँ तक वीरता है और कहाँ तक विश्वासघात है, यह विचार्य है। फिर विपत्ति के समय रानी बल्कि राजा के मुकाबिले में कायर सिद्ध हुई। रानी सारन्धा की वीरता के सम्बन्ध मे जो धारणा है, वह स्वस्थ्य नहीं है, और

अजीब तरीके से उसमें उतार-चढ़ाव होता रहता है। बिना कारण लड़ जाना, फिर बिना कारण आत्म-समर्पण कर देना, ये सब सामन्त-वाद की विशेषतायें इस कहानी में देख सकते हैं। कुछ समालोचकों ने रानी सारन्धा को वीर करके दिखाने की कोशिश की है, किन्तु जैसा कि हम देख चुके सारन्धा की वीरता रोगयुक्त वीरता है। इस वीरता की तुलना बल्कि पागल के हाथ-पैर फेंकने से किया जा सकता है, न कि सच्ची वीरता से। इस कहानी में अलौकिक घटनाओं का समा-वेश इस माने में है कि कई बार घटनायें बिल्कुल धारा बदल देती हैं। अध्यापक भटनागर ने इन कहानियों की समालोचना में यह कहा है—'शरणागत की रक्षा के लिए वे सदा तत्पर रहते थे, फिर चाहे वह उनका शत्रु ही क्यों न हो। उन वीरों की स्त्रियाँ बलिदान की मूर्तियाँ हुआ करती थीं, अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वे जलती हुई आग में कूद पड़ती थीं। रण से भागे हुये पति के लिए उनके द्वार बन्द थे। इस प्रकार की सभी कहानियों में चाहे नायक पराजित ही हो, और चाहे कहानी दुखान्त हो, परन्तु भौतिक सुख के आगे अध्यात्मिक शक्ति कहीं नहीं झुकती। देह के ऊपर आत्मा, तलवार के ऊपर प्रेम, असत्य के ऊपर सत्य और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता स्थापित करना प्रेमचन्द का ध्येय था। यही भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र भी।[1]

अध्यापक भटनागर ने यह जो लिखा है कि असत्य के ऊपर सत्य और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता इन कहानियों में स्थापित की गई है, यह केवल अत्युक्ति ही तथा एक पहले से बनाई हुई धारणा ज्ञात होती है। राजा हरदौल कहानी में हम तो यही देखते हैं कि हरदौल को अपने स्वार्थी तथा बिना कारण ईर्ष्या करने वाले भाई जुझारसिंह के मुकाबिले में जीवन सग्राम से इस्तीफा देते हुये ही दिखलाया गया है।

---

[1] प्रे० अ० पृ० २००

अवश्य यह कहा जा सकता है कि हरदौल मर गये सही, किन्तु नैतिक विजय उन्हीं के हाथों रही, इसका कोई अर्थ नहीं होता, व्यवहारिक विजय तो जुझारसिंह की रही। फिर रानी सारन्धा कहानी में भी अन्त तक रानी सारन्धा को तथा उसके पति को बादशाह के सिपाही के सामने पराजित होते ही दिखाया गया है, अवश्य इस क्षेत्र में भी नैतिक विजयवाली बात कही जा सकती है। रानी सारन्धा ने सारा झगड़ा एक घोड़े के पीछे अर्थात् शान के पीछे मोल लिया, क्या यह उचित था कि एक घोड़े के लिए—सो भी लूट में पाये हुये घोड़े के लिए—इतना झगड़ा मोल लेना कहाँ तक वीरता है और कहाँ तक झूठी शान है ? यदि यह कहा जाय कि घ ड़े की बात नहीं थी बल्कि आन की बात थी, तो उस समय के कानून को देखते हुये भी छीन सकने के कारण घोड़ा रानी का हो गया था, फिर जब वली बहादुर ने उस घोड़े को छीन लिया तो वह घोड़ा फिर उसका हो गया, फिर इस पर इतने झगड़े की जरूरत क्या थी ? हमें तो सारन्धा इस युग की एक प्रतिनिधि स्त्री के रूप में दिखाई देती है। हमें यह भी नहीं ज्ञात होता कि किसी भी तरह उसकी नैतिक विजय हुई। यह बात सच है कि उसने शत्रु के हाथ में बन्दी बनने के बजाय, अपने पति के हृदय में तलवार चुभो दी, और स्वयं भी आत्महत्या कर ली, किन्तु इसके लिए उसकी वीरता को दाद देते समय हम यह भूल नहीं सकते कि इसी स्त्री ने अपने सैकड़ों सिपाहियों को अपनी तथा कथित आन की रक्षा के लिए कटवा दिया। अध्यापक भटनागर को भ्रम है कि इस प्रकार की कहानियों में भारतीय संस्कृति का चित्रण हो रहा है, जिस संस्कृति का इन कहानियों में चित्रण है, वह सामन्तवादी विशेषकर हिन्दू सामन्तवादी संस्कृति है, इस संस्कृति में भले ही कुछ बातें गौरव की हों, और हैं, किन्तु इस संस्कृति की नीव मालिक की कथित आन पर कटमरने वाले सिपाहियों के खून पर है।

मर्यादा की वेदी भी इसी प्रकार की एक कहानी है, जिसमें हम कन्या हरण से लेकर प्रेमिका के अनुगमन करने तक की सब बातों को मूर्त देख सकते हैं। भारतीय संस्कृति को इस क्षेत्र में घसीटकर लाते हुये हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार इच्छा के विरुद्ध कन्या को हरण कर लाना भी उसमें सम्मिलित है। हम यह नहीं कहते कि हरण-प्रथा केवल भारतवर्ष में ही थी, हम तो इसको उस दृष्टि से देखते ही नहीं, हम तो हरण-प्रथा को पुरुष प्रधान वर्गमूलक समाज मात्र की विशेषता मानते हैं, इस मामले में हमारे निकट भारतीय-अभारतीय का कोई भेद नहीं है। जहाँ तक सत्य और प्रेम की जय की बात है, हम इस कहानी में दोनों की हार ही देखते हैं। सत्य तो यह है कि राजकुमारी प्रभा और मंदारकुमार से प्रेम था, सत्य तो यह था कि राणा इस प्रेम के बीच एक डाकू की तरह कूद पड़ा था, किन्तु अन्त में दोनों प्रेमिक-प्रेमिका की बहुत दुखद हालत में मृत्यु होती है, और राणा जीवित रह जाते हैं। क्या इसीको जय कहते हैं? क्या यही प्रेम की विजय है? स्पष्ट बात तो यह है कि इस कहानी में प्रेम की हार ही हुई है। अवश्य यहाँ पर स्मरण रहे कि हम प्रेम को किसी अतीन्द्रीय पारलौकिक गुण के रूप में नहीं बल्कि शारीरिक-मानसिक सुख के एक साधन के रूप में ही ले रहे हैं। इस कहानी में सबसे बड़ी ट्रेजडी यह है—और यह अध्यापक भटनागर की कथित भारतीय संस्कृति की ही उपज है कि केवल हरण किये जाने के ही कारण प्रभा अपने को राणा की स्त्री समझती है, कम से कम वह यह समझती है कि वह भाव किसी दूसरे की स्त्री नहीं हो सकती, चाहे वह दूसरा उसका परमप्रिय प्रेमिक ही क्यों न हो। इस कहानी में हम इस युग के प्रेम तथा विवाह-सम्बन्धी धारणा के कई पहलुओं को देख सकते हैं, और यही इस कहानी की विशेषता है।

पाप का अग्निकुण्ड तो दूसरे शब्दों में सामन्तवाद की चिता है।

इस जलती हुई चिता के अन्दर हम इस सड़ी-गली हुई पद्धति की सारी बातें देख सकते हैं। सत्य पालन और टेक के नाम पर मूर्खताओं का दौरदौरा है। एक गाय के पीछे एक स्त्री इतनी बड़ी प्रतिज्ञा करती है कि उसके घातक को वध्य करेगी तब दम लेगी। फिर पृथ्वीसिंह इसी कथित वचन के पीछे बिना कारण अपने बहनोई धर्मसिंह की हत्या करता है, फिर धर्मसिंह के मरने पर उसकी स्त्री सती होती है। सती मरते समय शाप देती है, और वह पूर्ण भी होता है, यहाँ पर प्रेमचन्द जरा हद से बाहर चले गये। अन्त में पृथ्वीसिंह भी मरते हैं और उनकी स्त्री भी सती होती है। यहाँ पर यह जो प्रेमचन्दजी ने स्वयं कहा है कि 'पाप की आग कैसी तेज होती है ! एक पाप ने कितनी जानें ली !', इसमें यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह पाप कौन-सा था ! क्या गाय को मारना इतना बड़ा पाप था। जिन परिस्थितियों में धर्मसिंह के हाथों से गाय का मारा जाना दिखाया गया है, उन परिस्थितियों में भले ही यह एक अवाञ्छित उदंडता ज्ञात हो, किन्तु पाप यह किस माने में है ! यदि यह गाय न होकर कोई और जानवर जैसे कुत्ता होता, तो शायद यह पाप न होता ! यहाँ पर हिन्दू जहनियत स्पष्ट है, और गोहत्या से होनेवाले अनर्थों के रूप में सनातन धर्मी इस कहानी को अपने प्रचार में अच्छा इस्तेमाल कर सकते हैं। तर्क के लिए यदि मान भी लिया जाय कि पाप हुआ, तो एक के पाप के लिए चार-चार व्यक्तियों का जीवन नष्ट हो जाना, यह कहाँ तक धर्म का तकाजा है, और कहाँ तक न्याय की जय है ! हमें तो इस प्रकार का न्याय अन्याय से बदतर ज्ञात होता है। जो कुछ भी हो इस कहानी में इस पापवाली बात के अतिरिक्त प्रेमचन्दजी अपनी वस्तुवादी कला के प्रति वफादार रहे हैं, और इस युग के लोगों तथा विचारों का यह कहानी एक सुन्दर चित्र है, इसमें सन्देह नहीं।

'जुगनू' की चमक का स्थान इन कहानियों में निम्नतम है, असल

में यह कोई कहानी ही नहीं हुई। बहुत कहा जाय तो इसे यही कहा जा सकता है कि इसमें केवल एक रानी के भागकर अन्य एक राजा के यहाँ आश्रय प्राप्त करने की बात बिना कारण बढ़ा-चढ़ा कर कही गई है। यह भी समझना मुश्किल है कि किस माने में यह घटना भारतीय इतिहास की अन्धेरी रात में जुगनू की चमक है। नैपालराज ने महारानी चन्द्रकुँवारी को खूब तौलकर ही आश्रय दिया था, एक तरह से वह वहाँ एक प्रतिष्ठित बन्दिनी हो गई, ऐसी हालत में चमक कहाँ है? फिर भी नैपाल के दरबार का जो चित्रण किया गया है, वह ऐसी रियासतें जो अंग्रेज सरकार की मित्र बनकर रहना चाहती हैं, उनका एक अच्छा शब्दचित्र है। बस यहीं तक इसमें कहानीत्व नहीं आ पाया।

शतरंज के खिलाड़ी कहानी में प्रेमचन्दजी बहुत निखरे हुये रूप में हमारे सामने आते हैं। यह उस समय का चित्र है जिस समय यहाँ का सामन्तवादीवर्ग सम्पूर्णरूप से उत्पादन की प्रक्रिया से अलग ही नहीं हो चुका है, बल्कि उसके ऊपर एक भारस्वरूप है। रईसों और सामन्तों के लिए विलासिता और नशे के द्रव्यों के उत्पादन में ही समाज की उत्पादन-शक्ति का एक बड़ा भारी हिस्सा व्ययित नहीं, बल्कि अपव्ययित हो रहा है। यह देखने की बात है कि शिकार आदि जो बहादुराना खेल या शौक है, उनका भी प्रेमचन्दजी ने इस वर्ग में इस समय अभाव बताया है, ये लोग खेलते भी हैं तो शतरंज, ताश, गंजीफा इत्यादि। इस सिलसिले में इन खेलों से बुद्धि बढ़ती है, इस प्रचलित धारणा की ओर दृष्टि हम पहले ही आकर्षित कर चुके हैं। इस कहानी में जो दो स्त्रियाँ आती हैं (यों तो हिरिया नौकरनी का भी नाम है), वे भी अपने युग की प्रतिनिधि हैं। मिर्जा साहब की बेगम एक फूहड़ स्त्री के रूप में दिखाई गई है जो बैठे-बैठे अपने पति पर झीका करती है, और नौकरों पर अपना गुस्सा उतारती है। वह अवसर खोज-खोजकर पति का

शतरंज की चाट के लिए लताड़ती थी। उधर मीर साहब की बेगम तो, और भी आगे बढ़ी हुई है, वह एक सवार से फँसी हुई है, और इस सवार से षड्यंत्रकर पति को ऐसी परिस्थिति में डाल देती है कि वह मजबूरन जाकर गोमती के उस पार शतरंज जमाते हैं, और इस प्रकार बेगम के लिए पथ बिल्कुल उन्मुक्त रहता है कि वह चाहे जो कुछ करे। मीर साहब को इन बातों की कानोंकान खबर भी नहीं, और उनके नौकर-चाकर में से कोई भी उन्हें इस बात से आगाह भी नहीं करता।

सबसे जो मार्के की बात प्रेमचन्दजी ने इस कहानी में दिखलाया है, वह यह है कि उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि लोगों में बहादुरी का अभाव नहीं था, बल्कि लोग अपने सामन्तप्रभु के साथ कोई एकता का अनुभव नहीं करते थे। यही तो पतनशील सामन्तवाद का सबसे बड़ा लक्षण है। अंग्रेज ऐसी ही हालत में भारतवर्ष में आये और इसमें आश्चर्य नहीं कि उन्होंने बहुत आसानी से भारतवर्ष को जीत लिया।

ऊपर जो कुछ इस कहानी के सम्बन्ध में बताया गया, उसके अतिरिक्त इस कहानी में प्रत्येक पात्र-पात्री का निवाह बहुत अच्छी तरह हुआ है। यह किसी समाज शास्त्री के द्वारा लिखित एक युग का बहुत मार्मिक चित्रण नहीं है, यह एक कलाकार द्वारा तैयार की हुई एक कलापूर्ण कहानी है। इस कहानी की खूबी यह है, और यही सब अच्छी कहानियों की खूबी है कि स्कूली बच्चे से लेकर साधारण से साधारण पाठक ऐसे पाठकों में हम डाक्टर श्रीकृष्णलाल को भी गिनते हैं, यद्यपि उन्होंने हिन्दी भाषा पर एक थिसिस लिखकर डाक्टर की उपाधि प्राप्त की हैं—निर्मल कहानी का आनन्द प्राप्त कर सकता है, साथ ही गहरे से गहरे समाजशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक के लिए भी इसमें सोचने-समझने के लिए खुराक है। प्रेमचन्द की कहानियों में इस कहानी का क्या स्थान है, यह हम बाद को फिर देखेंगे, किन्तु यहाँ पर यह बता दिया जाय कि यदि केवल डाक्टर लाल की ऐसी

दृष्टि से भी देखी जाय—उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि की सफलता को छोड़ भ दिया जाय, तो भी केवल परिहास रसिकता तथा सजीव चित्रण की दृष्टि से इस कहानी को चेकाफ की अच्छी से अच्छी कहानियों के साथ स्थान मिल सकता है।

७—आत्माराम

प्रेमचन्द के अपने निर्वाचन के अनुसार आत्माराम उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से एक है। वेन्दोग्राम में महादेव सोनार को सभी जानते थे। अपने सायवान में सबेरे से शाम तक अँगीठी के सामने बैठा हुआ, खट-खट किया करता था। लोग इसको सुनने के इतने आदी हो गये थे कि जब किसी कारण से यह खट-खट बन्द हो जाती तो जान पड़ता कोई चीज गायब हो गई है। उसके तीन पुत्र, तीन बहुयें दर्जनों नाती-पोते थे। कोई भी लड़का उसके काम में जरा भी मदद नहीं देता था। ग्राहकगण उसे चोर और बेईमान समझते थे। यदि उसके जीवन में दिलचस्पी का केन्द्र कोई था तो वह एक तोता था, जिसे वह सत्तगुरुदत्त शिवदत्त दाता पढ़ाया करता था। एक दिन संयोगवश किसी ने तोते के पिंजड़े के द्वार को खोल दिया, तोता उड़ गया। अब महादेव उसकी तलाश में दूकान छोड़कर इधर-उधर घूमने लगा। अन्त में एक खपरैल पर तोता बैठा हुआ दिखाई पड़ा। महादेव ने उस तोते को पिंजड़ा दिखाकर बुलाया, किन्तु लोगों ने हल्ला कर दिया, और वह उड़ गया। शाम तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर। कभी पिंजड़े पर आ बैठता, कभी पिंजड़े के द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, और फिर उड़ जाता। रात हो गई। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़कर नहीं जा सकता, और न पिंजड़े ही में आ सकता, फिर भी वह उस जगह से हिलने का नाम नहीं लेता। आज उसने दिन भर कुछ नहीं खाया।

महादेव दिन भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा, रह-रहकर झपकियाँ ले लेता था, किन्तु एक क्षण में फिर चौंककर आँखें खोल देता और उस विस्तृत अन्धकार में उसकी आवाज सुनाई देती—सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।

आधी रात गुजर गई। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका। देखा एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है, और कई आदमी बैठे हुये आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वे सब चिलम पी रहे थे। तम्बाकू की महक ने उसे अधीर कर दिया। उच्चस्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियों की ओर चिलम पीने चला, किन्तु जिस प्रकार बन्दूक की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं, उसी प्रकार उसे आते देख वे सबके सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। एकाएक उसे ध्यान आ गया कि ये सब चोर हैं। वह जोर से चिल्ला उठा—'चोर चोर पकड़ो पकड़ो।' महादेव दीपक के पास गया तो उसे एक मोहर का कलसा मिला। उसने तुरन्त कलसा उठा लिया, दीपक बुझा दिया, और पेड़ के नीचे छिपकर बैठ गया। जिस समय महादेव कलसा लेकर चलने का इरादा कर रहा था, उस समय उसके कानों में आवाज आई—

सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता
राम के चरण में चित्त लागा।

ये शब्द उसको आज दूसरे ही रूप में सुनाई पड़ा। अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुये ऊँची डाली से उतरा जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा, और उस तोते को पिंजड़े में रख लिया। उसके रोम-रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी।

महादेव वहाँ से घर पहुँचा, घर में कलसे को छिपाकर वह पंडित के यहाँ दौड़ा, और बोला कि आज हमारे यहाँ सत्यनारायण की कथा होनी चाहिये। पंडितजी चकराये। जिन गाँववालों को न्यौता मिला, वे तो और भी ताज्जुब में रहे कि रेत में दूब कैसे जमी। जब सन्ध्या समय सब लोग कथा सुनने आये। तो महादेव ने खड़े होकर सबको सम्बोधित करते हुये यों कहा—'भाइयो मेरी सारी उम्र छल-कपट में बीत गई। मैंने न जाने कितने आदमियों को दगा दी, कितना खरे को खोटा किया। मैं आप सभी भाइयों से ललकार कर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ निकलता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक एक कौड़ी चुका ले। अगर यहाँ कोई न आ सका हो तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिये। कल से एक महीने तक जब जी चाहे आवें, और अपना हिसाब चुकता कर लें। गवाही साखी का कोई काम नहीं।'

सब लोग सन्नाटे में आ गये। किसी ने कुछ दावा न किया, केवल पुरोहितजी ने यह कहा कि मैंने एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था, और तुमने कई मासे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुक्सान हुआ होगा।

पुरोहित—पचास से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं, और पुरोहितजी के सामने रख दीं। पुरोहित की लोलुपता पर लोग टीकायें करने लगे। यह बेईमानी है, बहुत हो, दो-चार रुपये का नुक्सान हुआ होगा। बेचारे से पचास रुपये एँठ लिये। इसके बाद महादेव एक महीने तक लेनदारों की राह देखता रहा, किन्तु कोई नहीं आया। अब वह अतिथि अभ्यागत सबका प्रेमपूर्वक सत्कार करता था। जब एक भी आदमी हिसाब लेने नहीं आया तो महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना

सद् व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है, अच्छों के लिए अच्छा।

यहीं पर कहानी खतम हो जाती है, इसके बाद लेखक केवल यह जिक्र कर देते हैं कि यद्यपि उस तोते को कोई बिल्ली खा गई, किन्तु उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की किम्बदंतियाँ मशहूर हुईं, कोई कहता है, उसका रत्नजटित पिंजड़ा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता है वह सत्तगुरुदत्त कहता हुआ अन्तर्ध्यान हो गये। तोते के मर जाने के बाद महादेव कई सन्यासियों के साथ हिमालय चला गया, और वहाँ से लौटकर नहीं आया। उसका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

डाक्टर श्रीकृष्णलाल इस कहानी के सम्बन्ध में लिखते हैं—'आत्माराम में मनोवैज्ञानिक चित्रण वास्तव में अद्भुत है। जब महादेव सोनार को रात में मोहरों से भरा एक कलसा मिल जाता है, तब वह सोचने लगता है कि वह इन मोहरों का इस्तेमाल किस प्रकार करेगा। लेखक ने महादेव के मानसिक चित्रण में कमाल ही कर दिया है। देखिये—

'महादेव के अन्त नेत्रों के सामने एक दूसरा ही जगत था। चित्रणों और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के निकल जाने का भय था, पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफे की एक भारी दूकान खुल गया, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्र हो गयीं, तब तीर्थ यात्रा करने चले, और वहाँ से लौटकर बड़े समारोह से यज्ञ ब्रह्मभोज हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक उद्यान भी आरोपित (रोपित ?) हो गया, और वहाँ वह नित्य प्रति कथा पुराण सुनने लगे। साधु-सन्तो का सत्कार होने लगा। अकस्मात् उसे ध्यान आया कहीं चोर आ जायँ तो मैं भागूँगा क्योंकर। उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया, और दो सौ कदम तक बेतहाशा

भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था, उसके पैरों में पर लग गये हैं। चिन्ता शान्त हो गई।) इत्यादि।

डाक्टर लाल आगे लिखते हैं 'इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक चित्र ही इस कहानी के प्राण हैं। इस कहानी में भी दैव घटनाओं और संयोगों का प्रभाव मिलता है, और पर्याप्त मात्रा में मिलता है, परन्तु कथानक का समस्त सौन्दर्य मनोवैज्ञानिक चित्रों और प्रसंगों में निहित है, दैव घटनाओं और संयोगों में नहीं।[१]

इस कहानी में एक व्यक्ति का चरित्र बल्कि हृदय परिवर्तन कैसे हुआ, यही दिखलाना लेखक का अभीष्ट ज्ञात होता है। पहले यही व्यक्ति महादेव अत्यन्त सूम था किन्तु बाद को शाहखर्च हो जाता है, जो बेईमानियाँ उसने पहले की थीं, उनके कारण जिनको क्षति पहुँची थी, उनकी क्षतिपूर्ति करने को तैयार हो जाता है, और कहाँ तो अतिथि अभ्यागत उससे भागते थे, और वह उनसे भागता था, और अब वह उनका सत्कार करने लगा। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच इस व्यक्ति का कुछ हृदय परिवर्तन हुआ? ऊपर से तो उसके व्यवहार में परिवर्तन हुआ, इसमें सन्देह नहीं। जो व्यक्ति परायाधन लेकर—चोरों से प्राप्त धन भी इस श्रेणी में आ जाता है, दबा जाय, और चूँकि वह धन बहुत अधिक है, इसलिए खर्च में उदार हो जाता है, क्या हम उसके सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि उसका हृदय परिवर्तन हुआ। इस सम्बन्ध में एक सम्भावना सोची जाय। यदि मोहरों के कलशे के बजाय महादेव को केवल सौ-पचास रुपये मिल जाते, तो क्या वह इस प्रकार उदार हो जाता? स्पष्ट ही इसका उत्तर ना में देना पड़ेगा। उसने इतना धन प्राप्त कर लिया कि उसने सोचा जीवन भर के लिए यह काफी है, इसीलिए वह उदार हो गया, और एक ठाकुर-

[१] आ० हि० सा० वि० पृ० ३२७-२८

द्वारा और तालाब बनवा दिया। इस प्रकार जहाँ तक हृदय-परिवर्तन है, न तो वह हुआ ही है, और न ऐसा लेखक ने दिखाया ही है।

अब प्रश्न यह है कि हृदय-परिवर्तन तो नहीं हुआ, किन्तु व्यवहार में परिवर्तन जो हुआ, और उसका जो चित्रण हमारे सामने पेश है, क्या हम उसे एक कहानी कह सकते हैं? हमारा विचार यह है कि जिस प्रकार यह लिखा गया है इसे हम कहानी नहीं कह सकते, भले ही हम इसे एक शब्द चित्र कहें, क्योंकि अच्छी कहानी, बल्कि प्रत्येक सफल कहानी के अन्त में कोई ऐसी बात होनी चाहिये—वह नाटकीय न हो, कुछ विचित्र अवश्य होगी—जिससे यह ज्ञात हो जाय कि कहानी यहाँ समाप्त हो गई। इस कसौटी पर कसे जाने पर आत्माराम कहानी ही नहीं हो पाया। रहा महादेव सोनार का चित्रण, सो प्रेमचन्दजी ने खूबी के साथ किया है।

८. दुर्गा का मन्दिर

प्रेमचन्दजी के निर्वाचन के अनुसार दुर्गा का मन्दिर भी उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। बाबू ब्रजनाथ दो बच्चों के बाप हो चुके थे, किन्तु वे कानून भी साथ-साथ पढ़ते जाते थे। एक दिन वह रास्ते से चले जा रहे थे कि उन्होंने घास पर कागज की एक पुड़िया देखी। जो खोला तो उसमें आठ सावरेन मिले। उन्होंने सोचा कि थाने में इत्तला कर दूँ जिसके होंगे वह आप ले जायेगा। या अगर उसे न भी मिले तो मुझ पर कोई दोष न रहेगा, मैं तो अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाऊँगा। फिर उन्होंने सोचा खैर इसमें जल्दी क्या है, कल इतमीनान से थाने जाऊँगा, आज भामा से एक दिल्लगी करूँ। भामा उनकी स्त्री का नाम था। भामा ने जो सावरेन देखे तो उनसे छीनने लगी। ब्रजनाथ ने बताया कि मैं इनकी इत्तिला करने थाने जाऊँगा।

भामा का मुख मलिन हो गया। बोली—पड़े हुये धन की क्या इत्तला!

ब्रजनाथ—हाँ और क्या, इन आठ गिन्नियों के लिए ईमान बिगाड़ूँ न ?

भामा—'अच्छा तो सबेरे चले जाना। इस समय जाओगे तो आने में देर होगी।' रात को भामा ने फिर समझाया कि आये हुये धन को क्यों छोड़ते हो, किन्तु ब्रजनाथ ने इस भावना को प्रोत्साहित न किया।

दूसरे दिन सबेरे ब्रजनाथ थाना जाने के लिए तैयार हो रहे थे कि इतने में उनके मित्र मुंशी गोरेलाल आकर दुखड़ा रोकर कहने लगे कि अभी हमें तीस रुपये दो, बहुत सख्त जरूरत है, कल शाम को दूँगा। ब्रजनाथ को अपने मित्र के अनुरोध को टालने की हिम्मत न हुई। वे भामा के पास गये कि रुपये हों तो दे दो, किन्तु भामा ने रुखाई से साफ इन्कार कर दिया। ब्रजनाथ मन में बहुत खिन्न हुये, अन्त में उन्होंने आठ गिन्नियों में से दो गिन्नी निकालकर गोरेलाल को दे दिये, और कहा ये अमानत की गिन्नियाँ हैं, कल जरूर वापस करना। गोरेलाल ने गिन्नियाँ लीं, मन में कहा—अमानत न्नो के सिवाय किसकी होगी, और गिन्नियाँ जेब में रखकर घर की राह ली।

दूसरे दिन नियमित समय पर ब्रजनाथ गोरेलाल का इन्तजार करते रहे कि ये हजरत आवें तो फौरन थाने में चलूँ, किन्तु गोरेलाल नहीं आये। तब वे गोरेलाल के मकान की तरफ चले। इधर झाँका, उधर झाँका, किन्तु हिम्मत न हुई कि गोरेलाल को पुकारें। अधिक रात घर लौटते समय एक दफे और झाँका। द्वार पर कान लगाकर सुना, कुछ बातचीत की भनक कान में पड़ी। गोरेलाल की स्त्री कह रही थी—रुपये तो सब उठ गये, ब्रजनाथ को कहाँ से दोगे ? गोरेलाल ने उत्तर दिया—ऐसी कौन-सी उतावली है, फिर दे देंगे। आज दरख्वास्त दे दी है, कल मंजूर ही हो जायेगी। तीन महीने के बाद लौटेंगे, तब देखा जायेगा।

ब्रजनाथ को ऐसा जान पड़ा, मानों किसी ने मुँह पर तमाचा मार दिया, वे लौट पड़े। रात भर करवटें बदलते रहे। कभी गोरेलाल की धूर्तता पर क्रोध आता था, कभी अपनी सरलता पर। अब ब्रजनाथ ने यह सोचा कि सावरेन तो जमा करना ही है, अदालत के अनुवादक का काम करूँ तो शायद महीना भर में काम पूरा हो। तदनुसार सबेरे कानून के लेक्चर में सम्मिलित होते, सन्ध्या को कचहरी से तजबीजों का पुलिन्दा घर लाते, और आधी रात तक बैठे अनुवाद करते। कभी-कभी एक दो भी बज जाते। नतीजा यह हुआ कि उनका स्वास्थ्य खराब हो चला। तीन सप्ताह में २५) हाथ आ गये। ब्रजनाथ सोचते थे कि दो-तीन दिन में बेड़ापार है, किन्तु इक्कीसवें दिन उन्हें प्रचड ज्वर चढ़ आया, और तीन दिन में भी उतरता न मालूम हुआ। भामा ने पति के स्वास्थ्य का जो यह हाल देखा तो वह पूजा-पाठ अधिक करने लगी। वह मन्दिर में बैठी देवी से प्रार्थना कर रही थी कि पति अच्छा हो जाय, इतने में एक दूसरी स्त्री को वहाँ देखा। वह शोक और नैराश्य की साक्षात मूर्ति मालूम होती थी। उसने भी देवी के सामने सिर झुकाया, और दोनों हाथों से आँचल फैलाकर बोली—देवी जिसने मेरा धन लिया हो, उसका सर्वनाश करो।

भामा को यह प्रार्थना खटकी, उसने उस बुढ़िया से पूछा तो मालूम हुआ कि रुपये इसी के खोये हैं। भामा ने एक पड़ोसी के हाथ अपने कानों के झुमके बेचकर रुपये जुटाये। जब ब्रजनाथ ने आठों गिन्नियाँ उसे दिखाई थीं, उसके हृदय में एक गुदगुदी-सी हुई थी, लेकिन यह हर्ष मुख पर आने का साहस न करता था। आज उन गिन्नियों का हाथ से जाते हुये उसका हार्दिक आनन्द आँखों में चमक रहा है, होठों पर नाच रहा है, कपालों को रंग रहा था, और अंगों पर किलोल कर रहा था। उस वृद्धा ने रुपये पाकर आशीर्वाद दिया

था। आज पूरे तीन सप्ताह के बाद व्रजनाथ तकिये के सहारे बैठे। गोरेलाल आये तो बहाने बताने लगे, और कहने लगे—आपकी बीमारी का समाचार सुनकर आज भागा चला आ रहा हूँ, यह लीजिये, रुपये हाजिर हैं, इस विलम्ब के लिए अत्यन्त लज्जित हूँ। गोरेलाल विदा हो गये तो व्रजनाथ रुपये लिये हुये भीतर आये और भामा से बोले—ये लो अपने रुपये, गोरेलाल दे गये।

भामा ने कहा—ये मेरे रुपये नहीं तुलसी के हैं, एक बार पराया धन लेकर सीख गई।

व्रजनाथ—लेकिन तुलसी के तो पूरे रुपये दे दिये गये।

भामा—दे दिये गये तो क्या हुआ, यह उसके आशीर्वाद की न्योछावर है।

व्रजनाथ—कान के झुमके कहाँ से आवेंगे?

भामा—झुमके न रहेंगे न सही, सदा के लिए 'कान' तो हो गये।

× × ×

इस कहानी में लेखक ने व्रजनाथ के मानसिक द्वन्द्वों का अच्छा चित्रण किया है। एक तरह से सब परिस्थितियाँ उसके विरुद्ध पड़ती हैं, किन्तु फिर भी वह सावरेनों को उनके असली मालिक को दिलाने की टेक पर डटा रहता है। उसकी स्त्री भी इस मत की है कि सावरेन न दिये जायँ, और उसके गुलूबन्द बना लिये जायँ। गोरेलाल ऋण लेकर चले जाते हैं, किन्तु इस परिस्थिति से भी व्रजनाथ का जोश ठंडा नहीं होता, वह रात जगकर कमाई से उस क्षति की पूर्ति करने पर जुट जाता है। व्रजनाथ को हम समाज के प्रतिनिधि के रूप में नहीं देखते, बल्कि वे केवल अपनी 'टाइप' के प्रतिनिधि हैं। व्रजनाथ के ज्वर आ जाने तक इस टाइप का अच्छा निर्वाह होता है, किन्तु उसके बीमार पड़ने तथा अच्छे हो जाने की घटना को जिस प्रकार प्रेमचन्दजी ने दिखलाया है, उसमें वे साफ जबर्दस्ती धर्म को जय कराने पर तुले हुये

मालूम होते हैं। ब्रजनाथ का तो बिल्कुल यह इरादा नहीं था—कम-से कम लेखक ने तो यही दिखाया है कि रुपये मार लिये जायँ, फिर उसकी बीमारी के साथ सावरेन न देने को, तथा उसके अच्छे हो जाने को बुढ़िया के आशीर्वाद के साथ जोड़ा गया है, यह कुछ वास्तविकता से हटी हुई बात ज्ञात होती है। नित्य प्रति सैकड़ों लोग जानबूझकर बेईमानी करते हैं, किन्तु वे बीमार कब पड़ते हैं, और उनकी बीमारी को अच्छी करने के लिए उन बेईमानियों को वापस लेने की जरूरत कब पड़ती है। सच बात तो यह है कि शताब्दियों से हमारी समाज-पद्धति एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण पर, एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर किये गये अत्याचारों पर निर्भर रही है। समाज का ताना-बाना शोषण और उत्पीड़न रहा है, फिर इस प्रकार दैव हस्तक्षेप की कल्पना करना केवल काल्पनिकता ही नहीं, रोगग्रस्त काल्पनिकता है। अवश्य इस त्रुटि के बावजूद भामा जो अन्त में पति के बीमार होते ही जल्दी से जल्दी सावरेन वापस करने पर तैयार हुई है, यह भामा की तरह कुसंस्कारग्रस्त हिन्दू स्त्री के लिए बिल्कुल स्वाभाविक है। इस दृष्टि से दुर्गा के मन्दिर वाले दृश्य की उपयोगिता है, किन्तु जैसा कि हम बता चुके बीमारी के अच्छे होने के बाद सावरेन के दे देने का सम्बन्ध जोड़ना बिल्कुल गलत है। इस त्रुटि के कारण इस कहानी का स्थान अच्छी कहानियों में होना सम्भव नहीं है, इसके कारण यह कहानी बहुत कुछ कथाच्छल से बालकों को नीति कथन के रूप में हितोपदेश-सा होकर रह जाती है।

९. बड़े घर की बेटी

यह कहानी भी प्रेमचन्दजी द्वारा निर्वाचित सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। कहानी का कथा भाग बहुत ही मामूली है। गौरी गाँव के जमीन्दार और नम्बरदार बेनीमाधवसिंह के बड़े लड़के श्रीकण्ठसिंह बी० ए०

पास हैं, एक दफ़्तर में नौकर हैं, किन्तु उनके छोटे भाई लालबिहारी-सिंह की पढ़ाई अधिक न हो सकी किन्तु वे बहुत तन्दुरुस्त हैं। श्री-कण्ठसिंह की बीबी आनन्दी बड़े घर की बेटी है। एक दिन दोपहर के समय लाल बिहारीसिंह दो चिड़ियाँ लिये हुये आया, और भावज से बोला—जल्दी से पका दो, मुझे भूख लगी है। आनन्दी भोजन बनाकर उसीकी राह देख रही थी। अब वह नया व्यञ्जन बनाने बैठी। हांडी में देखा तो घी पाव भर से अधिक नहीं था। बड़े घर की बेटी किफायत क्या जाने उसने सब घी मांस में डाल दिया। लालबिहारी खाने बैठा तो दाल में घी न था। बोला—दाल में घी क्यों नहीं छोड़ा।

आनन्दी ने बता दिया कि सब घी मांस में पड़ गया, लालबिहारी को इस पर ताज्जुब हुआ क्योंकि अभी परसों ही घी आया था। इस घर में जहाँ आनन्दी पाव भर डालने की आदी थी, वहाँ छटाक भर में काम चलाया जाता था। लालबिहारी बिगड़ गया। बात में बात बढ़ी, तनककर बोला—मैके में तो चाहे घी की नदी बहती हो। जब इधर से वार हुआ तो आनन्दी ने भी कह दिया कि वहाँ इतना घी नित्य नाई-कहार खा जाते हैं। अन्त में लालबिहारी ने थाली उठाकर पटक दी, और जीभ खींच लेने की बात कही। इस पर फिर तर्क बढ़ा, और लालबिहारी ने जाते समय खड़ाऊँ फेंककर आनन्दी की ओर मारा। आनन्दी ने हाथ से खड़ाऊँ रोकी, सिर बच गया पर उँगली में बड़ी चोट आई।

श्रीकंठसिंह शनिवार को घर आया करते थे। बृहस्पति को यह घटना हुई। आनन्दी ने दो दिन तक कुछ खाया पिया नहीं। लाल-बिहारी ने पहले ही भाई से शिकायत की। अन्त में आनन्दी पूछी गई, और उसने पूरा-पूरा सब हाल बता दिया। श्रीकंठ की आँखें लाल हो गईं। बोले—यहाँ तक हो गया। इस छोकरे का यह साहस !

आनन्दी रोने लगी। श्रीकंठसिंह पिता के पास पहुँचे और उनसे कहा कि या तो वे लालबिहारी को रखें या उन्हें, अब इस घर में दोनों का निवाह नहीं हो सकता। पिता ने बहुत समझाया किन्तु वे अपनी बात पर डटे रहे। दरवाजे की चौखट पर खड़े-खड़े लालबिहारी ने ये सब बातें सुनी। वह अपने बड़े भाई का बहुत आदर करता था। उसे कभी इतना साहस नहीं हुआ था कि श्रीकंठ के सामने चारपाई पर बैठ जाय, हुक्का पीले या पान खाले। दोनों भाइयों में हार्दिक स्नेह था। उसने जब श्रीकंठ की बातों को सुना तो घर लौटा। कोठरी में जाकर कपड़े पहने, आँखें पोछी जिसमें कोई न समझे कि रोता था। तब आनन्दी के द्वार पर आकर बोला—भाभी, भइया ने निश्चय किया है कि वह मेरे साथ इस घर में न रहेंगे। वह अब मेरा मुँह न देखेंगे। इसलिए मैं अब जाता हूँ, उन्हें फिर मुँह न दिखाऊँगा। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ, उसे क्षमा करना।

इसी समय श्रीकंठसिंह आँखें लाल किये बाहर से आये और भाई की तरफ जरा भी न देखकर अपने कमरे में चले गये। आनन्दी ने लालबिहारी की शिकायत की थी, किन्तु अब वह पछता रही थी। जब लालबिहारी ने क्षमा माँगी तो उसका रहा सहा क्रोध भी जाता रहा। वह भी रोने लगी। श्रीकंठ को देखकर आनन्दी ने कहा लाला बाहर खड़े बहुत रो रहे हैं।

श्रीकंठ—तो मैं क्या करूँ?

आनन्दी—भीतर बुला लो। मेरी जीभ में आग लगे! मैंने कहाँ से वह झगड़ा उठाया।

श्रीकंठ—मैं न बुलाऊँगा।

श्रीकंठ नहीं उठे। इतने में लालबिहारी ने कहा—भाभी भइया से मेरा प्रणाम कह दो। वह मेरा मुँह देखना नहीं चाहते, इसलिए मैं भी अपना मुँह उन्हें नहीं दिखाऊँगा।

यह कहकर वह चलने लगे। आनन्दी ने उसे रोका। लालबिहारी ने कहा जब तक भइया का दिल मेरी तरफ से साफ न होगा तब तक मैं इस घर में कदापि न रहूँगा।

आनन्दी—मैं ईश्वर की साक्षी देकर कहती हूँ कि तुम्हारी ओर से मेरे मन में तनिक भी मैल नहीं है।

अब श्रीकंठ का हृदय भी पिघला, उन्होंने बाहर आकर गले लगा लिया। बेनीमाधवसिंह बाहर से आ रहे थे। दोनों भाइयों को गले मिलते देखकर आनन्द से पुलकित हो गये। बोल उठे—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं, बिगड़ता हुआ काम बना लेती हैं।

गाँव में जिसने यह वृत्तान्त सुना, उसीने इन शब्दों में आनन्दी की उदारता को सराहा—बड़े घर की बेटियाँ ऐसी ही होती हैं।

× × ×

सभी समालोचक इस कहानी को उच्चकोटि की मानते हैं, इसमें सन्देह नहीं कि यह कहानी आदर्शवादी ढङ्ग की एक अच्छी कहानी है। अवश्य आदर्शवादी होने के कारण इस कहानी में हितोपदेश के प्रति रुख बहुत स्पष्ट है। सामन्तवादी समाज के टूटने बिखरने का एक लक्षण यह भी है कि संयुक्त परिवार-प्रथा भङ्ग हो रहा है, इस कहानी में उसीके विरुद्ध क्रुसेड करते हुये हम प्रेमचन्दजी को देख सकते हैं, किन्तु उनके द्वारा सहारा दिये जाने पर भी जो बात जिस युग की है, वह उस युग के साथ जा ही रही है, और जायेगी उसे कोई रोक नहीं सकता। जिस समय जमीन ही उत्पादन का साधन थी, और परिवार के सबकी आय का उत्सस्थल जमीन थी, उस युग में संयुक्त परिवार-प्रथा एक स्वाभाविक संस्था थी, किन्तु जिस युग में लोगों की जीविका का मुख्य साधन जमीन नहीं रह गया है, नौकरी तथा अन्य धन्धे होने लगे हैं, उस युग में भावुकता मंडित महिमा के

बावजूद संयुक्त परिवार-प्रथा समाप्त होने के लिए वाध्य है। लड़ाऊ मारने की घटना हो या लड़कों में तथा बहुओं में आपस में झगड़ा होने का बहाना हो, किसी भी बहाने को लेकर नये युग की यह प्रवृत्ति अपने को सामने लायेगी ही। आर्थिक शक्तियाँ काम करती हैं, किन्तु वे सीधे-सीधे काम नहीं करतीं, वे बहुत घुमाव-फिराव के साथ, अप्रत्यक्ष रूप से काम करती हैं। एक कलाकार की सफलता इसीमें है कि वह इन ऊपरी कारणों के द्वन्दवाद को स्पष्टकर कहानी को अपने अन्तिम Denouement या ग्रन्थिमोचन तक ले जाय। बड़े घर की बेटी में जो विशेष परिस्थितियाँ चित्रित हैं, उनमें भाई-भाई का फिर से मेल हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि अभी तक दोनों भाई जमीन से बँधे हुये हैं, फिर सामाजिक नियम तो औसत के नियम होते हैं। यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक क्षेत्र में जो औसत के नियम के रूप में सामाजिक नियम होकर हमारे सामने आता है, वही प्रत्येक व्यक्ति के क्षेत्र में भी सही उतरे। फिर भी इस कहानी में प्रेमचन्दजी ने अपनी कला का—अवश्य आदर्शवादी तरीके से ही—अच्छा निर्वाह किया है।

१०. डिक्री के रुपये

'डिक्री के रुपये' भी प्रेमचन्द द्वारा चुनी हुई सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। नईम और कैलाश में इतनी मित्रता थी जितनी दो प्राणियों में हो सकती है। कालेज से निकलने के बाद नईम को सरकारी नौकरी मिल गई, यद्यपि वह तीसरी श्रेणी में पास हुआ था, किन्तु कैलाश को वर्षों एड़ियाँ रगड़ने, खाक छानने और कुएँ झाँकने पर भी कोई काम न मिला। विवश होकर उसको अपनी कलम का आश्रय लेना पड़ा, और उसने एक समाचारपत्र निकाला। दोनों मित्रों में पत्र-व्यवहार रहता था, किन्तु दोनों की स्थिति में बहुत फर्क था।

विष्णुपुर की रियासत में हाहाकार मचा हुआ था। रियासत का

मैनेजर अपने बँगले में ठीक दोपहर के समय सैकड़ों आदमियों के सामने कत्ल कर दिया गया था। कुँअर साहब अभी बालिग़ नहीं हुए थे, उनसे मैनेजर से अनबन रहती थी, उन्होंने ही मैनेजर को कत्ल करा दिया था। कुँअर साहब पर जिला मैजिस्ट्रेट को शक था, किन्तु पुलिस कर्मचारी द्वारा इस मामले की जाँच कराने में कुँवर साहब के अपमान का भय था, इसलिये इस सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करने के लिये मिर्जा नईम नियुक्त हुए। मिर्ज़ा अपना जीवन बनाना चाहते थे, कोई त्यागी व्यक्ति न थे, इस कारण उनको यह मौका बहुत अच्छा ज्ञात हुआ। कुँअर साहब की माँ ने आकर नईम से इस मामले में अपने बेटे के साथ रियायत किये जाने की सिफारिश की, साथ ही २० हज़ार की थैली भेंट हुई।

इन्हीं दिनों कैलाश नईम से मिलने आया। नईम ने विष्णुपुर का पूरा वृत्तान्त अपने मित्र को सुनाया। नईम ने किस प्रकार अपनी बेईमानी का समर्थन किया यह द्रष्टव्य है। मनुष्य किस प्रकार अपने किये हुए प्रत्येक काम का बौद्धिक समर्थन कर लेता है, नईम की बातें इसका अच्छा उदाहरण है। नईम कैलाश से कहता है—'अगर गुनाह से किसी की जान बचती हो, तो वह ऐब सवाब है।' ऐसा कहते समय नईम को इसका दूसरा पहलू बिल्कुल नहीं सूझता। इसके अतिरिक्त नईम कैलाश से यह भी बता देता है कि हाकिमों में उसकी शोहरत एक तास्सुबी मुसलमान के तौर है। उस ख्याति के अनुसार लोग यह समझते हैं कि वह बरबस विष्णुपुर के हिन्दू शासक के विरुद्ध राय देगा।

नईम—हिन्दू लोग तो मुझे पक्षपात का पुतला समझते हैं। यह भ्रम मुझे (इस मामले में) आक्षेपों से बचाने के लिये काफी है। बताओ हूँ तक़दीरवर कि नहीं ?

कैलाश को इस प्रकार पूरा कच्चाचिट्ठा ज्ञात हो गया कि किस

प्रकार मामले की जाँच हो रही है। नईम ने अपनी खोज को सत्य का रूप देने के लिये पूरे एक महीने व्यतीत किये। जब उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो राजनैतिक क्षेत्र में विप्लव मच गया। जनता के सन्देह की पुष्टि हुई। कैलाश के सामने अब यह जटिल समस्या उपस्थित हुई कि अब भी चुप रहें, या जो बातें मित्रता के नाते ज्ञात हुई उन्हें पत्र में प्रकाशित कर दें। अन्त में कैलाश ने यह निश्चय किया कि नईम मेरा मित्र है, किन्तु जातिसेवा का तकाजा कहीं बहुत बड़ा है। उसने एक लेखमाला में सारी बात प्रगट कर दी। उसने वह वार्तालाप अक्षरशः प्रकाशित कर दिया जो उसके और नईम के बीच में हुआ था। शासकों को कभी ऐसी मुँह की नहीं खानी पड़ी थी। आखिर उन्हें अपनी मानरक्षा के लिये इसके सिवा और कोई उपाय न सूझा कि वे मिरजा नईम को कैलाश पर मानहानि का अभियोग चलाने के लिये विवश करें। कैलाश पर इस्तगासा दायर हुआ। अदालत ने नईम को २० हजार रुपयों की डिक्री दे दी। कहानी का आखिरी हिस्सा यह है कि नईम कैलाश के घर आता है, और २० हजार रुपये की भरपाई लिख देता है।

यह कहानी आदर्शवादी ढंग की है। कैलाश और नईम का सम्बन्ध उस समय तक बिल्कुल समझ में आता है, जब तक कि कैलाश पर मुकदमा चलकर डिक्री हो जाती है, किन्तु उसके बाद नईम का इस प्रकार उदार होकर २००००) की भरपाई लिखकर कैलाश को महान विपत्ति से बचा लेना कुछ समझ में नहीं आता। यह बिल्कुल मनोविज्ञान के नियमों से गलत ठहरता है। अवश्य मनुष्य के चरित्र में भयंकर परिवर्तन नहीं होते ऐसी बात नहीं, चोर साव हो जाते हैं, साव चोर हो जाते हैं, किन्तु एक उपन्यास, कहानी या नाटक लेखक को इस प्रकार के परिवर्तन दिखाते समय उसकी चारों तरफ की परिस्थिति को ऐसा बना देना या दिखाना चाहिये जिससे यह ज्ञात

हो कि इस प्रकार का परिवर्तन अवश्यम्भावी है। दुःख है प्रेमचन्द इस कहानी में इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाते। नतीजा यह है कि यह कहानी एक बहुत ही निम्न कोटि की कहानी हो कर रह गई।

फिर भी इस कहानी का सामाजिक पहलू बहुत साफ है। रियासतों में किस प्रकार कुँवर, राजा और नवाबगण बात की बात में खून करवा देते हैं, किस प्रकार रुपयों के जोर पर इन कुकृत्यों को दबा दिया जाता है, सरकारी तहकीकात की क्या पोल है, सरकार जानकर भी कैसे अपने अन्यायी अफसरों की रक्षा करती है आदि बातें बहुत स्पष्टता के साथ आ गई हैं, और यह कोई छोटी बात नहीं है। फिर भी जैसा कि बताया गया एक कहानी तभी सर्वाङ्गसुन्दर कही जा सकती है, जब उसकी घटनायें तथा व्यक्ति अपने अपने आन्तरिक नियमों से परिचालित होते हुए भी एक समग्रत्व की सृष्टि करें। नहीं तो एक कहानी का उद्देश्य ही नहीं बल्कि उसका ढाँचा प्रगतिशील होते हुए भी वह कहानी न होगी।

११. पञ्च परमेश्वर

यह कहानी पहली बार १६१६ में सरस्वती की जून संख्या में प्रकाशित हुई थी। इस कहानी को स्वयं प्रेमचन्दजी अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में समझते थे। जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी। इस मित्रता का सूत्रपात बचपन में ही हुआ था। जुम्मन शेख की एक बूढ़ी खाला थी। इस खाला के पास कुछ थोड़ी-सी मिल्कियत थी। जुम्मन ने लम्बे-चौड़े वादे करके उस मिल्कियत को अपने नाम लिखवा लिया था। जब तक दानपत्र की रजिस्ट्री न हुई थी तब तक खालाजान का कुछ आदर-सत्कार किया गया। ज्योंही रजिस्ट्री हो गई त्योंही जुम्मन की पत्नी करीमन रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तेज तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख भी

निठुर हो गई। खालाजान परेशान हो गई और अन्त में उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि बेटा तुम्हारे साथ निबाह न होगा, तुम मुझे रुपये दे दिया करो, मैं अपना अलग पका खा लूँगी। जुम्मन ने धृष्टता के साथ उत्तर दिया—रुपये क्या यहाँ फलते हैं?

खाला बिगड़ गई और उन्होंने पञ्चायत की धमकी दी। जुम्मन हँसा, क्योंकि वह समझता था कि पञ्चायत अवश्य इसके पक्ष में राय देगी। बूढ़ी खाला हाथ में एक लकड़ी लिये आस-पास के गाँव में दौड़ती रही। वह अलगू चौधरी के पास भी गई। कई दिन दौड़-धूप के बाद एक पेड़ के नीचे पञ्चायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले ही से फर्श बिछा रखा था। उन्होंने पान, इलायची, हुक्के, तम्बाकू आदि का प्रबन्ध भी किया था। पञ्चायत शुरू हो गई। पञ्च लोग बैठ गये, तो बूढ़ी खाला ने उनसे विनती की कि "जुम्मन ने मुझे रोटी-कपड़ा देना कबूल किया था, साल भर रो-धोकर काटा, अब मैं चाहती हूँ कि माहवार खर्चा दिया जाय।" इसके उत्तर में जुम्मन ने यह कहा कि इस जमीन से इतनी आमदनी नहीं है कि खाला को माहवार खर्च दिया जाय। अलगू चौधरी सरपंच के स्थान पर थे। उन्होंने कहा—'शेख जुम्मन, हम और तुम पुराने दोस्त हैं। जब काम पड़ा तुमने हमारी मदद की है, और हम भी जो कुछ बन पड़ा तुम्हारी सेवा करते रहे हैं, मगर इस समय तुम और बूढ़ी खाला, दोनों हमारी निगाह में बराबर हो। तुमको पंचों से जो कुछ अर्ज करना है करो।'

जुम्मन ने उन्हीं बातों को कहा। अलगू चौधरी को हमेशा कचहरी से काम पड़ता है, अतएव वह पूरा कानूनी आदमी था। उसने जुम्मन से खूब जिरह की। एक एक प्रश्न जुम्मन के हृदय पर हथौड़े के चोट की तरह पड़ता था। अन्त में अलगू चौधरी ने फैसला सुना दिया, और यह कहा कि खालाजान को माहवार खर्च दिया जाय, 'क्योंकि हमारा विचार है कि खाला की जायदाद को इतना मुनाफा अवश्य

होता है कि माहवार खर्च दिया जा सके।' फैसला सुनते ही सब लोग सन्नाटे में आ गये, इसके बाद से जुम्मन और अलगू चौधरी में मनमुटाव हो गया।

इसके थोड़े दिन बाद अलगू चौधरी के पास जो बढ़िया बैल की गोई थी, उसमें से एक मर गया। अलगू चौधरी को सन्देह हुआ कि जुम्मन ने बैल को विष दिला दिया है। चौधराइन ने भी जुम्मन पर ही इस दुर्घटना का दोषारोपण किया। अब अकेला किस काम का है, अतएव उन्होंने बाकी बचे हुये बैल को समझू साहु के हाथ बेच दिया। समझू साहु ने नया बैल पाया तो लगे उसे रगेदने। एक महीने में दाम चुकाने का वादा ठहरा। समझू साहु ने बैल को जब धूप में दौड़ा दिया, और उस पर अनाप-सनाप बोझे लादे, तो वह एक दिन कलेजा तोड़कर रह गया। अब इस बात पर समझू साहु ने पंचायत बुलाई कि बैल के दाम के रुपये दिये जायँ या नहीं। समझू ने जुम्मन शेख को सरपंच चुना। अलगू से पूछा गया कि उसे कोई आपत्ति है या नहीं, तो उसने निराश होकर कहा—नहीं, मुझे क्या उज्र है।

पंचों ने दोनों पक्षों से जवाब-सवाल किये। बहुत देर तक दोनों दल अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते रहे। अन्त में जुम्मन ने फैसला सुनाया—अलगू चौधरी और समझू साहु! पंचो ने तुम्हारे मामले पर अच्छी तरह विचार किया। समझू को उचित है कि बैल का पूरा दाम दे। जिस वक्त उन्होंने बैल लिया, उसे कोई बीमारी न थी। अगर उसी समय दाम दे दिये जाते तो आज समझू उसे फेर लेने का आग्रह न करते। बैल की मृत्यु केवल इस कारण हुई कि उससे बड़ा कठिन परिश्रम लिया गया। और उसके दाने-चारे का कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं किया गया।

इसके बाद यह कहानी समाप्त हो जाती है, और लोग पंच परमेश्वर

की जप करते हुये पंचायत से चल देते हैं। इस कहानी में प्रेमचन्दजी फिर हितोपदेश देते हुये दृष्टिगोचर होते हैं, जिस बात को वे जैसी चाहते हैं उस बात को वे बहुत कुछ जबर्दस्ती उस प्रकार के रंग में रंगकर दिखलाते हैं। उनका वक्तव्य यह है कि पंच में परमेश्वर वास करते हैं, इसलिए पंच के पद पर बैठकर कोई अन्याय कर ही नहीं सकता। यह धारणा कितनी गलत है, इसको सभी अनुभवी तथा भुक्त-भोगी व्यक्ति जानते हैं। प्रेमचन्दजी भी इस तथ्य से बेखबर हैं ऐसी बात नहीं क्योंकि उन्होंने पहले मौके पर खालाजान के मामले के तसफिये के लिए जो पंचायत बैठी थी, उस अवसर का वर्णन करते हुये, यह लिखा है कि शेख जुम्मन ने पान, इलायची, हुक्के, तम्बाकू आदि का प्रबन्ध किया था, एक कोने में आग सुलग रही थी, नाई तावड़तोड़ चिलम भर रहा था, इत्यादि। प्रेमचन्दजी इस बात को भलीभाँति समझते हैं कि पञ्चों पर प्रभाव डाला जाता है, और वह प्रभाव काम भी करता है फिर भी उन्होंने यह जो दिखलाया कि बदले की भावना से जर्जरित होने पर भी जुम्मन ने न्याय पक्ष लिया, यह गलत ही नहीं सरासर तथ्य के साथ जबर्दस्ती करता है। इस प्रकार से पञ्चायतों में जो विश्वास उन्होंने उत्पन्न करने की कोशिश की है, और पञ्चों को जो उपदेश दिया है, उसके रुख की सदाकत में कोई सन्देह न होते हुये भी वह स्वाप्निक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उन्होंने इसी कहानी में एक सार्वदेशिक सत्य को मानो कहते हुये, यह लिखा है—'अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है, जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथप्रदर्शक बन जाता है।' कहना न होगा कि यह केवल कपोल कल्पना है, हम नित्य प्रति यह देखते हैं कि वर्तमान समाज-पद्धति में लोग बिल्कुल इसके विपरीत आचरण करते हैं, और गरीब की सुनाइ बहुत कम होती है। इसी कहानी क अन्त

में जुम्मन ने अलगू के पक्ष में फैसला देने के बाद अलगू से यह जो कहा—'आज मुझे ज्ञात हुआ कि पञ्च के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन, न्याय के सिवाय उसे और कुछ नहीं सूझता, आज मुझे विश्वास हो गया कि पञ्च की जबान से खुदा बोलता है।' यह बिल्कुल ही रोजमर्रे की अभिज्ञता के विपरीत जाती है। इन्हीं बातों का नतीजा यह है कि इस कहानी में घटनाओं की परम्परा अपेक्षाकृत रूप से अच्छी होने पर भी यह कहानी हवा में उड़ती हुई रह गई, और किसी भी हालत में एक अच्छी कहानी नहीं कही जा सकती।

१२. शंखनाद

शंखनाद कहानी का कथानक बहुत ही मामूली है। गाँव के मुखिया भानु चौधरी के तीन लड़के हैं उनमें से दो कामकाज करते हैं, किन्तु तीसरा पुत्र आवारा तो नहीं है, किन्तु किसी प्रकार घर के कामकाज में हाथ नहीं बटाता। कहीं कुश्ती लड़ता, कसरत करता, रामायण और भजन गाता, सिल्क का कुरता और साफा झाड़कर इधर-उधर मटरगश्ती करता। यही उसका काम था। भावजें ताना देतीं, बूढ़े चौधरी पैतरे बदलते रहते, और भाई लोग तीखी नजर से देखा करते, किन्तु उस पर कोई असर नहीं करता। वह उन लोगों के बीच से इस तरह अकड़ता चला जाता, जैसे कोई मस्त हाथी कुत्तों के बीच से निकल जाती। पिता ने तथा भाइयों ने उसे बदलने की बहुत कोशिश की, किन्तु वे उसमें सफल नहीं हुये, किन्तु एक दिन जब एक खोन्चा-वाला आया, और उसके बच्चे को कुछ न मिला, और सब बाकी बच्चे कुछ न कुछ लेकर चले, उल्टा उसकी माँ ने उसे मारा तो उसकी आँखें भर आईं, वह सचेत हो गया। उसने जाकर बच्चे को गोद में उठा लिया, और करुणोत्पादक स्वर में बोला—बच्चे पर इतना क्रोध क्यों करती हो? तुम्हारा दोषी मैं हूँ.....परमात्मा ने चाहा तो

कल से लोग इस घर में मेरा और मेरे बाल-बच्चों का आदर करेंगे। तुमने आज मुझे सदा के लिए इस तरह जगा दिया, मानों मेरे कानों में शङ्खनादकर मुझे कर्म-पथ में प्रवेश करने का उपदेश दिया हो।

डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने इस कहानी के सम्बन्ध में यह लिखा है कि चरित्र परिवर्तन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इस कहानी में मिलता है, हम सम्पूर्ण रूप से इस कथन से सहमत हैं यों तो प्रेमचन्द का पूरा साहित्य अद्भुत रूप से चरित्र परिवर्तन से भरा पड़ा है, किन्तु इसी कहानी में उन्होंने उन परिस्थितियों को दिखलाया है जिनके कारण चरित्र परिवर्तित हो सकते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियों को बिना दिखाये चरित्र परिवर्तन चित्रित करना एक तरह का तिलस्म हो जाता है, और न तो मनोवैज्ञानिक रूप से और न सामाजिक रूप से ही उस कहानी में कोई तत्व रह जाता है, और प्रसिद्ध समालोचक श्रीप्रकाश-चन्द्र गुप्त इस कहानी की समालोचना दूसरी ही दिशा से करते हैं। उनके अनुसार 'शङ्खनाद' कहानी में ग्राम्य-जीवन का विशद वर्णन है, पात्रों के नाम तक में ग्रामीणता भरी है। उनके कामों से हमें काफी सन्तोष मिलता है—भानु चौधरी के लड़के वितान, शान और गुमान चौधरी, मिठाई बेचने वाला गुरदीन, गुमान चौधरी का लड़का धान। गुमान के व्यसन—मुहर्रम में ढोल बजाना, मछली फँसाना, दङ्गल में भाग लेना। इस ग्राम्य-जीवन के चितेरे में अवश्य ही दैवीशक्ति है।'[1] इसमें सन्देह नहीं कि इस कहानी में ग्राम्य के खाते-पीते मध्यवित्तवर्ग का अच्छा चित्र खींचा है। भानु चौधरी का बड़ा मान था, किन्तु प्रेमचन्दजी बड़ी सफाई से इस मान का स्पष्टीकरण यों कर देते हैं कि दारोगाजी उन्हें टाट बिना जमीन पर

[1] ह० प्रे० पृ० ६४०

बैठने न देते। इस कहानी में इसी प्रकार गाँव को टूटती हुई संयुक्त परिवार-प्रथा की बात को हम देखते हैं। 'बड़े घर की बेटी' में प्रेमचन्दजी जिस प्रकार इस संयुक्त परिवार-प्रथा के पक्ष में अपना वजन डालते हैं, उसी प्रकार इस कहानी में भी वे गुमान का चरित्र परिवर्तन कराकर संयुक्त परिवार-प्रथा की रक्षाकर उसे कुछ और जीवन प्रदान करने की कोशिश करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं।

१३. सत्याग्रह

न तो स्वयं प्रेमचन्दजी ने और न उनके समालोचकों ने इस कहानी को विशेष महत्व दिया है, फिर भी हमारी राय में यह कहानी उनकी श्रेष्ठ कहानियों में है। हिज एक्सलेन्सी वाइसराय बनारस आ रहे थे। सरकारी कर्मचारी उनके स्वागत की तैयारी कर रहे थे, उधर कांग्रेस-वाले यह कोशिश कर रहे थे कि उस दिन हड़ताल रहे। मजिस्ट्रेट साहब और साथ ही शहर के तमाम खैरख्वाह इस बात की चेष्टा में लगे हुये थे कि स्वागत धूमधाम से हो, किन्तु कांग्रेसवालों के सामने उनकी एक न चलती थी। अन्त में राय साहब को यह युक्ति सूझी कि लोगों के धार्मिक कुसंस्कारों का फायदा उठाना चाहिये, और ऐसे विद्वान धर्मकर्मरत ब्राह्मण से उपवास करवा देना चाहिये जिससे काम बन जाय। ढूँढ़ते-ढाढ़ते इस काम के लिए पंडित मोटेराम शास्त्री तैयार किये गये। शास्त्री ने नकद सौ रुपया लेकर यह तय किया कि वह यह एलानकर उपवास करेंगे कि जब तक लोग हड़ताल की टेक न छोड़ेंगे तब तक वे उपवास करेंगे। उनकी स्त्री ने उन्हें बहुत समझाया—नाहक इस रोग को अपने सिर मत लो। भूख न बर्दाश्त हुई, तो? सारे शहर में भद्द हो जायेगी, लोग हँसी उड़ावेंगे, रुपये लौटा दो।

मोटेराम तो बयाना ले चुके थे, भला वे पीछे हटनेवाले कब थे।

उन्होंने इमरतियाँ, लड्डू, रसगुल्ले मँगवाकर पेट भर भोजन किया, फिर इस पर आध सेर मलाई खाई, उसके ऊपर आध सेर बादाम की तह जमाई, बची-खुची कसर मलाईवाले दही से पूरी कर ली। उन्होंने खाते हुये कहा—देखूँ क्योंकर भूख पास फटकती है, तीन दिन तक तो साँस ही न ली जायेगी। भूख की कौन चलावे...।

भोजन के बाद डुग्गी पिटवाकर नगर निवासियों की एक सभा बुलाई गई, उसमें उन्होंने बड़े जोरों का भाषण दिया, कहा—तुम लोगों ने कांग्रेसवालों के कहने में आकर बड़े लाट साहब के शुभागमन के अवसर पर हड़ताल करने का निश्चय किया है। यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है ? वह चाहें तो आज तुम लोगों को तोप के मुँह पर उड़वा दें, सारे शहर को खुदवा डालें, राजा हैं हँसी ठट्ठा नहीं। वह तरह देते जाते हैं, तुम्हारी दीनता पर तरस खाते हैं, और तुम गौओं की तरह हत्या के बल खेत चरने को तैयार हो...। ताऊन के कीड़े फैला दें तो सारे नगर में हाहाकार मच जाय। तुम झाड़ू से आँधी रोकने चले हो ! खबरदार जो किसी ने बाजार बन्द किया, नहीं तो कहे देता हूँ, यहीं अन्न-जल बिना प्राण दे दूँगा। न मानोगे तो हत्या लगेगी, संसार में कहीं मुँह न दिखला सकोगे, बस यह न लो मैं यहीं आसन जमाता हूँ।

इस प्रकार मोटेराम शास्त्री ने अन्न-जल छोड़ दिया। कांग्रेसवालों ने बहुतेरा लोगों को समझाया कि यह सब अधिकारियों की चालाकी है, शास्त्रीजी रुपया लेकर यह सब जाल रच रहे हैं, किन्तु फिर भी कुछ धर्मभीरु लोगों में ढुलमुलयकीनी का वातावरण पैदा हो गया। इधर शास्त्रीजी का भी बुरा हाल था। रुपये के लोभ में उपवास का प्रण तो उन्होंने कर लिया, किन्तु रात होते-होते उनका बुरा हाल हुआ। उन्होंने सोचा कि कहीं कुछ खोंचावालों से खा लें तो कौन जानेगा, किन्तु उनके इर्दगिर्द दो पुलिसवाले खड़े थे। बड़ी विपत्ति

थी। उन्होंने पहले पुलिसवालों को हटाने की तरकीब सोची। पूछा—तुम यहाँ क्यों खड़े हो?

सिपाहियों ने कहा—साहब का हुक्म है, क्या करें?

मोटेराम—यहाँ से चले जाओ।

सिपाही—आप के कहने से चले जायँ? कल नौकरी छूट जायेगी तो आप खाने को देंगे।

मोटेराम—हम कहते हैं चले जाओ, नहीं तो हम ही यहाँ से चले जायँगे, हम कोई कैदी नहीं हैं जो तुम घेरे खड़े हो।

सिपाही—चले क्या जाइयेगा, मजाल है!

मोटेराम—मजाल क्यों नहीं है बे, कोई जुर्म किया है?

सिपाही—अच्छा जाओ तो देखें।

पंडितजी ब्रह्म तेज में आकर उठे और एक सिपाही को इतने जोर से धक्का मारा कि कई कदम पर जा गिरा। इस प्रकार पुलिसवाले वहाँ से टले। तब उन्होंने इधर-उधर नजरें दौड़ानी शुरू की कि कोई खोंचेवाला आये तो काम बने। दैवयोग से उसी समय एक खोंचेवाला उधर से आता दिखाई दिया। पंडितजी ने यह स्वाँग रचा कि उन्होंने कोई साँप देखा है, इसलिए खोंचेवाले भी कुप्पी लेकर इधर-उधर उसकी तलाश करने लगे, जानबूझकर कुप्पी गिरा दी। कुप्पी बुझ गई और अँधेरा हो गया। तब पंडितजी के कहने पर खोंचावाला तेल खरीदने के लिए कुप्पी लेकर गया। पंडितजी ने इधर जो सन्नाटा देखा तो मिठाइयों पर हाथ मारना शुरू किया। पहला ही लड्डू मुँह में रखा था कि देखा खोंचेवाला तेल की कुप्पी जलाये कदम बढ़ाता चला आ रहा है, उसके पहुँचने के पहले मिठाई का समाप्त हो जाना अनिवार्य था, एक साथ दो चीजें मुँह में रखा। अभी चबला ही रहे थे कि वह निशाचर दस कदम और बढ़ आया। एक साथ चार चीजें मुँह में डाली, और अधकुचली ही निगल गये। अभी छः अदतें और थीं,

और खोंचेवाला फाटक तक आ चुका था। सारी की सारी मिठाई मुँह में डाल ली, अब न चबाते बनता है, न उगलते। वह शैतान मोटरकार की तरह कुप्पी चमकाता चला ही आता था। जब वह बिल्कुल सामने आ गया तो पंडितजी ने जल्दी से सारी मिठाई निगल ली। मगर आखिर आदमी ही थे, कोई मगर तो थे नहीं। आँखों में पानी भर आया, गला फँस गया, शरीर में रोमांस हो आया, जोर से खाँसने लगे। खोंचेवाले ने तेल की कुप्पी बढ़ाते हुये कहा—चले तो हैं उपवास करने, पर प्राणों का इतना डर है। अगर साँप भी हुआ तो आपको क्या चिन्ता, प्राण भी निकल जायेंगे तो सरकार बालबच्चों की परवरस्ती करेगी।

जैसे-तैसे खोंचेवाला टला, उस बेचारे को पता न हुआ कि पंडितजी ने उसके थाल की सारी मिठाई चख ली थी। दूसरा दिन भी किसी तरह गुजरा, किन्तु शाम तक सेठों में कुछ हलचल नजर आई। लोगों ने कहा—यह धर्म विरुद्ध है कि एक ब्राह्मण हमारे ऊपर दानापानी त्याग दे, और हम पेट भरकर चैन की नींद सोयें, अगर उन्होंने धर्म विरुद्ध आचरण किया है तो उसका दण्ड उन्हें भोगना पड़ेगा, हम क्यों अपने कर्त्तव्य से मुँह फेरें।

कांग्रेस के मंत्रीजी ने देखा कि मामला विकट होता जा रहा है, तब वे सीधे बाजार गये। वे पुलिस विभाग में बहुत दिनों तक रह चुके थे, मनुष्य की कमजोरियों को खूब पहचानते थे। बाजार में पाँच रुपये की मिठाई ली। उसमें मात्रा से अधिक सुगन्ध डालने का प्रयत्न किया, चाँदी के वर्क लगवाये, एक मंझर में ठंडा पानी लिया, और केवड़े का जल मिलाया। फिर वे शास्त्रीजी के पास पहुँचे। मंत्रीजी ने दोने की मिठाई सामने रख दी, और झज्झर पर कुल्हड़ औंधा दिया। इसके बाद उन्होंने समझाना-बुझाना शुरू किया, और बताया कि नगर में आपके उपवास की कोई भी चर्चा नहीं है। पंडितजी की आँखें दोने

पर लगी हुई थीं। मन्त्रीजी ने कहा—आपका व्रत न होता तो दो-चार मिठाइयाँ आपको चखाता। पाँच रुपये सेर के दाम दिये हैं।

मोटेराम—तब तो बहुत ही श्रेष्ठ होंगे, मैंने बहुत दिन हुये कलाकन्द नहीं खाया।

मंत्री—आपने भी तो बैठे बिठाई झंझट मोल ले लिया। प्राण ही न रहेंगे तो धन किस काम आयेगा?

मोटेराम—क्या करूँ, फँस गया। मैं इतनी मिठाइयों का जलपान कर जाता था। (हाथ से मिठाइयों को टटोलकर) भोला के दूकान की होगी।

मंत्री—चखिये दो-चार।

मोटेराम—क्या चखूँ, धर्मसंकट में पड़ा हूँ।

मंत्री—अजी चखिये भी। इस समय जो आनन्द प्राप्त होगा वह लाख रुपये में भी नहीं मिल सकता। कोई किसी से कहने जाता है क्या?

मोटेराम—मुझे भय किसका है? मैं यहाँ दाना-पानी बिना मर रहा हूँ, और किसी को परवाह ही नहीं, तो फिर मुझे क्या डर......। लाओ इधर दोना बढ़ाओ। जब किसी में धर्म नहीं रहा तो मैंने ही धर्म का बीड़ा थोड़े ही उठाया।

नतीजा यह हुआ कि पंडितजी ने दोना अपनी तरफ खींच लिया, और लगे बढ़-बढ़कर हाथ मारने। मंत्रीजी ने बाहर जो सेठ लोग प्रतीक्षा कर रहे थे उनको भी बुला लिया। इस कहानी को समाप्तकर फुटनोट में प्रेमचन्दजी इतना और लिखते हैं—

"हम यह कहना भूल गये कि मंत्रीजी को मैदान में मिठाई लेकर आते समय पुलिस के सिपाही को चार आने पैसे देने पड़े थे, यह

नियम विरुद्ध था, लेकिन मंत्रीजी ने इस बात पर अड़ना उचित न समझा।"

× × ×

इस कहानी को 'शतरञ्ज के खिलाड़ी' की श्रेणी में रखा जा सकता है। जैसा डाक्टर श्रीकृष्णलाल ने शतरञ्ज के खिलाड़ी की समालोचना में यह कहा कि उसमें शतरञ्ज को लत को चित्रित किया गया है, वैसे ही इस कहानी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह पेटूपन का मजाक मात्र है; किन्तु बात ऐसी नहीं है। इस कहानी में राष्ट्रीय और राष्ट्रविरोधी शक्तियों का दाँव-पेच दिखलाया गया है, पेटूपन तो केवल एक ऊपरी आवरण मात्र है। इस कहानी में हम इस बात को देख सकते हैं कि किस प्रकार अधिकारीगण धर्म का उपयोगकर जनता के आन्दोलन को दबाना चाहते हैं, और इसमें प्राचीनपन्थी पंडितगण उनके सहायक हो जाते हैं। यों तो ये पुराने ढङ्ग के पंडितगण जब देखो तब भारतीय संस्कृति का गुणगान करते हैं, किन्तु ये लोग हमेशा राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने में सरकार के सहायक सिद्ध हुये हैं। यद्यपि ये लोग आत्मा को अमर मानते हैं, मृत्यु इनके अनुसार केवल जीर्णवसन छोड़कर नवीन वस्त्र धारण करना मात्र है, फिर भी इन पंडितों से बढ़कर कायर और बुजदिल शायद ही कोई हो। बहुत कम पंडित ऐसे होंगे जो राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल गये होंगे, महामहोपाध्याय या उसके समकक्ष कोई पंडित तो कभी जेल गया ही न होगा। इस कहानी में मोटेराम का पेटूपन, साथ ही धन का लोभ, ऐसी बातें हैं, जो इस पंडित समाज की विशेषता है। काशी निवासी होने के कारण प्रेमचन्दजी को इन पंडित नामधारी महान मूर्खों का अच्छा ज्ञान रहा होगा। मोटेराम कितने असंयमी थे कि एक रात भी उनसे भूखे न रहते बना, यह भी इस पंडित समाज की विशेषता है। जिस प्रकार मोटेराम ने कुप्पी

बुझाकर खोंचे का माल चुराया है, वह शायद अत्युक्ति हो, किन्तु जैसे कार्टून में एक अवगुण की अति दिखलाकर ही चीज को स्पष्टकर मूर्त कर दिया जाता है, उसी प्रकार इस अवसर पर शास्त्रीजी ने जिस लोभ का परिचय दिया है, वह कुछ अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी कला की दृष्टि से सही है। क्योंकि इससे जिस अवगुण को स्पष्ट करना है, वह हमारे सन्मुख बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

मोटेराम ने सभा में जो भाषण दिया है, वह भी कोई कपोल कल्पना नहीं है, बल्कि पंडित समाज जब राजनैतिक रूप से सोचता है तो इसी प्रकार सोचता है। इनको न तो राष्ट्रीय परिस्थिति का ही कुछ ज्ञान होता है, न अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का कुछ ज्ञान होता है, न ये इतिहास ही जानते हैं, ऐसी हालत में इनके लिए ये सोचना बिल्कुल उचित है कि सरकार भारतियों पर बहुत रहम कर रही है।

सिपाही और मोटेराम के बीच जो बातचीत हुई, वह भी बहुत वस्तुवादी है। फिर भी कहानी के अन्त में प्रेमचन्दजी ने फुटनोट लगाकर यह जो दिखलाया है कि कांग्रेस के मन्त्रीजी ने घूस देकर अपना काम निकाला, यह उनका Master stroke है, और यह इस बात को दिखलाता है कि वे अपनी कला के प्रति कितने सच्चे थे कि जैसा देखते थे वैसा चित्रित करते थे। इस कहानी में कांग्रेस के मन्त्रीजी कोई आदर्श देवता नहीं, बल्कि एक व्यवहारकुशल, खुर्राट, मर्दुमशनाश व्यक्ति के रूप में चित्रित हैं। हमारा यह सुचिन्तित मत है कि इस कहानी को चेकाफ की कहानियों के साथ एक श्रेणी में रखा जा सकता है, और निस्सन्देह प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में इसका स्थान है। किन्तु जैसा कि हम 'शतरंज के खिलाड़ी' के विषय में बता

---

[1] प्रे० घ० पृ० ११६

चुके, इस कहानी को पढ़कर एक स्कूली लड़का भी आनन्द उठा सकता है, साथ ही एक समाजशास्त्री भी इसका आनन्द लेगा। शास्त्री-जी के पेटूपन को चित्रित करते हुये प्रेमचन्दजी ने मनोविज्ञान का बहुत अच्छा ज्ञान प्रदर्शित किया है।

कुछ फुटकर कहानियाँ

श्रीप्रकाशचन्द गुप्त ने नवनिधि की 'धोखा', 'अमावस्या की रात्रि' 'ममता' और 'पछतावा' नामक कहानियों की प्रशंसा की है। हम संक्षेप में देखें कि ये कहानियाँ वास्तविकरूप से कुछ विशेषता रखती हैं या नहीं। स्वयं प्रेमचन्दजी तो इन कहानियों को अपनी सर्वोत्तम कहानियों में नहीं समझते थे।

१४. धोखा

धोखा कहानी का कथानक बहुत ही मामूली है, और शायद प्रेमचन्द से पहले कई लेखकों ने इस कथानक का उपयोग किया है। राजकुमारी प्रभा अपनी सहेली के साथ बाग में टहल रही है, इतने में एक गवैया उधर से गाते हुए गुजरता है। यह गवैया योगी के रूप में है। गाने से प्रभा इतनी मुग्ध हो जाती है कि वह उसे बुलवाकर उसका गाना सुनती है। उसी दिन से वह भीतर ही भीतर उस योगी से प्रेम करने लगती है, किन्तु ऐसा वह किसी से यहाँ तक कि अपनी सहेली से भी नहीं बताती। यथासमय राजकुमारी का विवाह नवगढ़ के युवक राजा हरिश्चन्द से होता है। हरिश्चन्द प्रभा पर जान देते हैं, किन्तु राजकुमारी के मन में अभी तक वह योगी चोरी से मौजूद है, इसलिए प्रेम के आदान-प्रदान में कुछ कमी रहती है। एक दिन हरिश्चन्द ने प्रभा को ले जाकर अपनी चित्रशाला दिखलाई। उसमें कृष्ण से लेकर स्वामी दयानन्द तक बहुत से चित्र थे। साथ ही उस योगी का भी

चित्र वहाँ दिखाई पड़ा। उस चित्र को देखते ही प्रभा सन्न से रह गई। राजा हरिश्चन्द ने उनसे पूछा कि इनको तो आपने देखा होगा, रानी ने जिन परिस्थितियों में उस योगी को देखा था, उसे बता दिया, किन्तु प्रेम की बात नहीं बताई। जो कुछ भी हो राजा हरिश्चन्द ने यह प्रस्ताव किया कि यदि प्रभा चाहें तो उस योगी को बुलाया जाय। तदनुसार राजा उस योगी को बुलाने गये। मुश्किल से दस मिनट के अन्दर वह योगी उसी मस्तानापन उसी गाने को गाते हुए आता दृष्टिगोचर हुआ। प्रभा ने उसकी तरफ सहमी हुई आँखों से देखा। एकाएक उसका हृदय उछल पड़ा। उसकी आँखों के आगे से एक पर्दा हट गया, यह योगी तो राजा हरिश्चन्द ही है। बात यह है हरिश्चन्द अपनी भावी पत्नी को विवाह के पहले ही देखना चाहते थे, उसी लिए वे योगी का स्वाँग रचकर प्रभा को देखने गए थे। यह एक मामूली बुर्जुआ ढंग की प्रेमकहानी है, ऐसी कहानियों में प्रेमिक-प्रेमिकाओं का ऐसा चित्रण किया जाता है कि मानो इनको न समाज से ही कोई मतलब है, और न समाज में होनेवाली किसी बात से कोई सरोकार है। इसी कारण ऐसी कहानियों में हम समाज का अथवा युग का पता नहीं पाते। हम यह नहीं कहते कि प्रेम का जीवन में कोई स्थान नहीं है, किन्तु सामाजिक परिप्रेक्षित से बिल्कुल अलग होकर या ऊपर उठकर प्रेम करना केवल एक परोपजीवी वर्ग के सदस्यों के लिए ही सम्भव है, जिनको न रोटी की फिक्र है, न अन्य किसी प्रकार से सामाजिक उत्पादन से सम्बन्ध है। बुर्जुआ कहानी की दृष्टि से भी इस कहानी को ऊँचे दर्जे का नहीं कहा जा सकता, न मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही इस कहानी में कोई विशेषता है, क्योंकि घटना परम्परा को मनोविज्ञान के तकाजे के अनुसार जिस प्रकार गूँथना चाहिये, उस प्रकार घटनायें एक के बाद एक इसमें आती दिखाई नहीं देतीं। प्रेमचन्द की जो सबसे बड़ी महत्ता या विशेषता है कि वे हर समय समाज से बँधे हुये रूप में अपने

पात्र-पात्रियों को दिखलाते हैं उस विशेषता का इस कहानी में सर्वथा अभाव है।

१५. अमावस्या की रात्रि

'अमावस्या की रात्रि' में हम देखते हैं कि पण्डित देवदत्त की पत्नी गिरिजा बहुत बीमार है। पण्डितजी दिन के दिन गिरिजा के सिरहाने बैठकर उसके मुरझाये हुये मुख को देखकर कुढ़ते और रोते थे। पण्डित देवदत्त के पूर्वजों का कारोबार बहुत विस्तृत था, किन्तु सन् ५७ के गदर के बाद से उनके परिवार की हालत खराब हो गई थी। पण्डित देवदत्त को केवल एक खण्डहर मिला, और कुछ कागजों के पुलिन्दे मिले। ये कागज मामूली कागज नहीं थे, बल्कि यह हुंडियों का पुलिन्दा था, किन्तु अब इनका कोई मूल्य नहीं था। फिर भी वे न मालूम किस मोह में इन कागजों को रखे हुये थे, लक्ष्मी पूजा के अवसर पर ये कागज निकाले जाते और उनकी पूजा होती। पण्डित देवदत्त को अपनी पत्नी से बहुत प्रेम था, किन्तु उसका ठीक-ठीक इलाज कराना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। उसी कस्बे में एक वैद्यजी थे, दूर-दूर तक उनकी ख्याति थी, किन्तु वे बिना पैसे के किसी का इलाज नहीं करते थे। कई बार पण्डितजी उनके पास गये, किन्तु वैद्यजी का दिल नहीं पसीजा। वैद्यजी के सम्बन्ध में एक खास बात है कि वे दवा कम बनाते थे, और इश्तहार अधिक लिखा करते थे, वे स्वयं एक नम्बर इश्तहारबाज थे, किन्तु वे अपने विज्ञापनों में सदैव इश्तहारबाजों की बुराई किया करते थे।

दिवाली के दिन देवदत्त की पत्नी का बुरा हाल था। इतने में एक नवयुवक पण्डितजी के पास पहुँचा और बोला कि मैं इसलिए आया हूँ कि अपने पूर्वजों ने आपसे जो ऋण लिया था, उसे चुकता कर दूँ। पण्डितजी के पितामह ने नवयुवक ठाकुर के पितामह को

पचीस सहस्र रुपये कर्ज दिये थे। ठाकुर अब गया में जाकर अपने पूर्वजों का श्राद्ध करना चाहते थे, इसलिए जरूरी था कि उनके जिम्मे जो कुछ ऋण हो, उसकी एक एक कौड़ी चुका दी जाय। ठाकुर न केवल उन पचीस सहस्र रुपयों को वापस करने आये थे, बल्कि वे इस समय सूद दर सूद ले वे रुपये पचहत्तर हजार देने के लिए आये थे। यों तो अपने बहीखाते में ऋण की बात थी ही, किन्तु ठाकुर चाहते थे कि पंडित देवदत्त के कागजों से भी इस ऋण की तस्दीक हो। पंडित देवदत्त के सौभाग्य से वह कागज उनके पुलिन्दे में से निकल आया, और उन्होंने उसे ठाकुर को दिखा दिया। जिस समय वे कागज खोज रहे थे, उस समय उसी कमरे में उनकी पत्नी मरी हुई पड़ी थी, किन्तु उन्होंने जल्दी के मारे यह नहीं देखा। जो कुछ भी हो रुपये उन्हें मिल गये। रुपये लेकर वे पत्नी के पास आये कि खबर सुनाकर उनको खुश किया जाय। जब बार-बार पुकारने पर वह तनिक भी न मिनकी, तब उन्होंने चादर उठा दी, और उसके मुँह की ओर देखा, जो वस्तुस्थिति थी वह समझ में आ गयी। उसी हालत में वे उन रुपयों को लेकर वैद्यजी के यहाँ पहुँचे, और नोटों के पुलिन्दों को उनके आगे पटककर कहा—वैद्यजी ये पचहत्तर हजार के नोट हैं। यह आपका पुरस्कार और आपकी फीस। आप चलकर गिरिजा को देख लीजिये, और ऐसा कुछ कीजिए कि वह केवल एक बार आँखें खोल दें। यह उसकी एक दृष्टि पर न्योछावर है—केवल एक दृष्टि पर। आपको रुपये मनुष्य की जान से प्यारे हैं। वे आपके समक्ष हैं। मुझे गिरिजा की एक चितवन इन रुपयों से कई गुनी प्यारी है।

वैद्यजी लज्जित हुये, और कहा मैं सदैव के लिए तुम्हारा अपराधी हूँ किन्तु तुमने मुझे शिक्षा दे दी। ईश्वर ने चाहा तो ऐसा भूल कदापि न होगा। मुझे शोक है, सचमुच महाशोक है।

ये बातें वैद्यजी के अन्तःकरण से निकली थीं।

× × ×

इस कहानी में प्रेमचन्दजी ने घुमाव-फिराव के साथ इस समस्या को उठाया है कि बहुत से लोग धनाभाव के कारण बिना इलाज के मर जाते हैं, किन्तु प्रेमचन्दजी की इस समस्या की तह में जो शोषण-मूलक समाज-पद्धति है, उस तक न जाकर, घटनाओं को ऐसे सजाते हैं कि वैद्यजी का हृदय परिवर्तन हो जाता है। प्रेमचन्दजी इसमें अपने आदर्शवादी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, वे समस्या को तो एक हद तक ठीक रख देते हैं, किन्तु उसका जो हल पेश करते हैं, वह हृदय परिवर्तनवाला हल है। वे इस बात को नहीं समझ पाते कि वर्तमान समाज-पद्धति में यह बात अन्तर्निहित है कि वैद्य और डाक्टरों की अलमारियों में दवाइयाँ सड़ती रहें, किन्तु गरीब लोग बिना इलाज के मर जायँ। इस समस्या का समाधान समाज-पद्धति के आमूल परिवर्तन से ही हो सकता है, न कि छिट-फुट एकाध वैद्य के हृदय परिवर्तन से। जैसे समाजवादी समाज में प्रत्येक को श्रम करने का अधिकार है, अर्थात् यदि कोई बेकार रहता है, तो राष्ट्र उसके लिए जिम्मेदार है, उसी प्रकार बीमार होने पर इलाज यहाँ तक कि जरूरत पड़ने पर पहाड़ और समुद्र के किनारे जाकर रहने की सहूलियत प्राप्त करना समाजवादी राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। इस सामाजिक सूरत के अतिरिक्त भी देखा जाय तो इस कहानी में प्रेमचन्दजी सफल नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे घटना विन्यास तथा मार्मिक भाषा के जरिये से पाठक के मन में गिरिजा की मृत्यु की दयनीयता को मूर्त नहीं कर पाते। यदि इस कहानी को पढ़ते-पढ़ते पाठक की आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती, साथ ही वैद्यजी पर और उसकी पृष्ठ-भूमि में स्थित समाज-पद्धति पर क्रोध का उद्रेक होता तभी वे इस कहानी में सफल कहे जा सकते। यों यह औसत कहानी है।

१६. ममता

बाबू रामरक्षादास दिल्ली के एक प्रमुख धनी थे। लेन-देन का कारोबार होता था। उन्हीं के मुहल्ले में सेठ गिरधारीलाल रहते थे। उनका लाखों का लेन-देन होता था। वे दूर के नाते बाबू रामरक्षा के साढ़ू होते थे। जब कभी उन्हें रुपयों की आवश्यकता होती, तो रामरक्षा सेठ गिरधारीलाल के यहाँ से बेखटके मँगा लेते। जब भी कोई जरूरत होती रुक्का जाता, और रुपया फौरन आ जाता। धीरे-धीरे कोई बीस हजार का मामला हो गया। जब दो-तीन साल हो गये, और रुपये नहीं मिले, तब सेठ गिरधारीलाल रामरक्षा के यहाँ रुपया माँगने गये। रामरक्षा किसी गार्डन पार्टी में सम्मिलित होने के लिए तैयार थे। बोले—'इस समय क्षमा कीजिये। फिर देख लूँगा, जल्दी क्या है।' गिरधारीलाल को रामरक्षा की रुखाई पर क्रोध आ गया। अन्त में सेठजी ने रामरक्षा के विरुद्ध नालिश कर दी, और बीस हजार मूल और पाँच हजार ब्याज की डिग्री हो गई। मकान नीलाम पर चढ़ा। मोटर बिक गई। सारी सम्पत्ति उठ जाने पर भी कुल मिलाकर सोलह हजार से अधिक रकम न खड़ी हो सकी। सारी गृहस्थी नष्ट हो गई, तब भी दस हजार के ऋणी रह गये।

इसके कुछ दिनों बाद सेठ गिरधारीलाल दिल्ली म्युनिसिपल्टी के चुनाव के लिए खड़े हुये। रामरक्षा ने विरोधी पक्ष का साथ दिया, और उन्हीं के कारण सेठजी की हार हुई, किन्तु सेठजी के हाथ में दूसरी चाभी थी, उन्होंने फौरन महाजन के नाते रामरक्षा को दीवानी कैदी के रूप में गिरफ़्तार करा लिया। रामरक्षा की पत्नी इस पर आगबबूला हो गई, और उसने सेठजी को एक पत्र लिखा, जिसमें लिखा—'अफ़सोस कि कल शाम को जब तुमने मेरे प्यारे पति को पकड़वाया है, मैं वहाँ मौजूद नहीं थी, नहीं तो अपना और तुम्हारा रक्त एक कर

देती। तुम धन के मद में भूले हुये हो...।' इत्यादि सेठजी पर यह फटकार पड़ी तो और भी क्रुद्ध हुये।

एक दिन रामरक्षा की माँ आकर सेठजी से मिली, और पुत्र के प्रति दया की भिक्षा की। सेठजी ने रामरक्षा की स्त्री के द्वारा लिखित उस पत्र को भी रामरक्षा की माँ को दिखलाया था। उन्होंने उस पत्र को लेकर पढ़ा, तो उनकी आँखों में आँसू भर आये। वे बोलीं—बेटा उस स्त्री ने मुझे बहुत दुख दिया है......इत्यादि। रामरक्षा की माँ ने सेठजी को बंगाल बंकवाली अपनी पासबुक भी दे दी जिसमें उनके नाम से दस हजार रुपया जमा था। माँ के इस अथाह प्रेम ने सेठजी को विह्वल कर दिया, पानी उबल पड़ा और पत्थर उसके नीचे ढक गया। अन्त में जाकर रामरक्षा गिरिधारीलाल की एक खास दूकान के मैनेजर हो गये, केवल मैनेजर ही नहीं बल्कि मैनेजिंग प्रोप्राइटर हो गये। दोनों में बहुत दोस्ती हो गई। अन्त में यह भी दिखाया गया कि यह सब हो गया, किन्तु वह बात जो अब होनी थी, वह न हुई। रामरक्षा की माँ अबकी अयोध्या रहती है, और अपनी पुत्र-वधू की सूरत नहीं देखना चाहती।

× × ×

यह कहानी भी हृदय परिवर्तनमूलक है, इसमें भी प्रेमचन्दजी हृदय परिवर्तन के लिए समुचित कारण चित्रित करने में असमर्थ रहे। कहानी का जो ढाँचा है उसमें रामरक्षा की स्त्री को क्यों घसीटा गया, यह पता नहीं चलता। शायद माँ के मुकाबिले में स्त्री की निकृष्टता दिखाना ही अभीष्ट हो, किन्तु वह उद्देश्य भी पूर्ण हुआ, ऐसा नहीं जान पड़ता, क्योंकि स्त्री ने अपने पति के प्रति प्रेमवश ही सेठजी को कटुवचन लिखे थे, अवश्य माँ ने जो कुछ किया, वह भी एक आदर्श ही है, किन्तु प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि स्त्री की निकृष्टता इस विशेष क्षेत्र में सिद्ध हुई या नहीं? इसका स्पष्ट उत्तर

यह है, नहीं हुई। अन्त में यह जो कहा गया है कि रामरक्षा की माँ अब भी अयोध्या में रहती है, और अपनी पुत्रवधु की सूरत नहीं देखना चाहती, यह एक बयान मात्र है, जिसे पाठक पढ़ लेगा, किन्तु ऐसा होने के लिए कोई उचित कारण उसे दिखाई नहीं पड़ेगा। इस कहानी को औसत दर्जे की कहानियों में रखा जा सकता है।

१७. पछतावा

हृदयपरिवर्तन मूलक पण्डित दुर्गानाथ बहुत ही ईमानदार नवयुवक हैं। वे कालेज से निकल कर एक सम्पत्तिशाली जमींदार कुँअर विशालसिंह के यहाँ नौकर हो गये। वे बन तो गये जमींदार के कारिन्दा, किन्तु उन्होंने निश्चय कर लिया था कि किसी प्रकार से कोई ज्यादती न करेंगे, और न किसानों से कोई बेगार आदि लेंगे। इस पर वे अटल रहे। उनके नीचेवाले उनसे बहुत बिगड़ते रहे, किन्तु वे अपने प्रण पर अटल रहे। जिस इलाके में वे नियुक्त थे, उसके असामी कुँअर विशालसिंह के यहाँ बीज आदि के सम्बन्ध में कर्जदार थे। उन्होंने एक दिन इन असामियों को बुलाकर रुपये माँगे, इसमें गर्मागर्मी हो गई। असामी भी बिगड़ खड़े हुए तो एक असामी पिटा। इस पर कुछ असामियों को गुस्सा आ गया, और उन्होंने पीटने वाले को पीट दिया।

अब पण्डित दुर्गानाथ बुलाये गये। कुँअर साहब उन पर बहुत बिगड़े कि तुमने जो तरीके चलाये हैं उसीके कारण सब बखेड़े खड़े हो गये, और अब तुम्हें चाहिये कि इसका प्रतिकार करो। कुँअर साहब ने इसके प्रतिकार के लिए यह तजवीज बताई कि यद्यपि उस इलाके में इस साल का लगान वसूल हो गया है, फिर भी इनपर बकाया लगान की नालिश कर दी जाय। बात यह है कि अभी लगान वसूली की रसीदें दी नहीं गई थीं। दुर्गानाथ ने इसका विरोध किया,

किन्तु फिर भी कुँअर साहब ने नालिश कर दी। अदालत में दुर्गानाथ की गवाही हुई तो उसने जो बात सत्य थी उसे साफ-साफ कह दिया। नतीजा यह हुआ कि नालिश डिसमिस कर दी गई, इसके बाद दुर्गानाथ वहीं से इस्तीफा देकर कारिन्दागिरि से अलग हो गये।

इसके बाद यह दिखलाया गया है कि उस इलाके के किसानों ने स्वयं आकर कुँअर साहब को अपने-अपने कर्जे की रकम वापस कर दी। इसमें किसी झंझट की जरूरत न पड़ी। कुँअर साहब सन्न हो गये, इन्हीं रुपयों के लिए कई बार खेत कटवाने पड़े थे। कितनी बार घरों में आग लगवाई। अनेक बार मारपीट की। कैसे-कैसे दण्ड दिये। और आज यह सब आपसे आप सारा हिसाब-किताब साफ कर गये। इसमें कोई जादू है। बस क्या था। कुँअर साहब के हृदयपरिवर्तन का सूत्रपात हुआ। उस इलाके के असामियों ने अपने मालिक को कभी किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाया, किन्तु अन्य इलाके वाले असामी उसी पुराने ही ढङ्ग से चलते थे। कुँअर साहब का कोई लड़का नहीं था। बुढ़ापे में एक लड़का पैदा हुआ। अब उनका शरीर भी ढीला हो चला था। फिक्र यह लगी रहती कि कौन इस लड़के को मेरे बाद ढङ्ग से पालेगा-पोसेगा। ऐसे समय उनको दुर्गानाथ याद आते, क्योंकि और कारिन्दे तो महास्वार्थी थे, नाबालिग को मौका पाते ही लूट लेते। मृत्यु-शय्या पर उन्होंने अपनी स्त्री से कहा—मैं तुम्हें और बच्चे को पंडित दुर्गानाथ पर छोड़ जाता हूँ। वे जल्द आवेंगे। उनसे कह देना कि मैंने सब कुछ उनके भेट कर दिया, यह मेरी अन्तिम वसीयत है।

× × ×

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस कहानी में हृदयपरिवर्तन दिखलाया गया है, किन्तु इससे केवल कुँअर साहब का ही हृदयपरिवर्तन नहीं

दिखलाया गया है, बल्कि पंडित दुर्गानाथ जिस इलाके में तैनात थे, उस चाँदपारा की रैय्यतों का भी हृदयपरिवर्तन दिखलाया गया है। चाँदपारा वालों के हृदयपरिवर्तन की ही बात को लिया जाय। उन पर झूठा मुकदमा चलता है, दुर्गानाथ की ईमानदारी के कारण वे इस मुकदमे में जीत जाते हैं, इसकी क्या मानसिक प्रतिक्रिया होनी चाहिये? इसकी प्रतिक्रिया तो यही होनी चाहिये कि किसान जमींदार से और तन जाते, अवश्य ऐसा हो सकता है कि मुकदमे में जीत के बावजूद उनको यह खयाल आया हो कि पानी में रहकर मगर से कब तक बैर चलेगा, फिर दुर्गानाथ चले गये, इसलिए डरकर उन्होंने आत्मसमर्पण कर दिया। ऐसी हालत में उनके इस परिवर्तन को जो हृदयपरिवर्तन का रूप दिया गया है, वह घटनाओं से अनपेक्षित है। क्या डर से जो परिवर्तन होता है, वह हृदयपरिवर्तन कहा जा सकता है? यह द्रष्टव्य है इस क्षेत्र में और किसी तरह से परिवर्तन की गुञ्जाइश नहीं है।

प्रेमचन्दजी ने इस कहानी में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यदि बेगार आदि न लिया जाय तो किसानों और जमींदारों में सम्बन्ध अच्छा हो सकता है, किन्तु क्या यह बात सही है? जमींदारों को कानूनन किसानों से जो कुछ मिलना चाहिये, क्या उसपर जमींदार का कोई हक है? क्या वह अनुपार्जित आय नहीं है? हम इसके ब्यौरे में न जायेंगे, केवल इतना ही बतला देंगे कि वह एक उदार या लिबरल विचार के पेटी बुर्जुआ की राय है। इससे समस्या का कोई मौलिक या क्रान्तिकारी समाधान नहीं होता। पंडित दुर्गानाथ बहुत ईमानदार थे, किन्तु आखिर वे कानूनी रकमों को वसूल तो करते ही थे, और वह समझकर करते थे कि वे ऐसा कर सदाचरण कर रहे हैं, किन्तु यह जो सत्य है, यह कोई निरवच्छिन्न सत्य नहीं, बल्कि एक वर्ग का सत्य है। कथित ईमानदारी और सचाई के नीचे वह वर्ग

सत्य रहने पर भी नाखून से खोदने पर ही उसका असली रूप ज्ञात हो सकता है।

कुँअर साहब में दुर्गानाथ की तरफ से जो हृदयपरिवर्तन होता है, वह अपनी स्वार्थ दृष्टि से होता है, न कि दुर्गानाथ की गुण-मुग्धता के कारण। उनमें एकाएक यह जो एक सच्चे और ईमानदार (हम पहले ही देख चुके हैं कि दुर्गानाथ की सचाई और ईमानदारी में भी किस प्रकार केवल एक वर्ग के अनुकूल सचाई और ईमानदारी छिपी हुई है) व्यक्ति के लिए प्रेम उत्पन्न होता है, उनमें एकाएक यह जो गुण-मुग्धता दृष्टिगोचर होती है, यह कोई सत्य या ईमानदारी के प्रति आंतरिक भक्ति के कारण नहीं, बल्कि इस कारण उत्पन्न होती है कि वे मृत्यु के आमने-सामने खड़े होकर यह समझते हैं कि बनिस्बत दूसरे कारिन्दों के दुर्गानाथ ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके हाथों में रियासत की बागडोर जाने पर रियासत सुरक्षित रहेगी, रियासत के अन्दर जो सामाजिक-साम्पत्तिक सम्बन्ध हैं वे सुरक्षित रहेंगे। इस प्रकार उनकी इस गुण-मुग्धता के पीछे हम केवल इसी बात को देखते हैं कि वे दुर्गानाथ की सचाई और ईमानदारी को वे अपने वर्ग स्वार्थ के जुयें में जोतकर अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं, यह धारणा है, न कि सचाई और ईमानदारी के प्रति कोई आन्तरिक अनुराग। जिस समय दुर्गानाथ ने अदालत में खड़े होकर किसानों के पक्ष में गवाही दी थी, और उसके फलस्वरूप कुँअर साहब की नालिश डिसमिस हो गई थी, उस समय "उनके कोप की मात्रा सीमा से बाहर हो गई थी, उन्होंने पंडित दुर्गानाथ को सैकड़ों कुवाक्य कहे थे—'नमकहराम, विश्वघाती, दुष्ट। ओह, मैंने उसका कितना आदर किया किन्तु कुत्ते की पूँछ कहीं सीधी हो सकती है। अन्त में विश्वासघात कर ही गया।' उस समय तो मैजिस्ट्रेट का फैसला सुनते ही पंडित दुर्गानाथ को मुख्तार आम को कुंजियाँ और काग़ज-पत्र सुपुर्द कर

भागना पड़ा था, नहीं तो जैसा कि प्रेमचन्द ने लिखा है, उनको इस कार्य के फल में कुछ दिन हल्दी और गुड़ पीने की आवश्यकता होती। इसलिए सच्चाई या ईमानदारी से कुँअर साहब को केवल वहीं तक प्रेम है, जहाँ तक सच्चाई और ईमानदारी उनके वर्ग तथा वैयक्तिक स्वार्थ को सिद्ध करती हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो जिसे प्रेमचन्दजी ने हृदयपरिवर्तन के स्वरूप में रखने की कोशिश की है, वह हृदयपरिवर्तन नहीं है, बल्कि भिन्न परिस्थिति में एक भिन्न adjustment मात्र है।

१८. शान्ति

शान्ति कहानी एक आत्मकथा के रूप में है। एक स्त्री की आत्मकथा है। उसीके अपने वर्णन के अनुसार जिस समय वह ससुराल आई, वह बिल्कुल फूहड़ थी। न पहनने-ओढ़ने का सलीका था, न बातचीत करने का ढंग, किन्तु उसके पति को यह फूहड़पन पसन्द न आता था, वे वकील थे। धीरे-धीरे पति के असर से वह पढ़ने लगी, और अंग्रेजी भी कुछ पढ़ गई। सास को यह बात न भाई। एक दिन सास उसे डाट रही थी—'यह आजकल तुम्हें क्या हो गया है, किस घमंड में हो? क्या यह सोचती हो कि मेरा पति कमाता है तो मैं काम क्यों करूँ? इस घमंड में न भूलना। तुम्हारा पति लाख कमाये, लेकिन घर में राज्य मेरा ही रहेगा। आज वह चार पैसे कमाने लगा है तो तुम्हें मालकिन बनने की हवस हो रही है, लेकिन उसे पालने-पोसने तुम नहीं आई थीं। मैंने ही उसे पढ़ा-लिखाकर इस योग्य बनाया है। वाह! कल की छोकरी अभी से यह गुमान!' स्त्री ने जो यह डाट सुनी तो वह रोने लगी। आड़ में खड़े-खड़े उसके पति इन सारी बातों को सुन रहे थे। उन्होंने उस समय तो कुछ न कहा, किन्तु बहुत नाराज हुये। वह स्त्री तो

इस बात पर तैयार थी कि पढ़ना-लिखना उसी दिन से छोड़ दे, किन्तु पति ने ऐसा नहीं करने दिया, इसके विपरीत वह वकालत नहीं चलती, इस बात का बहाना कर दूसरे शहर में जा बसे। वहाँ पत्नी को भी लेते गये। धीरे-धीरे स्त्री बहुत पढ़ गई। अब वह पर्दा के बाहर स्वतंत्रता से घूमने लगी। यहाँ तक कि अन्य स्त्रियों तथा पुरुषों से टेनिस वगैरह खेलने लगी, और क्लब वगैरह में जाने लगी।

इस बीच में पति बीमार हुए, किन्तु इस कहानी में यह दिखाया गया है कि पत्नी अब वह नहीं थी, बीमार पति को छोड़कर ही टेनिस वगैरह खेलने चल देती। बीमारी घटी नहीं, एक महीना हो गया। अन्त में एक दिन पति ने स्त्री से यह प्रस्ताव किया कि उन्हें अपनी अम्मा के पास भेज दिया जाय। साफ-साफ बातें होने लगीं। बीमार पति कहने लगे—'जब मैं तुमसे अधिक शिक्षा प्राप्त अधिक विद्वान्, अधिक जानकार होकर तुम्हारे लिए वह नहीं रहा, जो पहले था—तुमने चाहे इसका अनुभव न किया हो, परन्तु मैं स्वयं कर रहा हूँ—तो मैं कैसे अनुमान करूँ कि उन्हीं भावों ने तुम्हें स्खलित न किया होगा? नहीं बल्कि प्रत्यक्ष चिह्न देख पड़ते हैं कि तुम्हारे हृदय पर उन भावों का और भी अधिक प्रभाव पड़ा है। तुमने ऊपरी बनाव-चुनाव और विलास के भँवर में डाल दिया है। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि सभ्यता, स्वेच्छाचारिता का भूत स्त्रियों के कोमल हृदय पर बड़ी सुगमता से कब्जा कर सकता है। क्या अब से तीन वर्ष पूर्व तुम्हें यह साहस हो सकता था कि मुझे इस दशा में छोड़ कर किसी पड़ोसिन के यहाँ गाने-बजाने चली जातीं? मैं बिछौने पर पड़ा रहता, और तुम किसी के घर जाकर किलोलें करती...। मैं सब कुछ देखता और सहता हूँ।...मैंने अपने को इस इन्द्रजाल से निकालने का निश्चय कर लिया है, जहाँ धन का नाम मान है, इन्द्रिय-लिप्सा का सभ्यता और भ्रष्टता का विचार स्वातंत्र्य।'

अन्तिम दृश्य में हम यह देखते हैं कि 'बाबूजी ने बहुत सी पुरानी पोथियों को अग्निदेव के अर्पण कर दी। उनमें खासकर वाइल्ड की कई पुस्तकें थीं। वे अब अंग्रेजी पुस्तकें बहुत कम पढ़ते हैं। उन्हें कारलाइल, रस्किन और एमर्सन के सिवाय और कोई पुस्तक पढ़ते मैं नहीं देखती। मुझे तो अपनी रामायण और महाभारत में फिर वही आनन्द मिलने लगा है। चर्खा अब पहले से अधिक चलाती हूँ, क्योंकि इस बीच में चर्खे ने खूब प्रचार पा लिया है।

× × ×

इस कहानी का रुख बिलकुल प्रतिक्रियावादी है, इसके अतिरिक्त, कहानी के रूप में भी यह बहुत ही निम्नकोटि की है। इस शताब्दी के प्रथम चरण में प्रकाशित बंगला तथा अन्य भाषाओं की मासिक पत्रिकाओं में इस आशय तथा इससे मिलता-जुलता कथानक युक्त कहानियाँ सैकड़ों मिलेंगी। इन सबका उद्देश्य स्त्री-शिक्षा को बुरा बताना है। ऐसी कहानियों का आशय यह है कि स्त्रियाँ शिक्षिता हो जाने पर हृदय-हीन और व्यभिचारिणी हो जाती हैं। अवश्य शिक्षा प्राप्त करने पर स्त्रियाँ पहले की अर्थ में सती अर्थात् बिलकुल पुरुष की गुलाम नहीं रह सकतीं, इस अर्थ में जो इसकी बुराई करे वह कर सकता है, किन्तु शिक्षा से स्त्रियाँ हृदयहीन हो जाती हैं, यह बिलकुल ग़लत है। पहले के ज़माने में सती का आदर्श तो यह था कि वह पंगु पति को अपने कन्धे पर बैठा कर वेश्यागृह में पहुँचा दे, अवश्य ही यह घृणित और विपरीत आदर्श स्त्रियों के लिए शिक्षित हो जाने पर माननीय नहीं रह सकता। इस कहानी में यह जो दिखाया गया है कि शिक्षा प्राप्त करने के कारण स्त्री पति को बीमार छोड़ कर टेनिस खेलने जाती है, यह प्रेमचन्द की शिक्षित स्त्रियों के सम्बन्ध में अज्ञता ही के कारण लिखा जा सकता था। सैकड़ों ऐसी ऐतिहासिक स्त्रियों का विवरण दिया जा सकता है जो शिक्षिता होने पर भी जिस माने में प्रेमचन्दजी

पत्नीत्व समझते हैं, उस माने में भी आदर्श पत्नी हैं। हम इसके ब्यौरे में नहीं जा सकते, किन्तु इस समय के विश्व-प्रसिद्ध व्यक्तियों में आइन-स्टाइन की पत्नी किस प्रकार अपने पति की देख-रेख रखती है, यह सुपरिचित है। फिर इस प्रकार से गुप्त रूप से शिक्षा के विरुद्ध वार करते समय ऐसे लोगों को यह स्मरण रखना चाहिये कि वास्तविक रूप से हम जीवन में यह देखते हैं कि स्त्री घर में बीमार पड़ी है और पुरुष मजे में सिनेमा भी देख रहा है और टेनिस भी खेल रहा है। फिर यदि शिक्षित होने पर एकाध स्त्री इसी आचरण का अनुसरण करे तो उसमें आश्चर्य की बात क्या है? यदि स्त्री अपने सख्त बीमार पति को घर में छोड़कर टेनिस खेलने जाती है, तो उसमें शिक्षा का दोष है, या इस बात का दोष है कि स्त्री और पुरुष का आपस में प्रेम नहीं है। इसलिए यदि हम इसको रोग समझते हैं तो यह देखना पड़ेगा कि क्यों पति-पत्नी में इतना प्रेम नहीं है कि एक की बीमारी दूसरे को टेनिस खेलने जाने से रोक नहीं सकती। इस प्रकार हम बहुत गहरे प्रश्नों में पड़ जाते हैं। हाँ, यदि यह कहा जाय कि शिक्षा प्राप्त करने से प्रेम करने का माद्दा या सेवा करने की प्रवृत्ति घट जाती है, या रह नहीं जाती तो यह दूसरी बात है, किन्तु उस हालत में यह नम्रता-पूर्वक बता देना पड़ेगा कि इस प्रकार विचार करना वस्तु-स्थिति के सम्पूर्ण विरुद्ध है। इस कहानी के अन्त में यह जो दिखलाया गया है कि स्त्री को फिर से रामायण और महाभारत में स्वाद आने लगा, इससे हमें कुछ खुशी नहीं होती बल्कि उस स्त्री पर—और चूँकि वह स्त्री इस क्षेत्र में सब स्त्रियों की प्रतिनिधि के रूप में पेश की गई है, इसलिए सब स्त्रियों पर तरस आता है। यह द्रष्टव्य है कि इस कहानी की नायिका जो टेनिस खेलने वाली से रामायण और महा-भारत में आनन्द लेनेवाली बन जाती है, इसमें हम कोई conversion नहीं देखते बल्कि coercion ही देखते हैं। बात यह है स्त्री इस

समाज में आर्थिक रूप से पुरुष पर निर्भर है, उसीका बेजा फायदा उठाकर उसे convert या अपने मत में पुरुष लाने में समर्थ हुआ है।

यह कहानी तबके की मनोवृत्ति का परिचायक है, यह तबका अभी तक नहीं मरा है, इसलिए इस कहानी को बिल्कुल वस्तुवाद से अलग नहीं कह सकते, किन्तु हमें इस पर जो कुछ आपत्ति है, वह यह नहीं है कि यह कहानी बिल्कुल हवा में उड़ रही है, जीवन के किसी तथ्य पर इसका आधार नहीं है, बल्कि हमारी आपत्ति यह है कि एक तबके की मनोवृत्ति की परिचायक होते हुए भी इस कहानी में हम प्रेमचन्दजी को इसके पैरोकार के रूप में देखते हैं, यह खेदजनक है। प्रेमचन्दजी को यदि वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराना ही था, तो उन्हें चाहिये था कि इसे इस रूप में कहते कि वे स्वयं प्रतिक्रियावादियों की डफली बजाते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते।

१९. निमंत्रण

'निमंत्रण' कहानी प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है, यह हमारी सुचिन्तित सम्मति है। इसमें भी हमें नायक के रूप में पंडित मोटेराम शास्त्री से साबका पड़ता है। श्रीमती शिवरानीजी ने प्रेमचन्द के सम्बन्ध में संस्मरण लिखते हुए यह लिखा है कि पंडित मोटेराम शास्त्री के सम्बन्ध में कहानी लिखने के कारण उन पर मानहानि का मामला चला था। पता नहीं यह किस मोटेराम शास्त्री के सम्बन्ध में लिखा गया है। 'सत्याग्रह' कहानी के मोटेराम शास्त्री अथवा इस कहानी के मोटेराम शास्त्री। श्रीमती शिवरानी देवी ने इन शब्दों में इस मुकदमे का वर्णन किया है—

'सन् १९२६ की घटना है। आप (प्रेमचन्द) माधुरी का सम्पादन करते थे। आप थे और पंडित कृष्णबिहारी मिश्र थे। आपने मोटेराम शास्त्री नाम की एक कहानी लिखी। उस कहानी पर एक शास्त्री महाशय

ने दोनों पर केस दायर किया। दोनों ने पाँच सौ पाँच सौ की जमानत दाखिल की। आप लोगों के साथ माधुरी के मालिक विष्णुनारायणजी भी थे। उस कहानी पर विष्णुनारायणजी भी खुश थे। तारीख के दिन दो बैरिस्टर देहरादून से आते थे, जो नौ-नौ सौ रोजाना लेते थे। मेरे भाई और बहनोई भी जाते थे। कानपूर के सारे वकील और बैरिस्टर सब आ गये थे। कचहरी खचाखच भरी रहती। खैर, बहस वगैरह के बाद मजिस्ट्रेट ने हुक्म सुनाया। आप दोनों बरी हो गये। मजिस्ट्रेट साहब मोटेराम शास्त्री से बोले—आपको और कुछ कहना है ? अब तो सबसे बेहतर यही है कि आप चुपके से खिड़की के बाहर निकल जाइये! जैसे ही मजिस्ट्रेट साहब ने यह कहा दोनों आदमी मुस्करा दिये। इसके बाद माधुरी का वह अंक सबका सब बिक गया।'

इससे ज्ञात होता है कि अक्सर प्रेमचन्दजी अपनी कहानियों के आधार के रूप में सत्य घटना लेते थे, जिसके कारण वे मानसिक रूप से आदर्शवाद की ओर झुके होने पर भी बरबस वस्तुवादी सतह के आसपास रहते थे।

यह कहानी हास्यरस सम्बन्धी एक सफल कहानी है, इसकी भाषा भी बहुत ही मजी हुई और सरस है। यों तो ऊपरी दृष्टि से देखने पर भी 'सत्याग्रह' कहानी के मोटेराम की तरह इसके नायकों के जरिये से पेटूपन का मजाक उड़ाया गया है, किन्तु व्यंग इससे कहीं गहरा है। यह समस्त सनातनी पंडित समाज पर एक बहुत मार्के की व्यंग-रचना है, विशेषकर यह ब्राह्मणों की उस श्रेणी का मजाक उड़ाता है जो इधर-उधर न्यौता खाकर ही अपना जीवन व्यतीत करता है। पंडित मोटेराम शास्त्री को एक रानी साहब के यहाँ से निमंत्रण मिलता है, उनसे रानी साहबा यह भी कहती हैं कि चार-छः सद्ब्राह्मणों को और भी लेते आइयेगा। पंडित मोटेराम घर आते हैं, तो सोचते हैं कि अपने ही लड़कों को क्यों न ले चलूँ और बता दूँ कि ये परिचित ब्राह्मण हैं।

इसलिए वे पहले ही दृश्य में अपने लड़कों को तालीम देते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं। किस बात की तालीम ? इस बात की कि वे पूछने पर बाप का अलग-अलग नाम बतावें। यह दृश्य खुद ही हास्यरस का एक बहुत ही सुन्दर दृश्य है, क्योंकि बड़े लड़के तो बाप के फर्जी नाम को जल्दी याद कर लेते हैं, किन्तु छोटे लड़के उसे भूल जाते हैं, या अपने बाप के बजाय दूसरे के बाप का नाम बता देते हैं। मोटेराम केवल अपने लड़कों को ही तालीम देकर निवृत नहीं होते, बल्कि वे अपनी स्त्री को भी मर्दाना भेष पहनाकर ब्रह्मभोज में लिवा जाते हैं। जिस समय मोटेराम अपने लड़कों को फर्जी बापों के फर्जी नामों के सम्बन्ध में तालीम दे रहे थे, उस समय चिन्तामणि नामक एक दूसरे पंडित वहाँ एकाएक आ जाते हैं, और अचानक एक वाक्यांश को सुनकर उनके मन में सन्देह हो जाता है कि हो न हो आज कहीं निमंत्रण है, किन्तु यह मुझसे छिपा रहा है। चिन्तामणि लड़कों से अलग असली बात का पता लगाने की चेष्टा करता है, किन्तु मोटेराम ताड़ जाता है, और वह इस काम में बाधा पहुँचाता है। होते-होते चिन्तामणि और मोटेराम में मारपीट की नौबत आती है। चिन्तामणि के घर में इसकी खबर पहुँचती है। चिन्तामणि जी तीन महिलाओं के स्वामी थे। उन्होंने उनके नाम बहुत ही रसीले रखे थे। इस स्थान पर प्रेमचन्दजी वर्णन में कमाल कर देते हैं। यहाँ पर वे संस्कृत मूलक साथ ही मुहाविरेदार हिन्दी की सम्भावनाओं को परिपूर्णता तक पहुँचा देते थे। वे लिखते हैं, "बड़ी स्त्री को अमिरती, मझली को गुलाब जामुन, और छोटी को मोहनभोग कहते थे। पर मुहल्लेवालों के लिए तीनों महिलायें त्रयताप से कम न थीं। घर में नित्य आँसुओं की नदी बहती रहती। खून की नदी तो पंडितजी ने भी कभी नहीं बहाई, अधिक से अधिक शब्दों की ही नदी बहाई थी, पर मजाल न थी कि बाहर का आदमी किसी को कुछ कह जाय। संकट के समय तीनों एक हो जाती थीं। यह

पंडितजी के नीति चातुर्य का सुफल था, ज्यों ही खबर मिली कि पंडित चिन्तामणि पर संकट पड़ा हुआ है, तीनों त्रिदोषों की भाँति कुपित होकर घर से निकलीं, और उनमें जो अन्य दोनों जैसे मोटी नहीं थी, सबसे पहले समरभूमि के समीप जा पहुँचीं। पंडित मोटेरामजी ने उसे आते देखा, तो समझ गये कि अब कुशल नहीं। अपना हाथ छुड़ाकर बगटूट भागे। पीछे फिरकर भी न देखा। चिन्तामणिजी ने बहुत ललकारा, पर मोटेराम के कदम न रुके।"

इसके बाद मोटेराम यथासमय दावत खाने पहुँचे, किन्तु नहीं वे दावत खाने तभी पहुँचे जब फिर से रानी के यहाँ से एक आदमी उन्हें बुलाने आया। निमन्त्रण था, इसलिए दौड़े हुए चले गये, यह बात नहीं। मोटेराम की ही जबानी सुनिये—'तुम नहीं समझ सकती कि मैंने इतना विलम्ब क्यों किया। तुम्हें ईश्वर ने इतनी बुद्धि ही नहीं दी। जल्दी जाने से अपमान होता है। यजमान समझता है लोभी है, भुक्खड़ है, इसलिए चतुर लोग विलम्ब किया करते हैं, जिसमें यजमान समझे कि पंडितजी को इसकी सुध ही नहीं है, भूल गये होंगे, बुलाने को आदमी भेजें। इस प्रकार जाने में जो मान महत्व है, वह मरभूखों की तरह जाने में क्या कभी हो सकता है? मैं बुलाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।' इस प्रकार यजमानी का भी एक Trade Secret है, इसकी भी एक कला है कि यजमान को कैसे धोखा दिया जाय, और यही पुरोहित वर्ग हमारे समाज के स्तम्भ हैं।

जब मोटेराम अपनी स्त्री तथा बेटों के साथ रानी के यहाँ पहुँचे तो उन्हें यह इच्छा हुई कोई ऐसा भी होता जिसके साथ होड़ कर खाना खाया जाता। इसमें भी हम इस न्यौताखोर ब्राह्मण समाज के पतन का पता पाते हैं कि एक तो परलोक का हौआ खड़ा कर यजमान के यहाँ माल मारना, तिसपर इतना खाने की कोशिश करना कि उसका दिवाला पीट जाय। अन्त में मोटेराम को इजाजत मिल गई,

और वे चिन्तामणि को ले आने दौड़े। जब चिन्तामणि और मोटेराम दोनों आने लगे तो रास्ते में चिन्तामणि ने यह सोचा कि क्यों न हम पहले रानी साहबा के पास पहुँचकर अपना रंग जमावें। इस प्रकार इस पंडित समाज के आपस में कुत्ते की तरह लड़ने और ईर्ष्या करने की बात भी इस कहानी में आ गई। चिन्तामणि हल्के थे इसलिए पहले रानी साहबा के यहाँ पहुँच गये, पहुँचते ही उन्होंने रानी साहबा से बतलाया कि मोटेराम तो मेरा शिष्य है। अन्त में मोटेराम का पर्दाफाश हो गया, और चिन्तामणि ने रानी को चुपके से बता दिया कि ये जो लडके हैं, ये कौन हैं। रानी साहबा ने जानबूझ कर टामी कुत्ते को बुला लिया, नतीजा यह हुआ कि अन्त में मोटेराम को सपरिवार बिना खाये वहाँ से चले जाना पड़ा।

यों तो हम इस कहानी का सारसकलन करते समय ही उस पर अपनी राय दे चुके हैं, इतना और बता दें कि इस प्रकार हास्यरस के जरिये से उन्होंने पण्डित समाज का जो चित्र हमारे सामने रखा है, उससे यह ज्ञात होता है कि हमारे समाज का वह कितना सड़ा-गला अंश है, उसमें कितने ढोंग है और बेइमानी है। यह खूब समझ में आ जाता है कि क्यों इस परोपजीवी वर्ग को नष्ट करना चाहिये, और क्यों वह नष्ट होगा। सचमुच यह वर्ग हमारी हर तरह की प्रगति में बाधास्वरूप है। इस वर्ग की एक उपयोगिता यह हो सकती थी कि यह समाज के अन्न-जल से पुष्ट होकर कम से कम संस्कृत में जो विद्या है, उसीकी रक्षा करते, उसे समझते और उसकी छानबीन करते; किन्तु इनसे यह भी नहीं हुआ है। आज भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य दर्शन आदि को समझने तथा समझाने में इन पण्डितों का स्थान नगण्य है, यह काम भी भण्डारकर, राधाकृष्णन्, भगवानदास, अरविन्द ऐसे व्यक्ति कर रहे हैं, इन पण्डितों की पढ़ाई में इतनी भारी त्रुटि है कि उनको काल की तो कोई तमीज ही नहीं है, यदि ये कुछ पढ़ेंगे भी तो

यह नहीं बता सकते कि कौन-सा लेखक किस समय का है, या कौन-सा साहित्य किस साहित्य के पहले है। उनके निकट तो सारा संस्कृत साहित्य मानो एक ही दिन में रचित हुआ। हम इस विषय पर अधिक न कहेंगे, इतना और कहेंगे कि इस पंडित समाज के होने से समाज को हानि ही हानि है।

२०. मंच

पंडित लीलाधर चौबे हिन्दू सभा के प्रमुख नेता थे, शुद्धि के तो मानो वे प्राण ही थे। वे गर्मी के दिनों में किसी पहाड़ी इलाके की ओर जाने की तैयारी ही कर रहे थे कि इतने में खबर आई कि मद्रास में हिन्दुओं को बड़े पैमाने पर मुसलमान बनाया जा रहा है। बस क्या था, उन पर जोर पड़ा और वे पहाड़ी इलाके के बजाय मद्रास के उस इलाके के लिए रवाना हो गये। यहाँ पर पण्डितजी की वक्तृता हो रही थी कि सहसा एक बूढ़े अछूत ने आकर उनसे प्रश्न पूछना शुरू किया। पण्डितजी यह कह रहे थे कि तुम उन्हीं ऋषियों की सन्तान हो जो आकाश के नीचे एक नई सृष्टि की रचना कर सकते थे, जिनके न्याय बुद्धि, विचार शक्ति के सामने आज सारा संसार सिर झुका रहा है। उस बूढ़े ने पूछा—आप जब इन्हीं महात्माओं की सन्तान हैं, तो ऊँच-नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं?

लीलाधर—इसलिए कि हम पतित हो गये हैं—अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गये हैं।

बूढ़ा—अब तो आपकी निद्रा टूटी है। हमारे साथ भोजन करोगे?

लीलाधर—मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा—मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजियेगा?

लीलाधर—जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जायँ, जब तक

तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का सम्बन्ध नहीं कर सकते। मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम अच्छे वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो।

बूढ़ा – हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे हैं जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं, पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह सम्बन्ध करने में आपको कदाचित् इन्कार न होगा...। हिन्दू समाज में रहकर हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान, कितने ही आचारवान हो जायँ आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे।...हम अब उस देवता की शरण जा रहे हैं जिसके मानने वाले, हमसे गले मिलने को आज ही तैयार हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम संस्कार बदलकर आओ। हम अच्छे हैं या बुरे वे इसी दशा में हमें अपने पास बुला रहे हैं।

लीलाधर—एक ऋषि सन्तान के मुँह से ऐसी बात सुनकर हमें आश्चर्य हो रहा है। वर्णभेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो?

बूढ़ा—ऋषियों को मत बदनाम कीजिये। यह सब पाखंड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं—तुम मदिरा पीते हो, लेकिन आप मदिरा पीने वालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं, लेकिन आप गोमांस खाने वालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसलिए न कि वे आपसे बलवान हैं। हम भी आज राजा हो जायँ तो आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे। आपके धर्म में वही ऊँचा है जो बलवान है, वही नीच है जो निर्बल है। यही आपका धर्म है।

यह कहकर बूढ़ा वहाँ से चला गया। बूढ़े के ये प्रश्न ऐसे हैं जिनका कोई उत्तर नहीं है, और प्रेमचन्दजी ने इनका कोई उत्तर

पंडित लीलाधर से दिलाया भी नहीं है, स्पष्ट है कि वे यह समझते हैं कि इन प्रश्नों का उचित उत्तर हिन्दू समाज के पास नहीं है, फिर भी वे कहानी के बाकी हिस्से में अन्त तक जाकर पंडित लीलाधर की जीत करा देते हैं। तब लीग वाले पंडितजी को कत्ल कराने के लिए दो व्यक्ति भेज देते हैं, वे उन्हें मरा समझ कर छोड़कर चले जाते हैं, बूढ़ा पण्डितजी को उठाकर ले जाता है। धीरे-धीरे बूढ़े में और पण्डितजी में दोस्ती बढ़ती है, और अन्त में दोनों में इतनी दोस्ती होती है कि मुल्लाओं का रङ्ग फीका हो जाता है। बिल्कुल साफ है कि प्रेमचन्दजी ने इस कहानी में जिन समस्याओं को उठाया है, तथा जिन प्रश्नों को सामने रखा है, उनको वे सुलझाते नहीं हैं। न सुलझावें किन्तु जिस बेजा पक्षपात से वे इस कहानी का अन्त कर देते हैं, वह उनकी हिन्दू मनोवृत्ति का परिचायक है। यहाँ पर वे कलाकार के आसन से उतरकर एक साम्प्रदायिक प्रचारक के रूप में हो जाते हैं। पंडित लीलाधर की सेवाओं का क्या असर हुआ, इसका वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—'यहाँ एक ऐसे देवता का अवतार हुआ था जो मुर्दों को जिला देता था, जो अपने भक्तों के कल्याण के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर सकता था।' इसके बाद प्रेमचन्दजी भद्दे बेतुकेपन से यह कहते हैं—'मुल्लाओं के यहाँ यह सिद्धि कहाँ, यह विभूति कहाँ, यह चमत्कार कहाँ! इस ज्वलंत उपकार के सामने जन्नत और अखूवत की कोरी दलीलें कब ठहर सकती थीं।......अपना घर अँधेरा पाकर ही ये इस्लामी दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया तो दूसरे के यहाँ जाने की क्या जरूरत थी? सनातन धर्म की विजय होगी।'

सनातन धर्म की विजय तो हुई, किन्तु कला के दामों पर हुई, और जो प्रेमचन्दजी अन्यत्र सभी जगह हिन्दू-मुसलिम प्रश्न के एक बहुत

सुलझे हुये समाधानकारी के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, वे इस कहानी में एक कट्टर साम्प्रदायिकतावादी के रूप में हमें दिखाई पड़ते हैं। ऐसा समझना बिल्कुल बेजा है कि पंडितजी में ही सेवा भाव था, मुल्लाओं में वह दुर्लभ है। अवश्य यहाँ पर यह भी बात साफ कर दी जाय और वह इसलिए कि कहीं हमारे वक्तव्य का गलत अर्थ न लगाया जाय कि हमारा कथन यह नहीं है कि मुस्लिम समाज जहाँ तक शोषण का सम्बन्ध है, हिन्दू समाज से कुछ अधिक अच्छा है। अवश्य दोनों में शोषण के स्वरूप पृथक-पृथक हैं, और इसमें भी सन्देह नहीं कि हिन्दुओं में जो जाति-भेद है उससे बढ़कर शोषण का वाहन सारे इतिहास में दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु यह केवल डिग्री या मात्रा का भेद मात्र है। मुसलमानों में भी धनी और गरीबों में उतना ही भेद-भाव है, और भारतीय मुसलमानों में तो किसी न किसी रूप में जाति-भेद भी मौजूद है।

२१. हिंसा परमोधर्मः

एक ओर प्रेमचन्द की कहानियों में मंत्र जैसी कहानी है जिसमें प्रेमचन्दजी कट्टर साम्प्रदायिक रूप में आते हैं तो दूसरी ओर हिंसा परमोधर्मः नामक कहानी में जिसमें वे सभी धर्मों को व्यंग की दृष्टि से देखते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। एक गाँव का आदमी जिसका नाम जामिद था भटकते-भटकते शहर में आ गया। वह थककर मन्दिर के चबूतरे पर जाकर बैठा। मन्दिर बहुत बड़ा था, ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था। संगमरमर का चौक था, मगर आँगन में जगह-जगह पर कूड़ा था। जामिद को गन्दगी से चिढ़ थी। इधर-उधर निगाह दौड़ाई कि कहीं झाड़ू मिल जाय तो साफ कर दूँ, पर झाड़ू कहीं नजर नहीं आई। विवश होकर उसने अपने दामन से चबूतरे को साफ किया। थोड़ी देर में भक्तगण आये, उन्होंने जो एक मुसलमान को

ठाकुरजी का मन्दिर साफ करते देखा तो समझा कि शायद यह शुद्ध होना चाहता है। लोगों ने पूछा—तुम तो मुसलमान हो न ?

—ठाकुरजी तो सबके ठाकुरजी हैं, क्या हिन्दू, क्या मुसलमान।

—तुम ठाकुरजी को मानते हो ?

—ठाकुरजी को कौन न मानेगा साहब ! जिसने पैदा किया, उसे न मानूँगा तो किसे मानूँगा।

भक्तों में सलाह होने लगी।

—देहाती है।

—फाँस लेना चाहिये, जाने न पावे।

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर-सत्कार होने लगा। एक हवादार मकान रहने को मिला। दोनों वक्त उत्तम पदार्थ खाने को मिलने लगे। दो-चार आदमी हरदम उसे घेरे रहते। जामिद को भजन खूब याद थे। गला भी अच्छा था। वह रोज मन्दिर में जाकर कीर्तन करता। भक्ति के साथ स्वर लालित्य भी हो तो फिर क्या पूछना। सबको विश्वास हो गया कि भगवान ने यह शिकार चुनकर भेजा है। एक दिन मन्दिर में बहुत से आदमी जमा हुये। आँगन में फर्श बिछाया गया। जामिद का सिर मुड़ा दिया गया। नये कपड़े पहनाये गये। हवन हुआ। जामिद के हाथों से मिठाई बटवाई गई। इस प्रकार बहुत दिन चला। एक दिन जामिद कई भक्तों के साथ बैठा हुआ कोई पुराण पढ़ रहा था, तो देखता है कि सामने सड़क पर एक बलिष्ठ युवक माथे पर तिलक लगाये, जनेऊ पहने एक बूढ़े दुर्बल मनुष्य को मार रहा है। बूढ़ा रोता है, गिड़गिड़ाता है, किन्तु युवक को उस पर दया नहीं आती। जामिद ऐसा दृश्य देखकर कूदकर बाहर निकला, और युवक के सामने आकर बोला—इस बूढ़े को क्यों मारते हो, भाई, तुम्हें इस पर जरा भी दया नहीं आती !

युवक—मैं मारते-मारते इसकी हड्डियाँ तोड़ डालूँगा।

जामिद ने बहुत समझाया, किन्तु उस युवक ने कहा कि इसकी मुर्गी रोज हमारे घर में घुस आती है, आज मैं इसकी हड्डी तोड़कर तब मानूँगा। यह कहकर उसने बूढ़े को फिर एक चाँटा जड़ दिया। अब जामिद उस पर पिल पड़ा, और दोनों में कुश्ती हो गई। जामिद ने युवक को उठाकर पटक दिया। अब भक्तगण जामिद पर पिल पड़े। जामिद बेदम होकर गिर गया। तब लोगों में बातें होने लगी।

—दगा दे गया।

—धत् तेरी जात को। इन म्लेच्छों से भलाई की आशा करना बेकार है। कौवा कौवों के ही साथ मिलेगा।

जामिद रात भर वहीं पड़ा रहा। सवेरे मुसलमानों ने उसकी बड़ी आवभगत की। सब उसे घेरघारकर काजी के यहाँ ले गये। काजी ने उसे देखकर कहा—वल्लाह तुम्हें आँखें ढूँढ़ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिये; क्यों न हो मोमिन का खून है।...तुम्हीं जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। गलती यही हुई कि तुमने एक महीने भर तक सब्र नहीं किया। शादी हो जाने देते तब मजा आता! एक नाजनीन साथ लाते, और दौलत मुफ्त। वल्लाह! तुमने उज्लत कर दी।

अब मुसलमानों के यहाँ उसकी आवभगत होने लगी। जामिद ने काजी साहब से हदीस और कुरान पढ़ना शुरू किया। काजी साहब के बगल का कमरा उसे रहने के लिए मिला। वह सोने जा रहा था कि सहसा उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज सुनाई दी। जामिद ने सोचा कोई होगा। नीचे आया तो देखा—एक स्त्री ताँगे से उतरकर बरामदे में खड़ी है, और ताँगे वाला उसका सामान उतार रहा है। महिला ने मकान को इधर-उधर देखकर कहा—'नहीं जी मुझे अच्छी तरह ख्याल है, उनका मकान यह नहीं है, शायद तुम भूल गये हो।' किसी तरह ताँगे वाले ने झाँसा देकर उसे

जीना तक पहुँचाया। औरत ने ज्योंही छत पर पैर रखा कि काजी साहब के दर्शन हुये। वह तुरन्त पीछे की तरफ मुड़ना चाहती थी कि काजी साहब ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया, और अपने कमरे में घसीट लाये। उसी बीच में जामिद और ताँगेवाला भी वहाँ आ गया। महिला ने ताँगेवाले की ओर खून भरी आँखों से देखकर कहा—तू मुझे यहाँ क्यों लाया!

काजी साहब ने तलवार चमकाकर कहा—पहले आराम से बैठ जाओ।......हम तुमको अपने मजहब में शामिल करना चाहते हैं, बेआबरु नहीं करना चाहते। इस्लाम कबूल कर, आबरू बढ़ती है, घटती नहीं। हिन्दू कौम ने तो हमें मिटा देने का बीड़ा उठा लिया है। वह इस मुल्क से हमारा निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से लालच से शब्र से मुसलमानों को बेदीन बनाया जा रहा है तो क्या मुसलमान बैठे मुँह तावेंगे।......पहले इस तरह की शरारतं मुसलमान शोहदे किया करते थे। मगर शरीफ लोग इन हरकतों को बुरा समझते थे, और अपनी इमकान भर रोकने की कोशिश करते थे। तालीम और तहजीब की तरक्की के साथ कुछ दिनों में यह गुण्डापन जरूर गायब हो जाता मगर अब तो सारी हिन्दू कौम हमें निगलने के लिए तैयार बैठी हुई है। फिर हमारे लिए और रास्ता ही क्या है......। इस्लाम औरतों के हक का जितना लिहाज करता है उतना और कोई मजहब नहीं करता। मेरे यह नौजवान दोस्त (जामिद को दिखाकर) तुम्हारे सामने खड़े हैं, इन्हीं के साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जायगा। बस आराम से जिन्दगी बसर करना।

बात बढ़ते-बढ़ते बढ़ गई, औरत ने दरवाजे के पास जाकर कहा—मैं कहती हूँ दरवाजा खोल दो। जामिद अब तक चुपचाप खड़ा था। ज्योंही स्त्री दरवाजे की तरफ चली, और काजी साहब ने उसका हाथ

पकड़कर खींचा, जामिद ने तुरन्त दरवाजा खोल दिया, और काजी साहब से बोला—इन्हें छोड़ दीजिये।

काजी—क्या बकता है!

जामिद—कुछ नहीं। खैरियत इसीमें है कि इन्हें छोड़ दीजिये। अन्त में जामिद ने जबरदस्ती उस स्त्री को छुड़ा दिया और उसको घर पहुँचा दिया।

स्त्री ने घर पहुँचकर अपने पति से सारा हाल सुनाया, और जामिद की तारीफ की। सारी कहानी सुनकर उस औरत के पति ने उसको रोककर उसका आदर-सत्कार करना चाहा, किन्तु जामिद न रुका। उसने कहा—जी नहीं, अब मुझे इजाजत दीजिये।

पंडित—मैं आपकी इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ!

जामिद—इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजियेगा, मेरी आपसे यही दरख्वास्त है।

यह कहकर जामिद चल खड़ा हुआ।...वह जल्द से जल्द शहर से भागकर अपने गाँव में पहुँचना चाहता था, जहाँ मजहब का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द था। धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गई थी।

× × ×

इस कहानी में जो चित्र पेश किये गये हैं, उनसे सब धर्मों का थोथापन ही स्पष्ट होता है। यह ज्ञात होता है कि धर्म केवल दलबन्दी का एक स्वरूप है, और धर्मध्वजीगण चाहे वे हिन्दू हों, चाहे मुसलमान वे बिलकुल पेशेदार होते हैं, और अक्सर अपराधी की श्रेणी में आ जाते हैं। अवश्य इस कहानी में भी प्रेमचन्दजी धर्म के वर्गचरित्र को स्पष्ट नहीं कर पाये, किन्तु फिर भी एक बुर्जुआ जहाँ तक सोच सकता है, उसके दायरे में रहते हुये, उन्होंने धर्मों की असारता को प्रतिपन्न किया है। 'मंत्र' और इस कहानी को एक साथ पढ़ने पर यह ज्ञात

हो जायगा कि ये दोनों कहानियाँ विभिन्न mood में लिखी गई हैं, और दोनों के रुख में बहुत अन्तर है। 'मंत्र' में जहाँ वे कलाकार की वास्तविकता बल्कि वस्तुपरायणता से च्युत होकर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण ग्रहण करते हैं, वहाँ पर इस कहानी में वे एक वस्तुवादी कलाकार की तरह सब धर्मों की बुराई देखने में समर्थ हो जाते हैं। इस प्रकार स्वयं प्रेमचन्द ही प्रेमचन्द अर्थात् 'मंत्र' के प्रेमचन्दजी कहीं आगे बढ़े हुये ज्ञात होते हैं।

२२. लांछन

मुन्शी श्यामकिशोर और उसकी स्त्री देवी में बहुत प्रेम था, देवी एक असामान्य रूप लावण्यवती स्त्री थी। झाड़ूवाला मुन्नू जो रजा मियाँ नामक एक आशिक मिजाज व्यक्ति से मिला हुआ है, वह रोज गुशलखाने की सफाई के समय आकर देवी से चिकनी-चुपड़ी बात करता है, और एक दिन वह कह देता है कि श्याम किशोर बाबू तो अक्सर दालमंडी की हवा खाते हैं। इधर मुन्नू इस प्रकार की बात ही कर रहा था कि श्यामकिशोर ने उसकी बात का एक टुकड़ा सुन लिया। श्यामकिशोर को शक हो जाता है कि मुन्नू कुछ न कुछ ऐसी बात देवी से किया करता है जो उसे नहीं करना चाहिये। वह शक करता है, उसके शक की पुष्टि इस बात से होती है कि देवी उससे दालमन्डी के विषय में पूछती है। किसी तरह यह मामला रफा होता है। मुन्नू अक्सर जो बात करता है, उसमें वह देवी के सौन्दर्य की घुमाव-फिराव के साथ बहुत प्रशंसा करता है। उदाहरणार्थ वह कहता है—हुजूर के चेहरे मोहरे की कोई औरत मैंने तो नहीं देखी।

देवी—चल झूठे, इतनी खुशामद करना किससे सीखा!

मुन्नू—खुशामद नहीं करता सरकार सच्ची बात कहता हूँ। हुजूर एक दिन खिड़की के सामने खड़ी थीं। रजा मियाँ की निगाह आप पर

पड़ गई। जूते की बड़ी दूकान है उनकी। अल्लाह ने जैसा धन दिया है, वैसा ही दिल भी। आपको देखते ही आँखें नीची कर लीं। आज बातों-बातों में हुजूर की शक्ल-सूरत को सराहने लगे। मैंने कहा जैसी सूरत है, वैसा ही सरकार को अल्लाह ने दिल भी दिया है।

देवी—अच्छा वह लम्बा-सा-साँवले रंग का जवान !

देवी इस बात को इससे आगे नहीं बढ़ाती, बल्कि वह निगोड़े की आँखें फूट जाय वगैरः कहकर इस मामले को यहीं तक रखती है। फिर भी मुन्नू को वह रोटियाँ देकर विदा करती है। जाते समय मुन्नू फिर बड़ी तारीफ करता है, और यह कहता है—...'सच कहता हूँ हुजूर को देखकर भूख-प्यास जाती रहती है।' श्यामकिशोर इस समय आता है और बात का पिछला हिस्सा सुन लेता है। अब तो मियाँ-बीबी में झाँय झाँय होती है। इसी बीच में एक दिन श्यामकिशोर अपनी स्त्री और लड़की को लेकर ताँगे पर थियेटर जा रहे थे, पीछे देखा तो रजा मियाँ का ताँगा पीछे चला आ रहा है, उसमें रजा और मुन्नू दोनों बैठे हैं। श्यामकिशोर को बड़ा क्रोध आता है, और वह अपना रास्ता छोड़-कर दूसरे रास्ते से जाता है, किन्तु उसके पीछे वह ताँगा भी चलता है। बड़ी मुश्किल से उस ताँगे का पीछा छूटा। इस बीच में रजा देवी की लड़की शारदा के लिए खिलौने भी भेजता है, श्यामकिशोर इन खिलौनों को देख लेता है, और नाराज हो जाता है। श्यामकिशोर उस मकान को ही छोड़ देता है। वहाँ भी मुन्नू पहुँचकर लड़की शारदा को खिलौने देता है। श्यामकिशोर रास्ते में मुन्नू को लौटते देखते हैं, आकर पत्नी से पूछते हैं कि मुन्नू आया था कि नहीं। देवी बता देती है कि आया था। उसको क्यों आने दिया गया, इस पर वे नाराज होते हैं। फिर खिलौनों को देखकर वे आगबबूला हो जाते हैं। किसी तरह मामला सुलझता है। शारदा इन खिलौनों को लेकर अपनी सहेलियों को दिखाने के लिए व्यग्र होकर रास्ते से गुजरती है, इतने में एक मोटर आती है,

और वह उसके नीचे दबकर मर जाती है। शारदा के मर जाने से मियाँ-बीबी में सामयिकरूप से सन्धि हो जाती है और फिर वे यह समझते हैं कि आपस में बड़ा प्रेम है। इतने में फिर एक दिन मुन्नू आता है, और रजा मियाँ भी आते हैं, और लड़की की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हैं। वे इस ढङ्ग से शोक प्रकट करते हैं कि श्यामकिशोर उन्हें जाते हुये देख ले। नतीजा यह है फिर मियाँ-बीबी में खटपट शुरू होती है, और अब की यह खटपट बहुत उग्ररूप धारण करती है। अब तो श्यामकिशोर देवी को मुँह पर हर्जाई कहता है, तथा उसको मारता-पीटता भी है। थप्पड़ और घूसे खाकर वह न रोती है, न चिल्लाती है, केवल अर्धशून्य नेत्रों से पति की ओर ताकती रही, मानो यह निश्चय करना चाहती थी कि यह आदमी है या कुछ और। श्यामकिशोर चला जाता है, देवी को ऐसा ज्ञात होता है कि श्यामकिशोर को उसके साथ कभी प्रेम ही नहीं था। इस प्रकार के विचारों के वशवर्ती होकर वह घर छोड़ने पर तैयार हो जाती है। इतने में गहरी रात में शराब पीकर श्यामशिकोर लौटता है, तब तो देवी घर छोड़ने के पक्ष में निश्चय कर लेती है, और चुपके से घर छोड़-कर स्टेशन पहुँचती है। वहाँ उसे यह नहीं सूझता कि कहाँ जावें, और क्या करें, इसलिए वह रजा मियाँ के यहाँ पहुँचती है। श्याम-किशोर जब यह माजरा देखता है तो वह आत्म-हत्या के लिए चल देता है।

× × × ×

हमने अब तक प्रेमचन्द की जिन कहानियों की समालोचना की उसमें से किसी कहानी की श्रेणी में यह कहानी नहीं आती। यह कहानी मोपांसा के ढङ्ग की है, इसमें ह्रासशील मध्यमश्रेणी के मौन जीवन का चित्र खींचा गया है। पति यदाकदा दालमंडी की सैर करते हैं। पत्नी अपने सौन्दर्य की प्रशंसा ऐसे एक व्यक्ति के मुँह से सुनती

है, जिसकी प्रशंसा का केवल एक ही अर्थ हो सकता है। रजा मियाँ और मुन्नू तो शोहदे हैं ही, और वे इसलिए और भी भयङ्कर शोहदे हैं कि वे अपने वर्ग के मनोविज्ञान को खूब अच्छी तरह समझते हैं, और यह जानते हैं कि किस तरह मियाँ और बीबी में खटपट करायी जाती है। मियाँ शक्की हैं, किन्तु पत्नी भी ऐसे काम करती है जिससे खामख्वाह शक पैदा हो। हमने अपने संक्षिप्त संकलन में यह नहीं बताया किन्तु मूल कहानी में यह भी है कि रजा मियाँ जब खिलौना भेजते हैं तो वह अपनी बेटी से कहती है—'ला बेटी तेरे खिलौने रख दूँ, बाबूजी देखेंगे तो बिगड़ेंगे। कहेंगे रजा मियाँ के खिलौने क्यों लिये। तोड़ ताड़कर फेंक देंगे। भूलकर भी उनसे खिलौनों की चर्चा न करना।'

इस सम्बन्ध में देवी के लिए सबसे अच्छा ढङ्ग यह होता कि वह पूर्ण सत्य को पति के सामने रख देती, और फिर जैसा कि दोनों मुनासिब समझते वैसा किया जाता, किन्तु वह तो अपने सौन्दर्य की प्रशंसा में भूली हुई थी, वह समझती थी कि मेरी बड़ी कद्र हो रही है, उसने न केवल खुद इस चीज को छिपाया बल्कि लड़की से भी इस बात को छिपाने के लिए कहा। मियाँ का भी दोष कम नहीं है, जब शक का बहुत कम कारण था तभी वह इतना शक प्रकट करता है मानो देवी किसी के साथ फँस गई हो। अन्त में जो इसका परिणाम था, वह होता है, देवी रज़ा के जाल में फँसती है, और श्यामकिशोर को आत्महत्या करते हुए दिखाया जाता है। इस सम्बन्ध में एक बात और यह भी द्रष्टव्य है कि अन्त में देवी का इरादा रजा के यहाँ जाने का नहीं था, किन्तु जब वह सामने अँधेरा देखती है, साथ ही पीछे लौटकर श्यामकिशोर के घर में जाने को अकल्पनीय पाती है, तब वह रजा का आश्रय लेती है। इसके पीछे रजा के प्रति कोई प्रेम नहीं बल्कि मजबूरी है। यह मजबूरी उस सारे स्त्री-समाज को

मजबूरी है जो रोटी-कपड़े के लिए अपने पतियों की मुहताज रहता है। यदि यह मजबूरी न होती तो शायद ही वह रजा के चंगुल में फँसती। वर्तमान समाज-पद्धति में स्त्रियों की सबसे बड़ी मजबूरी यही है। इसी मजबूरी के कारण पतिगण अपनी पत्नियों को पीटते है, और उन्हें इसको सहन करना पड़ता है। इसी सहनशक्ति को मूर्खों ने सतीत्व के गुणों में से बता रखा है, किन्तु असल में इस सहनशीलता का असली रूप मालिक और नौकर के बीच जो एकतरफा सहनशीलता रहती है, उससे कुछ भिन्न नहीं है।

यह कहा जा सकता है कि इस कहानी में प्रेमचन्दजी सफल रहे हैं, किन्तु उन्होंने श्यामकिशोर से आत्महत्या करवाई है, वह शायद जरूरी नहीं था।

२३. कफ़न

झोपड़े के दरवाजे पर बाप और बेटा दोनों बुझे हुये अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुये थे, और अन्दर बेटे की नौजवान बीबी बुधिया दरवाजे से पछाड़ें खा रही थी, और रह-रहकर उसके मुँह से ऐसे मर्म-वेधी आवाज निकल रही थी कि दोनों कलेजा थाम कर रह जाते थे। यह स्त्री जो भीतर थी बहुत बीमार थी।

घीसू ने कहा—मालूम होता है बचेगी नहीं, सारा दिन तड़पते हो गया, जा देख तो आ।

लड़का माधो दर्द-भरे शब्दों में बोला—मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती, देखकर क्या करूँगा।

चमारों का कुनबा था, और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधो इतना कामचोर था कि घंटे भर काम करता, तो घंटे भर चिलम पीता। इसलिए इनको कोई नौकर नहीं रखता था। घर में मुट्ठीभर अनाज हो तब तो ये किसी भी प्रकार

काम न करते। जब दो-एक उपवास हो जाते तो घीसू पेड़ों पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधो बाजार से उन्हें बेचकर कुछ लाता, और जब तक पैसे रहते तब तक वे दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फिर उपवास की नौबत आती, तो फिर लकड़ियाँ तोड़ते या कहीं मेहनत-मजदूरी करते। गाँवों में काम की कमी न थी, काश्तकारों का गाँव था, किन्तु ये लोग काम करें तब न। घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवाय कोई चीज न थे। वे फटे-चिथड़ों से अपना गुजारा कर लेते थे। उन्हें बिल्कुल कोई चिन्ता न थी। वसूली की कतई आशा न होने पर भी लोग उनका बुरा हाल देखकर कभी-कभी कुछ न कुछ उधार भी दे देते थे। उधार चुका न पाने पर उन पर गालियाँ भी पड़ती थीं, किन्तु इसका उन्हें कोई गम नहीं था। मटर या आलू की फसल में वे खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते, और भून-भूनकर खा लेते, या दस-पाँच ऊख तोड़ लाते और रात को चूसकर सो रहते। घीसू ने इसी तरीके से साठ साल की उम्र काट दी, और माधो भी सपूत की तरह बाप का पदानुसरण कर रहा था, बल्कि उसका नाम और भी बढ़ा रहा था। इस समय भी दोनों अलाव के सामने बैठे हुये आलू भून रहे थे जो किसी के खेत से खोद लाये थे। घीसू की स्त्री तो न मालूम कब मर गई थी, माधो की शादी पिछले साल हुई थी। जब से वह स्त्री आई थी, तबसे उसने इस परिवार में संस्कृत की जड़ डाली थी। पिसाई करके घास छीलकर वह सेर भर आटे का इन्तजाम कर लेती थी, और इन दोनों बेशर्मों का पेट पालती थी। जब से वह आई थी, तबसे ये दोनों और भी विलासी और आलसी हो गये थे, बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई काम करने बुलाता तो बिल्कुल बे-फिक्री से दुगुनी मजदूरी माँगते जिससे कि काम करने की नौबत ही नहीं आती। वही स्त्री आज सबेरे से मरणासन्न थी, और ये दोनों शायद इसी प्रतीक्षा में थे कि वह मर जावे तो वे आराम से सोयें।

घीसू ने आलू निकालकर छीलते हुये कहा—जाकर देख तो आ कि हालत क्या है।

किन्तु माधो को यह डर था कि कहीं वह कोठरी में गया तो घीसू उसके हिस्से का आलू खा न जाय, इसलिए उसने कहा—मुझे डर लगता है।

—डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही।

—तो तुम्हीं जाकर देख न आओ।

—मेरी स्त्री जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला भी नहीं, और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं। . . .

—मैं सोचता हूँ कि कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा, सोंठ, गुड़, तेल कुछ भी तो घर में नहीं है।

—सब कुछ आ जायगा। भगवान बच्चा दें तो जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वही तब बुलाकर देंगे। मेरे नौ लड़के हुए। घर में कभी कुछ नहीं था, मगर हर बार इसी तरह काम चल गया।

जिस समाज में रात-दिन काम करने वालों की हालत इनकी हालत से कुछ अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबिले में वे लोग जो किसानों की कमजोरियों से फायदा उठाना जानते थे, वहाँ इस किस्म की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। हम तो कहेंगे घीसू किसानों के मुकाबिले में अधिक दूरदर्शी था, और किसानों की मेहनत करनेवाली जमायत में शामिल होने के बजाय आवारों में शामिल था। हाँ, उसमें यह योग्यता न थी कि आवारापन भी करता और शरीफ भी बना रहता, इसलिए जहाँ उसीकी तरह और लोग गाँव के सरपंच और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव थू-थू करता था। फिर भी उसे यह सान्त्वना तो थी ही कि अगर उसका हाल बुरा है तो कम से कम उसे किसानों की-सी जिगरतोड़ मेहनत तो

नहीं करनी पड़ती और उसकी सादगी और चुप्पी से दूसरे बेजा फायदा तो नहीं उठाते थे।

दोनों आलू निकाल-निकालकर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना धैर्य नहीं था कि उन्हें ठंडा हो जाने दें। कई बार दोनों की जीभें जल गईं। छिल जाने पर आलू का ऊपरी हिस्सा तो अधिक गरम न मालूम होता, किन्तु दांतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा जीभ, गला और तालू को जला देता था। दोनों कोशिश करते कि हम अधिक खा लें, और इस कोशिश में उन दोनों की आँखों से आँसू निकल रहे थे।

घीसू को इस वक्त एक ठाकुर की बारात याद आई जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस अवसर पर उसने जो-जो माल खाये थे, और सो भी पेट भर वह फिर कभी नसीब नहीं हुआ। लड़की वालों ने सबको पूड़ियाँ खिलाई थीं,। और असली घी की पूड़िया। चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, मिठाई। घीसू उस बरात की हाँकने लगा—महकती हुई कचौड़ियाँ बिना पूछे डाल देते थे, मना करने पर भी नहीं मानते थे।.....

माधो सुनता और हैरान होता। सोचता शायद बुड्ढा कुछ बनाकर बातें कर रहा है। उसे विश्वास ही नहीं होता कि ऐसा भी हो सकता है।

बूढ़ा बोला—अब कोई क्या खिलायेगा। वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है। कहते हैं शादी-ब्याह में खर्च मत करो, क्रिया-कर्म में खर्च मत करो। पूछो गरीबों का माल बटोर-बटोरकर कहाँ रखोगे? बटोरने में तो कोई कमी नहीं है। हाँ खर्च में किफायत सूझती है।

माधो अभी तक रायता, दही, चटनी की बातें सोच रहा था।

उसे शायद दार्शनिकतापूर्ण टिप्पणी पसन्द न आई, बोला—तुमने एक बीस पूड़िया खाई होंगी ।

बीस से ज्यादा खाई थी ।

मैं पचास खा जाता ।

पचास से कम मैंने भी न खाई होंगी, अच्छा पट्ठा था ।

तू उसका आधा भी नहीं है ।

आलू खाकर दोनों ने पानी पी लिया, और वहीं पर धोतियाँ ओढ़कर पड़ रहे । उधर बुधिया कराह रही थी ।

सबेरे माधो ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी बीबी ठंडी हो गई थी । मक्खियाँ भिनक रही थीं । पथराई हुई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं । सारा शरीर मिट्टी में लथपथ हो रहा था । उसके पेट का बच्चा मर गया था ।

माधो भागा हुआ घीसू के पास पहुँचा । फिर दोनों जोर-जोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे । पड़ोसियों ने जो यह आवाज सुनी तो दौड़े हुये आये, और पुराने रिवाज के अनुसार शोकग्रस्तों को सान्त्वना देने लगे, किन्तु अधिक रोने-धोने का मौका नहीं था । कफन और लकड़ी की फिक्र करनी थी । घर से पैसा उस तरह गायब था जैसे चील के घोसले से मांस । बाप-बेटे रोते हुये गाँव के जमींदार के पास पहुँचे । जमीनदार दोनों की सूरत से नफरत करते थे । कई बार उन्हें अपने हाथों पीट चुके थे । किन्तु जब यह सुना कि इनके घर में मौत हो गई है, तो कुछ नरम पड़े, फिर भी बोले—चल दूर हो यहाँ से । लाश को घर में रखकर सड़ा । यों तो बुलाने पर भी नहीं आता, आज जब गरज पड़ी तो आकर खुशामद कर रहा है । हराम-खोर कहीं का, बदमाश ।—यह मौका क्रोध का नहीं था, इसलिए बड़बड़ाते हुये उनकी तरफ दो रुपये निकालकर फेंक दिये, किन्तु उनकी तरफ ताका भी नहीं ।

जब जमीनदार ने दो दिये तो औरों ने भी कुछ दिये। किसी ने दो आने दिये तो किसी ने चार। एक घंटे में घीसू के पास पाँच रुपये की रकम हो गई। किसी ने लकड़ी ही दी।

अब दोनों कफन लेने बाजार की ओर चले। बाजार में पहुँचकर घीसू बोला—लकड़ी तो उसे जलाने भर की मिल गई है, माधो।

माधो बोला—हाँ लकड़ी तो बहुत है। अब कफन चाहिये।

तो कोई हल्का-सा कफन ले लें।

हाँ, और क्या। लाश उठते-उठते रात हो जायगी। रात को कफन कौन देखता है।

—कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढाकने को चिथड़े भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिये...।

—कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है।

—और क्या रखा रहता है, यही पाँच रुपये पहले मिलते तो कुछ दवा-दारू करते।

दोनों एक-दूसरे के मन को टोह रहे थे। बाजार में इधर-उधर घूमते रहे यहाँ तक कि संध्या हो आई। दोनों अचानक एक शराबखाने के सामने आ पहुँचे, और मानो किसी तय किये हुये फैसले के अनुसार अन्दर घुस गये। वहाँ जरा देर तक दोनों किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में खड़े रहे। फिर घीसू ने एक बोतल शराब ली, कुछ गजक ली, और दोनों बरामदे में बैठकर पीने लगे।

कई कुज्जियाँ पीने के बाद दोनों नशे में हो गये। घीसू बोला—कफन लगाने से क्या मिलता, आखिर जल ही तो जाता, कुछ बहू के साथ तो न जाता।

माधो आकाश की तरफ देखते हुये बोला—मानो देवताओं को अपनी निर्दोषिता का विश्वास दिला रहा हो—दुनिया का दस्तूर है!

बाम्हनो को हजारों रुपये क्यों देते हैं, कौन देखता है परलोक में मिलता है या नहीं।

—बड़े आदमियों के पास धन है फूकें, हमारे पास फूकने को क्या है?

—लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे कफन कहाँ है।

घीसू हँसा, बोला—कह देंगे रुपये कमर से खिसक गये, बहुत ढूँढ़ा मिले नहीं।

माधो भी हँसा, बोला—बड़ी अच्छी थी विचारी, मरी भी तो खिला-पिलाकर।

आधी बोतल से अधिक खतम हो गई। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मँगवाईं, गोश्त और सालन, और चटपटी कलेजियाँ, और तली हुई मछलियाँ। शराबखाने के सामने दूकान थी। लपककर दो पत्तों में सारी चीजें ले आया। दोनों इस समय इस शान से बैठे हुये पूड़ियाँ खा रहे थे जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। उन्हें कोई फिक्र नहीं थी, न जवाबदेही का डर था। घीसू ने दार्शनिक ढंग से कहा—हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है तो क्या उसको पुन न होगा।

माधो ने समर्थन किया—जरूर से जरूर होगा, भगवान तुम अन्तर्यामी हो। उसे ऊँची गत देना। हम दोनों हृदय से असीस दे रहे हैं, आज जो भोजन मिला, कभी जन्म भर न मिला था।

एक मुहूर्त के बाद माधो के दिल में एक आतंक पैदा हुआ, बोला—क्यों दादा हम लोग भी तो वहाँ एक न एक दिन जायँगे ही।

घीसू ने इस बचपन भरे प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया, माधा की तरह तिरस्कारभरी दृष्टि से देखता रहा।

—जो वहाँ हम लोगों से वह पूछेगी कि तुमने हमें कफन क्यों नहीं दिया, तो इस पर क्या कहोगे।

—कहेंगे तुम्हारा सिर।

—पूछेगी तो जरूर।

—तू कैसे जानता है उसे कफन न मिलेगा? तू मुझे अब गदहा समझता है, मैं साठ साल दुनिया में क्या घास खोदता रहा हूँ? उसको कफन मिलेगा और उससे बहुत अच्छा कफन मिलेगा जो हम देंगे।

माधो को विश्वास न हुआ, बोला—कौन देगा? रुपए तो तुमने चट कर दिये।

घीसू तेज हो गया, बोला—मैं कहता हूँ उसे कफन मिलेगा, तू मानता क्यों नहीं।

—कौन देगा बताते क्यों नहीं?

—वही लोग देंगे जिन्होंने अबकी दिया, हाँ वह रुपये हमारे हाथ नहीं आयेंगे, और अगर किसी तरह आ जायँ तो फिर हम इस तरह यहाँ बैठे पियेंगे, और कफन तीसरी बार मिलेगा।

ज्यों-ज्यों अँधेरा होता जाता था, त्यों-त्यों तारे निकलते जाते थे। बाप-बेटे पीते रहे। खाने से छुट्टी पाकर माधो ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल एक भिखारी को दे दिया। घीसू बोला—ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे, जिसकी कमाई है, वह तो मर गई। बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं।

माधो ने आकाश की तरफ देखकर कहा—वह बैकुंठ जायेगी। दादा, वह बैकुंठ की रानी बनेगी।

घीसू जैसे हर्ष की लहरों में तैरते हुये बोला—हाँ बेटा, बैकुण्ठ में वह जायेगी नहीं तो क्या वे मोटे-मोटे लोग जायेंगे जो गरीबों को दोनो हाथ से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा नहाते हैं, और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं।

नशा चढ़ रहा था। माधो रोते हुये बोला—मगर दादा बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुख भोगा, मरी भी कितना दुख झेलकर।

घीसू ने समझाया—क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि यह मायाजाल से मुक्त हो गई, जंजाल से छूट गई, बड़ी भाग्यवान थी जो इतनी जल्द मायामोह का बन्धन तोड़ दिया।

और दोनो वहीं खड़े होकर गाने लगे—

ठगिनी क्यों नैना झमकावे, ठगिनी।

सारा शराबखाना इस समय मस्त हो रहा था, और ये दोनों शराबी नशे में होते जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी, गिरे भी, मटके भी, भाव भी बताये और अन्त में नशे से बेकाबू होकर वहीं पर गिर पड़े।

× × ×

'कफन' कहानी प्रेमचन्द की कदाचित् सर्वोत्तम कहानी है। इसमें वे गरीबों के प्रति जिस असीम सहानुभूति के साथ हमारे सामने आते हैं, वह अतुलनीय है। इस कहानी की सबसे बड़ी बात यह है कि जिनको साधारणतः आवारा और कामचोर कहकर घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, प्रेमचन्द ने यह दिखलाया है कि वे इसी विषमतापूर्ण पद्धति की उपज हैं। उन्होंने कितने जोरों के साथ कहा है कि जिस समाज में काम करने वाले भी भूखों मरते हैं, और काम न करनेवाले भी (यहाँ उन परोपजीवियों से मतलब नहीं है, जो अपनी जमीन या पूँजी की कमाई खाते हैं), उस समाज में लोगों में काम न करने की ओर प्रवृत्ति होगी, इसमें क्या आश्चर्य है। वस्तुस्थिति भी यही है। उन्होंने बल्कि इससे भी जोरदार शब्दों में अपने वक्तव्य को पेश करते हुये बतलाया है कि ये कामचोर आवारे उन किसानों के मुकाबिले में अधिक दूरदर्शी थे क्योंकि जब तड़प-तड़पकर मरना ही है तो फिर काम क्यों किया जाय, और ज्ञान क्यों खपाई जाय।

इस कहानी में यह दिखलाया गया है कि यद्यपि माधो और घीसू

कफन के लिए मिले हुये पैसे को शराब में उड़ा जाते हैं, किन्तु फिर भी कम से कम माधो में अब भी मनुष्यता की चिन्गारियाँ मौजूद हैं। दुख है कि इन चिन्गारियों को अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं मिलीं, नहीं तो वे सामाजिक होमशिखा के रूप में जल उठतीं, और अपने इर्द-गिर्द के अन्धकार को दूर करने में समर्थ होतीं, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार विषमतामूलक समाज-पद्धति के कारण समाज को कितनी हानि हो रही है इसे हम इस कहानी में देख सकते हैं। माधो अभी सम्पूर्ण-रूप से असामाजिक नहीं है। यद्यपि परिस्थितियों और अपने पिता के उदाहरण के कारण वह भी कामचोर है, फिर भी शराब के नशे में वह अपनी स्त्री के सम्बन्ध में जो भाव व्यक्त करता है, उससे हम उसके हृदय को पढ़ सकते हैं। अवश्य घीसू घिसकर बहुत पक्का कामचोर हो चुका है, उसे किसी आदर्श पर विश्वास नहीं रह गया है, न उसे धर्म पर विश्वास है, न परलोक पर, किन्तु जैसा कि हम बता चुके, उसने साठ साल तक घास नहीं खोदी, और अपने तजुर्बे से यह समझ चुका था कि सभी बातें ढकोसला हैं। घीसू की बातचीत के विश्लेषण से हम इस नतीजे पर पहुँचने के लिए बाध्य हैं कि वह जैसा भी बना है उसके लिए समाज जिम्मेदार है। घीसू और माधो के अन्तराल में जो स्त्री मर जाती है, और जो किसी भी हालत में कामचोर नहीं थी, उस पर भी दो शब्द। उसने मरने के दिन तक कुटाई-पिसाई की, किन्तु इससे उसे क्या मिला? कुछ भी नहीं। ऐसी हालत में यह आशा करना कि उसकी श्रमशीलता का उसके पति या ससुर पर कोई असर पड़ता, यह गलत है।

कफन दो आवारों का और एक अच्छी औरत का कहानी नहीं है, बल्कि यह दुनिया के शोषितों की कहानी का एक ऐसा पहलू है जिस पर अक्सर कोई ध्यान नहीं देता। इस कहानी में इस बात की ओर भी इशारा किया गया है कि एक सही अपराध विज्ञान का किन

दिशाओं में सोचना है, और अपनी सुधारक वृत्तियों को किन दिशाओं में ले जाना है। यह कहानी हमें बतलाती है कि कामचोरी की ओर प्रवृति की ओर दवा work houses या जेल नहीं हैं, जहाँ लोगों से मार-मारकर काम लिया जाता है, बल्कि इस विषमतापूर्ण शोषक-मूलक समाज-पद्धति का आमूल उत्पाटन है।

जब हम बारीकी से इस कहानी के ताने-बाने पर नजर डालते हैं तो हमें इसके अत्यन्त उच्च शिल्प की प्रशंसा करनी पड़ती है। कहानी के प्रत्येक वाक्य को हम पढ़ते हैं तो हमें पहले हँसी आती है, किन्तु चेहरा हँसी से खिल भी नहीं पाता कि रोना आ जाता है। यही इस कहानी की कला की सबसे उच्च प्रशंसा है। चेकाफ इस तरह के लिखने में सिद्धहस्त थे। हमें एक छोटी-सी बात याद आ रही है कि चेकाफ ने स्कूल मास्टर के जीवन का चित्रण एक छोटे से दृश्य में कर दिया। मरते समय स्कूल मास्टर प्रलाप बक रहा है, किन्तु उसमें वह क्या कहता है। वह कहता है वोल्गा नदी अमुक पहाड़ से निकलकर अमुक-अमुक स्थान से होती हुई अमुक सागर में जाकर गिरती है। एक मरणासन्न व्यक्ति के मुँह में ये बातें कितनी हास्यजनक है, किन्तु साथ ही कितनी करुण हैं। इस मास्टर ने बीसियों वर्ष तक सैकड़ों छात्रों के सामने इसी वाक्य की पुनरावृत्ति की होगी, और अब वह उसीको कह रहा है। इसी प्रकार 'कफन' में जब बाप-बेटा आलू छीलते समय यह कोशिश करते हैं कि एक दूसरे से अधिक खावें और इस कोशिश में उनकी जीभ और तलुआ जल जाते हैं, तो हमें हँसी आती है, किन्तु साथ ही रोने को भी जी चाहता है कि इतनी गरीबी। हमें इन पर पहले-पहल कुछ क्रोध भी आता है कि ये लोग काम क्यों नहीं करते, किन्तु जब प्रेमचन्दजी आँखों में उँगुली डालकर हमें खुद बतला देते हैं कि इस समाज में काम करने से कुछ फायदा नहीं है, तो हमारा क्रोध लुप्त हो जाता है, अर्थात्

हमारा क्रोध उस समाज-पद्धति पर जाकर पड़ता है जिसमें इस तरह की बेहूदगी सम्भव है, बल्कि आम है। इसी क्रोध को भड़का सकने के कारण प्रेमचन्दजी इस कहानी में यदि शिल्प की दृष्टि से चेकाफ हैं, तो अन्य दृष्टि से गोर्की की श्रेणी में आते हैं। इस कहानी में उनकी कला आत्म प्रबुद्ध रूप में सामने आती है। अब उनकी कला में कोई झिझक नहीं है। वे जानते हैं कि उन्हें क्या करना है। जब वे घीसू से कहलाते हैं—'कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढकने को चिथड़े भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिये तो किस पाठक का हृदय टुकड़ा-टुकड़ा नहीं हो जाता है। यह केवल बुधिया की बात नहीं है बल्कि यह भारत के सब गरीबों की कहानी है कि जीते जी उनको इलाज के लिए रुपये नहीं मिलते, किन्तु मरने के बाद धर्मोपजीवी तथा अन्य परोपजीवी अपना टैक्स लेने से नहीं चूकते। इस कहानी में भी प्रेमचन्द को आड़े हाथ लेने से नहीं चूकते। इसमें सन्देह नहीं कि यह कहानी विश्व साहित्य की एक अमरकृति है। धूर्जटी बाबू ने जो इसे रत्न कहकर स्मरण किया है यह उचित ही है और उन्होंने जितना रत्न समझकर इसकी प्रशंसा की है, उससे यह कहीं बड़ा रत्न है। यह केवल साहित्य नहीं बल्कि हमारे संग्राम में काम आनेवाला एक उच्चकोटि का हथियार है।

उपन्यास, पूँजीवादी युग और छापेखाने की उपज

उपन्यास कला का जन्म—कम-से-कम आधुनिक अर्थों में उपन्यास का जन्म पूँजीवाद के साथ-साथ हुआ। जिस युग में केवल नकलों के जरिये से साहित्य का प्रचार होता था, उस युग में उपन्यास कला का न तो जन्म ही सम्भव था, और यदि किसी भी प्रकार उसका जन्म हो जाता तो वह पनप नहीं सकता था। अवश्य अलिफ लैला इस नियम का अपवाद स्वरूप कहा जा सकता है, किन्तु स्मरण रहे कि

अरब में लोग इन कहानियों को पढ़ते नहीं थे, बल्कि सुनते थे। अंत आधुनिक काल तक मध्यपूर्व के देशों में इस प्रकार कहानियों को आम जनता को सुनाकर गुजारा करने वाले लोग मौजूद थे, और सम्भव है कि यह पेशा अब भी उन स्थानों में प्रचलित हो। जो कुछ भी हो आधुनिक उपन्यास छापेखानों की गोदों में पला हुआ लड़का है।

उपन्यास का क्षेत्र सारा जीवन

नाटक, उपन्यास की तुलना में प्राचीनतर है, किन्तु उपन्यास का क्षेत्र नाटक से कहीं वृहत्तर है। जीवन का दायरा जितना विस्तृत है, उपन्यास का दायरा भी उतना ही विस्तृत है। उपन्यास में सारा आधुनिक जीवन आ जाता है। यदि हम अच्छे से अच्छे उपन्यास-कारों को देखें, तो हमें ज्ञात होगा कि उनका उद्देश्य यह था कि सारे जीवन को चित्रित किया जाय। फिल्डिंग ने अपने टामजोन्स नामक उपन्यास में अपने युग के अंग्रेजों के जीवन को चित्रित किया है।

बालजाक अपने युग का विशाल चित्रकार

इसी प्रकार फ्रेन्च लेखक बालजाक ने 'ला कामेदी इमेन' अर्थात् मनुष्य जीवन की कामेडी के नाम से जो उपन्यास माला लिखी, उसमें उन्होने अपने युग के फ्रेन्चों का पूरा जीवन ही चित्रित कर दिया।

बालजाक ने यह योजना बनाई थी कि सारे फ्रेन्चों के जीवन को चित्रित करने के लिए वे १४३ उपन्यास लिखेंगे, इनमें से वे ६६ ही लिख पाये। इन पूरे किये हुये उपन्यासों में करीब दो हजार ऐसे चरित्र आते हैं जो एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। Everybody's में लिखते हुये नार्मन काल्कन (Colcan) ने यह ठीक ही बताया है कि विश्व साहित्य में इस प्रकार की विस्तृत प्रतिभा किसी की नहीं थी। बालजाक ने फ्रेन्चों के समसामयिक जीवन का कितना अच्छा

चित्रण किया, इस सम्बन्ध में भी हम चलते हुये यह बता दें कि एंगेल्स ने एक मित्र को पत्र लिखते हुये यह स्पष्ट लिख दिया था कि उन्हें फ्रेन्च क्रान्ति के बाद फ्रांस में वर्गों का क्या आर्थिक सम्बन्ध रहा, इसके सम्बन्ध में अन्य अगणित पेशेवर इतिहास-लेखक, अर्थ-शास्त्री तथा आँकड़ेशास्त्रियों से कहीं अधिक ज्ञात हुआ।[1] मार्क्स ने भी एक पत्र में एंगेल्स का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था कि बालजाक ने तो इस तरीके से समाज का चित्रण किया है कि अतिरिक्तार्थ का विचार स्पष्ट हो जाता है ! मार्क्स ने 'पूँजी' के तीसरे भाग में यह दिखलाया है कि बालज़ाक ने अपने अन्तिम उपन्यास 'किसान' में यह दिखलाया है कि किस प्रकार छोटा किसान अपने साहूकार के लिए मुफ़्त में श्रम करता हुआ एक तरफ तो साहूकार की उपकारवृत्ति को प्रदर्शित करता है, और दूसरी तरफ वह खुद यह समझता है कि वह साहूकार को कुछ भी नहीं दे रहा है क्योंकि श्रम करने में उसका कुछ खर्च नहीं होता।[2]

टालस्टाय का सुविस्तृत कन्वास

यदि टाल्सटाय की रचना को देखा जाय तो वह तो अपने युग के रूसी जीवन का एक बहुत ही विस्तृत चित्र है।

१८६१ में रूस में जब अर्द्धगुलामों की मुक्ति हुई थी, उस समय से लेकर अपनी मृत्यु के समय तक का चित्र टाल्सटाय की रचनाओं में मिल सकता है। यदि केवल उनकी 'युद्ध और शान्ति' नामक पुस्तक को लिया जाय तो निकोलाई स्ट्राखाव नामक सोवियट दार्शनिक और समालोचक की भाषा में 'इसमें सभी कुछ है। हजारों व्यक्ति, हजारों दृश्य, राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन के सब तरीके, जीवन के

[1] L. A. L., p. 96

[2] Ibid, p. 139 note.

सब स्मरणीय मौके, नवजात शिशु के प्रथम क्रन्दन से लेकर म्रियमान व्यक्ति की डूबती हुई भावनायें, मानवीय दायरे के सभी हर्ष और विषाद, मन की सभी अवस्थायें—एक चोर की मानसिक अवस्था से लेकर जिसने अपने साथी का धन अपहरण किया है, ऊँचे से ऊँचे वीर की भावना तथा आत्मप्रसाद,—ये सब इस चित्र में मिलेंगे। भूतल से इस पुस्तक से बढ़कर और कोई जादू नहीं है, इसके अतिरिक्त यह जादू बहुत ही सरल उपायों से खड़ा किया गया है।'[1] मार्क्स ने इसी प्रकार समसामयिक अंग्रेज उपन्यासकारों के विषय में यह लिखा था कि उन लोगों ने सब राजनीतिज्ञ, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता तथा नीतिवादी लेखकों से कहीं अधिक इंगलैंड के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन को चित्रित किया है। इन उपन्यासों में बुर्जुआ समाज के सब स्तर जिसमें वह किरायाखोर तथा स्वर्णबान्ड सर्टिफिकेट के मालिकान थे जो सब तरह के व्यापार को इतरजनोचित समझते थे, साथ ही छोटे दूकानदार तथा वकील के मुन्शियों तक का चित्रण है।[2]

सभी बड़े उपन्यासकार विशाल जीवन के चित्रकार

यदि हम इसके ब्यौरे में जायँ कि किस उपन्यास लेखक ने अपने युग का विस्तृत चित्रण किया है, तो वह वर्णन स्वयं एक पोथा हो जायगा। निकोलाई स्ट्राखाव ने जो बात टालस्टाय की एक रचना के सम्बन्ध में कहा है, वही मंतव्य कमोवेश प्रत्येक अच्छे उपन्यासकार के सम्बन्ध में लागू हो सकता है। यह युग तो Trilogy आदि लिखने का है। विश्व साहित्य के दो उपन्यासकारों के नाम कलम की नोक पर स्वतः आ रहे हैं, एक तो 'फारसाइट सागा' के लेखक

---

[1] I. L. F. No. 8. 1944 [2] L. A. R., p. 96

गैल्सवर्दी और दूसरे पर्लवक। श्रीमती पर्लवक ने जिस प्रकार अपने समय के चीन को अपनी पुस्तक 'मिट्टी का मकान' में चित्रित किया है, तथा उस पुस्तक से चीन के सम्बन्ध में जो चित्र आँख के सामने आ जाता है, वह अतुलनीय तथा अभूतपूर्व है। यों तो रोमारोलाँ, अप्टनसिकलेयर, सिक्लेयर लुईस, इवानेज आदि कितने ही नाम अदमनीय रूप से सामने आ रहे हैं, किन्तु हम संयम से काम लेंगे। हमारे भारतवर्ष में भी प्रेमचन्द के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ, शरत् बाबू तथा कन्हैयालाल मुन्शी ने बहुत बड़े कैन्वास पर अपने चित्र का ताना-बाना तैयार किया है। हम अन्य छोटे लेखकों का नाम न देंगे।

उपन्यास की विस्तृति के सम्बन्ध में प्रेमचन्द सज्ञान

स्वयं प्रेमचन्द भी यह जानते थे कि उपन्यास का क्षेत्र बहुत विराट होता है। वे लिखते हैं—

"उपन्यास का क्षेत्र अपने विषय के लेहाज से दूसरी ललित कलाओं से कहीं अधिक विस्तृत है। वाल्टर वेसेन्ट ने इस विषय पर इन शब्दों में विचार प्रकट किये हैं 'उपन्यास के विषय का विस्तार मानव चरित्र से किसी कदर कम नहीं है। उसके सम्बन्ध में चरित्रों के कर्म और विचार, उनका देवत्व और पशुत्व, उनके उत्कर्ष और अपकर्ष से है। मनोभाव के विभिन्न रूप और भिन्न-भिन्न दशाओं में उनका विकाश उपन्यास के मुख्य विषय हैं।' इसी विषय—विस्तार ने उपन्यास को संसार साहित्य का प्रधान अंग बना दिया है। अगर आपको इतिहास से प्रेम है तो आप अपने उपन्यास में गहरे से गहरे ऐतिहासिक तत्वों का निरूपण कर सकते हैं। अगर आपको दर्शन से रुचि है तो आप उपन्यास को महान दार्शनिक तत्वों का विवेचन कर सकते हैं। अगर आप में कवित्व—शक्ति है तो उपन्यास में उसके लिए भी काफी गुञ्जाइश है। समाज, नीति, विज्ञान, पुरातत्व आदि सभी

विषयों के लिए उपन्यास में स्थान है। यहाँ लेखक को अपनी कलम का जौहर दिखाने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना साहित्य के और किसी अंग में नहीं मिल सकता, लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपन्यासकार के लिए कोई बन्धन नहीं।'[१]

यंत्रयुग में कविता का स्थान है, किन्तु उपन्यास का क्षेत्र विशालतर

उपन्यास का क्षेत्र जीवन की तरह विशाल है, इसमें कोई सन्देह नहीं। कविता से उपन्यास का क्षेत्र कहीं विशालतर है, इस पर तो शायद ही कोई तर्क हो। सच बात तो यह है कि आधुनिक वैज्ञानिक युग के उद्भव के साथ-साथ यह समझा गया था कि कविता के लिए इस युग में कोई गुंजाइश नहीं है। विज्ञान के युग के साथ-साथ गजमुक्ता, स्वाति की बूंद, सर्प की मणि, चन्द्रमा पर बैठकर कातनेवाली बुढ़िया, राहू और केतु का एक पुरातन कलह के वशवर्ती होकर कभी चन्द्र और कभी सूर्य को ग्रसना, मेघ को दूत बनाकर भेजना इत्यादि बातें असम्भव और अवास्तविकता के रंग में रँगी हुई हो गईं, लोगों को जितना जानना चाहिये, उससे वे अधिक जान गये, इसलिए यह कहा गया कि अब कविता के लिए कोई स्थान न रहा। किन्तु वास्तविकता इसके विरुद्ध प्रमाणित हुई। यह देखा गया कि ज्योतिषियों ने कविता की मृत्यु के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की थी, वह गलत साबित हुई। कविता न केवल इस नये वातावरण में अपने को जैसे-तैसे जीवित रखने में समर्थ हुई, बल्कि उसने नये युग से नई-नई बातें लीं, जिस यंत्रयुग के कारण समझा गया था कि लोग बहुत Matter of fact हो जायँगे, देखा गया कि कविता ने

[१] कु० वि० पृ० ६४

उन्हीं यंत्रों से अपने लिए नये-नये रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा ढूँढ़ निकाली। अवश्य ही इस नये युग में कविता को बहुत कुछ बदलना पड़ा, कविता को अब बहुत कुछ दार्शनिकता का लिबास पहिनना पड़ा, किन्तु यह लिबास उसके लिए कदर्य सिद्ध न होकर उसके जोवन में चार चाँद लगा दिये, और उस पर खूब खिला। हम यहाँ पर इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे कि पूँजीवादी युग की विशेषकर इधर पूँजीवादी युग की कविता में जो रहस्यवाद का सुर सुनने में आ रहा था, और है वह कहाँ तक वास्तविक दर्शन है, और कहाँ तक क्षीयमाण, म्रियमाण अपनी शेष घड़ी में स्थित पूँजीवाद की विकृत मानसिक उबाल है।

इसमें सन्देह नहीं कि कविता का क्षेत्र उपन्यास के क्षेत्र से छोटा है। आनातोल फ्रांस के सम्बन्ध में ज्ञात है कि उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ कविता रचना से किया था, किन्तु कहा जाता है उन्होंने जब यह देखा कि आधुनिक युगमन—Zeitgeist को कविता की भाषा में व्यक्त करना—मूर्त करना—भाषा देना सम्भव नहीं है, तब उन्होंने गद्य को अपनी कला की अभिव्यक्ति के वाहन के रूप में अपनाया। तब से वे बराबर गद्य ही लिखते रहे। कहते हैं कि बाद को तो वे फिर कभी कविता की ओर मुड़े ही नहीं, और उनकी कविताओं का जो एक संग्रह उनके साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक काल में प्रकाशित हुआ था, उसका फिर कोई संस्करण नहीं निकाला गया, और लोगों ने जाना ही नहीं कि फ्रेन्च गद्य-लेखकों में भी धुरन्धर आनातोल ने किसी युग में पद्य की देवी की भी चरण सेवा की थी। आनातोल के सम्बन्ध में यह जो बताया गया है, इसमें कुछ अत्युक्ति अवश्य है क्योंकि आधुनिक कवि की कविता आधुनिक युग की ही उपज है। उसमें आधुनिक युग ही प्रतिफलित है। उसकी भाषा, शैली, वाक्य-विन्यास सब आधुनिक ही हैं। फिर भी आनातोल के सम्बन्ध में जो बात बताई गई है, उसमें इतना तो सत्य है ही कि

जिस हद तक तथा जिस विस्तृत अर्थ में उपन्यास आधुनिक जीवन को प्रतिफलित कर सकता है, उस हद तक तथा उस अर्थ में कविता आधुनिक युग को प्रतिफलित नहीं कर सकती। यह बात सच है कि आधुनिक कविता विशेषकर सही तरीके की प्रगतिशील कविता जनगण—विपुल जनगण के दुख, कष्टों, संग्रामों के प्रति उदासीन नहीं है, किन्तु उपन्यास इन्हीं बातों को जिस ब्यौरे में चित्रित कर सकता है, कविता के लिए वह कहाँ सम्भव है। यही कारण है कि सभी आधुनिक भाषाओं में पद्य के बनिस्बत गद्य की विशेषकर उपन्यास की अधिक उन्नति हुई है। प्राचीन हिन्दी-साहित्य भी कवितामय है, आधुनिक साहित्य अर्थात् अंग्रेजों के भारतवर्ष में आने के बाद से ही हिन्दी गद्य की उन्नति बल्कि सृष्टि हुई। आधुनिक भाषाओं में यदि इस सम्बन्ध में कोई भाषा अपवाद है, तो वह शायद उर्दू है। उर्दू में अब भी पद्य पुस्तकें अधिक छपती हैं। उर्दू में उपन्यास की जो उन्नति नहीं हुई, वह भी उसके पिछड़ेपन के कारण ही है।

उपन्यास नाटक तथा चित्रपट की तुलना

उपन्यास को मेरीयन क्रॉफोर्ड ने (Marion Crawford) पाकेट थियेटर नाम से अभिहित किया है। इसका अर्थ यह है कि जैसे मामूली थियेटर पर नाटक देखने के लिए नियमित समय पर नियमित स्थान में हाजिरी देनी पड़ती है, उपन्यास में इस प्रकार की कोई बन्दिश नहीं है। जब चाहे तब जेब में हाथ डाल दिया, और पुस्तक निकालकर पढ़ने लगे, और मानों पढ़नेवाले के लिए नाटक ही होने लगा। स्मरण रहे कि नाटक पढ़ने के लिए नहीं बल्कि अभिनीत होने के लिए लिखे जाते थे। इ० ट्रसचन्को ने यह दिखलाया है कि मार्क्स नाटकीय साहित्य को अधिक पसन्द करते थे, यह कोई आकस्मिक बात है। 'समाज के

विशेष सन्धि-क्षणों में नाटक का उदय होता है, जिसमें क्रियाशील व्यवहारिक उपादान अभिव्यक्त होते हैं तथा उस युग का वादविवाद-मूलक चरित्र सामने आ जाता है।......यह एक लोकतांत्रिक कला है, एक सार्वजनिक कला है जिसमें जनता को प्रभावित करने की बहुत अधिक शक्ति है।'[१] अवश्य अब तो ऐसे नाटक भी लिखे जाते हैं, जो पढ़े जाने के लिए ही लिखे जाते हैं। शेषोक्त किस्म के नाटक कथोपकथन के रूप में एक तरह के उपन्यास ही हुये, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यद्यपि इस युग में यंत्रविद्या तथा कलाकौशल, विशेषकर Lighting या रोशनी डालने की कला की बहुत उन्नति हुई है, और यद्यपि अब ऐसे बहुत से नाटक खेले जा सकते हैं, जो पहले खेले नहीं जा सकते थे, या जिन्हें खेलने के लिए कुछ बदलना पड़ता था, उदाहरणार्थ महाकवि गेटे की सर्वोत्कृष्ट कृति फाउस्ट (Faust) को ही लिया जाय, फिर भी मनुष्य जीवन के लाखों दृश्य तथा परिस्थितियाँ हैं जो नाटक में प्रत्यक्ष नहीं कराई जा सकतीं, और न शायद आगे कभी प्रत्यक्ष कराई जा सकें। इस कारण स्वाभाविक रूप से इस वृद्धिशील साक्षरता तथा छापेखानों साथ ही कम फुर्सत के युग में उपन्यास का अधिक प्रचार हुआ और उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा। यंत्र विद्या और कला-कौशल की परमोन्नति के युग में भी यह सम्भव नहीं है कि दर्शक को यह दिखलाया जा सके कि सबमेरीन के अन्दर काम करनेवाले सैनिक का जीवन कैसा होता है, किन्तु उपन्यास और कहानी इसे बहुत अच्छी तरह चित्रित कर सकती है। अवश्य यहाँ पर यह बात माननी पड़ेगी कि थियेटर के ही एक रूप सिनेमा में यह सम्भव है कि आकाशगामी वायुयान पर बैठे हुए व्यक्ति से लेकर ईरान की खाड़ी में मोतियों के लिए डुबकी लगाने

---

[१] L. A. L., p. 99

वाले गोताखोर के सामुद्रिक जोवन को प्रत्यक्ष कराया जाय। इस दृष्टि से देखने पर चाहे खेला जानेवाला नाटक हो या पढ़ा जानेवाला नाटक हो, वे कभी भी उपन्यास के खतरनाक प्रतिद्वन्दी नहीं हो सकते। यदि कोई ऐसा हो सकता है, तो वह चित्रपट जगत ही है, किन्तु इस क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि उपन्यास को कुछ ऐसी जन्मगत सुविधायें प्राप्त हैं, जिनके कारण वे चित्रपट जगत के आगे न तो कच्चा खा सकते हैं और न नीचा ही देख सकते हैं। वे सुविधायें यह हैं कि उपन्यास सस्ता पड़ता है, उसका उत्पादन सस्ता है, और इस सार्वजनिक पुस्तकालयों के युग में वह करीब-करीब मुफ़्त पड़ेगा। अवश्य यदि उत्पादन के साधनों में इतनी उन्नति हो जाय कि राष्ट्र या राष्ट्र के बाद समाज अपने प्रत्येक सदस्य को मुफ्त में सिनेमा दिखला सके तो उस समय उपन्यास का क्षेत्र खतरे में पड़ जायगा, किन्तु नहीं हम इसमें बिल्कुल भूल रहे हैं क्योंकि उपन्यासों के कथानकों को आधार बनाकर ही चित्र तैयार किये जाते हैं। यह दूसरी बात है कि ऐसे आधारभूत बहुत से कथानक स्टूडियो के अभिनेताओं तक ही रह जाते हैं। वे अलग छपकर पाठक के सामने क्वचित ही आते हैं। जो कुछ भी हो उपन्यास के लिए यह खतरा बहुत दूर का खतरा है, इस समय के उपन्यास की परिस्थिति की आलोचना करते हुए, हम इस खतरे की सम्पूर्णरूप से अवज्ञा कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में हडसन के ये वचन भी ध्यान योग्य हैं—'यह एक सर्वजन विदित तथ्य है कि एक नाटक लिखने के लिए रंगमंच कला का सम्पूर्ण ज्ञान तथा उस सम्बन्धी यंत्र विद्या में दीर्घकाल तक प्राथमिकरूप से ही सही शिक्षा लेनी पड़ती है। इसके विपरीत उपन्यास लिखने का तो यह हाल है कि जिसके पास कलम स्याही और कागज हो, और थोड़ा धैर्य और अवसर हो, वह उपन्यास लिख सकता है।'[१]

[१] I. S. T., p. 130

जीवन-संग्राम में प्रेमचन्द की कला की परिष्कृति

प्रेमचन्द ने इस प्रकार क्यों उपन्यास कला को अपनाया यह समझना कठिन नहीं है। उपन्यास जीवन का जितना वृहद मुकुट हो सकता था, उतना और कुछ नहीं। अवश्य यह कहना बिल्कुल हास्यास्पद होगा, और ऐसी प्रशंसा केवल व्यंग में ही की जा सकती है कि प्रेमचन्द ने शुरू से ही उपन्यास कला को किसी महान उद्देश्य से अपनाया। सच बात तो यह है कि उन्होंने लिखने को एक पेशे की तरह अपनाया, अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि यह उनका hobby था, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि ज्यों-ज्यों वे आत्म सचेतन होते गये, त्यों-त्यों उनकी कला की अन्तर्गत वस्तु के साथ ही साथ उसका सारा परिप्रेक्षित और उसकी बौद्धिक पृष्ठभूमि बदलती गई। यह कहना कि उन्होंने या किसी अन्य कलाकार ने एक पेशे के तरीके पर प्रारम्भ में किसी कला को अपनाया यह किसी प्रकार कलाकार की निन्दा नहीं है, बल्कि यह दिखलाता है कि उनकी कला का विकास हाथी दाँत के मीनार पर बैठकर कमल-चर्वण करते-करते नहीं हुआ, बल्कि जीवन के कठोर संग्राम के दौरान में उसका विकास हुआ। इससे उनकी कला में भले ही वह रेती से साफ की हुई (chiselled) परिष्कृति नहीं आई हो, किन्तु उसमें जीवन की तड़पन और शोणित का प्रवाह खूब आया।

प्रेमचन्द की विस्तृत कला में उनका युग प्रतिफलित

यदि प्रेमचन्द और अधिक दिन जीवित रहते तो अवश्य ही उनका साहित्य और भी सुदूर विस्तृत होता, किन्तु जैसा कि वह है, वह भी कुछ कम विस्तृत नहीं है। बालज़ाक की तरह उनके उपन्यासों में दो हजार विशिष्ट चरित्र तो नहीं आते, और न उनके उपन्यासों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनके चरित्र सर्वथा नये हैं—कई बार तो

उनके कई उपन्यासों के मुख्य चरित्र एक ही व्यक्ति मालूम होता है, किन्तु फिर भी उनकी रचनाओं में न तो विशिष्ट चरित्रों का ही अभाव है, और न घटनाओं का ही। कायाकल्प का चक्रधर, प्रेमाश्रम का प्रेम शङ्कर, कर्म-भूमि के अमरकान्त को कई अर्थों में तीन व्यक्ति न कहकर एक व्यक्ति कम से कम एक टाइप कहना ही अधिक उचित होगा। इस दृष्टि से देखने पर ये तीन उपन्यास एक ही प्रधान नायक के इर्दगिर्द विवर्तित होते है। रंगभूमि का विनय भी उल्लिखित तीन नायकों से बहुत कुछ मिलता है। ये सबके सब समाज का कल्याण करना चाहते हैं, एक बड़ी हद तक त्यागी भी हैं, किन्तु समाज के रोग के निदान से अपरिचित होने के कारण वे कुछ अधकचरे सुधारवादी प्रयास कर रह जाते हैं। ये लोग सभी उस तरह के समाज-सेवक हैं, जिनको मोटे तौर पर गान्धीवादी कहा जा सकता है। यहाँ इस बात का उल्लेख किसी प्रकार प्रेमचन्द के मूल्य में बट्टा लगाने के लिए नहीं किया जा रहा है। जब युग ही एक बड़ी हद तक गान्धीवाद का था, और उसी मत-वाद की छत्रछाया से देश का सामाजिक राजनैतिक आन्दोलन परिचालित हो रहा था, तो यह तो एक उपन्यासकार का कर्त्तव्य था कि वह उसे अर्थात् इस तरह के टाइपों को चित्रित करे। यदि साहित्य-जीवन का वह मुकुट है, जिसमें जीवन अपना मुँह देखकर उसे ठीक कर सकता है, तो एक भारतीय लेखक जिसने मुख्यतः १६१६ से १६३५ तक उपन्यास लिखे, वह कैसे गान्धीवादी टाइप से बेखबर रह सकता था। प्रेमचन्द की कला का यह गुण ही है कि उसमें हम उस युग को प्रति-फलित देख सकते हैं, जिसमें इस कला की रचना हुई है।

टाइप पर अधिक जोर व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं

कायाकल्प, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि के नायक बहुत कुछ एक टाइप के होने पर भी वे व्यक्तित्वहीन हो गये हों, ऐसी बात नहीं।

उनकी सबकी अपनी-अपनी कमजोरियाँ, खामख्यालियाँ तथा गुण अवगुण मौजूद हैं। वह उपन्यासकार जो केवल टाइपों को तो पकड़ पाता है, किन्तु एक ही टाइप के विशेष चरित्रों को अलग करके दिखा नहीं पाता, उसे सफल उपन्यासकार नहीं माना जा सकता। प्रेमचन्द के उल्लिखित नायकों में अपना-अपना व्यक्तित्व दृष्टिगोचर होता है, किन्तु इस बात को मानने के साथ ही यह मानना पड़ेगा कि वे इनके व्यक्तित्वों को बहुत स्पष्ट नहीं कर पाते, और वे बहुत कुछ टाइप के ही दायरे में रह जाते हैं। उस हद तक वे अपने युग के प्रतीक होते हुये भी सम्पूर्णरूप से उस कला में सजीव नहीं कर पाते। उदाहरणार्थ हम शरत् बाबू के उपन्यासों में भी कई बार एक तरह के नायकों को पाते हैं। शरत् बाबू के उपन्यासों के नायक Glorified vagabond या यशप्राप्त आवारागर्द मात्र थे। चरित्रहीन का सतीश, श्रीकान्त का श्रीकान्त, पल्ली-समाज का रमेश, बड़ी दीदी का सुरेन्द्र, देवदास का देवदास, गृहदाह के सुरेश और महिम, यहाँ तक कि पथेरदाबी के डाक्टर किसी न किसी प्रकार के मध्यवित्तवर्ग के आवारा-गर्दमात्र हैं। उनमें से किसी को भी रोटी की फिक्र नहीं है। फिर भी जिन्होंने इन उपन्यासों को पढ़ा है, वे इनके एक-एक के व्यक्तित्व को बिल्कुल अलग पायेंगे। इसी अर्थ में कहा जाता है, और करीब-करीब सभी समालोचक इस विषय में सहमत हैं कि मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेमचन्द कुछ कमजोर पड़ते हैं। अस्तु।

प्रेमचन्द के उपन्यास में अनेक चरित्र

ऊपर गिनाये हुये चार उपन्यासों के नायकों के अतिरिक्त प्रेमचन्द के उपन्यासों के बाकी नायक, नायिकायें, उपनायक, खलनायक सभी करीब-करीब अलग-अलग टाइप के हैं, यद्यपि बहुत बारीकी से देखने पर बहुत से नायक तथा खलनायक भी एक टाइप के अन्तर्मुक्त किये जा

सकते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में धर्मवादी ढोंगियों, बेईमान पुलिस-वालों, लुटेरे जमींदारों, बदकार कारिन्दों के जो चित्र हैं, उनको शायद खींचा-तानी करने पर एक-एक टाइप में लाया जा सकता है, किन्तु फिर भी बहुत खींचातानी करनी पड़ेगी, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में सती स्त्री उदाहरणार्थ (कायाकल्प की लौंगी), वेश्या (उदाहरणार्थ सेवासदन की भोली), ज्योतिषी (कायाकल्प का बना हुआ ज्योतिषी), पक्का गाना गाने वाला (कायाकल्प का वज्रधार), घूसखोर दरोगा (सेवासदन का कृष्णचन्द्र), ऐयाश महन्त (सेवासदन के महन्त रामदास), कायरशरीफ आदमी (सेवासदन का पद्मसिंह), उदारवादी समाज-सुधारक (सेवासदन के विट्ठलदास), दगाबाज भाई (प्रेमाश्रम का ज्ञानशङ्कर), पुराने ढर्रे का दब्बू किसान जो बाद को विद्रोही हो जाता है (प्रेमाश्रम का मनोहर), नये खून का किसान (प्रेमाश्रम का बलराज), खुदमुख्तार धनी विधवा (प्रेमाश्रम की गायत्री), जालिम कारिन्दा (प्रेमाश्रम का गौस खाँ), काल्पनिक टाइप का आदर्शवादी जमींदार जैसा कि गांधीजी जमीन्दारों को देखना चाहते हैं (प्रेमाश्रम का मायाशङ्कर), हिन्दू सभाई (कायाकल्प का यशोदानन्दन), पतित आदर्शवादी राजा (कायाकल्प का राजा विशालसिंह), प्रेम में निराश आदर्शवादी स्त्री (कायाकल्प की मनोरमा), पहले लीगी फिर इत्तहादी मुस्लिम नेता (कायाकल्प का ख्वाजा), कांग्रेसी जमीन्दार (गोदान का अमरपालसिंह), मामूली मध्यम किसान (गोदान का होरी), स्वार्थी पत्रकार (गोदान का ओंकार-नाथ), समाज का स्तम्भ किन्तु खुद मक्कार और बेईमान (गोदान का झिंगुरीसिंह), मिलमालिक (गोदान का मिस्टर खन्ना) आदि कितने ही चरित्र प्रेमचन्द की रचनाओं में हैं। अपनी लगभग दो सौ कहानियों में उन्होंने जो सैकड़ों खण्ड चरित्र पैदा किये, उनको तो हम इस गिनती में ले ही नहीं रहे हैं।

भारतीय साहित्य में प्रेमचन्द अद्वितीय

एक दूसरे मापदण्ड से नापने पर भी प्रेमचन्द की रचनायें बहुत विस्तृत ठहरती हैं। वह मापदण्ड यह है कि क्या उनके उपन्यासों को पढ़ने से समसामयिक हिन्दी-हिन्दुस्तानी भाषी लोगों का एक खाका हमारी आखों के सामने खिंच जाता है या नहीं ? इसका उत्तर हाँ में देना ही पड़ेगा। सच बात तो यह है कि किसी भी एक भारतीय उपन्यासकार ने—हम इनमें रवीन्द्रनाथ, शरत्चन्द्र, और कन्हैयालाल मुन्शी को भी गिन रहे हैं, समसामयिक भारतीय जीवन, उसकी समस्याओं तथा संग्रामों का इतना व्यापक चित्रण नहीं किया है। रवीन्द्रनाथ और शरत् बाबू में तो हम एकाध अपवाद के अतिरिक्त भारत के राजनैतिक संग्राम का कुछ भी पता नहीं पाते। अवश्य रवीन्द्रनाथ के नाटक 'अचला-रतन', 'रक्तकरवी' तथा उपन्यास 'घरे-बाहरे' और 'चार अध्याय' को समसामयिक राजनैतिक आन्दोलनों के साथ संयुक्त किया जा सकता है, उनके भौतिक आधार तो ये आन्दोलन हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इनकी राजनीति व्यवहारिक राजनीति स बहुत—इतना दूर है कि पाठक यदि चाहे तो इसे भुला सकता है कि इनका राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध भी है। इसी प्रकार शरत् बाबू पथेरदावी के अतिरिक्त कहीं भी राजनीति के पास नहीं फटकते। यह बात आश्चर्यजनक है क्योंकि जिस समय असहयोग आन्दोलन चला था, उस समय शरत् बाबू भी व्यवहारिकरूप से इस आन्दोलन में कूद पड़े थे, किन्तु उनके उपन्यासों में इस युग का कहीं पता ही नहीं है। शरत् बाबू के सैकड़ों नायक-नायिकायें अपने युग में चलनेवाले इन संग्रामों तथा आन्दोलनों से बिल्कुल बेखबर हैं, यहाँ तक कि ये आन्दोलन परोक्ष में रहते हुये भी उन पर कोई प्रभाव डालते हुये मालूम नहीं देते। देवदास ने जिस प्रकार जाकर ऐन पार्वती के किवाड़ों के सामने चुपचाप जान दे दी, सुरेन्द्र ने जिस प्रकार घर से

भागकर मास्टरी की, तथा एक और उदाहरण लिया जाय पल्ली-समाज के रमेश ने जिस प्रकार जाकर गाँव में जीवन व्यतीत किया, उसमें यदि बीस क्यों पचास साल का या उससे भी अधिक फर्क कर दिया जाय, तो पता नहीं चलेगा। जो बातें रवीन्द्र और शरत् के सम्बन्ध में कही गई, वे ही कन्हैयालाल मुन्शी के भी विषय में कमोवेश कही जा सकती हैं। अवश्य उल्लिखित लेखकों ने जैसे शरत् बाबू ने जिस पहलू को लिया है, उसको चूड़ान्त तक पहुँचाकर छोड़ दिया है। इनके लिखने के बाद शायद ही उस सम्बन्ध में कोई और वक्तव्य रह गया हो, किन्तु यहाँ तो विस्तृति की बात हो रही है न कि घनत्व की। विस्तृति की दृष्टि से विशेषकर राजनैतिक संग्राम के चित्रण की दृष्टि से प्रेमचन्द भारतीय साहित्य में अपराजेय रहे हैं। अवश्य थोड़े दिनों से बङ्गला साहित्य में कुछ ऐसे उपन्यासकारों का आविर्भाव हुआ है, जो शायद प्रेमचन्द की इस दिग्विजयी हैसियत के लिए चुनौती साबित हों। अस्तु।

जिस जीवन को चित्रित किया प्रेमचन्द उससे बखूबी परिचित थे; फिर भी कुछ गलतियाँ

प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द ने जो इतने विस्तृत जीवन का चित्रण किया है, क्या वे उसके ब्यौरे से परिचित थे? क्या उनकी रचना में उनकी इस सम्बन्ध में विशेषज्ञता झलकती है? प्रेमचन्द स्वयं देहात में पैदा हुये, बहुत गरीबी में पले, और उनके उपन्यासों में मुख्यतः देहाती जीवन का ही चित्रण है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपने तजर्बे से बाहर कलम उठाई। अवश्य उनकी रचनाओं में शहरी जीवन का भी चित्रण है, किन्तु प्रेमचन्दजी जैसे गाँव के अधिवासी थे, वैसे शहर के भी अधिवासी थे, और अपने जीवन के विभिन्न समय में उन्हें संयुक्त प्रान्त के सब बड़े शहरों में

तथा बम्बई में रहने का मौका मिला, इसलिए उनके उपन्यासों में शहर तथा शहरियों का भी सुन्दर चित्रण है। यदि उनके उपन्यासों को शहरी जीवन और देहाती जीवन के चित्र करके दो हिस्सों में बाँटा जाय तो उनके कई उपन्यास तो मुख्यतः देहाती जीवन के ही वर्णन के रूप में वर्गीकृत होंगे। गोदान को ही लिया जाय, यद्यपि इसमें यत्र-तत्र शहरी जीवन की झलक आती है, किन्तु यह उपन्यास मुख्यतः देहात तथा देहाती जीवन के ही सम्बन्ध में है। अन्य उपन्यासों में गबन, प्रतिज्ञा, वरदान, निर्मला, सेवासदन मुख्यतः शहरी जीवन को लेकर ही चलते हैं। अवश्य इनमें भी देहात की झलक कहीं-कहीं आ जाती है, यह स्वाभाविक ही है। बाकी उपन्यास मिश्रित कहे जा सकते हैं, किन्तु देहाती जीवन प्रधान है।

प्रेमचन्द बहुत कम अवसर पर अपने तजर्बे के दायरे के बाहर गये हैं। अवश्य ऐसा कई क्षेत्र में हुआ है कि लेखक को एक विषय का बिल्कुल व्यक्तिगत तजुर्बा नहीं है, किन्तु फिर भी वह सफलता-पूर्वक उस विषय का चित्रण कर ले जाता है। बँगला लेखक प्रभात-कुमार ने अपनी एक पुस्तक में इसी प्रकार काश्मीर यात्रा का चित्रण किया; जिसे पढ़कर रवीन्द्रनाथ ने भी दाँतों तले अँगुली दबा ली। ऐसे ही कहा जाता है राबिन्सन क्रूसो के लेखक कभी अपने जीवन में किसी एकान्त द्वीप में नहीं रहे, यहाँ तक कि उन्होंने कभी समुद्र का दर्शन भी नहीं किया, फिर भी वे इस पुस्तक में समुद्र-यात्रा का जो वर्णन करते हैं, उसमें अच्छे से अच्छे नाविक कोई त्रुटि नहीं निकाल सके।

इसी तरह हडसन ने दिखलाया है कि अन्थानी ट्रलाप ने शिकार का चित्रण किया है, यद्यपि उन्होंने स्वयं कभी शिकार नहीं किया। ब्रेटहार्ट ने कलिफोर्निया के सोने की खानों का चित्रण किया, स्टीवेन्सन

तथा क्लार्क रसेल ने समुद्र के रोमेन्स का वर्णन किया, यद्यपि न तो हार्ट ने सोने की खान देखी, और न उल्लिखित दो अन्य उपन्यासकारों ने कभी समुद्र यात्रा की। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं कि उपन्यासकारों ने भद्दी गलतियाँ कर डाली हैं। डिकेन्स ने अपने पिकविक पेपर्स (अध्याय ७) क्रिकेट खेलने का जो वर्णन किया है, उस पर उनकी खूब हँसी उड़ाई गई है। बात यह है डिकेन्स महाशय ने न तो कभी यह खेल खेला, और न इसे ध्यान से देखा। इसी प्रकार स्टीवेन्सन जहाँ तक समुद्र-यात्रा का सम्बन्ध है, उसे निभा ले जाने पर भी Nautical observations में गड़बड़ा जाते हैं।[१] प्रेमचन्द भी इसी प्रकार अपनी रचनाओं में एकाध भद्दा गलती कर डालते हैं, जैसा कि उन्होंने गबन के मुखबिर के हाथों में पिस्तौल दिलाकर किया, किन्तु अवश्य ही ऐसी गलतियाँ बहुत कम हैं। जीवन के जितने विस्तृत क्षेत्र को उन्होंने लिया है, उसको देखते हुये उनकी ये बहुत ही छोटी गलतियाँ कुछ विशेष महत्व नहीं रखतीं। ब्यौरे में एकाध बिन्दु पर गलती कोई ऐसी बात नहीं है। असली प्रश्न तो यह है कि जिस क्षेत्र के जीवन को उन्होंने चित्रित किया है, उसे वे सफलतापूर्वक चित्रित कर पाये या नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में हमें यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने भारतीय जीवन का बहुत सुन्दर चित्र अपनी रचनाओं में पेश कर दिया है।

प्रेमचन्द के उपन्यास के मूल में जीवन के तजुर्बे

यद्यपि हमें ज्ञात नहीं है किन्तु प्रेमचन्द के उपन्यास जीवन से लिये हुये हैं। प्रेमचन्दजी ने स्वयं यह बताया है कि रंगभूमि का बीजांकुर उन्हें एक अन्धे भिखारी से मिला जो उनके गाँव में रहता

[१] I. S. T., pp. 155-6

था। इसी प्रकार और कई रचनाओं के बीजांकुर के सम्बन्ध में हमें ज्ञात हुआ है। स्वयं प्रेमचन्द ने उपन्यास कला पर लिखते हुये इसके कुछ उदाहरण दिये हैं कि किस प्रकार छोटी-सी घटना या छोटे से व्यक्ति से उपन्यासकार की कल्पना चल निकलती है। वे लिखते हैं 'पिकविक पेपरस डिकेन्स की एक अमर हास्यरस प्रधान रचना है। पिकविक का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफिरों की जबान से डिकेन्स के कान में आया। बस नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेश—सबकी रचना हो गई। साइलस मारनर भी अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है, लिखा है कि अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगाने वाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुये कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी, और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। स्कारलेट लेटर भी हाथर्न की बहुत ही सुन्दर रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुकदमें की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र लिखे नहीं गये, इसलिए भारतीय उपन्यास साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। रंगभूमि का बीजांकुर हमें एक अन्धे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था। एक जरा-सा इशारा, एक जरा-सा बीज लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। जेन आयर भी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। जेन आयर की लेखिका ने कहा मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुये भी आकर्षक होगी। इसका फल था जेन आयर।.....हालकैन को बाइबिल से प्लाट मिलते थे। मेटरलिंक का मोनावोन ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था।.....स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन खत्री ने चन्द्रकान्ता और चन्द्र-

कान्ता सन्तति का बीजांकुर तिलस्म होशरुवा से लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।'

वर्गसंघर्ष के चित्रण में प्रेमचन्द शरत् बाबू से श्रेष्ठ

उनके उपन्यासों में हम विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध को बखूबी देख सकते हैं। मार्क्स ने जो बात बालजाक के सम्बन्ध में कही थी कि उनके उपन्यासों से समसामयिक फ्रेन्च समाज के आर्थिक सम्बन्धों का पता लगता है, वही बात किसी भी भारतीय लेखक से अधिक सार्थकता के साथ प्रेमचन्द की रचनाओं के विषय में कही जा सकती है। शरत् बाबू के बहुत से उपन्यास विशेषकर पल्ली-समाज देहाती समाज के जीवन को लेकर लिखा गया है, किन्तु उनके किसी भी उपन्यास में समाज में निरन्तर होने वाले वर्गयुद्ध का, शोषण का इतना अच्छा चित्र नहीं मिलता जितना प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। पल्ली-समाज में देहाती जीवन के सब कड़ुवे पहलू आते हैं, समाज के स्तम्भ किस प्रकार ढकोसले की नींव पर स्थित हैं, किस प्रकार लोगों में अनैक्य तथा अत्यन्त क्षुद्र स्वार्थों का द्वन्द है, स्वार्थ संघर्ष है, बात-बात पर षडयंत्र और नीचता है, ये सब बातें तो हैं, किन्तु पाठक पर इनके वर्णन का यह प्रभाव नहीं पड़ता कि ये जो दुर्गुण हैं, देहातियों के लिए स्वाभाविक नहीं हैं, बल्कि प्रचलित पद्धति के कारण हैं। इसके विपरीत प्रेमचन्द के उपन्यासों में एक तो देहाती जीवन के वर्गयुद्ध का अंश स्पष्ट है, दूसरा उनकी रचनाओं में इन क्षुद्रताओं का वर्णन शरत् बाबू के वर्णन के मुकाबिले में कमजोर और शिथिल होने पर भी, वह वर्णन हमारे मन पर यह अमिट छाप छोड़ जाता है कि सामाजिक पद्धति विशेषकर समाज की प्रचलित आर्थिक पद्धति इनके लिए जिम्मेदार है। कर्मभूमि में अमरकान्त अपने घर से भागकर जिस

गाँव में टिका है, उसके वर्णन में वर्गसंघर्ष बहुत स्पष्ट है। किसानों का जब चाहे तब बेदखल किया जाना, अक्सर खेतों का इतना लगान बढ़ना कि लगान चुकाने में ही सारी उपज चली जाय, हरी बेगार और हर तरह की हन्टरबाजी और लूट-खसोट का चित्र इसमें है। प्रेमाश्रम में गौस खाँ के अत्याचार ग्राम-जीवन के कल्पित चित्र को फाड़ फेंकता है। तालुकदारियों के मैनेजर रियाया पर क्या क्या उधम जोत सकते हैं, इसका चित्र तो हमें प्रेमाश्रम में मिलता ही है। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात हो जाता है कि ये मैनेजर कभी-कभी—विशेष-कर जब कि तालुकेदारी की मालकिन विधवा है, तो उस पर भी कुदृष्टि डालने का इरादा रखते हैं। जब मालकिन का ही यह हाल है तो आम किसानों की बहू-बेटी का क्या हाल होता होगा, यह कल्पनीय है। गोदान में तो वर्गसंघर्ष का बिल्कुल नग्न चित्र दिखाई पड़ रहा है। होरी के तीन लड़के मामूली दवादारू के अभाव में मर जाते हैं, किन्तु किसानों के पैसों से पुष्ट राय साहब किस प्रकार बिना कारण अपनी दवा में सैकड़ों रुपये खर्च करते हैं, या यों कहना चाहिये कि बिना कारण डाक्टर उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं, यह देखने ही योग्य है। अवश्य इस पुस्तक में प्रेमचन्द ने यह भी दिखलाया है कि ये जमींदार अपने किसानों के लिए शेर होते हुये भी हुक्कामों के सामने बिल्कुल भीगी बिल्ली बन जाते हैं। कायाकल्प में भी राजा विशालसिंह अपनी रियाया पर तो बड़े अत्याचार करते हैं, किन्तु मजिस्ट्रेट उनके साथ कुत्ते का-सा व्यवहार करता है। सच बात तो यह है कि गोदान का सारा कथानक ही वर्गसंघर्ष पर अवलम्बित है। होरी को सताने वालों में जमीन्दार के साथ-साथ पुलिस भी है। जब उसका भाई ईर्ष्यावश उसकी गाय को जहर देकर डर के मारे घर छोड़कर भाग निकलता है, उस समय पुलिसवाले खबर पाकर वहाँ आते हैं। भ्रातृस्नेहवश होरी नहीं चाहता कि भाई का अपमान

हो, इसलिए वह घूस देने के लिए तैयार हो जाता है। पुलिसवाले सब कुछ जानते हुये भी होरी से घूस लेने पर तैयार हो जाते हैं।

यों ही बिना पद्धति के दो एक उदाहरण लिये जायँ। प्रेमचन्द की रचनाओं में जमीन्दारों के—वे चाहे केवल जमीन्दारो के रूप में हों या महन्तों के रूप में धर्म का आवरण लेकर बैठे हों, उनके अत्याचार खूब दिखलाये गये हैं। कायाकल्प के राजा साहब या उनके आदमी जिस प्रकार घास न छीलने पर चमारों की दुर्दशा करते हैं, वह किसानों के जीवन के इस पहलू को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है। इसी उपन्यास में राष्ट्र के साथ शोषकों और शोषितों का क्या-क्या सम्बन्ध है, यह बहुत ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब चमार अत्याचारों से उकताकर कुछ सींग-पूछ हिलाते हैं, तो फ़ौरन जमीन्दार राजा की ओर से पुलिस आ जाती है, और बात की बात में उन पर गोली चला देती है। इसी प्रकार मन्दिर प्रवेश के मामले में मन्दिर के मालिक के इशारे पर अछूतों पर जो गोली चलती है, उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अछूतों की प्रगति के शत्रु केवल उच्च जाति के हिन्दू नहीं हैं, बल्कि राष्ट्र भी है जो साम्पत्तिक अधिकार की रक्षा की आड़ में छुआछूत की घृणित पद्धति की रक्षा अपने संगीनों से करती है। जमीन्दारों के अतिरिक्त ये पुलिस तथा वह जिसकी नौकर है वह सरकार भी इन शोषितों के विरोधी हैं, यह बात प्रेमचन्द के उपन्यासों में बार-बार स्पष्ट हो जाती है। हमें अन्य किसी भारतीय उपन्यासकार में इस हद तक यह बात नहीं मिलती। साहूकार तथा अन्य परोप-जीवियों, यहाँ तक कि उन अधिकारियों से जिनसे यह उम्मीद की जाती है कि वे गरीबों के नागरिक अधिकारों के रक्षक होंगे, वे अधिकारी भी दौरा करते समय किस प्रकार लूट-खसोट से काम लेते हैं, किस प्रकार एक विशेष अधिकारी यदि अच्छा भी हो तो पद्धति ऐसी है कि उसे बेईमान बन जाना पड़ता है, इन सब बातों को हम प्रेमचन्द

की रचनाओं में देखते हैं। किसान की एक जान है, किन्तु उसके कितने खून चूसनेवाले हैं, इस बात को यदि किसी को जानना हो, तो वह इस सम्बन्ध में समाजवादी दलों की दस पुस्तिकाओं से जितना नहीं जानेगा, उतना प्रेमचन्द के एक गोदान से जान सकता है।

प्रेमचन्द में धर्म का वर्गचरित्र स्पष्टीकृत

प्रेमचन्द की रचनाओं में धर्म, धर्मध्वजी, महन्त, पुरोहित, ब्राह्मण यहाँ तक कि ईश्वर की धारणा के सम्बन्ध में यह बार-बार दिखलाया गया है कि किस प्रकार ये व्यक्ति अथवा शक्तियाँ मेहनतकश जनता का खून पीती हैं। सेवासदन में ही हम देखते हैं कि भोली वेश्या के घर में ऊँचे से ऊँचे शिखा चोटीधारी धर्मध्वजी आते जाते हैं, मन्दिर के किसी भी उत्सव में ठाकुरजी से कहीं अधिक भोली का जयजयकार रहता है। इस प्रकार धर्म-ध्वजियों के विविध कौलों का खोखलापन स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। इसी उपन्यास में महन्त रामदास साथ ही जमीन्दार भी हैं, और धर्म-नेता भी। वे जो कुछ जुल्म ढाते हैं, वह श्री बाँकेबिहारीजी के नाम से ढाते हैं। बाँकेबिहारीजी केवल नैतिक दबाव पर ही निर्भर नहीं रहते, बल्कि उनके अखाड़े में दंड-बैठक करनेवाले दुधिया भाँग छाननेवाले चेलों का एक गिरोह रहता है, और ये लोग देव-गत-चित्त होने के कारण जब भी कोई बाँकेबिहारीजी के विरुद्ध जरा भी आँख निकालता है, तो उसके होश को ठिकाने लाने के लिए तन-मन से तैयार रहते हैं। सच बात तो यह है कि इस उपन्यास का सूत्रपात ही इसी प्रकार के एक विद्रोही किसान की श्री बाँकेबिहारी के चेलों के द्वारा हत्या से हुआ है।

'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशङ्कर धर्म का ढोंग रचकर ही गायत्री के सतीत्व भ्रष्ट करने पर तैयार होता है। धर्म को प्रेमचन्द हमेशा इसी रूप में चित्रित करते हैं। अवश्य उनकी कहानियों में एकाध स्थान पर इसके

विपरीत रूप का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु उनके उपन्यासों में धर्म का चित्र हमेशा इसी रूप में होता है।

'गबन' में सेठ करोड़ीमल धार्मिक रूप में दिखलाये जाते हैं। वे जाड़ों में कम्बल बाँटते हैं, किन्तु प्रेमचन्द यह कहना नहीं भूलते कि ये करोड़ीमल वही हैं जिनकी जूट की मिल है, इस मिल में मजूरों के साथ जितनी निर्दयता का व्यवहार होता है इतना कहीं नहीं होता। यहाँ मजूर हन्टरों से पीटे जाते हैं। सेठ करोड़ीमल घी में चर्बी मिलाकर लाखों रुपया कमा चुके हैं।

कर्मभूमि में भगवान और छुआछूत का वर्गरूप स्पष्टीकृत

'कर्मभूमि' में अछूतों को सवर्ण हिन्दू मन्दिर में घुसने नहीं देते। इस पर प्रेमचन्दजी इस बात को स्पष्ट कर देने से नहीं चूकते कि इन मन्दिरों में सेठ महाजनों के भगवान रहते हैं। अछूतों की इतनी मजाल कि इस भगवान के मन्दिर में कदम रखना चाहते हैं। अछूतों के भगवान तो कहीं किसी झोपड़े में या पेड़ तले होंगे। सवर्ण हिन्दुओं का यह भगवान राजाओं के आभूषण पहिनते हैं, मोहन भोग मलाई खाते हैं, वे चिथड़े पहिनने वाले और चबेना खाने वालों की सूरत तक नहीं देखना चाहते। प्रेमचन्द केवल इतना ही दिखलाकर चुप नहीं हो जाते, बल्कि वे अछूतों की मन्दिर प्रवेश-सम्बन्धी गुस्ताखी के लिए उनको सवर्ण हिन्दुओं के द्वारा बुलाई हुई पुलिस की गोलियों से भुनवा डालकर सवर्ण हिन्दुओं के मन में अछूतों के प्रति कितना प्रेमभाव है, उसे बिलकुल स्पष्ट कर देते हैं। प्रेमचन्द गांधीयुग के लेखक हैं, ऐसा दूसरे समालोचकों ने भी लिखा है, हमने भी लिखा है, किन्तु कर्मभूमि से यह पता चलता है कि प्रेमचन्द अछूतों के लिए गांधीजी से कहीं अधिक दर्द रखते हैं। प्रेमचन्द की सहानुभूति एक विद्रोही के साथ दूसरे विद्रोही की सहानुभूति है। उसमें मानवता की पुकार निबाही

गई है न कि चुनाव की जरूरतों की पुकार। प्रेमचन्द अछूतों को सवर्ण हिन्दुओं और सब हिन्दुओं के साथ बिल्कुल बराबर देखना चाहते हैं, वे केवल छुआछूत मिटाने के नाम पर अछूतों के वोट लेने के लिए उत्सुक नहीं ज्ञात होते अमरकान्त जिस गाँव में जाकर चमारों में रहता है, वहाँ वह उनके साथ बिल्कुल एक होकर रहता है। अवश्य खोजने पर, वहाँ अमरकान्त ने जो व्यवहार किया है, उसमें गांधीवादी पुट मिलेगा, जैसे जिस समय अमरकान्त वहाँ चमारों को मृत गाय का मांस खाने के लिए उद्यत देखता है, तो वह इस पर आपत्ति करता है, और मुन्नी की मध्यस्थता के कारण वह अपनी बात मनवाने में समर्थ भी होता है। इस व्यवहार में अव्यवहारिक सुधारक की सुधारभावना दिखलाई पड़ती है। यों चमारों को जीवित गाय या बकरे का मांस कब मिलने लगा, उनको अपने रिवाज की बदौलत जब इलाके में कभी कोई गाय मरती है, तो उसका मांस खाने को मिल जाता है। ऐसी अवस्था में उनको मुर्दा मांस खाने से रोकना यह कहने के तुल्य है कि तुम कभी कोई स्वादिष्ट पदार्थ खाओ ही मत। अमरकान्त निस्सन्देह रूप से एक गान्धीवादी चरित्र है, उसमें वे ही आदर्शवाद तथा कमजोरियाँ हैं जो गांधीवाद की विशेषता है, इसलिए अमरकान्त के चरित्र में इस प्रकार के गांधीवादी पुट दिखलाना जरूरी था, किन्तु हमें उस पुट से धोखे में नहीं आना चाहिये कि प्रेमचन्द असल में क्या चीज चाहते हैं। मन्दिर के भगवान के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने जो उद्‌गार किये हैं कि वे अमीरों के भगवान हैं, हलुवा-पूड़ी खाते हैं, और चिथड़े पहननेवालों से नफरत करते हैं, प्रेमचन्द को एक अछूतोद्धारक के रूप में नहीं बल्कि एक पूर्णावयव विद्रोही और सो भी मूर्ति-भंजक समाजवादी विद्रोही के रूप में स्पष्ट कर देता है। मन्दिर के भगवान के सम्बन्ध में इस प्रकार की उक्ति करनेवाला व्यक्ति क्या यह चाहता है कि मन्दिर खोल दिये जायँ, उनके द्वार सबके लिए खोल

दिये जायँ, या वह यह चाहता है कि ऐसे भगवान समेत मन्दिर को, साथ ही जिस पद्धति में इस प्रकार के मन्दिर और इस प्रकार के भगवान जायज हैं, उसको सातवें रसातल में पहुँचा दिया जाय ! मन्दिर के भगवान के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने जो शब्द कहे हैं, वे क्लासिकल हैं, अमर हैं, कथित अछूतोद्धार के आन्दोलन के झंडे को लेकर चलने वाले लोगों को चाहिये कि इन शब्दों को अपने हृदय पर और झण्डों पर सुदृढ़ रूप से अंकित कर अपने कार्य में अग्रसर हों।

सनातन धर्म और पुनर्जन्मवाद पर प्रेमचन्द का कुठार

'गोदान' में भी हमें धर्म का वही प्रेमचन्दी रूप मिलता है। धनी दान देते हैं, धर्म करते हैं, लेकिन क्यों ? अपने बराबर वालों को नीचा दिखाने के लिए। उनका दान और धर्म कोरा अहंकार है, विशुद्ध अहंकार। इस उपन्यास के मातादीन चरित्र में सनातन धर्म की खूब पोल खोली गई है। मातादीन के बाप दातादीन अपनी जवानी में बड़े रसिया थे, किन्तु नेम से कभी नहीं चूके, एकादशी नागा नहीं किया। कभी बिना स्नान-पूजन किये मुँह में दाना पानी नहीं डाला, बस क्या था, उनको तो हर एक पाप का पासपोर्ट मिला हुआ था। मातादीन भी अपने बाप के बेटे थे। उन्होंने एक चमारिन को रखा, किन्तु रुपये वाले थे, फिर वे नेम से कभी नहीं चूके। इस प्रकार मातादीन और दातादीन में प्रेमचन्द ने भारतीय सनातन धर्म का नग्नचित्र खींचा है। इस चित्र को देखने पर पता चलता है कि विवेकानन्द, राधाकृष्णन, अरविन्द, भगवानदास, आलकाट, ऐनीबेसेन्ट आदि प्राच्य धर्मों की प्रशंसा में शतमुख विद्वान दुनिया को कितना बड़ा धोखा देना चाहते हैं। यों तो हम यह नहीं मानते कि प्राच्य और प्रतीच्य धर्मों में कोई विशेष फर्क है, यदि फर्क है तो इस बात का है कि एक धर्म पिछड़े हुये अर्द्ध-सामन्तवादी लोगों का धर्म है, और दूसरा पूँजीवादी समाज

का धर्म है, इसलिए प्राच्यधर्म की जो कुछ विशेषता, खूबी या सौन्दर्य है, वह केवल इतना ही है कि वह अधिक पिछड़ा हुआ है, उसकी बोल-चाल कम अर्वाचीन है, उसमें बात-बात पर अब भी अवतारों की गुञ्जाइश है, किन्तु यह सब तो हुई किताबी और ऊपरी बातें, असल में व्यवहार में प्राच्यधर्म क्या है, इसे हम प्रेमचन्द के दातादीन मातादीन करोड़ीमल समरकान्त आदि में देख सकते हैं। बड़ी-बड़ी बातें बनाकर ह्रासशीलता के क्षीणमान बुद्धियुक्त विदेशियों को एक हद तक उल्लू बनाया जा सकता है, किन्तु उसमें भी हम अधिक समर्थ रहे यह बात नहीं क्योंकि अपनी संस्कृति और धर्म की रोमरोलाँ से लेकर लार्ड रोल्डन्स्ते तक लोगों से तारीफ करवा सकने पर भी हम राजनैतिक रूप से जहाँ के तहाँ रह गये, यानी उतना ही आगे बढ़ पाये जितना हमने संग्राम किया या अन्य संग्रामशील शक्तियों ने हमें जितनी सहायता दी। हमने सरसरी तौर पर प्रेमचन्द की रचनाओं में से धर्म-सम्बन्धी दो-एक घटनाओं तथा पात्रों की ओर पाठक की दृष्टि आकर्षित की, सारा प्रेमचन्द साहित्य ही धर्म और ईश्वर के विरुद्ध एक व्यंग, हजो या जेहाद है। जहाँ भी ईश्वर का नाम आया है हम देखते हैं कि वह ऐसे प्रसङ्ग में आया है कि ईश्वर के प्रति भक्ति बढ़ती नहीं घटती है, हृदय श्रद्धा से अवनत नहीं होता, बल्कि आँखों में विद्रोहाग्नि चमकने लगती है। कर्मभूमि में पुनर्जन्मवाद की जिस तरह व्याख्या की गई है, उससे अधिक उग्र से उग्र सामाजिक क्रान्तिकारी भी कुछ नहीं कह सकता। पुनर्जन्मवाद के विषय में यह जो कहा गया है कि यह सब मन को समझाने की बात है, जिसमें गरीबों को अपनी दशा पर सन्तोष रहे, और अमीरों को अपने रागरङ्ग में किसी प्रकार की बाधा न पड़े, यह कथा साहित्य में अतुलनीय है। पता नहीं पुनर्जन्मवाद के विषय में किसी समाजवादी दल की पुस्तिका में इससे पहले हिन्दी में कुछ कहा गया था या नहीं, जहाँ तक हम समझते हैं, ऐसा नहीं कहा गया होगा। सच बात तो यह है कि

१६१२ में जब यह उपन्यास प्रकाशित हुआ था उसके पहले कोई स्वीकृति समाजवादी गुटगिरोह या दल था भी या नहीं, और यदि था जैसा कि एक गुट के विषय में कहा जा सकता था कि वह था, तो वह ऐसे दार्शनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में कोई दिलचस्पी रखता था। इसमें सन्देह है।

धर्म बोध में शरत्‌चंद्र उच्चतर

वर्गसंघर्ष और धर्म की समालोचना की दृष्टि से शायद ही कोई भारतीय उपन्यासकार प्रेमचन्द की समकक्षता कर पावे। वर्गसंघर्ष की दृष्टि से तो जैसा कि हम बता चुके वे अतुलनीय हैं, किन्तु जहाँ तक धर्म की समालोचना की बात है शरत् बाबू का 'बामुनेर मेये, अर्थात् ब्राह्मण की बेटी बहुत ही उत्कृष्ट रचना है। इस रचना में हिन्दुओं के चातुर्वर्ण्य पर ऐसा भयंकर श्लेष किया गया है कि मातादीन दातादीन आदि प्रेमचन्द के पात्रों के जरिये से सनातन धर्म की जो समालोचन होती है, वह बहुत फीकी पड़ जाती है। शरत् बाबू तो उस रचना में जाति भेद के मूल पर ही कुठाराघात करते हैं। अपनी कहानी के जरिये से वे जातिभेद के थोथेपन को बिल्कुल मूर्त करके रख देते हैं। केवल तथ्यों से ही नहीं वे कहानी की भावुकतामय पृष्ठभूमि को इस प्रकार हमारे सामने लाकर रख देते हैं कि जातिभेद, 'नेम' आदि का पता ही नहीं लगता कि वे किस रसातल में चले गये। फिर भी जैसा कि हमने बताया शरत् बाबू वर्गसंघर्ष को प्रेमचन्द की तरह चित्रित नहीं कर पाते। उनके पात्र अधिकतर भावुकता के धरातल पर ही तैरते रहते हैं, क्वचित ही वे उस सामाजिक आर्थिक ढाँचे की गहराई तक जा पाते हैं जिसके बगैर ऊपर का ढाँचा समझ में नहीं आता। अवश्य शरत् बाबू जिन समस्याओं को लेकर चलते हैं वे न तो हवाई ही हैं, और न तो अवास्तविक, यहाँ वह बात नहीं हो रही है, यहाँ केवल यही बताया जा

रहा है कि प्रेमचन्द समाज के आधारगत सम्बन्धों तक पहुँचते हैं, जब कि शरत् बाबू अधिकतर ऊपरी ढाँचे में ही उलझकर उसीके इर्द-गिर्द अपनी उत्कृष्टतर कला का चमत्कार दिखलाते हुये रह जाते हैं। हम यहाँ पर शरत् और प्रेमचन्द की तुलना नहीं कर रहे हैं अर्थात् वहीं तक तुलना कर रहे हैं, जहाँ तक प्रेमचन्द को समझने में ऐसा करना सहायक हो सकता है। हम आगे चलकर शरत् बाबू और प्रेमचन्द की तुलना ब्यौरे के साथ करेंगे।

शांतिप्रिय द्वारा प्रेमचन्द के उपन्यासों का विभाजन

हमने यह देख लिया कि प्रेमचन्द के चित्र का कैन्वास बहुत विस्तृत है। थोड़े शब्दों में हमने इस विस्तृति के सम्बन्ध में पाठक को एक झलक दिखाने का प्रयत्न किया। हमें यह देखकर आश्चर्य है कि श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रेमचन्द के उपन्यासों को अजीब तरीके से वर्गीकृत करते हैं। पहले उनका क्या वक्तव्य है यह सुन लिया जाय। वे लिखते हैं—

'प्रेमचन्दजी की कृतियों के दो पार्श्व हैं—(१) सामाजिक और (२) राजनैतिक। दोनों पार्श्व जागृति की दिशा में चले हैं। राजनैतिक जागृति से पूर्व जो सामाजिक जागृति आई, हमारे कथा साहित्य में प्रेमचन्द ही उसके प्रथम साहित्यकार हुये। राजनैतिक जागृति के आने पर उसके भी प्रथम साहित्यकार वे ही हुये। सामाजिक जागृति में प्रेमचन्द आर्यसमाज के साथ चले, राजनैतिक जागृति में गान्धीयुग के कांग्रेस के साथ, इस तरह वे उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी, इन दो युगों के कलाकार थे—हाँ, १९वीं सदी के अन्तिम चरण, बीसवीं सदी के द्वितीय चरण के।

'इन दो प्रगतियों के द्योतक उनके उपन्यासों के दो खण्ड इस प्रकार किये जा सकते हैं—

(१) सामाजिक—सेवासदन, वरदान, प्रतिज्ञा, कायाकल्प, निर्मला, गबन।

(२) राष्ट्रीय—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि;...

(३) गोदान प्रेमचन्द के उपन्यासों का तीसरा खंड है, अकेले अपने में ही पूर्ण। वह उनके कला की अन्तिम पूर्णिमा है...।"[१]

सामाजिक और राजनैतिक जीवन अन्तर्प्रविष्ट

शान्तिप्रियजी ने जो इस प्रकार प्रेमचन्दजी के उपन्यासों को सामाजिक और राष्ट्रीय दो भागों में विभाजित किया है, इसके लिए वे दायी नहीं ठहराये जा सकते क्योंकि आमतौर से प्रकाशकों के विज्ञापन में उपन्यासों के विभाजन का यह तरीका काम में आता है। इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यह है कि क्या कथित राष्ट्रीय उपन्यास भी सामाजिक उपन्यास नहीं है? क्या समाज में होनेवाली बातों को हम राष्ट्र या राजनैतिक हलचल से अलग करके कल्पित कर सकते हैं? अवश्य ही नहीं, किन्तु जैसा कि हमने बतलाया, हमारे उपन्यासकारगण कुछ तो जब्ती के डर से कुछ और कारणों से जिनमें कला सम्बन्धी यह विकृत धारणा है कि कला को राजनीति से अलग रहना चाहिये, अपनी रचनाओं में इन दो विभागों को (जो कतई विभाग नहीं हैं) अलग करके चित्रित करते रहे हैं, याने जब इसको लिया तो उसे छोड़ दिया, और उसे लिया तो इसे छोड़ दिया। वास्तविक रूप से हमारा जीवन दूसरे ही तरीके से प्रवाहित तथा प्रभावित हो रहा है। वास्तविक जीवन में इस प्रकार के प्रकोष्ठ नहीं हैं। अछूतों की समस्या को क्या कहा जायगा? राजनैतिक या सामाजिक? अछूतों के मन्दिर प्रवेश आन्दोलन को लिया जाय, मान लीजिये इसके नेता ने कसम खा ली है कि वह राज-

[१] प्र० सा० पृ० २६३+२६१

नीति को चिमटों से भी न स्पर्श करेगा, तो भी जैसा कि हम कर्मभूमि में देखते हैं पुलिस जब मन्दिर के मालिक के बुलाने पर आकर गोली चलायेगी, तो वह नेता या वह आन्दोलन अराजनैतिक कैसे रह पायेगा। ऐसी हालत में अछूतोद्धार आन्दोलन को न तो केवल सामाजिक ही कहा जा सकता है, न केवल राजनैतिक ही। दोनों बातें अन्तर्प्रविष्ट हैं।

क्या कायाकल्प सामाजिक उपन्यास मात्र है!

शान्तिप्रियजी के वर्गीकरण में हम कायाकल्प को सामाजिक उपन्यासों में पाते हैं, यह किस अर्थ में! प्रतिज्ञा, निर्मला, सेवासदन वरदान यहाँ तक कि गबन को भी एक अस्पष्ट अर्थ में सामाजिक उपन्यास कह लिया जाय तो यह समझ में आता है क्योंकि ये उपन्यास शान्तिप्रियजी के दूसरे वर्ग राष्ट्रीय उपन्यास में नहीं आते, किन्तु कायाकल्प क्या उतनी ही हद तक राजनैतिक उपन्यास नहीं है, जितनी हद तक प्रेमाश्रम, रंगभूमि या कर्मभूमि है? कायाकल्प का नायक चक्रधर किसानों को 'भड़काने' के कारण जेल में भेजा जाता है, बाद को अवश्य वह अपने इन कामों से हाथ खींच लेता है, किन्तु फिर भी इस पुस्तक में जिस प्रकार किसान आन्दोलन के खंडचित्र आये हैं, इससे इस पुस्तक को केवल सामाजिक श्रेणी में डालना अनुचित होगा।

वर्गसंघर्ष के आधार पर उपन्यासों के वर्गीकरण का सुझाव

शान्तिप्रियजी ने प्रेमचन्द के उपन्यासों का जो वर्गीकरण किया है, उसके बजाय शायद उन्हें इस प्रकार वर्गीकृत करने से वस्तुस्थिति का अधिक बोध कराया जा सकता है—

(१) वे उपन्यास जिनमें वर्गसंघर्ष बिल्कुल खुलकर दिखलाया गया है—प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि, कायाकल्प और गोदान।

(२) वे उपन्यास जिनमें वर्गसंघर्ष का कोई खुलारूप दृष्टिगोचर नहीं होता—सेवासदन, बरदान, प्रतिज्ञा, निर्मला, गबन।

प्रथम वर्ग के उपन्यासों में अर्थात् उनके उस अंश में जिसमें वर्ग-संघर्ष दिखलाया गया है, भारतीय साहित्य में प्रेमचन्द का कोई प्रति-द्वन्दी नहीं है। स्मरण रहे ऐसा कहते समय हम प्रेमचन्द की मृत्यु सन तक के भारतीय लेखक को गिन रहे हैं। इधर बहुत से भारतीय उप-न्यासकारों ने इस मार्ग में कदम रखा है। द्वितीय वर्ग के उपन्यासों में प्रेमचन्द मामूली भारतीय उपन्यासकारों की श्रेणी में आते हैं, अवश्य इनमें भी वे केवल कहानी के लिए कहानी कहते हुये नहीं ज्ञात होते। इनमें से प्रत्येक उपन्यास में एक न एक सामाजिक समस्या को उठाया गया है और उस पर लेखक ने अपने विचार पेश किये हैं। दूसरे शब्दों में ये सभी उपन्यास समस्यामूलक हैं। जहाँ तक समस्यामूलक उपन्यास लिखने का सम्बन्ध है भारतीय साहित्य में कई ऊँचे दर्जे के उपन्यासकार दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें अवश्य ही रवीन्द्रनाथ और शरत्चन्द्र का नाम प्रमुख है।

राल्फफाक्स की दृष्टि से वर्गीकरण करने पर प्रेमचंद का स्थान

राल्फफाक्स ने विश्व उपन्यास साहित्य में दो तरह के उपन्यासकारों का होना बताया है। दोनों अपनी कला में निपुण हैं, अच्छी कहानी कह लेते हैं, किन्तु दोनों में फिर भी बहुत फर्क है। एक केवल वास्त-विकता के पीछे किसी प्रकार दौड़ते हुये ज्ञात होते हैं, दूसरा वास्तवि-कता को एक स्वरूप देना चाहता है। इन दो नमूनों के आदर्शरूप में राल्फफाक्स ने एक तरफ स्काट और डिकेन्स और दूसरी तरफ बाल-जाक और टालस्टाय को गिनाया है। डिकेन्स के कुछ चरित्र तो बिल्कुल कहावत की तरह हो चुके हैं। वे इंगलैंड के लोगों की आधु-

निक लोक-गाथा के अंग हो चुके हैं, और इसमें सन्देह नहीं कि ऐसा होकर उन्होंने वह उच्चतम पद प्राप्त किया है, जिसकी सब लेखक कामना करते हैं। वे ऐसा अपनी अद्भुत प्रतिभा, मनुष्यता तथा जीवन की कविता के लिए एक भावुकता के कारण कर सके हैं। किन्तु इन सब बातों के होते हुये भी डिकेन्स—जैसा कि उनके किसी भी समसामयिक के विषय में कहा जा सकता है, अपने युग के अलमबरदार नहीं थे। .. वे अपने युग के थे, किन्तु वे अपने युग पर अपना सिक्का कभी नहीं जमा पाये। उनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वे कोई कलाकार नहीं हैं (इसका इस सम्बन्ध में चाहे कुछ भी अर्थ हो) और यह भी कहा गया है कि वे पाठक के लेखक थे, न कि लेखक के लेखक। तो यह लेखक के लिए उतना ही खराब हुआ। यही बात स्काट के सम्बन्ध में कही जाती है जो १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध पर अपनी प्रतिभा से शासन करने वाले बालजाक पर बाहर के सबसे बड़े प्रभाव डालनेवाले थे। टालस्टाय पर भी जो १६-वीं सदी के द्वितीयार्द्ध पर शासन करते हैं, डिकेन्स ही शायद विदेशी प्रभावों में प्रबलतम थे। किन्तु फिर भी क्या बात है कि न तो स्काट बालजाक की मर्यादा तक पहुँच सके, और न डिकेन्स टालस्टाय के कद को प्राप्त कर सके। हम बराबर डिकेन्स और स्काट के चरित्रों में किसी बात का अभाव क्यों पाते हैं? बात यह है कि ये लोग अपने समाज की शराफत के धरातल के नीचे आम मनुष्य की होने-वाली निरन्तर अवनति से गाफिल रहे। वे इस प्रक्रिया को देख नहीं पाये, न वे अपने समसामयिकों अर्थात् अपने युग के वीरतापूर्ण चरित्रों की वास्तविक मर्यादा को देख पाये। मलका विक्टोरिया के युग के ये लेखक विजयशील पूँजीवादीवर्ग के मानदंडों के छिछोरेपन को देख पाये, यहाँ तक कि उसे उधेड़कर रख देने में वे निपुण साबित हुये थे, किन्तु इसके नीचे चलनेवाले मनुष्य की मानसिक

अवनति की गम्भीरतर प्रक्रिया को वे देखने में असमर्थ रहे। वे पूँजीवादी समाज की कदर्यता को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ रहे।[1] प्रेमचन्द और उनके समसामयिक शरत्चन्द्र, टालस्टाय और बालजाक की श्रेणी के हैं, इनमें भी प्रेमचन्द टालस्टाय से अधिक मिलते हैं, और शरत्चन्द बालजाक से अधिक, यद्यपि जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि बालजाक और शरत्चन्द्र में प्रभेद यह है कि बालजाक में समसामयिक वर्गसंघर्ष का पूरा चित्र आ जाता है, किन्तु शरत् बाबू की 'महेश' आदि दो-तीन कहानियों के अतिरिक्त यह दिशा बिल्कुल गायब है; किन्तु यहाँ तो हम प्रेमचन्द के दूसरे वर्ग के उपन्यासों के सम्बन्ध में बातचीत कर रहे थे। सेवासदन, वरदान, निर्मला, गबन तथा प्रतिज्ञा में प्रेमचन्द ने अपने समसामयिक समाज का चित्र बहुत सुन्दरता से खींचा है। इनमें से कुछ की रचना बहुत शिथिल है (स्मरण रहे इनमें से अधिकांश प्रारम्भिक युग में ही लिखे गये थे), फिर भी निर्मला और गबन की रचना बहुत शक्तिशाली है।

'प्रतिज्ञा', 'वरदान' तथा 'गबन' की समस्यामूलकता

प्रतिज्ञा में विधवा-जीवन, विशेषकर गरीब विधवा के जीवन की समस्या का चित्रण है। लेखक अन्त में विधवा को आँधी तूफानों के अन्दर से ले जाकर एक आश्रम में पहुँचा देते हैं। 'वरदान' की समस्या हिन्दू विवाह की जिसमें वर और वधू की राय के बगैर ही शादी होती है, समस्या है। गबन तो मध्यवित्त श्रेणी का एक जीता जागता चित्र है। असल में इस पुस्तक को कहाँ तक समस्यामूलक कहा जा सकता है, इसमें सन्देह है। यह तो मध्यवित्त श्रेणी के झूठ, बेईमानी, ढुलमुलयकीनी साथ ही परम्परा, झूठा, अभिमान आदि के कारण

[1] N. P., p. 49

उसके पतन का चित्र मात्र है, किन्तु फिर भी प्रेमचन्दजी अन्त में ले जाकर इस सजीव चित्र में कुछ ऐसी उलझनें पैदा कर देते हैं जैसे क्या रमानाथ एक साथ दो स्त्रियों के प्रति प्रेमभाव रख सकता है, क्या वेश्या सुधरने पर समाज में ग्रहणीया हो सकती है, इन समस्याओं का हल वे एक आकस्मिक घटना से अर्थात् जोहरा की अपघात मृत्यु से करा देते हैं, और अपने नायक को एक आश्रम में पहुँचा देते हैं। इस प्रकार यह भी उपन्यास समस्यामूलक हो जाता है। किन्तु इस आकस्मिक घटना के कारण समस्या से पलायन ही सूचित होता है। हमारे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस प्रकार अन्तिम चालीस-पचास पृष्ठों में (यह पुस्तक ३५० पृष्ठ की है) यदि इस प्रकार ये समस्यायें उत्पन्न न की जातीं, तो इस उपन्यास का कुछ मूल्य घट जाता। सच बात तो यह है कि रमानाथ के रूप में शिक्षित मध्यवित्तवर्ग के जीवन के जिस इकरसयन, आदर्श की न्यूनता, उद्देश्य हीनता, कायरता, रूढ़ि-दासता तथा अपने और अपने परिवार के पेट पालने के अतिरिक्त किसी अन्य दिलचस्पी न होने का जो चित्रण इस उपन्यास में हुआ है, वह स्वयं ही एक समस्या हो जाती है। यदि इस उपन्यास में जोहरा आदि को समस्यायें न भी आतीं, तो इस उपन्यास को पढ़कर यह धारणा हुये बगैर नहीं रहती कि इस प्रकार का जीवन असहनीय है, व्यर्थ है, कोई माने नहीं रखता है, इसे दूर करो, इसमें आमूल परिवर्तन ला दो, अन्त करो इस झूठ का, इस बेईमानी का, इस उद्देश्यहीनता तथा आदर्शहीनता का। इस उपन्यास के नायक रमानाथ का जीवन जिस रूप में चित्रित है, वह खुद ही एक समस्या है, वह चिल्ला-चिल्लाकर एक समाधान—मूलगत, निष्ठुर से निष्ठुर समाधान की माँग कर रहा है। अन्त में इस पुस्तक में प्रेमचन्द जिन समस्याओं को पैदा कर देते हैं, इसमें सन्देह नहीं वे बहुत बड़ी समस्यायें हैं, और हमें उनका हल चाहिये, किन्तु उन समस्याओं से

बल्कि उपन्यास की जो मूल समस्या है, उससे हमारी दृष्टि कुछ हट-सी जाती है। दुख का विषय है कि किसी भी समालोचक ने गबन की इस मूल समस्या को समझने का कष्ट नहीं उठाया।

निर्मला भारतीय मध्यवर्ग की स्त्री की समस्या

'निर्मला' हमारी राय में प्रेमचन्द के द्वितीय वर्ग के उपन्यासों में सबसे अधिक सुसंगठित कथानकयुक्त है। इसमें जिस प्रकार एक घटना से दूसरी घटना निकलती चली जाती है, वैसा प्रेमचन्द के किसी उपन्यास में दृष्टिगोचर नहीं होता। गबन यदि मध्यवित्त श्रेणी के पुरुष की समस्या है, तो 'निर्मला' में हम भारतीय स्त्री-समस्या को मूर्त पाते हैं। इस उपन्यास को भी समालोचकगण अच्छी तरह समझ नहीं पाये। अवश्य 'गबन' और 'निर्मला' में बहुत घरेलू चीजें हैं, और इनको पढ़ते-पढ़ते हमें न तो देश में चलने वाले महा आन्दोलनों का और न गान्धी नेहरू आदि इस युग के महान् नेताओं का ही स्मरण हो आता है, किन्तु इनमें तो हमें मध्यवित्त श्रेणी के साधारण मानव-मानवी का दर्शन होता है। उनकी सारी कमजोरियाँ (हाय, उनमें शायद ही कोई सहजोरी या शक्ति हो) हमारे सन्मुख आ जाती हैं। 'निर्मला' बेचारी की यह समस्या है कि आर्थिक कारणों से उसका विवाह एक दुआह से होता है, और फिर वह इसी विवाह के तप्तकुंड में तब तक जलती रहती है, जब तक उसकी एक भी पसली रह जाती है। 'निर्मला' कोई खराब स्त्री नहीं है, हमारी मध्यवित्त श्रेणी की स्त्रियाँ खराब नहीं होतीं, किन्तु रूढ़ि, परम्परा, धर्म, कानून, सब उसको जकड़े हुये हैं। वह किसी भी तरह अपनी मुक्ति नहीं कर पातीं। उसमें वह साहस नहीं है जैसा कि हम 'गुड़िया के घर' की नायिका में पाते हैं। इसके लिए हमें प्रेमचन्द को कोसने की आवश्यकता नहीं है। प्रेमचन्द जी ने जिस देश की, जिस श्रेणी की स्त्रियों का चित्रण किया है, उनमें

निर्मला ही वास्तविकता है, नोरा नहीं, फिर बेचारे प्रेमचन्द क्या करते।

लेखक सज्ञानरूप से अपनी रचना में जितना देता है उसमें उससे अधिक हो सकता है।

इस प्रकार जिस भी दृष्टि से देखा जाय, प्रेमचन्द एक आदर्श को लेकर चलते हुये ज्ञात होते हैं। वे स्काट और डिकेन्स की तरह उद्देश्य-हीन रूप या वास्तविकता की सृष्टि नहीं करते, उनकी रूप-सृष्टि में गम्भीर कारण तथा उद्देश्य निहित है। भले ही यह उद्देश्य इन उपन्यासों में सचेतन रूप से न रखे गये हों, इससे क्या ? यह जरूरी नहीं कि एक लेखक या कलाकार अपनी रचना या कला में जानबूझकर जितना रखता है उतना ही रहे, उससे अधिक भी हो सकता है और उससे कम भी। यदि एक उपन्यासकार बिनाश्रम सम्बन्धों को समझे हुये जीवन की वास्तविकता का वर्णन मात्र कर देता है, तो उसने भले ही न चाहा हो, या भले ही न जाना हो किन्तु उस उपन्यास में वे समस्यायें, सम्बन्ध, तथा विचार रहेंगे ही। बालजाक के विषय में हम यह बता चुके हैं कि वैज्ञानिक समाजशास्त्र के प्रवर्तकों को उनकी रचनाओं से समसामयिक समाज के सम्बन्ध में किसी अर्थशास्त्री से भी अधिक तथ्य मालूम हुये थे, ये बालजाक वैज्ञानिक समाजशास्त्र से सम्पूर्णरूप से अपरिचित थे। वे तो केवल विश्वस्तरूप से अपने युग को चित्रित करते गये। इसी प्रकार यदि प्रेमचन्दजी 'निर्मला' गबन आदि पुस्तकों में केवल वास्तविकता का विश्वस्तचित्र खींच गये और हमें उसमें बहुत अन्य बातें मिलती हैं, जो शायद वे स्वयं न सोचते थे, न समझते थे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अवश्य अपने राजनैतिक उपन्यासों में प्रेमचन्द सचेतनरूप से लिखते हुये ज्ञात होते हैं। गोदान में जाकर तो वे बिल्कुल ही सचेतन और आत्मज्ञान सम्पन्न कलाकार हो गये थे, इसमें सन्देह नहीं।

लेनिन की कसौटी पर प्रेमचन्द—गांधीवादी वास्तविकता भी एक वास्तविकता

कौन-सी कला कितनी अच्छी है, अच्छी है या बुरी है। इसके सम्बन्ध में लेनिन की 'पहली कसौटी यह थी कि किस हद तक यह रचना सही तौर पर युग को, सामाजिक शक्तियों की गति को वर्गों के संघर्षों को राजनैतिक भावनाओं को तथा जनता की आशाओं और शङ्काओं को प्रतिफलित करती है। लेनिन सृजनात्मक साहित्य को जनता की सामाजिक क्रियाशीलता की, मनुष्य के बौद्धिक तथा भावमय जीवन की वह उपज समझते हैं जिसमें दृश्यगत वास्तविकता के सब जटिल सम्बंध आ जाते हैं। लेनिन के लिए सृजनात्मक साहित्य जनशिक्षा के एक साधन होने के अतिरिक्त वास्तविकता को जानने का तथा वास्तविक जगत की द्वन्दात्मकता में अन्तर्प्रविष्ट होने का एक गहन साधन है।'[१] लेनिन की इस कसौटी पर कसने पर प्रेमचन्द के उपन्यास अपने युग के उत्कृष्टतम प्रतिफलन सिद्ध होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। अवश्य यह कहना गलत होगा कि प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में सर्वदा वास्तविकता से ही परिचालित हुये हैं। अपने राजनैतिक उपन्यासों में वे जिस वास्तविकता से परिचालित होते हैं, उसे हम कई मानों में वास्तविक वास्तविकता नहीं, बल्कि गांधीवादी वास्तविकता कह सकते हैं। गांधीवादी वास्तविकता इस अर्थ में कि प्रेमचन्दजी ने कई बार चीजों को गान्धीवादी चश्में के अन्दर से देखा है। अवश्य एक सीमा पर पहुँचकर वे इस चश्में को उतार फेंकने के लिए बाध्य हुये, गोदान में हम उस युग का परिचय पाते हैं जब वे अपने इस चश्में को बिल्कुल उतार चुके हैं। फिर भी जैसा कि हम बता चुके हैं कि गांधीवादी या

[१] L. A. L, p. 138

एक विशेष प्रकार की आदर्शवादी सुधारवादीपुटयुक्त वास्तविकता उस युग में बिल्कुल काल्पनिक नहीं थी, इसलिए कथित गांधीवादी वास्तविकता भी एक हद तक वास्तविक वास्तविकता है।

क्या प्रेमचन्द आर्यसमाज के साथ चले ?

हमने श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के लेख से जिस अंश को उद्धृत किया था, उसमें यह जो कहा गया है कि 'प्रेमचन्द सामाजिक जागृति में आर्यसमाज के साथ चले, और राजनैतिक जागृति में गांधीयुग की कांग्रेस के साथ' यह कुछ अजीब है। गांधीयुग के साथ प्रेमचन्द का क्या सम्बन्ध था, और किस प्रकार वे कई मानों में अपने उपन्यासों में गांधीजी से बहुत आगे थे, और गोदान में तो वे गांधीजी को अपने सैकड़ों मील पीछे छोड़ आये हैं, इसका हम स्पष्टीकरण कर चुके; किन्तु यह जो कहा गया है कि प्रेमचन्द सामाजिक जागृति में आर्यसमाज के साथ चले, इसका क्या अर्थ है ? चूँकि प्रेमचन्दजी ने बहुत-सी कुरीतियों पर आक्रमण किया है, इसलिए उन्हें आर्यसमाज के प्रभाव में कहना कहाँ तक उचित होगा। सनातनधर्म की कुरीतियों पर हमला केवल एक आर्यसमाज की विशेषता नहीं है। विगत शताब्दी के कई सम्प्रदायों ने, व्यक्तियों ने तथा संस्थाओं ने इन कुरीतियों पर हमले किये हैं। इस हमले में आर्यसमाज के साथ-साथ ब्राह्म-समाज, प्रार्थना-समाज तथा अन्य अनेक व्यक्तियों तथा अल्पज्ञात संस्थाओं ने भाग लिया है। हिन्दी-साहित्यिकों में भी राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, श्रीनिवासदास, हरिश्चन्द्र आदि बहुत से लेखकों ने सनतान समाज पर १६वीं सदी में ही छिपी या खुली चोटें की थी। इसलिए सनातन धर्म पर चोट करने से ही कोई अनिवार्यरूप से आर्यसमाज के प्रभाव में आकर ही ऐसा कर रहा है, ऐसा कहना उचित न होगा। आर्य-समाज अपने युग में एक प्रगतिशील आन्दोलन था, इसमें सन्देह नहीं,

किन्तु वह अपने युग में चलनेवाले प्रगति-अभिमुखी आन्दोलन का एक अंग मात्र था, उसकी एक उपज मात्र था, न कि उस विराट आन्दोलन का कारण था। आश्चर्य की बात है कि शान्तिप्रियजी को इस क्षेत्र में केवल एक आर्यसमाज ही दृष्टिगोचर हुआ। अवश्य किसी लेखक की रचना से यह कहना सम्भव हो सकता है कि वह विगत शताब्दी और इस शताब्दी के प्रथम चरण में चलने वाले इस प्रगतिमूलक आन्दोलन के किस अंग से विशेषकर प्रभावित था। जैसे रवीन्द्रनाथ के गोरा के विषय में कहा जा सकता है कि वह उपन्यास ब्राह्म-समाज के प्रभाव में और लोगों का तो यहाँ तक कहना है, कि उसी सम्प्रदाय की महिमा के कीर्तन के लिए लिखा गया था। बात यह है, हिन्दू सनातन समाज की रूढ़ियों तथा कुरीतियों पर हमला करने का प्रत्येक संप्रदाय या समाज का एक विशेष तरीका रहा है। आर्यसमाज ने सनातन धर्म पर एक दूसरे तरीके से हमला किया, और ब्राह्म-समाज ने एक दूसरे तरीके से किया। हम इसके ब्यौरे में यहाँ नहीं जायेंगे कि इनके हमले की ये विशेषतायें कौन सी थीं, किन्तु अल्पज्ञ पाठक भी शायद इसे मानने से इन्कार न करेंगे कि इस प्रकार की विशेषतायें इन सम्प्रदायों की विशेषतायें थीं। यदि कोई समालोचक किसी लेखक के सम्बन्ध में यह कहता है कि अमुक लेखक पर अमुक सम्प्रदाय का प्रभाव है या अमुक लेखक सामाजिक जागृति में अमुक सम्प्रदाय के साथ चला, तो उसे यह भी प्रमाणित करना पड़ेगा कि उस सम्प्रदाय में अपनाये हुये दृष्टिकोण से ही लेखक ने चीजों को चित्रित किया। विधवा विवाह, दहेज के विरुद्ध विचार, ढोंग-ढकोसले के विरुद्ध बगावत, धर्म के सरलीकरण के लिए माँग—ये तो इन सब सम्प्रदायों की विशेषतायें थीं, किन्तु आर्यसमाज की इस सम्बन्ध में जो विशेषता थी, वह यह थी कि वेदों के नाम पर धर्म के सरलीकरण की माँग रखी गई, वेदों के ही नाम पर विभिन्न कुरीतियों के विरुद्ध जेहाद बोला गया। आर्य-

समाज हो या ब्राह्म-समाज सभी ने एक हद तक प्रचलित धर्म-पद्धति की समालोचना की, उसके बाद उन्होंने 'हाल्ट' या 'ठहरो' का नारा देकर पहले के धर्म की जगह पर अपने विशेष मार्केवाले धर्म को स्थापित करना चाहा। हम यहाँ पर इस झगड़े में नहीं पड़ेंगे कि ये मार्के सही थे या गलत, और यदि सही थे तो कहाँ तक गलत थे।

हम जब प्रेमचन्द की रचनाओं की ओर दृष्टि दौड़ाते हैं तो हमें कुछ दूसरा ही माजरा दृष्टिगोचर होता है। प्रेमचन्दजी ने प्रचलित धर्म यहाँ तक कि ईश्वर और पुनर्जन्मवाद की समालोचना कर जाते हैं, क्या इनमें कुछ आर्यसमाजीपन है? हमें तो ऐसा नहीं मालूम देता कि कोई भी आर्यसमाजी पुनर्जन्मवाद के सम्बन्ध में वे बातें कहना पसन्द करेगा जो प्रेमचन्दजी कह जाते हैं। अवश्य प्रेमचन्दजी बाँकेबिहारी अथवा महन्तवाद के विरुद्ध जो संग्राम छेड़ते हैं उसमें आर्यसमाज उनका साथ दे सकता है, किन्तु दूसरे उसी प्रकार के सभी समाज इसमें उसी हद तक साथ दे सकते हैं। आर्यसमाज में ईश्वरवाद बहुत कट्टरता के साथ अपनाया गया है, किन्तु हम तो प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य में प्रत्येक जगह ईश्वरवाद के विरुद्ध एक जबरदस्त विद्रोह देखते हैं। प्रेमचन्द ने अछूतों के दुखों पर सहृदय आँसू ढरकाये हैं, एक आर्यसमाजी भी ऐसा करेगा, किन्तु दूसरे समाजवाले भी तो ऐसा करेंगे, फिर यह कोई कैसे कह सकता है कि वे आर्यसमाज के साथ चले। यदि हम भूलते नहीं हैं तो प्रेमचन्द के सारे उपन्यास-साहित्य में न कहीं वेद की तारीफ की गई है, और न स्वामी दयानन्द की। आर्यसमाज का विद्रोह एक आंशिक विद्रोह मात्र था, जब कि प्रेमचन्द का विद्रोह एक जबरदस्त बुद्धिवादी का समग्र विद्रोह है। अवश्य इस विद्रोह में कहीं-कहीं दरारें हैं, किन्तु फिर भी वह विद्रोह एक हद तक जाकर भीरु की तरह घबड़ाकर मार्ग में बैठ नहीं जाता, और अपने लिए नवीन रूढ़ियों तथा कुसंस्कारों की

सृष्टि नहीं करता। बुद्धिवादी प्रेमचन्द की बुद्धि की सर्चलाइट ऊँचे-से-ऊँचे पहाड़ से भी टकराकर लौट नहीं आती, भले ही वह बिल्कुल रान्टजेन रश्मि की तरह प्रत्येक क्षेत्र में पारदर्शी बनकर बिल्कुल सही चित्र न ला सके, किन्तु है वह निर्भीक, इसमें कोई सन्देह नहीं। वह एक व्रत को तोड़कर दूसरे व्रतों की स्थापना नहीं करता। उसकी दृष्टि जीवन की ओर निबद्ध है, न कि किसी प्रागैतिहासिक स्वर्णयुग की ओर—जो शायद कभी था ही नहीं, और जिसका अस्तित्व केवल कुछ लोगों की भीरु कल्पना में ही है। ऐसी अवस्था में प्रेमचन्द को किसी एक सम्प्रदाय के साथ नत्थी करने की चेष्टा करना एक तो उनको छोटा करना है, वे मानवता के जिस सिंहासन पर आसीन हैं, उससे उतारकर एक सम्प्रदाय के वाड़े में बन्द कर देना है, दूसरा बहुत क्षुद्र मानदण्ड से महासागर को नापने की चेष्टा करना है।

ज्यों-ज्यों लिखते गये त्यों-त्यों चेतना बढ़ी—आँद्रे जिद का उदाहरण

प्रेमचन्द ज्यों-ज्यों लिखते गये, त्यों-त्यों वे पहले से निश्चित विचारों, भावुकताओं तथा भावनाओं से अलग होते गये, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक ऐसे कलाकार के लिए जिसने अपनी आँखों को तथ्यों की ओर से बिल्कुल बन्द नहीं कर लिया, उसके लिए यह बिल्कुल स्वाभाविक था। सुप्रसिद्ध फ्रेन्च लेखक आँद्रे जिद पहले बिल्कुल सचेतन नहीं थे, और इस बात से बेखबर थे कि दुनिया में वर्गयुद्ध तथा शोषण भी है। किन्तु जब उन्होंने १६२५ में फ्रेन्च साम्राज्य के अन्तर्गत कांगो की यात्रा की, और वहाँ की दयनीय दशा देखी, यह देखा कि फ्रांस और पेरिस में जीवन कुछ और अर्थ रखता है और कांगो में कांगोवासियों के लिए जीवन कुछ और अर्थ रखता है, जब उन्होंने निर्लज साम्राज्यवादी शोषण को अपनी आँखों से

प्रत्यक्ष किया तो उनकी कला में भी इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी। इस पर स्वाभाविक रूप से समालोचकों ने यह कहा कि कांगो यात्रा के बाद आँद्रे जिद की कला में चेतना आई, किन्तु उत्तर देते हुये जिद ने कहा—'बात ऐसी नहीं है। यदि मैंने जिन दिनों Amyntas (१८९३-९६) लिखा था, उन दिनों के अपने सारे नोटों और यात्रा विवरणियों को उसी प्रकार प्रकाशित कर दूँ जिस प्रकार कि मैंने कांगो यात्रा के सम्बन्ध में सब नोट प्रकाशित कर दिये, उस प्रकार उन नोटों को भी प्रकाशित कर देता, या यों कहिये कि उन दिनों मेरे मन में जो विचार उठ रहे थे, उन सबको प्रकाशित कर देता तो आपको गास्फा नामक स्थान के फास्फेटों को प्राप्त करने के लिए जो शोषण चल रहा था, उसके सम्बन्ध में तथा सर्वोपरि सी……बैंक के द्वारा अरब किसानों का जिस प्रकार शोषण हो रहा था, उसके विषय में मेरे उद्गार ज्ञात होते। मैं इनमें से किसी बात की ओर भी उदासीन नहीं था। किन्तु जो कुछ भी हो यह सब होते हुये भी यह मेरा काम नहीं था। मैं कलाकार के रूप में अपने को पतित समझता यदि मैं इन इतर बातों की सेवा में अपनी लेखनी को अर्पण कर देता। जो लोग इस दिशा में मुझसे अधिक योग्य थे, उन लोगों को इन बातों को उठाना चाहिये था।'[1]

इस प्रकार आँद्रे जिद ने प्रकारान्तर से इस बात को मानने से इन्कार किया कि कांगो यात्रा के बाद उनमें कुछ परिवर्तन हुआ है। यह केवल उनकी जिद थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। राल्फफाक्स ने आँद्रे की इस जिद पर टीका करते हुये सही तौर पर लिखा है कि बाद को ही चलकर वे वास्तविक जगत उसके असलीरूप में देखने में समर्थ हुये, पहले तो वे केवल अपने मन की बनावटी दुनिया को देखते

---

[1] N. P., p. 17

थे। यह किसी कलाकार के लिए न तो शर्म की बात है कि ज्यों-ज्यों वह दुनिया को देखता जाता है त्यों-त्यों उसकी आँखे खुलती जायँ। ज्यूस के मस्तक से मिनर्वा की तरह किसी कलाकार की कला एकदम समग्ररूप में उद्भूत नहीं हो जाती, और यदि किसी कलाकार के विषय में ऐसा ज्ञात होता है कि पहले ही दिन से उसकी कला सर्वाङ्ग सुन्दररूप में भूमिष्ठ हुई, जैसे शरत् बाबू की कला के विषय में कहा जा सकता है, तो स्मरण रहे कि इस सम्बन्ध में कला का प्रकाशन और कला का उत्पादन दो अलग-अलग वस्तुयें तथा घटनायें थीं। शरत् बाबू 'बड़ी दीदी' या 'चरित्रहीन' की बदौलत भले ही एक सुपरिपक्व कलाकार के रूप में हमारे सन्मुख पहले-पहल आते हुये ज्ञात भी हों, तो भी असली बात यह है कि इन प्रथम प्रकाशित रचनाओं के पीछे वर्षों की नीरव साधना थी।

प्रेमचन्द हमारे सन्मुख शरत्चन्द्र की तरह पूर्णावयव होकर सामने नहीं आते। अवश्य उनके प्रथम प्रकाशित उपन्यास "सेवासदन" में ही उनकी व्रतशिकनी स्पष्ट हो चुकी है, और हिन्दीसाहित्य में इस बात की अनुभूति होती है कि उसके गगन में एक नवीन तारका का उदय हो चुका है, किन्तु कहाँ 'गोदान' और कहाँ 'सेवासदन'! दोनों के भाव, भाषा, शैली, चरित्र-सृष्टि, अन्तर्गतवस्तु में आकाश-पाताल का प्रभेद है। शरत् बाबू के प्रथम प्रकाशित उपन्यासों में और अन्तिम उपन्यासों की कला की दृष्टि से इतना प्रभेद ज्ञात नहीं होगा।

प्रेमचन्द, गान्धीवाद और स्वाप्निक समाजवाद

फिर भी जैसा कि हम बता चुके इसमें कोई दोष नहीं है कि उपन्यासकार ज्यों-ज्यों लिखता जाय, त्यों-त्यों उसकी कला निखरती जाय। आँद्रे जिद ने केवल शेखी या जिद के वश अपने परिवर्तन को अस्वीकार किया है। प्रेमचन्द की रचनाओं में हम स्पष्ट रूप से वास्त-

नियमों को जानकर ही तथा उन्हें मानकर ही जो चाहे सो कर्तुमकर्तुमन्यथा॰ शक्य हो सकता है। उसकी स्वतंत्रता यहीं तक है, इसके बाहर नहीं। जो उपन्यासकार जितना ही इन नियमों को अच्छी तरह समझ लेगा, और उन नियमों को मानकर चल सकेगा, वह उपन्यासकार उतना ही उत्कृष्ट तथा सफल कलाकार हो सकेगा।

थैकरे वर्णित चरित्रों की गूढ़ता किस बात में है ?

इस विषय पर अटकलें दौड़ाने की आवश्यकता नहीं है, थैकरे ऐसे महान उपन्यासकार ने चरित्रों की इस शक्ति को जिसके द्वारा वे लेखक को चलाते हैं Occult या गूढ़ बतलाया है। उन्होंने एक बार कहा था कि 'मैं अपने चरित्रों को नियंत्रित नहीं करता, मैं उनके हाथों का कठपुतला बन जाता हूँ, और वे जैसा चाहे मुझे चलाते हैं।' थैकरे ने जिस शक्ति को गूढ़ बतलाया है, उसकी गूढ़ता केवल इस बात में है कि लेखक को उन चरित्रों के नियमों को मानकर तथा उनके प्रति विश्वस्त होकर लिखना पड़ता है। चरित्रों के अपने निजी जीवन ठीक उसी प्रकार से होते हैं जिस प्रकार से सन्तान का अपने पिता-माता से स्वतंत्र जीवन होता है। पिता-माता पुत्र या कन्या के जन्मदाता तथा जन्मदात्री हैं, किन्तु बस इसके बाद सन्तानें अपना-अपना जीवन व्यतीत करती हैं। यही बात प्रेमचन्द के चरित्रों के विषय में कही जा सकती है। अवश्य ही प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों के चरित्रों की सृष्टि की, अवश्य ही उन्होंने आत्म प्रबुद्धता-प्राप्ति के युग तक इन चरित्रों के जरिये से उस समय प्रचलित तथा स्वीकृत गान्धीवादी विचारधारा की विजय दिखानी चाही, यही उनकी द्रष्टृगत इच्छा तथा कामना थी; किन्तु जब उन्होंने चरित्रों की तथा घटना-परम्पराओं की सृष्टि कर दी तो इनका लेखक की कामना से एक स्वतंत्र अस्तित्व हो गया। वे अपनी गति से गतिशील होकर चलने लगे। प्रेमचन्द

उन्हें कहीं ले जाना चाहते थे, और वे यह समझे भी कि जहाँ वे उन्हें ले जाना चाहते हैं, वहीं ले जाने में सफल भी रहे, किन्तु असली बात जो हुई, उसे हम दिखा चुके। जिन उपन्यासों में उन्होंने और उनके समालोचकों ने यह समझा कि उन्होंने गान्धीवाद का जयगान किया, उनमें आमूल परिवर्तन ले आने की सामर्थ्य की दृष्टि से इस मतवाद की विडम्बना भी सिद्ध हो गई। इस शेपोक्त पहलू को लोग समझ नहीं पाये, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। लेखक स्वयं उन दिनों इस मतवाद के कायल थे, इसलिए स्वाभाविक रूप से उपन्यासों के ताने-बाने, कथानक, उसके विकास और परिपति में यह प्रवृत्ति स्पष्ट नहीं हो सकी, और बहुत कुछ लेखक की द्रष्टृगत कामना के पत्थर के बोझे के नीचे दब गई। किन्तु इससे क्या? जरा भी कान लगाकर यदि सुना जाय, तो उस पत्थर के नीचे जो प्रस्रवण अन्तर्धारा के रूप में प्रवाहित हो रहा है, उसका पता लग जाता है। फिर हम इस बात को एक बार कह दें कि गोदान के पहले के युग के उपन्यासों में भी आमूल परिवर्तन लाने की दृष्टि से गान्धीवाद की व्यर्थता ही दीख पड़ती है, आपात-दृष्टि से उन उपन्यासों में गान्धीवाद की जो विजय दिखलाई पड़ती है, वह भ्रम मात्र है अर्थात् वह केवल ऊपरीरूप है। आखिर ऐसा क्यों हुआ कि लेखक के चाहने के बावजूद उपन्यासों से इस प्रकार का परिणाम निकलता है, इस पर हम दिखला चुके कि वस्तुवाद के कारण ही ऐसा हुआ।

अवस्तुवादी चरित्र से भी वस्तुवादी नतीजा

इसीके साथ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या प्रेमचन्द सर्वत्र वस्तुवाद के प्रति सच्चे रहे? इसका उत्तर ना में है। वे सर्वत्र वस्तुवाद के प्रति सच्चे न रह सके। हम यह दिखला चुके कि किस प्रकार उन्होंने प्रेमाश्रम में मायाशंकर की तरह एक अवास्तविक

चरित्र का सृजन किया है। ऐसा उन्होंने अपने प्रिय विचारों की महिमा तथा व्यावहारिकता दिखलाने के लिए ही किया है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इसका भी जो नतीजा हुआ, वह बहुत वस्तुवादी हुआ, और लेखक के अपनाये हुये विचारों के विरुद्ध ही पड़ा। दूसरे शब्दों में वस्तुवाद के प्रति सच्चा न रहते हुये भी वे वस्तुवाद के प्रति सच्चे होने के लिए मजबूर हुये। वह यों कि दिखाने को तो उन्होंने दिखा दिया कि मायाशङ्कर नामक नौजवान ताल्लुकेदार ने भावुकता के आवेश में आकर अपनी सारी जायदाद किसानों को बाट दिया, इस प्रकार किसान समस्या एक बड़ी हद तक हल हो गई; किन्तु चूँकि मायाशङ्कर ऐसा चरित्र अस्वाभाविक है, इसलिए उसकी सृष्टि से जो प्रभाव डालना अभीष्ट था, वह न पड़ सका। पढ़ने वाले के ऊपर यही प्रभाव पड़ेगा कि मान लिया इस क्षेत्र में सौभाग्य से एक ऐसा जमीन्दार मिल गया, जिसने स्वेच्छा पूर्वक अपने शोषणाधिकार को त्याग दिया, और इस प्रकार सारी समस्यायें हल हो गईं, किन्तु जहाँ ऐसे जमीन्दार न मिले जो इस प्रकार आदर्शवाद में आकर अपना सर्वस्व स्वाहा करने को तैयार हों—और प्रेमचन्द ने ही दिखलाया है कि कांग्रेसी जमीन्दार जहाँ तक किसानों के शोषण का सम्बन्ध है, दूसरे जमीन्दारों मे कुछ अच्छे नहीं होते, उन लाख में ९९९९९ क्षेत्रों में क्या हल है? अवश्य ही प्रेमाश्रम के लेखक के निकट इसका कोई उत्तर नहीं है, न इसका कोई उत्तर उस विचारधारा के पास है, जो इस रंगीन आशा का पोषण करती है कि जो भक्षक है वे ही रक्षक और ट्रस्टी होंगे। इसलिए मायाशङ्कर के रूप में एक अस्वाभाविक, जीवन से सम्बन्ध-विहीन, अव्यावहारिक इसलिए उलजलूल चरित्र सृष्टि का क्या नतीजा हुआ? क्या इससे उन ९९९९९ क्षेत्रों के लिए कोई हल प्राप्त हुआ? नहीं। फिर क्या इस आदर्श चरित्र की सृष्टि कर इस विचारधारा की निन्दा की गई, या प्रशंसा? मायाशङ्कर चरित्र केवल गान्धी।

हम यह तो पहले ही दिखला चुके हैं कि चक्रधर, अमरकान्त आदि गान्धीवादी चरित्रों की सृष्टि से क्या नतीजे निकले। उनका भी वही नतीजा निकला जो मायाशङ्कर चरित्र की सृष्टि से निकला। इस सम्बन्ध में एक बात और भी सोचने की है। वह यह कि यह जो चक्रधर, अमरकान्त, प्रेमशङ्कर आदि चरित्र के प्रति हमारे मन में कोई श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, इनकी जो इस रूप में सृष्टि की गई है कि इनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, क्या इसमें भी कुछ राज़ है ? प्रेमचन्द-जी ने जानबूझकर गान्धीवाद के प्रतिनिधि स्वरूप इन चरित्रों को इस रूप में सृष्टि नहीं की, जिससे उन पर कतई श्रद्धा नहीं होती, यह तो सही है, किन्तु वे ऐसे हो गये, यह बहुत ही ध्यानयोग्य बात है। ये व्यक्ति या चरित्र पेटी बुर्जुआवर्ग के अवगुणों विशेषकर ढुलमुल-यकीनी के शिकार ज्ञात होते हैं। इन चरित्रों को इस रूप में सृष्टि करना अनिवार्य था क्योंकि इस वर्ग के सुधारवादी मनोवृत्तियुक्त कमो-वेश रीढ़हीन बुद्धिवादियों का चरित्र ऐसा ही होता है। इस पहलू पर विचार करने पर भी हम उसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि वस्तुवाद कलाकार से बहुत कुछ ऐसा करा लेता है जिसके सम्बन्ध में लेखक को या कलाकार को पता भी नहीं होता।

कायाकल्प का एक हिस्सा प्रगति विरोधी और कला की दृष्टि से दरिद्र

हमने जैसा लिखा उससे यह ज्ञात होगा कि प्रेमचन्द का वस्तुवाद भी वस्तुवादी परिणामोत्पादक हुआ, किन्तु ऐसा उनके सभी अवस्तुवादी चरित्रों के क्षेत्र के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता, उदाहरणार्थ कायाकल्प में उन्होंने परलोक आदि के सम्बन्ध में जो चरित्र निर्माण किये हैं, वे इतने अवस्तुवादी तथा मिथ्या हैं कि वर्णन नहीं किया

जा सकता। उन चरित्रों तथा घटनाओं से हम किसी भी नतीजे पर नहीं पहुँचते। सच बात तो यह है कि कायाकल्प के ये हिस्से उनके साहित्य पर एक कलंक के समान हैं। न मालूम किस प्रतिक्रियावादी प्रभाव में आकर उन्होंने इस प्रकार के चरित्रों तथा घटनाओं की सृष्टि की थी। उन्होंने अपने समस्त उपन्यासों में यहाँ तक कि स्वयं कायाकल्प में अन्यत्र जिस धर्मविरोधी विचारधारा को अपना कर लिखा है, उसको देखते हुये कायाकल्प की उलजलूल बातें प्रक्षिप्त-सी ज्ञात होती हैं। कर्मभूमि में पुनर्जन्म की जो यह व्याख्या की गई है कि पुनर्जन्म की धारणा गरीबों की विद्रोह-भावना को दबा रखने के लिए है, उसे तथा रंगभूमि के सूरदास के उस वचन से कि 'मेरे पूर्वजन्म की कमाई ही ऐसी थी। जैसे कर्म किये हैं वैसे फल भोग रहा हूँ, यह सब भगवान की लीला है' उसका जो समर्थन होता है कि पुनर्जन्म मनुष्य को बुरी-बुरी-सी परिस्थिति के साथ सन्धि करने के लिए उकसाती है—इनका यदि यह कह कर टाल दें कि ये बातें तो पात्रों की हैं, पात्र अपनी बातचीत में न मालूम क्या-क्या बातें कर जाते हैं, उन सबको लेखक के मत्थे थोपना गलत है; तो भी हमारे पास इससे भी अच्छा सबूत है कि प्रेमचन्द इस सम्बन्ध में क्या सोचते थे। उन्होंने रंगभूमि में किसी पात्र के मुँह से नहीं, बल्कि यों ही मन्तव्य किया है कि 'धर्म का स्तम्भ भय है। अनिष्ट की शंका को दूर कर दीजिये, फिर तीर्थयात्रा, पूजापाठ, स्नान-ध्यान, रोजा-नमाज, किसी का निशान भी न रहेगा। मसजिदें खाली नजर आयेंगी, और मन्दिर वीरान।' कहाँ ये बातें (ऐसे बीसियों उदाहरण दिये जा सकते हैं), और कहाँ पोंगापन्थी को आत्म-समर्पण कर बिलकुल लोक-परलोक की बातें लिखने बैठना। इस भयंकर त्रुटि के बावजूद और यह त्रुटि केवल विचार सम्बन्धी नहीं है, बल्कि यह त्रुटि प्रेमचन्द की कला को भी निकृष्ट दर्जे की कर देती है, इस पुस्तक के संस्करण पर संस्करण हुये

हैं, इसमें हमें आश्चर्य नहीं। एक तो कायाकल्प में इस न्यूनता के बावजूद उसमें समसामयिक समाज के संघर्षों आदि का अच्छा चित्र मिलता है, दूसरा इस प्रकार के विचारवाले लोगों की अभी भारतवर्ष में ही क्यों दुनिया में कमी नहीं है, फिर इस पुस्तक की कदर क्यों न होती। समालोचक के लिए धृष्टता है कि वह किसी लेखक को यह सुझाव दे कि वह अपनी अमुक रचना को दबा दे, किन्तु फिर भी प्रेमचन्दजी की ख्याति के लिए यह अधिक अच्छा होता यदि इस उपन्यास को दबा दिया जाता। बड़े-बड़े आत्म-प्रबुद्ध लेखक अक्सर अपनी अपरिपक्व रचनाओं को दबा देते हैं, इसलिए यह कोई अनहोनी बात नहीं है। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने अपनी कुछ प्रकाशित तथा कुछ अप्रकाशित रचनाओं को बहुत दिनों तक दबा रखा, याने ऐसी प्रकाशित रचनाओं को भी फिर से प्रकाशित नहीं होने दिया। बाद को जब लोगों ने बहुत जिद्द की और यह कहा कि कविवर ! आपकी रचना की विकासधारा को समझने के लिए इन रचनाओं को प्रकाशित करना आवश्यक है तो उन्होंने बहुत अनिच्छा से लोगों के अनुरोध को मान लिया। सन्देह नहीं कायाकल्प का वर्णित हिस्सा बहुत ही प्रतिक्रियावादी है, और वह प्रेमचन्द की कला पर एक बोझ के रूप में है। श्री गंगाप्रसाद पांडे को भी कायाकल्प बहुत खटका है। वे लिखते हैं कि 'कायाकल्प में ऐसे अन्धविश्वासों की ऐसी अनर्थक बहुलता है कि इसका मूल्य केवल आध्यात्मिक जगत की वस्तु बनकर आकाश में उतराता रहता है।' वे कुछ और आगे जाकर यह कहते हैं कि 'वास्तविक जीवन के कटु अनुभव के बाद इसे मानसिक जगत का विश्रामस्थल कहना ही ठीक होगा।' चाहे वास्तविक जीवन के कटु अनुभवों से या अन्य किसी कारण से प्रेमचन्द ने कायाकल्प की रचना की हो, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें वे प्रचलित कुसंस्कारों के शिकार ज्ञात होते हैं।

उपन्यास रचना में मनोविज्ञान का स्थान

उपन्यास रचना में कोई लेखक कितना सफल रहा है, इसका विचार करते समय यह भी देखना बहुत जरूरी हो जाता है कि लेखक ने कहाँ तक व्यक्तियों तथा घटनाओं को मनोविज्ञान के साँचों में (साँचों में इसलिए कहा गया कि साँचे वाकई सैकड़ों हैं, एक नहीं) सफलतापूर्वक ढाला है। मनोविज्ञान कोई 'हौआ' नहीं है। मनोविज्ञान मनुष्य के मन के उन नियमों का संग्रह है जो वास्तविक रूप से कार्यशील दृष्टिगोचर होते हैं। ये नियम स्वाभाविकरूप से बहुत विस्तृत हैं, और इसलिए आश्चर्य नहीं है कि इन नियमों की छानबीन करने के लिए एक विस्तृत विज्ञान खड़ा हो गया है। फ्रायड, ऐडलर, यूंग तथा उनके शिष्यों और उपशिष्यों ने इस विज्ञान में चार चाँद लगा दिये हैं। तरह-तरह के प्रयोग किये गये, आँकड़े इकट्ठे किये गये, प्रतिक्रिया देखी गई, पागलों, अपराधियों, शिशुओं का अध्ययन किया गया; इस प्रकार तथ्यों का एक विराट स्तूप एकत्र हो गया। फिर भी इन विद्वानों के सारे परिश्रमों की जड़ में ही एक त्रुटि थी, वह त्रुटि यह थी कि इन लोगों ने एक तो मनुष्य को व्यक्ति के रूप में अध्ययन किया, समाजस्थ व्यक्ति के रूप में नहीं। नतीजा यह हुआ कि गम्भीर पांडित्य के अधिकारी तथा लाखों तथ्यों के ज्ञाता होते हुए भी इनके विज्ञान में भयङ्कर एक देशीयता आ गई। दूसरा ये इस बात को भी नहीं समझ पाये कि मनोविज्ञान एक निरन्तर परिवर्तनशील विज्ञान है क्योंकि मनुष्य स्वयं परिवर्तनशील है।

आधुनिक मनोविज्ञान की जो द्वितीय त्रुटि है, उससे हमें इस अवसर पर कोई मतलब नहीं है, क्योंकि उपन्यासकार या नाटककार का एक ही युग के मनोविज्ञान से साबका पड़ता है, इसलिए यदि कोई उपन्यासकार इस बात से सम्पूर्ण अनभिज्ञ भी हो कि प्रत्येक युग में मनुष्य की भावुकतायें बिल्कुल बदल गईं, तो भी इससे कुछ आता-

जाता नहीं है। उपन्यासकार तो अपने उपन्यास में सौ-पचास वर्ष की घटनाओं को लेकर चलता है, इसलिए उसमें मनोवृत्तियों की परिवर्तन-शीलता की स्वीकृति आवश्यक नहीं है। जिन दिनों यौथ-समाज प्रचलित था, उन दिनों आज हम जिन भावों को ईर्ष्या तथा प्रेम अर्थात् एक के लिए अत्यधिक पक्षपात प्रचलित नहीं था। जिसे हम अपत्य-स्नेह कहते हैं, वह भी यौथ-समाज में इस रूप में नहीं था जिस रूप में आज हम उसे देखते हैं, क्योंकि उस युग में वैयक्तिक अपत्य तो होते ही नहीं थे। फिर भी यह स्मरण रहे कि यौथ-समाज और वर्गसमाज की भावनाओं और भावुकताओं में जितना युगान्तकारी प्रभेद देखने में आता है, सौ-पचास वर्ष में उतना प्रभेद तथा उस प्रकार के क्रान्तिकारी प्रभेद सम्भव न होने पर भी बराबर हमारी मनोवृत्तियों में पुश्तदरपुश्त छोटे परिवर्तन होते रहते हैं, इसमें सन्देह नहीं। जिन लोगों ने गैल्सवार्दी का 'फारसाइटसागा' पढ़ा है या पर्लबक का 'मिट्टी का मकान' पढ़ा है, वे जानते हैं कि इन कलाकारों ने किस प्रकार यह दिखलाया है कि प्रत्येक पुश्त की मनोवृत्ति तथा भावनायें बदल गई हैं, और वे दुनिया को एक दूसरी ही दृष्टि से देखते हैं।

दो पुश्तों के मनोविज्ञान में प्रभेद का चित्रण

मनोविज्ञान की जो पहली त्रुटि है उससे हमें विशेषकर यहाँ सम्बन्ध है क्योंकि प्रेमचन्दजी ने जितने भी उपन्यास लिखे हैं उनमें अधिक से अधिक दो पुश्तों का चित्रण है जैसा कि सब उपन्यासों में होता है, फिर भी इन दो पुश्तों में भी दृष्टिकोण बदलने की बात एक महत्वपूर्ण विषय है। प्रेमाश्रम के मनोहर और बलराज में तथा गोदान के होरी और गोबर, रंगभूमि के जनसेवक और उसके पुत्र प्रभु सेवक, मिसेज सेवक और उसकी पुत्री सोफिया में दृष्टिकोण का भेद स्पष्ट रूप से दृष्टि-

गोचर होता है। इनके दृष्टिकोणों में जो प्रभेद हैं, वह केवल दो व्यक्तियों के दृष्टिकोणों का प्रभेद नहीं है, बल्कि पिछली और वर्तमान पुश्त के दृष्टिकोण का भेद है, यह बिलकुल साफ हो जाता है। मनोहर कायर नहीं है, किन्तु वह सब अत्याचारों को सहने का आदी है। वह जिस समाज-पद्धति में पैदा हुआ है उसे बहुत कुछ स्वाभाविक समझता है, और यही समझकर चलता है, किन्तु बलराज पग-पग पर प्रचलित पद्धति से लोहा लेने पर तैयार हो जाता है। होरी और गोबर में भी यही भेद है। होरी प्रचलित सदाचार को मानकर चलता है, चाहे ऐसा करने में उसका अंजर-पंजर ढीला हो जाय, वह कहीं का न रहे, उसे भीख माँगने की नौबत आवे, किन्तु गोबर में ऐसी बात नहीं है। किसानों की नई पुश्त पहिली पुश्त के मुकाबिले में अक्खड़, निर्भीक तथा समाज को परिवर्तनीय समझने का आदी है अर्थात् क्रान्तिकारी है। इसके विपरीत हम 'गबन' में यह देखते हैं कि पेटी बुर्जुआ या निम्न-मध्यम श्रेणी की नई पुश्त का प्रतिनिधि रमानाथ अपने पिता दयानाथ के बनिस्बत आत्म-विश्वासहीन कमजोर तथा अधिक पतित है। निम्नमध्यवित्तवर्ग की आर्थिक हालत बिगड़ना ही इस पतन का कारण है। किसानों के क्षेत्र में भी बराबर गरीबी बढ़ती चली जा रही है; वे भी प्रकारान्तर से निम्नमध्यमवित्त श्रेणी के हैं, किन्तु बिगड़ा हुआ किसान सर्वहारा वर्ग की ओर जा रहा है जब कि बिगड़ा हुआ बाबू बेइमानियों से अपने बाबूपन को कायम रखने की कोशिश कर रहा है, इसलिए एक वर्ग के होते हुये भी तथा एक तरह से क्रमशः दरिद्रतर होते जाते हुये भी एक तो क्रान्तिकारी होता जाता है, और दूसरा और भी प्रति-क्रियावादी हो रहा है

रंगभूमि में एक तरफ जान सेवक के विचारों तथा उसके पुत्र प्रभुसेवक के विचारों में तथा दूसरी तरफ मिसेज सेवक और सोफिया के विचारों में जो फर्क है, वह केवल व्यक्तिगत विचारभेद मात्र

नहीं है, बल्कि इस प्रकार दो पुश्तों में विचार का पार्थक्य चित्रित किया गया है। जान सेवक धर्म को केवल व्यवसाय का एक साधन मात्र समझता है, और उसी दृष्टि से गिरजे में जाता है। असल में उसमें कोई भी विश्वास नहीं है। इस क्षेत्र में हमें और भी एक सुविधा यह प्राप्त है कि हमें एक तरफ जानसेवक के पिता ईश्वरसेवक के विचार ज्ञात हैं, दूसरी तरफ उसके पुत्र प्रभुसेवक के विचार भी ज्ञात हैं। इन तीनों पुश्तों में विचारों का प्रार्थक्य है। ईश्वर सेवक सच-मुच ईसामसीह में तथा धर्म में विश्वास करता है। किन्तु आचरण में वह एक नम्बर का काइयाँ है। इसके विपरीत जानसेवक यह समझ चुका है कि धर्म कुछ नहीं है, वह जैसा कि बताया गया धर्म को इस दृष्टि से देखता है कि इसे न मानने पर बाजार में साख घटती है। प्रभुसेवक में बात और बदल चुकी है। वह प्रचलित धर्म में विश्वास नहीं करता, किन्तु समझता है कि एक आदर्श धर्म हो सकता है।

इसी प्रकार श्रीमती सेवक और उनकी पुत्री में फर्क है। श्रीमती सेवक ईश्वरसेवक की श्रेणी में आती हैं। वह धर्म के हर एक पहलू पर विश्वास करती है, किन्तु उसका आचरण प्रत्येक अवसर पर अत्यन्त नीचतापूर्ण होता है। वह अपने पति की तरह जानबूझकर बेईमानी नहीं करती, किन्तु इससे क्या, असल में उसके रोजमर्रे का आचरण पति से कहीं खराब है। उसकी पुत्री सोफिया प्रभुसेवक की श्रेणी में है, केवल फर्क इतना है कि वह अपने नये विचारों के लिए उतनी ही असहिष्णु है, जितनी उसकी माँ पुराने विचार के लिए असहिष्णु है।

किसी उपन्यास के मनोविज्ञान की दृष्टि से समालोचना करते हुये लेखक ने विभिन्न पुश्तों की परिवर्तनशील धारणाओं को कहाँ तक चित्रित किया है, इस पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। दुख है कि प्रेमचन्द के किसी भी समालोचक ने इस पहलू पर दृष्टि ही नहीं डाली है।

आधुनिक मनोविज्ञान की त्रुटि पर राल्फफाक्स

मनोविज्ञान की जिस अन्य त्रुटि की ओर हमने इशारा किया है उसके सम्बन्ध में राल्फफाक्स का यह कहना है 'निस्सन्देह आधुनिक मनोविज्ञान ने मानवीय चरित्र पर विशेषकर मनुष्य के उस गंभीरतर मग्नमन सम्बन्धी उपादानों पर जिन पर उपन्यासकार को ध्यान देना ही पड़ता है महत्वपूर्ण तथ्य एकत्र किया। फिर भी एक मुहूर्त के लिए भी इसका अर्थ यह नहीं है कि इन मनोवैज्ञानिक तथ्यों से सभी मानवीय क्रियाओं, विचारों या भावनाओं की व्याख्या हो सकती है। फ्रायड, हवलाकइलस या पावलाफ की सारी रचनाओं के बावजूद इस बात की आवश्यकता नहीं है कि उपन्यासकार अपना सब काम इन मनोवैज्ञानिकों के हवाले कर दे। निश्चय ही मार्क्सवाद मानवीय मन में जो विचार उठते हैं, तथा जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनकी प्रक्रिया को एडियस जटिलता या मनोविश्लेषण शास्त्र की सैकड़ों जटिलताओं की तरह द्रष्टुगत कारणों से व्याख्या किये जाने का विरोध करता है। फिल्डिंग ने जैसा कहा है उस प्रकार से वैयक्तिक 'क्रान्तियों' में मनुष्य की तस्वीर नहीं खींची जा सकती है, और जिस प्रकार से फ्रायड ने मानसिक जीवन का विशुद्ध जीववैज्ञानिक चित्र खींचना चाहा है या पावलाफ ने तथा अन्य परिवर्तनवादियों ने (Reflexologists) विशुद्ध रूप से यांत्रिक चित्र खींना है, उनसे मनुष्य के व्यक्तित्व के अन्दर पैठकर काल्पनिक रूप से फिर उस व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण नहीं किया जा सकता। अवश्य ही आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान भण्डार में बहुत वृद्धि की है, और वह उपन्यासकार जो आज इन मनोवैज्ञानिक रचनाओं की अवज्ञा करेगा, वह अज्ञ होने के साथ ही साथ मूर्ख भी प्रतिपन्न होगा, किन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ये मनोवैज्ञानिक मनुष्य को एक समग्र के रूप में, एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में

देखने में असफल रहे हैं। इन विद्वानों ने जीवन पर उस मिथ्या दृष्टिकोण के लिए आधार का सृजन किया है जो प्रूस्ट और जायस में जाकर मानवीय व्यक्तित्व को फाड़कर रखने का कारण स्वरूप होता है, न कि उसके निर्माण का कारण स्वरूप। मनोविश्लेषण ने व्यक्तित्व की गुप्त गहराइयों में बहुत प्रतिभाशाली तथा साहसपूर्ण तरीके से गोता अवश्य लगाया है, किन्तु यह इस बात को समझने में असमर्थ रहा है कि मनुष्य समाज-शरीर का एक हिस्सा मात्र है और इस समग्र शरीर के नियम वैयक्तिक मन के जरिये से उसी प्रकार से विभक्त तथा परिवर्तित होकर के जिस प्रकार से आलोक की किरणें प्रिज्म के जरिये से होती हुई जाती हैं, प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति को नियंत्रित करती हैं। मनुष्य आज दृश्यगतरूप से मौजूद उन बाहरी भयानकताओं के साथ (जो हमारी समाज-पद्धति के बैठ जाने के साथ सम्बद्ध है), फासिस्टवाद के विरुद्ध, युद्ध, बेकारी, कृषी के ह्रास तथा यंत्र के प्रभुत्व के विरुद्ध लड़ने के लिए मजबूर हैं, किन्तु साथ ही साथ वह इस बात के लिए मजबूर है कि इन सब चीजों से अपने मन में उठनेवाले प्रतिफलनों के साथ युद्ध करे। उसे जगत को परिवर्तित करने के लिए, सभ्यता की रक्षा के लिए लड़ना पड़ता है, साथ ही उसे मानवीय मन में पूँजीवाद के द्वारा फैलाये हुये अराजकवाद के विरुद्ध भी लड़ना पड़ता है।

इस द्वैत संग्राम में जिसमें एक हिस्सा बारी-बारी से दूसरे हिस्से पर प्रभाव डालता है, द्रष्टृगत और दृश्यगत वस्तुवाद के बीच जो कृत्रिम प्रभेद है वह दूर हो जायेगा। अब हम उस पुराने प्रकृतिवादी वस्तुवाद के कायल नहीं रहेंगे, अब उपन्यास अर्थहीन विश्लेषण और अन्तर्दृष्टि की वस्तु न होगी बल्कि अब एक नये वस्तुवाद की सृष्टि होगी जिसमें दोनों का सही सम्बन्ध होगा।"[1]

---

[1] N. P., p. 86-7

प्रेमचन्द के मनोविज्ञान पर इलाचन्द्र के मन्तव्य

हमने इस सम्बन्ध में जरा दीर्घ अवतरण इसलिए दिया कि हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में फायड आदि की रचनाओं को पढ़कर कुछ लोग बिल्कुल उद्भ्रान्त हुये से ज्ञात होते हैं। राल्फ फाक्स ने यह जो बतलाया है कि मनोविश्लेषण विज्ञान के प्रभाव में आकर कुछ उपन्यासकार बहककर केवल द्रष्टृगत भावनाओं से जगत के परिवर्तनों को अर्थात् घटनाओं को होते हुये दिखलाने के लिए चेष्टित हैं, उनकी कला दूषणीय है, तथा मनुष्य को समाज-शरीर के अंग के रूप में, समाज में चलनेवाले संघर्ष तथा संग्राम के द्वारा प्रभावित साथ ही उस पर प्रभाव डालनेवाले के रूप में दिखलाना ही उपन्यासकार का कर्त्तव्य है, यह विशेष ध्यानयोग्य है। प्रेमचन्द को जब हम इस दृष्टि से देखते हैं कि कहाँ तक उन्होंने व्यक्ति को समाज के अंग के रूप में दिखलाया है, तो हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि वे बहुत सफल कलाकार रहे हैं। आश्चर्य है कि इसी गुण के कारण मनोवैज्ञानिक समालोचना के अपने को सूत्रधार समझनेवाले श्री इलाचन्द जोशी प्रेमचन्द पर बरस पड़ते हैं। वे लिखते हैं—

"प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में मनोविज्ञान को किंचित् प्रश्रय देने का प्रयास अवश्य किया, पर अव्यक्त में जिस स्तर के मनोविज्ञान को वह प्रश्रय देना चाहते थे, वह यों भी अत्यन्त छिछला और केवल ऊपरी सतह को छूनेवाला था, तिस पर वह ऊपरी सतह के मनोविज्ञान को भी ठीक से अपना नहीं पाये। इसका कारण स्पष्ट था। वह मानव जगत के बाह्य संघर्षों से इस कदर प्रभावित थे, और उनके विवेचन में इस हद तक उलझे हुये थे कि अन्त संघर्षों की ओर ध्यान देने का अवकाश ही उन्हें नहीं था। उनके समस्त उपन्यासों में अधिकतर बाह्य जीवन के आघात-प्रघातों के ही चित्रण मिलते हैं—अन्तर्प्रवृत्तियों के आधार से रहित। यही कारण है कि जिस उन्नत मिशन को लेकर

वह चले थे, उसे वास्तविक अर्थ में पूरा करने में वे एकदम असफल रहे क्योंकि उसी बाह्य जीवन चक्र का चित्रण सच्ची सफलता प्राप्त कर सकता है जो अन्तर्जीवन चक्र पर आधारित है। उसी प्रकार अन्तर्जीवन प्रकृति की वही प्रगति श्रेयोन्मुख हो सकती है जो बाह्य जीवन की प्रकृति से निश्चित सम्बन्ध स्थापित किये हुये हो। जो भी लेखक इन दोनों में से किसी एक को अपनाकर दूसरे की अवज्ञा करेगा, उसकी एकांगीयता निराधार और निरर्थक सिद्ध होगी। प्रेमचन्दजी ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में चाहे कैसी ही सफलता क्यों न पाई हो, और किसानों और जमीन्दारों का संघर्ष चाहे कैसी ही तीव्रता के साथ अपनी रचनाओं में प्रदर्शित क्यों न किया हो, इस ध्रुव निश्चित और सुस्पष्ट सत्य को उसके सैकड़ों बल्कि हजारों स्वपक्षी आलोचक भी दबा नहीं सकते कि औपन्यासिक कला के चमत्कार प्रदर्शन में और जीवन के किसी भी मार्मिक सत्य के उद्घाटन में वे पूर्णतया असफल रहे। हिन्दी में उनके समय तक उपन्यास साहित्य प्रायः शून्य होने के कारण उन्होंने बहुत बड़े अंश तक उसकी पूर्ति की, इसका श्रेय उनको है, और इसके लिए वे आदरणीय हैं, रहे हैं और रहेंगे। पर आज भी जबकि हिन्दी का उपन्यास साहित्य लम्बी छलाँगें भरकर बहुत आगे बढ़ चुका है, यदि हम लोग कुछ व्यस्त स्वार्थवाली गुटों तथा व्यक्तियों का अनुकरण करते हुये उन्हें महान् कलाकार तथा उपन्यास-सम्राट् के विशेषणों से विभूषित करते हुये उनमें उन गुणों का आरोप करते चले जायँ, जो उनमें नहीं थे, तो निकट भविष्य में यह मूर्खता वैसी ही हास्यास्पद सिद्ध होगी जैसी द्विवेदी-युग के उन आलोचकों की नासमझी छायावादी युग में सबसे आगे उपहास योग्य प्रमाणित हो गई जिन्होंने गुप्तजी की 'भारत-भारती' को काव्य कला की अत्यन्त महान् कृति घोषित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी।[1]

---

[1] साहित्य सन्देश अक्टूबर १९४४

इलाचन्द्र के मन्तव्य अर्थहीन

जोशीजी ने यह तो मान ही लिया कि प्रेमचन्दजी ने जिस प्रकार उपन्यास रचना की है, उसमें व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध बहुत अच्छी तरह आ गया है। अतएव यह स्पष्ट है कि पुस्ट और जायस पर जो दोष राल्फफाक्स ने लागू किये हैं, वे उन पर लागू नहीं हो सकते। रहा जोशीजी ने नये मनोविज्ञान के मद में यह जो कह डाला कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में मनोविज्ञान से कोई वास्ता नहीं रखा गया है, यह बिल्कुल निराधार है। जोशीजी ने यह कहा है कि जो लोग 'प्रेमचन्दजी को महानकार सिद्ध करने पर तुले हैं, और उनकी आड़ में उन नये उपन्यासकारों की निन्दा और उपहास करना अपना परम कर्त्तव्य समझ बैठे हैं जिन्होंने प्रेमचन्दजी की तरह अन्तर्जीवन की प्रगति और मनोवैज्ञानिक सत्यों की उपेक्षा नहीं की है,' इसके उत्तर में यह भी तो कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द को मामूली कलाकार सिद्ध करने की आड़ में जोशीजी इस बात के लिए चेष्टित हैं कि कुछ नये उपन्यासकारों को अधिक महत्व दिया जाय। हम यह नहीं कहते कि प्रेमचन्द मनोविज्ञान के नियमों को अपने उपन्यासों में सम्पूर्ण रूप से सर्वत्र निभा पाये हैं, बल्कि हमारा तो यह कहना है कि इसी क्षेत्र में वे सबसे अधिक कमजोर पड़ते हैं, किन्तु ऐसा मानना दूसरी बात है और यह कहना कि उनके उपन्यासों के पात्र तथा पात्रियाँ सम्पूर्ण रूप से मनोविज्ञान के विरुद्ध चलती हैं, यह दूसरी बात है। स्वयं जोशीजी यह मानते हैं, और ऐसा करते हुये उन्होंने मानों राल्फफाक्स के कुछ वाक्यों की पुनरावृत्ति भर की है कि 'बाह्य और अन्तर दोनों जीवनों की प्रगतियाँ एक दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रखती हैं', यह सुपरिचित है कि हिन्दी के नये उपन्यासकारगण समाज के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध को दिखाने में प्रेमचन्द के बहुत पीछे रहे, फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि ये नये उपन्यासकार अन्तर्द्वन्द को खूब दिखा सके

हैं, तो भी यह कैसे माना जा सकता है कि वे प्रेमचन्द के मुकाबिले में महान् कलाकार हुये। जोशीजी के अनुसार भी प्रेमचन्द में अन्तर्द्वन्द वाले पहलू की कमी है तो नये लेखकों में दूसरी बातों की कमी है, फिर इनमें से प्रेमचन्द को ही क्यों घटिया समझा जाय। मालूम होता है कोई बीस वर्ष पहले माधुरी में प्रेमाश्रम की समालोचना करते समय जोशीजी ने जिस प्रेमचन्द विद्वेष का परिचय दिया था, उसके उपादान अभी उनमें बाकी है, और वे जब-तब किसी न किसी बहाने सिर उठाया करते हैं।

इस सम्बन्ध में श्री अंचलजी के ये मन्तव्य विशेष द्रष्टव्य हैं— 'अपने व्यक्तित्व के नाम से दुनिया को देखने वाले आज के बड़े से बड़े प्रगतिशील हिन्दी लेखक और कवि में भी यह organic समन्वय नहीं हो पाया। लगता है जैसे साहित्य के नये रचनात्मक युग को प्रेमचन्द जिस मंजिल पर छोड़ गये, वह अब भी वहीं पड़ा है।'[१] स्मरण रहे ये बातें १६४५ में अर्थात् जोशीजी के मन्तव्यों के बाद लिखी गई हैं। इसी प्रकार हिन्दी के अन्यतम प्रधान समालोचक श्री प्रकाशचन्द गुप्त का भी यह कहना है कि 'आज हमें उपन्यास की भूमि में प्रेमचन्द की समता करने वाला कोई उन्नत कलाकार नहीं दीख रहा है, किन्तु प्रेमचन्द अपने युग में अलग एकाकी थे, और आज मानो बाँध तोड़कर उपन्यास की धारा बह रही हो।' अवश्य वे यह मानते हैं कि सम्भव है कि आगे प्रेमचन्द से अधिक शक्तिशाली उपन्यासकार उत्पन्न हों, किन्तु उनके लिखने के समय तक ऐसा नहीं हुआ था। इन सब बातों से स्पष्ट है कि जोशीजी बहुत कुछ कल्पना-जगत में विचरण करते हैं।

---

[१] स० सा० पृ० ६०

विकता की ओर क्रमिक यात्रा देख सकते हैं। यों तो वे वस्तुवादी थे, किन्तु उनके वस्तुवाद पर अपने युग का एक हल्का-सा गुलाबी पर्दा पड़ा हुआ था, जिसके वशवर्ती होकर वे अपने अधिकांश उपन्यासों को आश्रम में ले जाकर खतम करते थे। उन दिनों युग के प्रभाव के कारण वे यह समझते थे कि जग सुधारने का तरीका अपने को सुधारना है, यह केवल एक शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न है, लोगों को ढंग से शिक्षा दे दी, अधिक से अधिक कुछ आत्मत्याग कर दिये तो स्वयं सब बातें ठीक हो जायँगी। यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि प्रेमचन्दजी ने जो इस प्रकार के विचारों को अपनाकर उन दिनों अपनी कला की सृष्टि की थी, वह उस युग में गांधीवाद के नाम से परिचित होने पर भी बहुत पुरानी विचारधारा है। समाजवाद में पारिभाषिक रूप से इस प्रकार की विचारधारा को Utopian Socialism या स्वाप्निक समाजवाद कहते हैं। स्मरण रहे, यहाँ पर हम गांधीवाद के सिर्फ एक पहलू पर दृष्टि रखते हुये ही उसे स्वाप्निक समाजवाद की श्रेणी में रख रहे हैं, नहीं तो उसमें बहुत से पहलू जैसे ट्रस्टीत्व आदि हैं जो समाजवाद के सम्पूर्ण विरुद्ध हैं, किन्तु यहाँ हमें उन बातों से मतलब नहीं।

स्वाप्निक समाजवादियों में बावेफ (१७६४-९७), एतियनकाबे (जन्म १७८८) सौंसिमों (जन्म १७६०) फुरियर (१७७२-१८३७) आदि हो गये हैं। इनके अतिरिक्त यूटोपिया (शाब्दिक अर्थ—कहीं नहीं) की अर्थात् एक काल्पनिक आदर्श समाज के सम्बन्ध में बहुत से विद्वान अपनी-अपनी कल्पना कर गये हैं। किसी ने अपने आदर्श समाज का नाम यूटोपिया रखा जैसा सररामसमुद्र, (१४७८-१५३५) ने किया। बेकन ने इसी प्रकार न्यू एटलान्टिस में दक्षिण समुद्रस्थित एक टापू में अपने स्वर्ग की कल्पना की, इत्यादि-इत्यादि। इन सब विद्वानों की विशेषता थी कि वे सामाजिक तरीके से जगत को सुधारने के बजाय उसे एक वैयक्तिक प्रश्न बनाकर अपने को सुधारने के द्वारा जगत को

सुधारना चाहते थे। गांधीवाद ने यूरोप में उद्भूत इसी प्रकार के विचार को टालस्टाय और रस्किन के जरिये से अपनाया। बहुत दिनों तक प्रेमचन्द इसी विचार को केन्द्र-बिन्दु बनाकर अपनी रचनाओं को तैयार करते थे, विशेषकर प्रेमाश्रम, कर्मभूमि, रंगभूमि, कायाकल्प में वे इसी विचारधारा के इर्दगिर्द अपनी कला को विचरण करने देते हैं। उनके उपन्यासों में कर्मभूमि एक तरह के समझौते में अर्थात् सरकार के हृदय-परिवर्तन में खतम होता है। प्रेमाश्रम, सेवासदन, गबन, प्रतिज्ञा किसी न किसी प्रकार के आश्रम या अनाथालय में समाप्त होते हैं। 'निर्मला' उपन्यास का अन्त नायिका की मृत्यु से होता है, किन्तु यहाँ भी पति को गृहत्यागी दिखलाया गया है। इस प्रकार गोदान के अतिरिक्त जितने भी उपन्यास हैं उनमें किसी न किसी प्रकार से समझौता, हृदय-परिवर्तन, आश्रम तथा संसार-त्याग से पुस्तक का अन्त किया गया है। अवश्य द्रष्टगत रूप से प्रेमचन्द इन दिनों इन मतवादों के कायल होने पर भी उनके उपन्यासों में यत्र-तत्र वे इस मतवाद जिसे हम सहूलियत के लिए गांधीवाद कह सकते हैं, उसकी चहारदीवारी से निकल गये हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

वैयक्तिक मत कुछ दूसरा होते हुये भी वस्तुवादी कला में समग्ररूप आयेगा

एक लेखक अपने वैयक्तिक जीवन में कुछ भी मतवाद का पोषण करे, यदि वह वस्तुवाद के प्रति सच्चा है, तो उसकी रचनाओं में वह भले ही सज्ञान रूप से अपने मतवाद को गौरव-मंडित करना चाहे, किन्तु उस रचना में यह जरूरी नहीं है कि उसीका मतवाद प्रतिफलित हो। जिस महान् लेखक बालजाक का हम उल्लेख कर चुके हैं वे अपने वैयक्तिक जीवन में कट्टर राजतंत्रवादी थे, किन्तु उनकी पुस्तकों में

अपने युग का क्रान्तिकारी चित्रण है। राजतंत्रवादी होने पर भी उनकी पुस्तकों में राजाओं और उनके पिछलगुओं का जो चित्र तथा चित्रण है, उन्हें पढ़कर हमारे मन में राजतंत्रवाद के प्रति भक्ति नहीं उत्पन्न होती, बल्कि यही समझ में आता है कि इस सारी पद्धति का ही अन्त कर देना चाहिये। प्रेमचन्द के क्षेत्र में भी अर्थात् गोदान के पहले के प्रेमचन्द में भी हम गांधीवाद का जबरदस्त पुट पाते हैं, किन्तु यदि गहराई के साथ देखा जाय तो उनकी रचनाओं में गांधीवाद के विरुद्ध एक धारा अन्तःसलिला फल्गु की तरह बह रही है। इस विषय का जरा विशेष स्पष्टीकरण होना चाहिये क्योंकि अन्य सब समालोचक प्रेमचन्द की रचना के इस पहलू को बिल्कुल पहिचान न पाये। वे तो केवल इस बात को लेकर उड़ गये कि प्रेमचन्द अपनी रचना में द्रष्टगत रूप से क्या देना चाहते थे, किन्तु जैसा कि बताया गया, किसी रचना का दृश्यगत पहलू भी कोई चीज होती है। इसे प्रेमचन्द के अन्य महामान्य समालोचक बिल्कुल समझ नहीं पाये।

प्रेमचन्द जिसे यथार्थवाद समझते थे वह किसी साहित्य का ध्येय नहीं हो सकता, इसके सम्बन्ध में एक अन्य सोवियट-लेखक 'आई० कारायेफ' के मन्तव्य यों है। वे कहते हैं—'उच्चतर प्रधान कलात्मक रचना का उद्देश्य तथा प्रकृति बराबर यह रही है कि यद्यपि वह भूतकाल तथा वर्तमान काल से अपने लिए पुष्टि का संग्रह करती है, फिर भी वह विचारधारागत गठन में, उद्देश्यों में, आकांक्षाओं में भविष्य में ही जीवन धारण करती है।' इस प्रकार जिसे प्रेमचन्दजी कथित आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहते हैं, वह सही माने में जिसे हम यथार्थवाद कहते हैं, वही है।

राजनैतिक मतवाद की दृष्टि से वे प्राक् गोदान-युग में जिस प्रकार गांधीवादी थे, उसी प्रकार साहित्य दृष्टि से भी वे आदर्शवाद और यथार्थवाद के मिश्रण के कायल थे। वे साहित्य को समाज का

दर्पण मात्र नहीं मानते, (कोई भी वस्तुवादी साहित्य को फोटोग्राफी नहीं मानता), बल्कि दीपक मानते हैं। वे कहते हैं—'भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है, हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिये। हाँ, यथार्थ का उसमें ऐसा सम्मिश्रण होना चाहिये कि सत्य से दूर न जाना पड़े।' इस प्रकार मतवाद के माननेवाले होने पर भी वे यथार्थवाद के इर्द-गिर्द ही रहे। हमें ऐसा ज्ञात होता है कि प्रेमचन्दजी ने साहित्य का जो विचार किया है, उसमें कुछ पारिभाषिक गड़बड़ी के कारण भ्रम उत्पन्न होता है, उदाहरण स्वरूप वे यथार्थवादी से क्या समझते हैं, इसे सुना जाय। वे कहते हैं—'यथार्थवादियों का कथन है कि संसार में नेकी-बदी का फल कहीं मिलता नजर नहीं आता, बल्कि बहुधा बुराई का परिणाम अच्छा और अच्छाई का बुरा होता है। आदर्शवादी कहता है यथार्थ का यथार्थरूप दिखाने से फायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिये, नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही गायब हो जाता है।' यहाँ यह स्पष्ट है कि वे यथार्थवाद से जो कुछ समझते थे वह कुछ और था। सोवियट समालोचक ई० ट्रसचन्को ने यह स्पष्ट कर दिया है कि "समाजवादी कला वास्तविकता को केवल उस प्रकार से चित्रित नहीं करती, जैसी कि वह है, बल्कि यह उसे उस रूप में चित्रित करती है जैसी कि वह मानव द्वारा निर्मित हो रही है।' फोटोवाली वास्तविकता समाजवादी यथार्थवाद का ध्येय नहीं है। आगे ट्रसचन्को और भी कहते हैं कि 'दृश्यगत जगत के चित्रण में समाजवादी कला एक ऐसी कड़ी को लेकर चलती है जो प्राचीनतर अर्थात् बुर्जुआ यथार्थवाद में अनुपस्थित थी अर्थात् वह क्रान्तिकारी क्रियाशीलता को लेकर समाज का चित्रण करता है। हमारे यथार्थवाद में अचेतन सामाजिक अन्तर्गत वस्तु सचेतन हो जाती है, यह एक

वर्गगत-दलगत रूप लेती है, इसमें एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाया जाता है जो एक विशेष वर्ग का है जिसने इसे जान-बूझकर ग्रहण किया है' इत्यादि ट्रुसचन्को की इस कसौटी पर प्रेमचन्दजी पूरे खरे न भी उतरने पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने जिस यथार्थवाद को छोड़ दिया था, वह बुर्जुआ यथार्थवाद अर्थात् निरुद्देश्य चित्रण के लिए चित्रण था। इसके बजाय उन्होंने मिशनयुक्त यथार्थवाद अपनाया। यही समाजवादी यथार्थवादी का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। आश्चर्य यह है कि उनके समालोचकों ने यह कष्ट नहीं उठाया कि वे यथार्थवाद से क्या समझते थे और आदर्शवाद से क्या समझते थे, और उनके कथनानुसार उन्हें आदर्शवादी यथार्थवादी बताना शुरू कर दिया।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में गांधीवाद भी और उसका विरोध भी

स्मरण रहे हम यहाँ पर उपन्यासों में गोदान को तथा कहानियों में कफ़न आदि को छोड़कर हम बाकी प्रेमचन्द के सम्बन्ध में ही आलोचना कर रहे हैं। अपनी कथित गांधीवादी प्रभावयुक्त रचनाओं में प्रेमचन्दजी ने क्या दिखलाया? यदि इस प्रश्न पर हम विचार करें तो हम देखेंगे कि अधिक से अधिक इन पुस्तकों में उन्होंने यह दिखलाया कि गांधीवादी तरीकों से कुछ मामूली सुधार हो सकते हैं, आमूल परिवर्तन कदापि नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में उन्होंने जिन गांधीवादी पात्रों की सृष्टि की है, जैसे प्रेमाश्रम में प्रेमशङ्कर और मायाशङ्कर, कर्मभूमि में अमरकान्त, कायाकल्प में चक्रधर, रंगभूमि का सूरदास—इनमें से सभी पेटी बुर्जुआ सुधारवादी पात्र हैं। ये लोग अजीब-अजीब तरीके से सार्वजनिक कार्य के क्षेत्र में आते हैं। चक्रधर तो बीच रास्ते में ही काम-धाम छोड़कर अलग हो जाता है। अमरकान्त की इज्जत एक समझौते से बच जाती है।

वह एक कमजोर दिल का नौजवान था। एक मुसलमान लड़की के प्रेम में निराश होकर वह भाग जाता है, और वहीं पर चमारों के कुछ सुधारवादी संग्रामों में फँस जाता है।

रंगभूमि के विनयसिंह को भी हम जब नजदीक से देखते हैं तो उसमें हम बहुत-सी अजीबोगरीब बातें पाते हैं। राजा का इकलौता बेटा होने पर भी सेवा-मार्ग की ओर उसका झुकाव है, किन्तु यह कदाचित् उसकी बुर्जुआ आत्मश्लाघा का एक रूप मात्र है। उसे इस कार्य के जरिये से दूसरों पर हुकूमत करने की सुविधा मिलती है। वह रियासत में सेवाकार्य करने जिस अवस्था में जाता है वह भी द्रष्टव्य है। सोफी के प्रति उसका प्रेम जब उसकी माता पर खुल जाता है, तब माता उसे अगली गाड़ी से भगा देती है। रियासत में जाकर वह प्रजा को अवश्य उन्नति के मार्ग पर बढ़ाता है, किन्तु उसका मन सोफिया में ही पड़ा रहा है, वह इतना भारी अहिंसावादी है कि अन्यायपूर्वक जेल में बन्द किये जाने पर भी जेल से भागने से इन्कार करता है। इसे अहिंसावाद कहा जाय या Legalism या कानूनवाद की पूजा कहा जाय। जब वह जानता है कि उसने कोई अपराध नहीं किया और उस पर झूठे अपराध लगाये गये हैं, केवल यही नहीं जब वह यह जानता है कि उसे यहाँ व्यर्थ में सजा हो जायगी तब भी वह भागने से इन्कार करता है, यह कानूनवाद की ही पूजा है। जो कुछ भी हो, यही गांधीवादी अहिंसावाद है। बाद को चलकर यही विनय जिस प्रकार काम छोड़-छाड़कर चल देता है, उससे उसका वर्गचरित्र खुल जाता है, और यह ज्ञात हो जाता है कि उसे और ही बातों में दिलचस्पी थी, केवल कुछ घटना-चक्र के षड्यन्त्रों के कारण वह इस प्रकार रियासती प्रजा के उद्धार में फँस गया था।

प्रेमचन्दजी ने यह दिखलाया है कि विनय के आन्दोलन से अवश्य जनता की नैतिक सतह सामयिक रूप से कुछ ऊँची हो जाती है,

किन्तु कोई मौलिक लाभ नहीं होता। अन्त में विनय जिस प्रकार अपने को गोली मार लेता है, उससे भी गांधीवादी विचारधारा पर चार चाँद लगने के बजाय उसकी हेठी ही होती है। अवश्य विनयसिंह की कारगुजारियों के परिणाम से यह ध्वनि नहीं निकलती कि गांधीवादी कर्म-पद्धति बिल्कुल ही लचर है, एक हद तक तथा एक दायरे के अन्दर उसकी प्रगतिशीलता जाहिर होती है, किन्तु समस्याओं को मौलिक रूप से सुलझाने में वह असमर्थ है, इसमें हमें कोई सन्देह नहीं रहता। अवश्य ही इस प्रकार से तथा इस रोशनी में गांधीवाद को दिखलाना गांधीवाद को एक मात्र कर्मधारा बतलाना नहीं है।

'प्रेमाश्रम' का प्रेमशङ्कर त्यागी जरूर है, किन्तु कुछ अजीब दुर्बल चित्त व्यक्ति ज्ञात होता है। मायाशङ्कर कदाचित् गांधीवाद में परिकल्पित ट्रस्टी का सर्वांग सुन्दर प्रतिनिधि है। मायाशङ्कर के १८वें साल की पूर्ति के अर्थात् उसके बालिग होकर रियासत पर अधिकार प्राप्त करने के उपलक्ष्य में जो उत्सव होता है, उसमें वह गवर्नर के सम्मुख यह साफ-साफ कह देता है कि उसने अपने सब अधिकारों का त्याग कर दिया। वह कहता है 'मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ। वे न मेरे असामी हैं, न मैं उनका ताल्लुकेदार' इत्यादि। मायाशङ्कर के विरुद्ध इसके सिवाय कुछ कहना कठिन है कि वह सम्पूर्णरूप से एक काल्पनिक चरित्र है, और हम समझते हैं कि इससे अधिक उस चरित्र के विरुद्ध और क्या कहा जा सकता है? जहाँ पूँजीपति और जमीन्दार और प्रेमचन्दजी ने दिखलाया है कि ऐसे जमीन्दारों में जेल जानेवाले कांग्रेसी जमीन्दार भी शामिल हैं, हमेशा रियाया तथा मजदूरों का खून चूसा करते हैं, जहाँ शोषण ही जीवन का नियम हो, वहाँ मायाशङ्कर की तरह एक चरित्र की सृष्टि करना जो जमीन्दार होते हुये भी जमीन्दारी से स्वेच्छापूर्वक हाथ खींच लेता है,

यह मायाशङ्कर जिस विचारधारा के प्रतिनिधि के रूप में पेश किया गया है, उसका मजाक उड़ाना नहीं तो क्या है ? भले ही कोई अदूरदर्शी तथा गहराई तक सोचने में असमर्थ व्यक्ति मायाशंकर को गान्धीवाद के प्रति रियायत समझे, और शायद स्वयं कलाकार भी ऐसा ही समझते थे, किन्तु इस चरित्र से बढ़कर गान्धीवाद का हजो और क्या हो सकता है ? जिस टाइप का जीवन में अस्तित्व ही नहीं है या है तो उससे कुछ आता-जाता नहीं है, उसे सामाजिक बुराइयों की एक सार्वजनिक दवा के रूप में पेश करना उस मतवाद का आदर करना है या उसकी हँसी उड़ाना है ? हम फिर एक बार इस बात को साफ कर दें कि मायाशंकर चरित्र की सृष्टि के युग में प्रेमचन्दजी सम्पूर्ण रूप से गान्धीवाद के उपासक थे, ऐसा उनकी जीवनी से भी ज्ञात होता है, किन्तु जैसा कि हम बता चुके हैं इससे कुछ आता-जाता नहीं है। प्रेमचन्द वस्तुवाद के प्रति, जीवन के प्रति, अपने परिपार्श्व के प्रति सच्चे रहे, इसलिए जब उन्होंने इस वास्तविक परिपार्श्व में अपनी कल्पना की उपज मायाशंकर को लाकर फिट कर देना चाहा, तो देखने में तो वह ज्ञात हुआ—और यह उनकी लेखनी की शक्ति का परिचायक है कि यह चरित्र उस वास्तविक परिपार्श्व में फिट कर गया, किन्तु असल में वह एक अवास्तविक, उलजलूल चरित्र होकर लटक गया। वास्तविकता की दृष्टि से देखने पर मायाशंकर चरित्र डान क्वीक्सट या सांकोपांजा मात्र होकर रह गया। आखिर डान क्वीक्सवाद की आत्मा क्या है ? यही न कि जिस उद्देश्य के लिए जो साधन अनुचित है, उसके लिए उस साधन का उपयोग करना, और इस प्रकार उपयोग करना जिससे हास्य का उद्रेक हो। अवश्य मायाशंकर के क्षेत्र में हमें अनायास ही हास्योद्रेक नहीं होता, जब हम गहराई तक सोचते हैं, और यह सोचते हैं कि उद्देश्य क्या है, और उपाय क्या है। तभी हमारा हास्योद्रेक होता है।

क्या प्रेमचन्द-साहित्य इतने समय से बँधा है कि बाद को उसकी कदर सम्भव नहीं ?

इस प्रकार गोदान और कफन को छोड़ देने पर भी प्रेमचन्द के अन्य सारे साहित्य में भी हमें गान्धीवाद का जो समर्थन दिखाई पड़ता है, उनका आन्तरिक स्वरूप स्पष्ट हो गया। हमारे देखने में यह आया था कि कुछ समालोचकों ने प्रेमचन्द की रचनाओं की यह कहकर निन्दा की है कि वे अपने समय से बहुत अधिक बँधे हुये हैं, इसलिए जब यह समय निकल जायेगा, तब इस साहित्य का पठन-पाठन भी बन्द हो जायेगा; किन्तु ऊपर बताये हुये कारण से हमें यह आशङ्का गलत मालूम देती है। यह बात सही है कि प्रेमचन्द-साहित्य का पैर बहुत ही दृढ़ रूप से अपने युग में जमा हुआ है, हम उनके साहित्य में उस युग के विचारों, आन्दोलनों तथा आलोचनों को पढ़ सकते हैं, किन्तु साथ ही साथ हम उस साहित्य में अगले युग का दुंदुभि-निनाद भी सुनते हैं। प्रेमचन्द-साहित्य उस युग का साहित्य है जिसे राजनीति में आज लोग गान्धी-युग कहते हैं (कल क्या कहेंगे, इस पचड़े में हम यहाँ न पड़ेंगे), किन्तु जैसा कि हम प्रमाणित कर चुके उस साहित्य में गान्धीवाद की एक हद तक प्रगतिशीलता के चित्रण के साथ-साथ आमूल परिवर्तन की दृष्टि से उसकी व्यर्थता भी चित्रित है। इसलिए जिस युग में विचारधारा के रूप में गांधीवाद का उसी प्रकार विलोप हो जायेगा, जिस प्रकार रूस में टाल्सटायवाद का हुआ, उस युग में भी उनका साहित्य लोगों में आदृत होगा।

शेक्सपियर और टालस्टाय विभिन्न कारणों से विभिन्न युग में मान्य

साहित्य के इतिहास में ऐसा कई बार हुआ है कि एक ही लेखक की कदर एक युग में किसी और कारण से हुई, और दूसरे युग में

दूसरे कारण से हुई। यह न समझा जाय कि ऐसा केवल कहानी कहने की कला के कारण होता है, ऐसा उस रचना के अन्तर्निहित गुणों के कारण होता है। लेखक चाहे जिस उद्देश्य से लिखे, और लेखक के युग के पाठक उसकी रचनाओं को चाहे जिस उद्देश्य से पढ़ें, बाद की पुश्तें उसमें बिल्कुल दूसरी वस्तुओं का आविष्कार कर सकती हैं, और इस प्रकार उस रचना को बिल्कुल भिन्न कारण से आदर तथा जीवन का एक नया पट्टा मिल सकता है। शेक्सपियर की रचनाओं के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ। शेक्सपियर दो युगों के बीच में खड़े थे, उन्होंने अपने युग की आसङ्गतियों, संग्रामों, दुखों, विचारों को वस्तु अनुयायी रूप में चित्रित किया, इसलिए प्रत्येक बाद की सदियों ने उसमें भिन्न-भिन्न खूबियाँ पाईं और उसका आदर हुआ। हद तो यह है कि सोवियट रूस में शेक्सपियर की बहुत जबरदस्त कदर है, सुदूर काकेसस के कस्बों तक में शेक्सपियर की कला का प्रचार हो रहा है, और उनके नाटकों के अभिनय के लिए समितियाँ बनी हुई हैं। शेक्सपियर की यह जो कदर सोवियटरूस में हो रही है, यह उनकी कला की वस्तुवादिता के लिए हो रही है।

एक और उदाहरण लिया जाय। टालस्टाय जैसा कि हम बता चुके हैं १८६१ से १९०५ के युग के अर्थात् क्रांति के पहले के युग के कलाकार हैं। टालस्टाय के कुछ अपने मतवाद थे जो उनके लिखे हुये अन्य निबन्धों तथा साहित्य में स्पष्ट हो जाते हैं। उनके मत को स्वाप्निक समाजवादी श्रेणी में डाल दिया जा सकता है। टालस्टाय पर लेनिन ने जो बातें कही थीं वे कितनी अच्छी तरह गांधीजी पर भी लागू होती हैं, यह द्रष्टव्य है। लेनिन ने टालस्टाय पर यह कहा था—

'टालस्टायवाद अपनी वास्तविक ऐतिहासिक अन्तर्गत वस्तु की दृष्टि से प्राच्य एशियाई विचारधारा है। (यहाँ पर गलतफहमी न हो इसलिए यह बता दिया जाय कि प्राच्य एशियाई शब्द से किसी प्रकार

के Racialism या एशिया या यूरोप की बड़ाई की बात अभीष्ट नहीं है, बल्कि इसका अर्थ सारे मार्क्सवादी साहित्य में सामन्तवादी लिया गया है, यह इसलिए कि एशिया में सामन्तवाद यूरोप के सदियों बाद मौजूद रहा और है—ले०) इसीलिए इसमें कृच्छवाद तथा बुराई के विरुद्ध हिंसापूर्ण प्रतिरोध पर रोक है, इसीलिए इसमें रग-रग में निराशावाद मानों रमा हुआ है, और साथ ही यह विचार है कि सब व्यर्थ है, और कुछ आता-जाता नहीं है, इसीलिए इसमें भगवान में वह विश्वास तथा आत्मसमर्पण है जिसकी दृष्टि से मनुष्य केवल एक ऐसा मजदूर है जिसको अपनी आत्मा के उद्धार का काम मिला हुआ है......। निराशावाद तथा अप्रतिरोध, ईश-प्रार्थना—ये उस युग की विचारधारायें हैं जब पुरानी समाज-पद्धति में घुन लग चुका है, जिस समय पुरानी पद्धति के विचारों में मजी हुई तथा मातृ-दुग्ध के साथ उसे अपनाई हुई जनता यह देखने में असमर्थ है कि यह जो नई पद्धति आ रही है, यह जब थिरा जायेगी तो इसका रूप क्या होगा, तथा जब यह मालूम नहीं है कि कौन-सी सामाजिक शक्तियाँ इस युग की सैकड़ों समस्याओं का समाधान करने में समर्थ होंगी।'[1]

यह सब होते हुये भी टालस्टाय ने सचाई के साथ अपने युग का चित्रण किया, इसलिए टालस्टाय की शिक्षाओं के सम्बन्ध में लेनिन का यह मत होते हुये भी कि 'उनकी शिक्षा निःसन्देहरूप से स्वाप्निक और अन्तर्गतवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर रूप से प्रतिक्रियावादी है, उन्हें इसी वस्तुवाद की बदौलत मानना पड़ा कि 'इसका मतलब यह नहीं है कि यह शिक्षा समाजवादी थी ही नहीं, या उसमें ऐसे आलोचनात्मक तत्व मौजूद नहीं हैं जो प्रगतिशील वर्गों की शिक्षा के लिए उपयोगी हो सकते हैं।'

[1] L. A. L., p. 35

टालस्टाय प्रेमचन्द से कहीं अधिकमात्रा में स्वाप्निक विचारधारा के कायल थे, किन्तु अपनी कला में वस्तुवाद को अनुसरण करने के कारण उनके सम्बन्ध में लेनिन ने माना कि उसमें प्रगतिशील तत्व मौजूद हैं, फिर प्रेमचन्द को उसी कसौटी पर कसने पर हम उन्हें अर्थात् उनके साहित्य को—स्मरण रहे यहाँ विशेषकर उस साहित्य का जिक्र है जिसके कारण वे गान्धीवादी बताये गये हैं, समाजवाद की दृष्टि से भी प्रगतिशील क्यों न माने? वे प्रगतिशील तो हैं ही, और जिन कारणों से हैं उन्हें भी हम बता चुके।

यहाँ पर शायद यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि १९४१-४५ की लड़ाई में टालस्टाय के 'युद्ध और शान्ति' का उल्लिखित कारणों से भिन्न कारण से प्रचार हुआ। इसी बात से वर्तमान आलोचना का सूत्रपात हुआ था कि क्या उस युग में भी जब गान्धीवादी विचारधारा टालस्टायवाद की तरह अतीत के गर्भ में विलीन हो चुकी होगी, उस समय प्रेमचन्द-साहित्य की क्या गति होगी? टालस्टाय के विषय में हम देखते हैं कि १९४१-४५ के युद्ध में रूस में जो 'युद्ध और शान्ति' का प्रचार हुआ, वह नात्सी जर्मनी के विरुद्ध रूसियों की भावुकता को अधिक से अधिक जगाकर समाजवादी पितृभूमि की रक्षा करने के उद्देश्य से हुआ, इस प्रकार एक बिल्कुल अकल्पितपूर्ण कारण से रूस में इस युद्ध के युग में 'युद्ध और शान्ति' का प्रचार हुआ। हम इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहते कि भविष्य की पुश्तें प्रेमचन्द की कदर अकल्पित पूर्व कारणों से करेगी, हम तो बिल्कुल निश्चित रूप से यह कह रहे हैं कि कथित गान्धी युग में प्रेमचन्द की कदर गान्धी साहित्यिक के रूप में हुई, किन्तु उनके साहित्य में यह जो दिखलाया गया है कि गान्धीवाद समाज के आमूल परिवर्तन की दृष्टि से थोथा है, इसीके कारण बाद के युगों में उनकी कदर होगी।

प्रेमचन्द-साहित्य एक और अविभाज्य, केवल चेतना की निविड़ता में प्रभेद

रहा गोदान और उस धारा की कहानियाँ उनके विषय में हमें यहाँ केवल इतना ही बता देना है कि वे तो भविष्य सर्वहारासाहित्य के लिए भी आदरणीय साहित्य रहेगा। हमने प्रेमचन्द के गोदान पूर्व साहित्य के जिस नये पहलू का उद्घाटन किया है, उसकी दृष्टि से देखने पर कलाकार प्रेमचन्द के उपन्यासों को तो दो श्रेणी में अर्थात् गोदान और गोदान के पहले के साहित्य की श्रेणी में बाँटना न पड़ेगा, अर्थात् इस प्रकार का बँटवारा बहुत कुछ अवास्तविक हो जायेगा। आखिर गोदान में उन्होंने यही तो दिखलाया है कि यह प्रचलित समाज इतना सड़ागला है, यह इतना जीर्णशीर्ण हो चुका है, कि इसमें पैबन्दों से—मामूली सुधारा से काम न चलेगा, इसमें आमूल परिवर्तन की तथा बिल्कुल नवनिर्माण की आवश्यकता है, और स्वाप्निक समाजवादी अथवा गांधीवादी कार्यक्रम में यह दम नहीं है कि वह इस परिणाम को ला सके। क्या प्रकारान्तर से यही बात पहले के उपन्यासों में भी नहीं साबित किया गया है? साबित किया गया है शब्द कुछ गलत है क्योंकि ऐसा लेखक की अनजान में हुआ है। अवश्य फिर भी वर्गीकरण की गुंजाइश रह जाती है। यद्यपि वर्गीकरण का रूप बदल जाता है, किन्तु फिर भी नया वर्गीकरण कमोवेश उन्हीं लाइनों पर उन्हीं उपन्यासों को लेकर होता है। गोदान में प्रेमचन्द सज्ञान हो चुके हैं, उनको बुद्धत्व प्राप्त हो चुका है, अब उनमें वह भटकते-टटोलते हुये चलना नहीं है। उनके पैरों में स्थिरता आ चुकी है। वह अपनी लेखनी को उसी प्रकार कमान्ड कर रहे हैं जिस प्रकार एक सेनापति अपनी सेना को कमान्ड करता है। इसके पहले भी वे प्रगति के मार्ग में थे, किन्तु अपनी अनजान में। गोदान और उसके पहले की

रचनाओं में यही फर्क है कि गोदान में लेखक प्राप्त आत्मज्ञान है, किन्तु पहले की रचनाओं में वे अचेतन है। फिर भी दोनों क्षेत्र में वे हैं प्रगतिमार्ग के पथिक। धूर्जटी बाबू ने तो यहाँ तक लिख दिया कि 'प्रेमचन्द्र की सामाजिक कल्पना त्यों-त्यों बढ़ती गई ज्यों-ज्यों वे लिखते गये, किन्तु शरत् बाबू के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती, शरत् बाबू की सामाजिक कल्पना पिछले दिनों कुछ संकुचित ही हो गई थी।'[1]

चरित्र लेखक को ले चलते हैं—जीवन और चरित्र

सारे प्रेमचन्द साहित्य की इस प्रकार एकता और अविभाज्यता समझ लेने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि जिस युग में प्रेमचन्द सम्पूर्णरूप से गांधीवाद के विचारों के प्रभाव में थे, तथा जिस युग में वे उस प्रभाव से मुक्त हो चुके, इन दोनों युगों में उन्होंने जिस साहित्य की रचना की उन सब में अन्तर्निहितरूप से तथा अन्ततोगत्वा एक ही सही विचारधारा का प्रतिफलन है ! हमने प्रेमचन्दजी पर अब तक जो कुछ लिखा है उससे यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि चाहे लेखक जिस आदर्श को भी द्रष्टगत रूप से अपनाकर चले यदि वह वस्तुवादी है तो उसकी रचना में ऐसे तत्त्व आ जायेंगे जो क्रान्तिकारी होने के लिए बाध्य हैं। इसीको कुछ लेखकों ने यों कहा है कि नाटककार या उपन्यासकार के द्वारा सृष्ट चरित्र अपना। स्वतंत्र जीवन रखते हैं। यह बात सच है कि लेखक चरित्रों की सृष्टि करता है, किन्तु वह यदि वस्तुवादी है तो इन चरित्रों को जीवन के आधार पर बनाता है, बल्कि जैसा कि हम गेटे, शरत् बाबू आदि लेखकों के विषय में जानते हैं, ये लोग अपने चरित्रों को करीब-करीब सम्पूर्णरूप से अपने इर्दगिर्द के जीवन से लेते थे।

---

[1] M. I. C., p 173

गेटे, शरत् तथा प्रेमचन्द के चरित्र जीवन से लिए हुये

गेटे के जीवन के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनका जीवन चिरबसन्तमय इसलिए रहा कि वे बार-बार किसी न किसी सुन्दरी के प्रेमपाश में आबद्ध हो गये, और इस प्रकार उनके जीवन में कभी पतझड़ का समावेश नहीं हुआ। हम यहाँ पर इस बात पर आलोचना नहीं करेंगे कि भ्रमरवृत्ति तारुण्य की रक्षा में साधक होती है या बाधक, हम इतना ही कह कर आगे बढ़ जायेंगे कि यह समालोचना-पद्धति बुर्जुआ है क्योंकि इसमें चीजों को एक ऐसे ढंग से देखा गया है, मानों गेटे की प्रेमपात्रियों के रूप में जो स्त्रियाँ आईं और गईं, उनका कोई निजी अस्तित्व ही नहीं था, और वे केवल गेटे के कवि-जीवन को—चाहे वह कवि-जीवन बहुत महान ही क्यों न हो निखारने के लिए ही थी। जो कुछ भी हो तथ्य यह है कि गेटे की प्रत्येक रचना की पृष्ठभूमि में एक या एकाधिक ऐसी स्त्रियाँ बतलाई जाती हैं जो जीवन में उनकी परिचिता थीं। इसी प्रकार शरत् बाबू की रचनाओं के सम्बन्ध में यह पता लगा है कि उनके उपन्यासों के पात्र तथा पात्रियाँ उन्हीं के इर्द-गिर्द के लोग थे। हिन्दी में अभी इस प्रकार की समालोचना-पद्धति कम अपनाई गई है, किन्तु फिर भी प्रेमचन्दजी के सम्बन्ध में भी पता लगा है कि उनके कई पात्र उनके इर्द-गिर्द के लोग थे। उदाहरणार्थ रंगभूमि का सूरदास उन्हीं के अपने गाँव का एक अन्धा था।

लेखक चरित्र की सृष्टि करता है, किन्तु चरित्र अपने नियम से चलते हैं

जो कुछ भी हो यहाँ हम जिस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं, वह इससे गहन है। लेखक जिस चरित्र की सृष्टि करता है, वह चाहे सोलहों आने लेखक के इर्द-गिर्द के जीवन से लिया गया हो या उसमें कल्पना

का कुछ पुट हो, जब एक बार उत्पन्न हो जाता है, तो लेखक की लेखनी को घसीट कर लेता चलता है। बात यह है चरित्र की सृष्टि कोई काल्पनिक कसरत मात्र नहीं है, वस्तुवादी लेखक को अपने चरित्र की सृष्टि में चरित्र के व्यक्तित्व, उसके विचार तथा उसके मनोविज्ञान का विचार करना पड़ता है। लेखक चरित्र की सृष्टि अवश्य करता है किन्तु वह (उस चरित्र को कुछ ऐसे नियमों के अनुसार सृष्टि करता है जो सम्पूर्ण रूप से सामाजिक है, और लेखक का उन नियमों को बनाने में कोई हिस्सा नहीं होता। तो क्या लेखक को यह अधिकार नहीं है कि वह चाहे तो एक विशेष पात्र या पात्री के जीवन को दुखान्त या सुखान्त बना दे ! अवश्य ही उसे ऐसा करने का अधिकार है, किन्तु ऐसा करते हुये उसे समाज, मनोविज्ञान तथा व्यक्तियों की पारस्परिक क्रिया प्रति-क्रिया को मान कर चलना पड़ता है। कोई भी लेखक इन नियमों की अवहेलना कर चरित्र-सृष्टि नहीं कर सकता, और यदि करेगा, तो वह चरित्र उलजलूल होगा। अवश्य साहित्य में उलजलूल चरित्र भी हैं, किन्तु जिन क्षेत्रों में उलजलूल चरित्र वाले उपन्यासों या नाटकों को साहित्य की मर्यादा प्राप्त हुई है, जैसे डानक्वीक्सट नामक पुस्तक को प्राप्त हुई है, वहाँ हम देखेंगे कि इस उलजलूलपन में भी कुछ नियम method in madness है।

उपन्यासकार एक वैज्ञानिक

उपन्यासकार या नाटककार एक वैज्ञानिक की तरह है। वैज्ञानिक प्रकृति को नियंत्रित कर सकता है, किन्तु ऐसा वह जबरदस्त नहीं, प्रकृति के नियमों को जानकर तथा उन्हें मान्यता देकर ही कर सकता है। वैज्ञानिक पत्थर से पानी की सृष्टि नहीं कर सकता, किन्तु वह हाइड्रोजन और आक्सिजन की एक विशेष मात्रा को मिश्रित कर पानी की सृष्टि कर सकता है। उसी प्रकार उपन्यासकार चरित्रों के

पाश्चात्य में अत्यन्त मनोविज्ञान के विरुद्ध प्रतिक्रिया

जोशीजी यह जो समझकर चले हैं कि समालोचना की कथित मनोवैज्ञानिक प्रणाली ही सब कुछ है और बहुत आधुनिक है, यह गलत है। सच है कि प्रुस्ट और जायस ने केवल आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से ही अपनी पुस्तकों की रचना की है, किन्तु विश्व साहित्य में उनका क्या स्थान है। जोशीजी की तरह लोगों को यह ज्ञात होना चाहिये कि समसामयिक पाठकों में वैयक्तिक अनुभूतियों को बन्द कारागार से छुटकारा प्राप्त करने की मनोवृत्ति बहुत जबरदस्त हैं। हर्बटरीड ने अपनी पुस्तक Reason and Romanticism में आधुनिक पाठक की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट कर दिया है।

मिशन और लेखक

अवश्य ही प्रेमचन्द ने कथित निरुद्देश्य रूप का सृजन नहीं किया। जैसा कि हम दिखला चुके हैं उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना में किसी न किसी समस्या को उठाया, और अपने विचार के अनुसार उसके समाधान देने की या समाधान की ओर इशारा करने की चेष्टा की, किन्तु केवल इतने ही से अर्थात् एक मिशन के होने से ही कोई लेखक कलाकार दृष्टि से निकृष्ट हो जायगा, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। सोवियट रूस के लेखक और कलाकारों को यदि छोड़ भी दिया जाय तो बिना आयास के टालस्टाय, बर्नडशा, आप्टन-सिन्कलेयर, अनातोल फ्रांस, पर्लबक, रवीन्द्रनाथ, शरत्चन्द्र आदि कई विश्वसाहित्यिकों के नाम स्मरण हो आते हैं जिन्होंने मिशन लेकर लिखा है। इसलिए यदि किसी लेखक में मिशन है, तो वह निकृष्ट दर्जे का कलाकार होगा, ऐसा बुर्जुआ दृष्टि से भी नहीं कहा जा सकता। सही दृष्टि से देखने पर तो मिशनहीन कला का कोई अर्थ ही नहीं होता, और सच बात तो यह है कि कोई भी कला मिशनहीन है ही

नहीं। यह दूसरी बात है कि किसी कला का मिशन छिपा हुआ हो, या लेखक को यह न मालूम हो कि वह किस मिशन का वाहन होकर लेखनी चालन कर रहा है, किन्तु फिर भी प्रत्येक कला का एक मिशन है, इसमें सन्देह नहीं। ट्रसचन्को ने लिखा है कि 'ऐसी कला जो राजनीति या दल से मुक्त हो, ऐसी कविता जो वर्ग स्वार्थों से परे हो भूतकाल की कल्पनायें हैं जिनका बहुत दिन पहले हो वर्ग संघर्ष के जीवित इतिहास ने पर्दाफाश कर दिया। ये ऐसे धोखे हैं जिनमें पढ़े-लिखे लोग अक्सर पड़ जाते हैं। और यद्यपि यह बहुत पहले ही सम्पूर्णरूप से स्पष्ट हो चुका है कि ये कथित वर्गहीन कला तथा साहित्य शासकवर्ग से सम्बद्ध हैं, फिर भी बराबर पढ़े-लिखे वर्ग के लोग इसके धोखे में फँस जाते थे।' ट्रसचन्को ने यह भी दिखलाया है कि सोवियट साहित्यिकों में भी इस प्रकार के विचार बार-बार उठे, और सचेतन आलोचकों को इनके साथ संग्राम करना पड़ा। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि नार्वे के सुप्रसिद्ध नाटककार इब्सन ने यह कहा था कि लिखने में उनका उद्देश्य केवल आनन्द दान नहीं बल्कि निर्दिष्ट सामाजिक विचारों का स्पष्टीकरण है।

प्रसिद्ध यूरोपीय लेखकों में मोपासाँ के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जो उपन्यास तथा कहानियाँ लिखी हैं, वह मिशनहीन कला का उदाहरण है। मोपासाँ ने बहुत ही योग्यता के साथ धनिकवर्ग की स्त्री और पुरुषों की पतित अवस्था का चित्रण किया है। इसमें उन्होंने कमाल कर दिया। रेनाल्डस ने जिस प्रकार लन्दन रहस्य में बहुत जोरदार तरीके से ब्रिटिश राजघराने तथा शासकवर्ग के पातित्य का चित्रण किया, मोपासाँ ने उससे कहीं जोरदार तरीके से तथा अधिक सौन्दर्य के साथ फ्रेन्च शासकवर्ग के गुप्त जीवन का चित्रण किया। मोपासाँ ने ऐसा किसी उद्देश्य को सामने रखकर नहीं किया, उन्होंने जो कुछ अपने इर्दगिर्द देखा उसीका

अक्स अपनी कला के प्लेट पर खींचकर रख दिया। टालस्टाय ने मोपासाँ पर लिखते हुये यह स्पष्ट कर दिया कि उनमें चित्रित विषयों के साथ कोई नैतिक सम्बन्ध नहीं था।[१] फिर भी उन्होंने यह जो चित्रण किया उससे उनकी अन्जान में यह तो साफ हो ही गया कि यह जो शासकवर्ग तथा उसके पिछलगुये हैं वे अपनी बड़ी-बड़ी बातों के बावजूद शासन करने के सम्पूर्ण अयोग्य हैं, और उन्हें निकाल बाहर करना चाहिये। कदाचित् यह कहा जाय कि इस प्रकार से मिशन निकाला जाय तो सभी साहित्य और कला में कोई न कोई मिशन निकल ही आयेगा; यह तो है ही। हम तो यह साफ कह रहे हैं कि प्रत्येक कला तथा साहित्य में कोई न कोई मिशन निहित है, वह मिशन प्रगतिशील भी हो सकता है, और प्रगतिविरोधी भी। इस प्रकार हमने यह देख लिया कि मिशन का होना ही कोई दोष नहीं है, बल्कि उसके सम्बन्ध में एक लेखक या कलाकार जितना ही सज्ञान हो, उतना ही अच्छा है। प्रेमचन्द अपने मिशन के सम्बन्ध में सज्ञान थे, किन्तु जैसा कि हम दिखा चुके कि उनकी सज्ञानता गोदान के पूर्वकाल तक द्रष्टगत थी। उन्होंने गोदान के पहले के उपन्यासों में भी सज्ञानता लिखी है, किन्तु उन्होंने इन रचनाओं में सज्ञानता से जितना रखा है, उनमें उससे कहीं अधिक मौजूद है। हम यह ही बतला चुके हैं कि उनकी इन रचनाओं में वह उपादान जो उनकी बहुत कुछ विरोधी द्रष्टगत सज्ञानता के बावजूद मौजूद है, वही उन्हें भविष्य में भी हिन्दी साहित्य में अमर रखेगा। इसी बात को समझ न पाने के कारण जोशी ऐसे अहंमन्य समालोचक यह भविष्यवाणी करते हैं कि भविष्य सन्तानें प्रेमचन्द की कोई कदर नहीं करेंगी। हम इसके विपरीत इस बात का डंके की चोट पर कहते हैं, और इस बात की सत्यता

---

[१] W. I. T., p. 21

आगामी बीस वर्ष में प्रमाणित हो जायगी कि प्रेमचन्द की जनप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी, जब कि जिन आधुनिक हिन्दी लेखकों को जोशीजी ने प्रेमचन्दजी से श्रेष्ठतर करके बताया है, उनका भाग्य संदिग्ध है।

मिशन जितना ही परोक्ष रूप से रहता है कलाकार उतना ही श्रेष्ठ

केवल मिशन होने से ही चाहे वह अच्छा से अच्छा मिशन हो कोई महान् कलाकार नहीं हो जाता। जार्ज डिमिट्राफ ने सोवियट लेखकों में बोलते हुये यह स्पष्ट कर दिया था कि 'वह लेखक क्रान्तिकारी लेखक नहीं है जो अपनी कृतियों में बार-बार इन्कलाब जिन्दाबाद कहता रहता है।' हम यह पहले ही बता चुके हैं कि लेखक, कलाकार, उपन्यासकार या नाटककार एक वैज्ञानिक की तरह है, तथा वह उपलब्ध उपादानों से और उपादानों के नियमों को मानकर ही सफलतापूर्वक लिख सकता है। कुछ लेखकों में जिस छिछोरेपन से क्रान्ति की या प्रगतिशील शक्तियों की जय दिखलाने की परिपाटी दृष्टिगोचर होती है, उससे न तो क्रान्ति या प्रगतिशील शक्तियों का कोई लाभ होता है, और न वह कला है। जो कलाकार जितने छिपे रूप से, आहिस्तगी से, बिल्कुल नेपथ्य में रहकर अपने मिशन को चित्रित कर सकता है, वह कलाकार उतना ही श्रेष्ठ है।

प्रेमचन्द पर अंचल

'श्री अंचलजी ने प्रेमचन्द के सम्बन्ध में लिखा है—

'जीवन की उन बुनियादी शक्तियाँ जो पूँजीवाद को नष्ट करने और समाजवाद को स्थापित करने के लिए काम कर रही हैं, मौजूदा समाज के ह्रास और जनक्रान्ति की अनिवार्यता की जड़ें जमाने वाली कोई सङ्गठित योजना वे नहीं दे सके।'

अन्यत्र वे इसीको मानो पुनरावृत्ति करते हुए लिखते हैं—

'उस निश्चित परिणाम की ओर कूच करती हुई जनता के विकास की सक्रिय, युद्ध और खून के कीचड़ से सनी आदर्श रेखायें हमें प्रेमचन्द के साहित्य में नहीं मिलतीं।'

अंचल के मन्तव्यों की जाँच

हम इस पर अधिक नहीं कहेंगे। केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि किसी भी कलाकार का यह काम नहीं है कि वह कोई सङ्गठित योजना दे, यदि उसकी कला में यह योजना अन्तर्निहित है तो इतना ही यथेष्ट है।

हम अंचलजी की इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि प्रेमचन्द के साहित्य में हमें आदर्श रेखायें नहीं मिलतीं। सच बात तो यह है कि प्रेमचन्द के राजनैतिक उपन्यासों का मूलमंत्र संग्राम, अन्याय, ढोंग, ढकोसले के विरुद्ध विद्रोह है, गोदान में तो वे भावी संग्राम की ओर इशारा करते हुए कम से कम दो बातें तो कहते ही हैं, एक यह कि प्रचलित गान्धीवादी तरीके से समाज में मौलिक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता और दूसरा यह कि संग्राम से ही उद्धार होगा। अवश्य उन्होंने मजदूर सभा और दल बनाने की बात नहीं कही है, न मजदूरों की संगठित शक्ति को ही दिखाया है, किन्तु जिस युग और समाज में वे थे उसको देखते हुए ही उन पर राय कायम की जा सकती है। जिस समय १९३५ में कथित वामपक्षी तथा समाजवादी पार्टियाँ किसी न किसी रूप में गान्धीवाद के ही इर्द-गिर्द चक्कर काट रही थीं, उस युग में अन्तिम रूप से गान्धीवाद को दिवालिया घोषित करने में कितना बड़ा तथा कितना विराट क्रान्तिकारित्व है, इसे श्री अंचल को समझना चाहिए था, अवश्य उन्होंने सब काम नहीं किये ऐसा उनके सम्बन्ध में कोई दावा भी नहीं करता। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त भी यह मानते हैं कि

प्रेमचन्द चित्रित समाज में 'दैन्य, निराशा, दारिद्र्य का चित्र है, किन्तु नवजीवन का सन्देश भी इस समाज की रग-रग और कपोलों में पहुँच चुका है।' यही क्रान्तिकारी कला का सार भाग है।

प्रकाशचन्द प्रेमचन्द में अंचलजी जो नहीं पाते उसे पाते हैं

केवल इतना ही नहीं जहाँ अंचलजी प्रेमचन्द की रचनाओं में 'कोई संगठित योजना' नहीं पाते और इस पर दुखित हैं, वहाँ श्री प्रकाशचन्द गुप्त उनकी रचना में 'सङ्गठित सामूहिक शक्ति क्रान्ति का मार्ग है इस बात को निरन्तर पाते हैं।' वे कहते हैं 'हमारे दलितवर्ग जरा से नेतृत्व की आड़ पाकर सङ्गठित हो विजय के पथ पर बढ़ सकते हैं, यह हम प्रेमाश्रम, रंगभूमि और कायाकल्प आदि कथाओं में देखते हैं।'[1] अंचलजी की निराशा देखकर वही पुरानी बात कहने का जी चाहता है 'जिन खोजो तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।' यह बात सही है कि प्रेमचन्द और क्रान्तिकारी हो सकते थे। सच बात तो यह है कि वे बराबर होते जा रहे थे। मौत ने उन्हें उठा लिया नहीं तो न मालूम वे कहाँ पहुँचते।

प्रेमचन्द की दृष्टि समसामयिक क्रान्तिकारियों से स्पष्टतर

आगामी क्रान्ति के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के विचार जहाँ तक लक्ष्य हैं बहुत से क्रान्तिकारी नाम से परिचित व्यक्तियों तथा दलों से स्पष्टतर हैं। कर्मभूमि में वह इस क्रान्ति का चित्र देते हुए कहते हैं 'ऐसी क्रान्ति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे। जो एक नए युग की प्रवर्तक हो,

[1] न० हि० सा०, पृ० ७७

एक नई सृष्टि को खड़ी कर दे।' अवश्य इसमें वर्गसंघर्ष का पुट देकर यह साफ-साफ नहीं कहा गया कि सर्वहारावर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होने पर ही मिथ्या आदर्शों का अन्त होगा, किन्तु उनकी रचना में गरीबों, किसानों, मजदूरों के साथ सहानुभूति दृष्टिगोचर होती है, उसमें यह समाधान अन्तर्निहित है, यह मानना पड़ेगा। वे कहीं-कहीं स्पष्ट कहते भी हैं जैसे कायाकल्प में 'भोजन ऐसा मिलता था जिसे शायद कुत्ते भी सूँघ कर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा दे, और परिश्रम इतना करना पड़ता जितना बैल भी नहीं कर सकता। यद्यपि ये बातें जेल के सम्बन्ध में कही गई हैं फिर भी ये बातें हमारे सारे समाज पर लागू हैं, इसे प्रेमचन्द बराबर कह रहे हैं।

साहित्य पर बाल्शेविक पार्टी का प्रस्ताव

प्रेमचन्द के अधीर कथित क्रान्तिकारी समालोचकों को यह ज्ञात होना चाहिये कि क्रान्तिकारी साहित्य का सृजन रातोरात नहीं हो सकता, इसलिए साहित्य और कलायें क्या क्रान्तिकारी हैं और क्या नहीं, इस पर विचार करते समय बहुत धैर्य और ठंडे दिमाग से काम लेना चाहिये। इतिहास की सबसे बड़ी क्रान्तिकारी पार्टी रूस की बाल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने इस सम्बन्ध में क्रान्ति के आठ वर्ष बाद अर्थात् १ जुलाई १६२५ में जो प्रस्ताव पास किया था वह द्रष्टव्य है। इस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि 'प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर तथा प्रधान कलाकार के विरुद्ध छिछोरेपन तथा अवज्ञापूर्ण रुख के विरुद्ध पार्टी को बराबर लोहा लेना चाहिए।' इसी प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि पार्टी का नारा यह होना चाहिये कि 'एक तरफ तो समझौते का विरोध करे, दूसरी तरफ बाल्शेविक शेखी के विरुद्ध लड़े।' साहित्य केवल आर्डर पर तैयार नहीं हो सकता, इसलिए जो साहित्य तैयार हो उसके सम्बन्ध में

हमें खूब समझ-बूझकर अपना रुख कायम करना चाहिये। हम प्रेमचन्द के कायाकल्प में गृहीत परलोक-सम्बन्धी रुख के साथ न तो समझौता कर सकते हैं, न करेंगे, क्रान्तिकारी समालोचना किसी भी प्रकार इसकी सराहना नहीं करेगी, किन्तु साथ ही उनके साहित्य का यहाँ तक कि कायाकल्प में ही कुछ हिस्से का जो क्रान्तिकारी रुख है, उसका हम अभिनन्दन किये बग़ैर नहीं रह सकते। न सही सङ्गठित योजना, न सही एक स्पष्ट thesis, किन्तु उनकी रचना में जो अन्याय ढकोसला शोषण के विरुद्ध विद्रोह है, उसकी हम अवज्ञा कैसे कर सकते हैं। फिर इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द को दोष देते समय इसे हमें नहीं भूलना चाहिये कि जिन दिनों प्रेमचन्द लिख रहे थे, उन दिनों कितने ऐसे व्यक्ति पर कौन ऐसा दल भारतवर्ष में था जो दावा कर सकता है कि उसने आगामी क्रान्ति के सम्बन्ध में एक स्पष्ट, साफ, निखरी हुई, संगठित योजना रखी। जब राजनीति में यह परिस्थिति थी, उस समय यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वे बिल्कुल एक सङ्गठित योजना देंगे, और सो भी उपन्यास में। फिर जैसा कि हम अन्यत्र दिखाते हैं एक मामले में तो वे अपने युग के बहुत आगे निकल गए थे, वह यह कि वर्षों तक गान्धीवाद के साथ प्रयोग करने के बाद उन्होंने गोदान में यह फैसला सुना दिया था कि जहाँ तक समाज के आमूल परिवर्तन का सम्बन्ध है गान्धीवादी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता।

गोर्की के अतिरिक्त रोलाँ भी सोवियट लेखकों के आदर्श

प्रेमचन्द के मूल्य को कूतने के सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सोवियट रूस में रोमारोलाँ ऐसे अध्यात्मवादी लेखक को भी बहुत जोरों के साथ अपनाया जा रहा है। इस सम्बन्ध में स्मरण रहे कि रोमारोलाँ ने रामकृष्ण को Homme dien मानव देवता कहा है तथा वे जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करते हैं। फिर भी

रोमारोलाँ को विशेष रूप से सोवियट रूस में क्यों अपनाया गया इसे हम आइकाटायेफ के मुँह से सुन लें। काटायेफ का कहना है कि यूरोप के आधुनिक साहित्यिकों में दो व्यक्ति को विशेष करके सोवियट रूस को अपनाना चाहिये, एक मैक्सिम गोर्की को, और दूसरा रोमारोलाँ को। मैक्सिम गोर्की के साथ रोमारोलाँ का नाम अनुकरणीयों में समझा जाना बहुतों को आश्चर्य में डाल देना। तो क्या सोवियट रूस बुर्जुआ मूल्यों को फिर से अपना रहा है? क्या यह प्रत्यावर्तन का सूचक है? इसका उत्तर काटायेफ के शब्दों में यों है—

'प्रथम नाम को अर्थात् गोर्की के नाम को हमने समुचित सम्मान तथा मर्यादा से समन्वित कर दिया है...। रहा रोलाँ का नाम, सो हमारी सार्वजनिक चेतना में यह अपनी राजनैतिक दिव्य छटा के ही कारण मुख्यतः मौजूद है, वे सोवियट रूस के मित्र थे, इसके विश्व सत्य और सम्मान के संरक्षक थे, साम्राज्यवाद के सब तरह के अपराधों के जोशीले पर्दाफाश करने वाले थे। ···रोलाँ की रचनायें जिन सामाजिक और दार्शनिक उत्पत्ति स्थलों से अपनी अनुप्रेरणा लेती थी, उनके कारण उनमें कुछ संशोधनकर पढ़ना पड़ेगा, किन्तु फिर भी निःसन्देह बूढ़ा यूरोप हमारी साम्यवादी प्रश्न के लिए जो कुछ भी शैली में, विगत युगों के कला-सम्बन्धी धरोहर में लाया है, उनमें वे हमारे सबसे नजदीकी और सबसे अधिक सम्बद्ध हैं। क्या इस सीमित स्थान में 'जान खिस्टोफर' के विषय में समुचित रूप से वर्णन करना सम्भव है जो मेरी समझ में २०वीं सदी की सबसे महत्वपूर्ण रचना है? जान खिस्टोफर की बात तो यहाँ कही नहीं जा सकती, इसलिए मैं उनको फ्रेन्च क्रान्ति-सम्बन्धी अन्य रचनाओं का उल्लेख करूँगा। सोवियट कलाकारों को चाहिये कि वे यदि सचमुच कला की सेवा करना चाहते हैं तो वे इन रचनाओं का खूब अच्छी तरह पारायण करें, और सन् १६१४-१८ के युद्ध के बाद पेरिस के शब्द-विलासी लेखकों के फेर में न पड़ें।

अवश्य रोलाँ में बहुत-सी बातें हैं और उन्हें अलग करना बहुत कठिन काम है। रोलाँ व्यक्तिवादी हैं, उनमें पराजित तथा दूरीकृत बुर्ज़ुआ दल जिरोंद के प्रति सहानुभूति है, उनकी रचनाओं में राजतंत्रवादी और जैकोबिन एमिग्रे (देश-त्यागी) आकर एक साथ हाथ मिलाते हैं। यह पूछा जा सकता है कि यदि वे बातें निकाल दी गईं, तो फिर उनकी रचना में रह ही क्या जाता है? इन बातों को निकाल देने पर भी उनकी रचना में क्रान्तकारी युग के तूफानी तथा परिचालक उपादानों के विषय में बहुत सुन्दर तथा स्पष्ट वर्णन रह ही जायेंगे। उनमें फिर भी इतिहास में चलने वाले अगणित स्तरों की गति का सजीव वर्णन, ऐतिहासिक व्यक्तियों के साहसपूर्ण चित्रण, प्रतिमा के स्पर्श से गढ़े हुये चरित्र सार्वजनिक तरह-तरह के आन्दोलनों का खुरदरी, जलती हुई, सावलील, सुन्दर भाषा में वर्णन—तो रह ही जायेंगे। और शायद, सबसे जो महत्वपूर्ण वस्तु रह जायगी, वह यह है कि एक नवीन वर्ग की सत्यता तथा मर्यादा जो न केवल पवित्र और उच्च नैतिक प्रकृतियों की भाषा में बल्कि अपने को प्यार करने वाले संकीर्ण ईर्ष्यापूर्ण गोश्त बेचने वाले तथा पाशविक सैनिकों की चित्र परम्पराओं में व्यक्त है। ...हमारे लेखकों में कला के इन हिमालयों के साथ एक समाजवादी प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न होनी चाहिये। गोर्की और रोलाँ यही हमारे मूलमंत्र हों।'

रोलाँ और प्रेमचन्द

हम यहीं पर कारायेफ के उद्धरण को समाप्त कर सकते हैं, किन्तु उपसंहार में उन्होंने सोवियट लेखकों के लिए जो सूत्र पेश किया है, उसे पेश करने का लोभ सवरण नहीं कर सकते। उन्होंने कहा है कि 'क्रान्तिकारी लेखक को चाहिये कि वह भूतकाल को जाने, वर्तमान को प्यार करे, तथा भविष्य के विषय में सोचे।' इस सूत्र से यह बात फिर एक

बार स्पष्ट हो जाती है कि जिसे प्रेमचन्दजी यथार्थवाद कहते हैं और जिससे वे भागते हैं, वह असल में यथार्थवाद नहीं है, और जिसे वह आदर्शोन्मुख यथार्थवाद बताते हैं, वह समाजवादी यथार्थवाद से मिलता-जुलता है। हमें इस प्रसंग में एक और बात कहनी है, वह यह कि जब सोवियट के क्रान्तिकारी और समालोचक अध्यात्मवादी व्यक्तिवादी रोमारोलाँ को आदर्शरूप में ग्रहण कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम प्रेमचन्द में कथित संगठित योजना के अभाव के कारण उनकी रचनाओं को देखकर नाक-भौं सिकोड़ें। प्रेमचन्द ने तो हमेशा अन्याय, शोषण, ढोंग-ढकोसले का विरोध ही किया है। अवश्य उनमें भी कुछ ऐसी चीजें हैं जैसे कायाकल्प में पुनर्जन्म वाद की ओर झुकाव, किसी-किसी कहानी में साम्प्रदायिकता का पुट आदि जिन्हें हमें छाँटकर ही प्रेमचन्द को हिन्दी लेखकों के सामने आदर्श के रूप में रखना पड़ेगा, किन्तु जैसा कि हम इस आलोचना में दिखलाते रहे हैं उनकी ये त्रुटियाँ उनके गुणों के सामने नगण्य हैं। ज्यों ज्यों दिन जायेंगे हमें प्रेमचन्द में और भी नये गुण दृष्टिगोचर होंगे। उनके साहित्य को कूतना तथा उस ढाँचे को बहुत कुछ अपना कर आगे बढ़ना यह भविष्य तथा वर्तमान के हिन्दी लेखकों का कर्त्तव्य होगा। अवश्य इसका मतलब यह न लिया जाय कि हम कलादृष्टि से रोलाँ और प्रेमचन्द को एक श्रेणी में रख रहे हैं। हम यहाँ पर केवल इस बात पर विचार कर रहे हैं कि प्रेमचन्द कहाँ तक क्रान्तिकारी रहे हैं।

कलाकार और उस युग का मनोविज्ञान

स्वाभाविक रूप से कलाकार को चित्रित युग के मनोविज्ञान के प्रति सच्चा रहना चाहिये, अवश्य जैसा कि हम बता चुके हैं, ऐसा करते समय वह यह न भूल जावें कि व्यक्ति समाज का एक अंग मात्र

है, और समाज वर्गों में विभक्त है। फिर हम यह साफ कर दें कि इस प्रकार से इस विचार को सज्ञान रूप से हृदयंगम करना जरूरी नहीं है। शेक्सपियर का मनोविज्ञान मोटे तौर पर त्रुटिहीन बतलाया गया है, उनकी रचनाओं में समसामयिक वर्गों का अच्छा चित्रण भी मिलता है, किन्तु वे इन सब बातों से सज्ञान रूप से अभिज्ञ थे, ऐसा कोई नहीं कह सकता। फ्रायड आदि ने १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में तथा इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मनोविज्ञान के नियमों का बहुत कुछ पता लगाया है, किन्तु उनके बहुत पहले बहुत से कलाकार इन शक्तियों तथा नियमों को मोटे तौर पर व्यावहारिक रूप में समझते थे, इसमें सन्देह नहीं। एक उदाहरण लिया जाय। गुस्तावल लबों, डाक्टर सर्ज चाकोटिन आदि ने अज्ञ जनता के मनोविज्ञान का गत पचास वर्षों में उद्घाटन किया है, किन्तु प्राचीन युग के बड़े-बड़े नेता जैसे मुहम्मद, सेन्टपाल आदि इन नियमों को न जानते हुये भी उनके व्यावहारिक रूप से परिचित थे, इसमें सन्देह नहीं। इसी प्रकार प्राचीन युग के बड़े-बड़े कवि मनोविज्ञान के बहुत से नियमों को अच्छी तरह समझते थे। कम से कम उनकी रचनाओं से तो यही ज्ञात होता है। इसलिए यह जरूरी नहीं है कि किसी लेखक या कवि ने फ्रायड की एडियस जटिलता की या एकुलर की शासन की भूख को अच्छी तरह समझा हो, तभी वह अपनी रचनाओं में अच्छा मानसिक घात-प्रतिघात चित्रित कर सकेगा। अच्छा कलाकार बहुत पैनी दृष्टि का अधिकारी होता है। जहाँ लोग खड़े-खड़े केवल ऊपरी चीजों को देख रहे हैं, और अपने मन में कोई कार्यकारण सम्बन्धयुक्त चित्र बनाने में असमर्थ हैं, वहाँ पैनी दृष्टिवाला व्यक्ति घटनाओं की पृष्ठ-भूमि तक पहुँचकर गूढ़ कार्यकारण परम्परा तथा घात-प्रतिघातों को प्रत्यक्ष करने में समर्थ होगा। इसलिए यदि किसी लेखक ने फ्रायड आदि के साहित्य का कम पढ़ा है या नहीं पढ़ा है, तो वह बिल्कुल गावदी होगा, और

उसकी रचनाओं में मनोविज्ञान छिछला, और ऊपरी सतह को छूने वाला होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्रेमचन्द के चरित्र अक्सर टाइप न कि व्यक्ति, इसलिए प्राणों की कमी

हमने प्रेमचन्द के लिए यह कभी दावा नहीं किया कि उनमें कुछ त्रुटि नहीं है, बल्कि हम तो बराबर इस बात को कहते रहे हैं कि उनके उपन्यासों के चरित्र इस प्रकार चित्रित होते हैं कि अनेक क्षेत्रों में वे उनको व्यक्ति से कहीं अधिक टाइप बनाकर छोड़ देते हैं। ऐसी हालत में उनके उपन्यासों में उतनी सजीवता नहीं आ पाती जितनी उदाहरणार्थ शरत् बाबू के चरित्रों में आ पाती है। यह त्रुटि वाकई अक्सर खटक जाती है। अंग्रेजी के लेखकों में स्टर्न के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उनमें बड़े से बड़े उपन्यासकारों के सभी गुण थे। 'उनमें कल्पना थी, व्यंग था, अश्लीलता में आनन्द लेने की सामर्थ्य थी, मानवता के प्रति प्रेम था—वे सब बातें थीं जो जन्मना प्रतिभा की दैवी देन बतलाई जाती थी, किन्तु वास्तविक जगत में चरित्रों को सजीव बनाने की सामर्थ्य नहीं थी।'[१] स्टर्न इस कारण उच्चकोटि के उपन्यासकार न हो पाये। प्रश्न यह है कि क्या प्रेमचन्द की रचनाओं का मनोविज्ञान इतना कमजोर है कि उन्हें स्टर्न की श्रेणी में डाला जाय? इसका उत्तर सम्पूर्ण रूप से ना में है।

आकस्मिक चरित्र-परिवर्तन का कारण दिखाना आवश्यक

अवश्य प्रेमचन्द अक्सर अपने उपन्यासों में किसी व्यक्ति के चरित्र को बहुत आकस्मिक रूप से बदल देते हैं। यह नहीं कि

[१] N. P., p. 43

वास्तविक जीवन में ऐसी घटनायें विरल हैं। रोज हमारी आँखों के सामने लोग साव से चोर और चोर से साव, संयमी से शराबी, और शराबी से संयमी इत्यादि हुआ करते हैं, किन्तु अक्सर क्षेत्रों में ये परिवर्तन आकस्मिक ज्ञात होने पर भी आकस्मिक नहीं होते। हमें ये परिवर्तन इसलिए आकस्मिक ज्ञात होते हैं कि इस बीच में इन व्यक्तियों पर जो प्रभाव पड़ा है, उसके सम्बन्ध में हम अनभिज्ञ हैं। कई बार इस प्रकार के प्रभाव यदि वे बहुत ही शक्तिशाली धमक या वार के रूप में हुये, तो एक ही चोट में अपना काम कर जाते हैं। किन्तु कई बार यह प्रभाव धीरे-धीरे संचित होता रहता है, और एक हद पर पहुँचकर व्यक्ति के चरित्र में परिवर्तन कर देता है। इसलिए जो बात जीवन में होती है, वह यदि उपन्यास में दिखलाई जाय, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उपन्यास में चरित्र-परिवर्तन दिखलाया जा सकता है, और जाता है। किन-किन सामाजिक तथा वैयक्तिक प्रभावों के कारण एक व्यक्ति चोर से साव होता है या साव से चोर, इसे चित्रित करना एक अच्छे उपन्यासकार का विषय हो सकता है। ऐसे चित्रण में उपन्यासकार की कला में कोई आँच नहीं आती, न उसपर कोई बट्टा लगता है, बल्कि यदि किसी उपन्यासकार ने ऐसा सफलतापूर्वक दिखलाया, तो इससे उसकी कला खिल ही उठेगी।

बिना कारण चरित्र में परिवर्तन दिखाना निकृष्ट कला का द्योतक

उपन्यासकार उस हालत में कलाकार की मर्यादा से च्युत हो जाता है जब वह अपने किसी पात्र या पात्री के चरित्र-परिवर्तन के कारणों को स्पष्ट बिना किये ही उन्हें एकदम चोर से साधु बनाकर या साधु से चोर बनाकर हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। ऐसी हालत में

जिसे Conservation of character कहते हैं वह रह नहीं पाता या चरित्र रक्षा नहीं हो पाती। फिल्डिंग ने समसामयिक लेखकों के सम्बन्ध में मन्तव्य करते हुये अपनी रामजोन्स नामक पुस्तक में कहा था—'इनके पात्र साधारणतः बहुत ही कुख्यात बदमाश तथा उनकी पात्रियाँ परित्यक्ता स्वैरिणियाँ होती हैं, उन्हें ऐसा नाटक के चतुर्थ अंक तक चित्रित किया जाता है, किन्तु पंचम अंक में ये कुख्यात बदमाश शरीफ भलामानुष और स्वैरिणियाँ आदर्श महिलायें हो जाती हैं। ऐसा क्यों हुआ, इसका कोई कारण इसके सिवाय कुछ समझ में नहीं आता कि अब नाटक का अन्तिम यवनिका पतन होनेवाला है।' हडसन ने इस प्रकार के आकस्मिक चरित्र-परिवर्तन का एक उदाहरण देते हुये पामेला के एक चरित्र को दिखाया है जो एक शोहदे से एकाएक पुण्यश्लोक व्यक्ति हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बतलाया है कि डिकेन्स के भी कई पात्रों में इस प्रकार का उदाहरण मिल सकता है।[१] प्राक् प्रेमचन्द युग के हिन्दी उपन्यासकारों में भी अक्सर ऐसा होता है।

इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द पर आरोपों का स्पष्टीकरण

इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द की परिस्थिति क्या होती है, यह विचारणीय है। पहले यह देख लिया जाय कि इस सम्बन्ध में उनके विरुद्ध क्या आरोप है। जोशीजी से हमें इन आरोपों के निर्दिष्ट रूप जानने में कुछ सहायता नहीं मिलती। वे तो उनके मनोविज्ञान को अत्यन्त छिछला और ऊपरी सतह को छूनेवाला बताकर इस रौब में आगे बढ़ जाते हैं मानो उनकी बातें स्वतः सिद्ध हों, और उन्हें कोई अस्वीकार कर ही नहीं सकता। इसलिए हमें इसके लिए अन्यत्र

[१] I. S. T., p. 153

जाना पड़ेगा। अध्यापक सत्येन्द्र ने अपने एक लेख में इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द पर जो आरोप लगाये जाते हैं उनको एकत्रकर रख दिया है। कहीं गलतफहमी न हो इसलिए बता दिया जाय कि ये आरोप उनके लगाये हुये नहीं हैं, उन्होंने उनका केवल संकलन किया है, और उसके बाद उनका उत्तर दिया है।

ये आरोप इस रूप में हैं—'उनके (प्रेमचन्द के) उपन्यास घटनाओं के बोझ से दब जाते हैं, चरित्र बौने हो जाते हैं। वे यथार्थवाद से चलकर आदर्शवाद में परिणति पाते हैं। फलतः उपन्यासों का अन्त अकलात्मक हो जाता है। एक विशेष आदर्श के अनुकूल पहुँचाने के लिए अनेकों पात्रों की हत्यायें करानी पड़ती हैं, इससे एक रक्ताक्त वातावरण बन जाता है, जो कला के सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। अपने किसी प्रिय विषय की ओर कभी लेखक अधिक झुक जाता है, और कथा के सन्तुलन को बिगाड़ देता है।···प्रेमचन्द समाज-सुधारक का चेहरा ओढ़कर आते हैं, चरित्र-चित्रण समस्या के नीचे दब जाता है। प्रेमाश्रम को प्रेमचन्दजी यथार्थ से शुरू करते हैं, और आदर्श से उसका अन्त करते हैं, इसलिए उन्हें कई हत्यायें करानी पड़ती हैं। वे अपने आदर्श के विरोधी पात्रों को या तो रहने ही नहीं देते, या उनका हृदय-परिवर्तन करा देते हैं। रंगभूमि में सूरदास का चित्रण अति-शयोक्ति के सहारे प्रेमचन्द की अपनी लेखनी के बल पर खड़ा हुआ है।...ग़बन में आदर्श की वेदी पर यथार्थ का बलिदान किया गया है...।"[1]

हमने अध्यापक सत्येन्द्र द्वारा संकलित आरोपों को उद्धृत कर दिया, हम यह भी देख लें कि वे किस प्रकार प्रेमचन्द को आरोप मुक्त करते हैं। एक तो वे यह कहते हैं कि 'यथार्थ में ऊपर जो दोष

---

[1] साहित्य संदेश अगस्त सन् १६४४

बताये गये हैं, उनसे ही यदि कोई असफल उपन्यासकार हो जाता, तो संसार के श्रेष्ठतम लेखक की रचनाओं में इनसे भी अधिक दोष दिखाये जा सकते हैं।' कहना न होगा कि यह प्रकारान्तर से pleading guilty या दोष स्वीकार है, अवश्य साथ ही साथ extenuating circumstance अर्थात् दोष लाघवकारी परिस्थिति के रूप में यह बतलाया गया है कि श्रेष्ठतम लेखक की रचना में भी इस प्रकार के दोष मिलते हैं। हमें ज्ञात है कि अदालत में इस प्रकार की सफाई का कोई मूल्य नहीं है। अधिक उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है, उनकी सफाई कुछ तो इसी ढर्रे पर है, और कुछ उच्छ्वास मात्र हैं जो कुछ अंशों में सही होते हुये भी सकारण प्रमाणित न किये जाने के कारण विशेष महत्व के नहीं हैं। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द पर लगाये हुये आरोपों पर एक अन्य समालोचक श्री प्रकाशचन्द गुप्त ने क्या कहा है, इसे देखेंगे क्योंकि उन्होंने जोशीजी की तरह स्पष्ट आरोप नहीं लगाये हैं बल्कि अपने आरोपों का उदाहरणों के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते हैं 'एक आरोप हमारा यह है कि कहीं-कहीं प्रेमचन्द अस्वाभाविक हो जाते हैं। किसी घटना को तूल देते-देते वे उचित-अनुचित भूल जाते हैं। अन्धा सूरदास गाड़ियों के पीछे मील-मील भर कैसे दौड़ता है? सोफिया मिस्टर क्लार्क के साथ अकेली राजस्थान में कैसे घूमी यहाँ तक कि महाराज और दीवान भी उसे मिसेज क्लार्क समझते रहे? यह किस समाज की प्रथा में सम्भव है? कायाकल्प में मरणासन्न मनोरमा चक्रधर के आते ही बच्चे को लेकर चारों ओर दौड़ने लगी। क्या यह कथाकार के अधिकार का दुरुपयोग नहीं? कर्मभूमि में भद्र महिला सकीना अमरकान्त से दूसरी ही भेंट में घुल-मिलकर प्रेम की बातें करने लगी।'[१]

[१] न० हि० सा० पृ० ८४

मुन्नी-चरित्र में आकस्मिक परिवर्तन

एक अन्य समालोचक श्री जनार्दन झा द्विज ने इसी प्रकार कर्मभूमि के मुन्नी-चरित्र के विषय में लिखा है—"उत्थान और पतन तो लगा ही रहता है। खेद तो इस बात का है कि मुन्नी आदर्शच्युत क्यों हुई, यह बात इशारे से भी नहीं बताया गया है। आश्चर्य होता है जब हम कुछ ही दिनों बाद सहसा देखते हैं कि विधवा मुन्नी अमरकान्त (एक परपुरुष) के प्रति केवल अपना प्रेम ही नहीं प्रदर्शित करती प्रत्युत एक उसे रिझाने के विचार से 'कछनी काछे हुये, चौड़ी छाती वाले गठीले जवान के साथ (सार्वजनिक मंच पर) हाथ में हाथ मिला कर कभी कुल्हों को ताल से मटकाकर नाचने में उन्मत्त हो रही है।' उसकी 'यह बेशर्मी' स्वयं अमरकान्त से भी 'नहीं सही जाती'। पाठकों और आलोचकों से तो भला क्या सही जायगी। मुन्नी के इस शील परिवर्तन का कोई भी सन्तोषजनक कारण उपन्यास में कहीं उपस्थित नहीं किया गया है। जो आदर्श लेकर मुन्नी चलती है, वह बीच ही में क्यों टूट जाता है, इस प्रश्न के उत्तर में प्रेमचन्दजी अधिक-से-अधिक इतना ही कह सकते हैं कि 'भई, इस प्रकार की बातें जीवन में कभी-कभी अकारण ही हो जाया करती हैं'। किन्तु यह उत्तर उपन्यास कला के नाते उपयुक्त समझा जायगा या नहीं, इसमें सन्देह है।"

प्रेमचन्द पर लगाये गये आरोपों की छानबीन

हम अपनी तरफ से कुछ कहने के पहले यह बता दें कि उक्त आरोपों में से कुछ तो बिल्कुल सही नहीं है। यह सही है कि वे कहीं-कहीं उपन्यास की एक घटना को इतना तूल दे देते हैं कि वह गौण न होकर मुख्य कथा-भाग का प्रतिद्वन्दी-सा हो जाता है। सेवासदन में इसी प्रकार उन्होंने म्युनिसिपिल्टी से वेश्याओं के निकाले जाने तथा म्युनिसिपिल्टी की अन्य बुराइयों के वर्णन को अंग के अनुपात से

अधिक महत्व दिया है। शरत् बाबू को श्रीकान्त के अतिरिक्त ऐसी गलती हम करते नहीं पाते, और श्रीकान्त में यह गलती इसलिए नहीं खटकती कि वह मुख्यतः एक व्यक्ति के जर्नल के रूप में है, इसलिए उसकी खामख्याली के अनुसार कहीं किसी घटना को अधिक महत्त्व मिला है, कहीं कम, फिर भी इसका रस फीका नहीं पड़ता। श्रीकान्त सही दृष्टि से कई उपन्यासों का समूह है न कि उपन्यास, इसलिए यह त्रुटि उसमें खटकती नहीं है। प्रेमचन्द में कहीं-कहीं इस त्रुटि के बावजूद वे कभी अपने उपन्यास की दिलचस्पी को घटने नहीं देते, इस प्रकार त्रुटि के होते हुये भी वे कला का निर्वाह कर ले जाते हैं। हम यह मानते हैं कि यह त्रुटि न होती तो अच्छा रहता, किन्तु जब वह है तो इस रूप में है जिससे हम यह नहीं अनुभव कर पाते कि वे इस प्रकार रास्ते में ही किसी वस्तु पर मचल गये हैं। रहा अन्धा सूरदास का गाड़ियों के पीछे मील-मील भर दौड़ना, यह कोई ऐसी असम्भव बात नहीं है। यदि अन्धा गाड़ी के पीछे एक फर्लांग दौड़ सकता है, तो उसका स्वास्थ्य इसे गवारा कर सकने पर वह मील भर क्यों नहीं दौड़ सकेगा, यह समझना कठिन है। सोफिया जिन परिस्थितियों में मिस्टर क्लार्क के साथ अकेली राजस्थान में घूमी वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। समालोचक शायद यह भूल गये हैं कि सोफिया एक ईसाइन है, यही नहीं, ईसाइनों में भी आधुनिका है, और वह जो घूम रही है उसमें उसके पिता-माता को कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि सच बात तो यह है कि सोफिया की माता इसे पसन्द करती है क्योंकि वह समझती है कि लड़की इस प्रकार क्लार्क से फँस जायगी और उसे क्लार्क से विवाह करना पड़ेगा। कायाकल्प में मरणासन्न मनोरमा के उठ जाने की बात इसलिए अस्वाभाविक नहीं है कि वह चक्रधर के वियोग में ही मरणासन्न हुई थी, इसलिए उसके आने पर ऐसा करना बिल्कुल स्वाभाविक है। मुन्नी में जो परिवर्तन

हुआ है, उसके निगूढ़ कारणों को यदि लेखक दर्शा देते तो अच्छा होता, यह हम भी मानते हैं, किन्तु सब परिस्थितियों को देखने पर इस बात को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती कि मुन्नी में प्रकृति ने आत्मप्रकाश किया। इस Sexy साहित्य के युग में क्या यह समझना कठिन है कि क्यों एक व्यक्ति जो पहले बहुत कृच्छ्र-परायण और यति किस्म का व्यक्ति रहता है, बाद को एकदम व्यभिचारी हो सकता है। एक ऊँचे तथा स्थायी आदर्श के बग़ैर कोई भी पुरुष या स्त्री स्थायी रूप से ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी नहीं रह सकती। अवश्य ही मुन्नी के क्षेत्र में इस प्रकार का कोई आदर्श नहीं था। मुन्नी के चरित्र में अस्वाभाविकता है, किन्तु दूसरी जगह पर है। जब मुन्नी गोरों को मारने के मुकदमे से बरी हो जाती है, उस समय उसका पति उसे घर ले जाना चाहता है फिर भी मुन्नी भावुकता में आ कर घर जाने से इन्कार करती है, यह मुन्नी की तरह एक देहाती लड़की के लिए अस्वाभाविक है। अवश्य मुन्नी कोई मामूली लड़की नहीं है क्योंकि बलात्कृता होने के बाद से वह बराबर गोरों के खून की प्यासी होकर फिरती रहती है। फिर भी वह जो बार-बार घर जाने से इन्कार करती है, यह कुछ खटकता है, किन्तु इतना नहीं खटकता है कि यह कहा जाय कि प्रेमचन्द का मनोविज्ञान छिछला और ऊपरी सतह को छूता हुआ है। झाजी ने मुन्नी के परिवर्तन पर जो आपत्ति की है, वह अजीब है। सच बात तो यह है कि परिवर्तन न होता तभी आश्चर्य होता। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मुन्नी का यह कथितशील कितनी जबर्दस्त धमक या असर से टूटा है, इसे भी तो हम याद रखें। मुन्नी ने किसी मामूली चमार को तो रिझाने की चेष्टा नहीं की। यहाँ चमारों के प्रति कोई घृणा अभीष्ट नहीं है, बल्कि यहाँ केवल इस तथ्य की ओर दृष्टि आकर्षित की जा रही है कि रूप, गुण, संस्कृति, सभी दृष्टि से

जैसे चमार कर्मभूमि में दिखलाये गये हैं, उनसे अमरकान्त कहीं श्रेष्ठ था। यदि उपन्यासकार सभी बातों को आखों में उँगुली डाल कर दिखलाता रहे तो वह क्या उपन्यास होगा। सभी अच्छे लेख में कुछ बातें पाठक के लिए छोड़ दी जाती हैं कि वह उनकी पूर्ति कर ले। श्री झा जो यह कहते हैं कि मुन्नी के शील-परिवर्तन का कोई सन्तोषजनक कारण नहीं दर्शाया गया है, इसके उत्तर में हमारा नम्र निवेदन यह है कि मुन्नी के परिवर्तन में दो जबर्दस्त कारण इस उपन्यास में दिखलाया गया है—

(१) मुन्नी का यौवन और उसकी बढ़ती हुई भूख। भावुकता-वश उसने अपने पति-पुत्र को त्याग दिया, किन्तु भूख तो बढ़ती गई।

(२) अमरकान्त ऐसे पुरुष का सानिध्य, जो स्वाभाविक रूप से मुन्नी की आँखों में एकाधिक कारणों से नररत्न है। प्रेमचन्द में मनोवैज्ञानिक नुक्स निकालने के पहले मनोविज्ञान के इस प्राथमिक तथ्य को याद रखना चाहिये था कि किसके शील पर कितना दबाव पड़ता है, यह शील के टूटने और न टूटने में बहुत बड़ी बात है। जो व्यक्ति दस रुपये पाकर चोरी नहीं करेगा, वह सम्भव है कि दस लाख पाकर चोरी कर बैठे। फिर इस क्षेत्र में एक तत्व तथा तथ्य यह भी तो है कि एक सन्तुष्ट व्यक्ति जो हजार तक चोरी नहीं करेगा, वह सात दिन भूखा रहने पर यदि नगद एक लाख पाता हो तो शायद चोरी कर बैठे, इसलिए हम यह नहीं मानते कि चूँकि प्रेमचन्दजी ने खोलकर इस प्रकार से नहीं कहा है, इसलिए वे घटिया दर्जे के मनोवैज्ञानिक हैं, इसके विपरीत हमारा यह विचार है कि कुछ हद तक पाठक पर यह छोड़ देना चाहिये था कि वह तथ्यों को अनुमान कर ले। अवश्य यदि एकाध पत्र या अन्य परोक्ष उपाय से बात थोड़ी और साफ कर दी जाती, तो कदाचित् अच्छा रहता।

रचना की कुछ त्रुटियाँ

अब हम अपनी तरफ से कुछ ऐसे उदाहरण देंगे जिनमें प्रेमचन्दजी ने चीजों को कम साफ किया है। कर्मभूमि का सलीम हमारे सन्मुख एक तितली प्रकृति सुखान्वेषी के रूप में आता है, वह जैसे-तैसे इम्तहान पास करते-करते हाकिम बन जाता है, हाकिमों में भी वह बहुत कड़ा हाकिम रहता है, किन्तु बाद को वह जेल जाने वाले देश भक्तों में परिणत हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन कोई असम्भव बात नहीं है, किन्तु जो कारण दिखलाये गये हैं वे यथेष्ट नहीं प्रतीत होते। उसे न तो कोई गहरा धक्का लगा है, न उस पर कोई कुमिक असर ही ऐसा पड़ते हुये दिखाया गया है जिसके कारण इस परिवर्तन को सही समझा जा सके। इसी उपन्यास में सकीना पहले अमरकान्त पर आसक्त दिखलाई जाती है, फिर वह स्वेच्छा से सलीम की बीबी हो जाती है। जिसमें इतना सत्साहस था कि कुमारी अवस्था में पर पुरुष से (स्मरण रहे अमरकान्त विवाहित है) प्रेम-व्यवहार करती हुई पकड़ी जाकर भी बुढ़िया अभिभाविका से लड़ जाती है, उसे कोई धक्का नहीं लगता, फिर वह कैसे एक दूसरे ही पुरुष की प्रिया बनने को तैयार हो जाती है ? हाँ, इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उसमें समाज के साथ संग्राम करने की शक्ति इतनी ही थी, और उसने जब देखा कि समाज किसी भी तरह अमरकान्त से मिलन नहीं होने देगा, साथ ही उसने यह अनुभव किया कि अमरकान्त पीछे हट गया है तब उसने गतानुगतिक समाज के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार की सफाई कोई बहुत अयुक्तिसंगत न होगी, किन्तु इसे कुछ साफ कर देने की आवश्यकता थी कि सकीना ने ऐसा समाज के उत्पीड़न से किया, यह सकीना का आत्म-समर्पण था, तो कहीं अधिक अच्छा रहता। जिस रूप में यह दिखलाया गया है, उससे तो यही ज्ञात होता है कि प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यास के अन्य

पात्रों की ज़रूरत की बलिवेदी पर सकीना को बल्कि मनोविज्ञान को चढ़ा दिया।

प्रेमाश्रम में जिस समय ज्ञानशङ्कर रायसाहब को विष देकर अपने मार्ग को निष्कंटक करना चाहता है, उसमें हम यह देखते हैं कि जानते-बूझते हुये भी रायसाहब विष वाली मिठाई के कई कौर उठा कर जल्द-जल्द खाने लगे। एक तो यह अस्वाभाविक बात है, अवश्य इस अस्वाभाविकता को ढकने के लिए प्रेमचन्दजी यह दिखलाते हैं कि रायसाहब ऐसे योगी हैं कि वे विष को पचा सकते हैं, तभी वे ऐसा कर रहे हैं। जो कुछ भी हो दूसरी अस्वाभाविकता यह है कि जब रायसाहब इस प्रकार जल्द-जल्द कई कौर खा गये तो ज्ञानशङ्कर तेजी से लपके और थाल उठाकर जमीन पर पटक दिया और बिलख-बिलख कर रोने लगे। आखिर यह क्यों ? ऐसा प्रेमचन्दजी क्यों दिखलाते हैं वे इस बात से साफ कर देते हैं कि रायसाहब की योगसिद्धि ने उसे परास्त कर दिया। स्वाभाविकरूप से योग के बल को दिखाने के लिए ही मनोविज्ञान की यह हत्या करनी पड़ी।

'प्रतिज्ञा' में प्रमचन्द शुरू से पूर्णा को जिस प्रकार से चित्रित करते हैं, उससे यह बात समझ में नहीं आती कि वह अन्त में कमलाप्रसाद के चंगुल से बच कैसे जाती है। वह स्वयं रात को उठकर कमलाप्रसाद के यहाँ जाती है, उससे कई बार हाथ पकड़वाती है, कमलाप्रसाद के कहने पर रेशमी साड़ी का अंचल सिर पर रख कर आइने में मुँह देकर हँसती है, फिर भी वह फँसती कैसे नहीं है, यह समझ में नहीं आता। 'बरदान' में बिरजन के पत्रों को पढ़कर ज्ञात होता है कि कमलाचरण की हो चुकी, किन्तु दूसरे ही क्षण हमें बिल्कुल दूसरी ही बात दृष्टिगोचर होती है। इसी उपन्यास में प्रताप का चरित्र भी बहुत कुछ अस्वाभाविक है। कर्मभूमि की जोहरा का सारा चरित्र बहुत कुछ यांत्रिक या ज्ञ होता है, और लेखक उसमें जीवन का संचार नहीं कर पाता। कैसे

वह एकाएक एक बाजारू वेश्या से आदर्शचरित्र स्त्री हो गई, इसका ठीक-ठीक स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। 'गोदान' प्रेमचन्द का सबसे विकसित उपन्यास है, किन्तु इसमें भी हम देखते हैं कि मालती पहले एक तितलीनुमा स्त्री के रूप में दिखाई जाती है, वह इस उपन्यास के कई पात्रों को उँगुलियों पर नचाती फिरती है। बाद को चलकर प्रेमचन्दजी इसी स्त्री को बहुत ही बदले हुए रूप में दिखलाते हैं; अब उसमें वह तितलीपना नहीं है, वह सेवा-मार्ग को अपनाती है। अवश्य मेहता नामक एक व्यक्ति के संस्पर्श में आकर उसका चरित्र इस प्रकार बदलता है, ऐसा प्रेमचन्दजी दिखाने की चेष्टा करते हैं, किन्तु इसमें वह सफलता प्राप्त नहीं करते।

श्री जनार्दन झा ने प्रेमचन्दजी की रचनाओं में पूर्वापर विरोध दिखलाये हैं जो इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। सेवासदन में सुमन को एक बार इस रूप में चित्रित किया जाता है कि उसने भोली बाई का कमरा देखा ही नहीं, और फिर इसके विपरीत वर्णन आता है। कर्मभूमि वाली बुढ़िया पठानिन पहले तो अपने को गायघाट की रहनेवाली बताती है, फिर वह कहती है कि 'गोबर्धन-सराय' में ही उसके दो बेटे, दो बहुयें, उनके दो बच्चे रहे, और अब वही अपने अन्तिम दिन गिन रही है। इस प्रकार और भी बहुत-सी छोटी-मोटी त्रुटियाँ प्रेमचन्द के विराट साहित्य में दिखलायी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त यह तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उनका यह पहलू अपेक्षाकृत कमजोर है। शरत् बाबू के उपन्यास तथा रवि बाबू की कहानियों के मुकाबिले में इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द अवश्य ही इनसे यथेष्ट घटकर दिखलाई देंगे। यदि इस दिशा में वे शरत् बाबू के समकक्ष होते, तो इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साहित्य में सबसे बड़े उपन्यासकार समझे जाते। वर्गसंघर्ष के चित्रण की दृष्टि से तो हम यह दिखा चुके हैं कि वे अपराजेय हैं।

प्रेमचन्द अच्छे चरित्र-निर्माता कहने से कुछ साफ नहीं होता

जिन लोगों ने प्रेमचन्द के विरुद्ध मनोविज्ञान-सम्बन्धी न्यूनता की आवाज उठाई है, एक हद तक उनका आरोप ठीक होने पर भी वे अपने आरोपों का स्पष्टीकरण नहीं कर सके। अधिकतर वे इतना कहकर रह गये कि उनमें त्रुटि है, इससे अधिक वे नहीं कह सके, या जो स्पष्टीकरण भी किया तो उससे आरोप सही तौर पर प्रमाणित नहीं हुए। जहाँ इन लेखकों ने प्रेमचन्द को इस सम्बन्धी न्यूनता की ओर इशारा किया है, वहीं उनको यह भी चाहिये था कि उनकी खूबियों को भी खोलकर दिखलाते। अवश्य उनकी प्रशंसा की गई है जैसे 'चरित्र-चित्रण' में प्रेमचन्द उस्ताद थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक पात्र दिये हैं। छोटे-बड़े पात्र तो उनकी कथाओं में अगणित भरे पड़े हैं, किन्तु इनमें कुछ हमारी जीवन-लीला के चिरसंगी बन गये हैं। सूरदास विनय, अमरकान्त अथवा होरी इतिहास के अमर पात्रों से कम नहीं। इसी प्रकार स्त्रियों में सुमन अथवा सोफी को समझना चाहिये। प्रेमचन्द को मनुष्य-स्वभाव का अपरिमित ज्ञान था। बालक, बूढ़े, युवा, स्त्री, पुरुष सभी के स्वभाव की उन्होंने विशद व्याख्या की है। ...... वह जानते थे कि ऊँचे से ऊँचे भी नीचे ढुलक पड़ते हैं, और नीचे से नीचे भी पश्चात्ताप की आग में जल ऊपर उठने की क्षमता रखते हैं। सूरदास और होरी के स्वभाव में दुर्बलतायें हैं, और कालेखाँ शरीखे चोर डाकुओं के मनों में उच्च भावनायें हैं। इन उदारतामिश्रित स्वाभाविकता से प्रेमचन्द के पात्रों की गढ़न हुई है।'[१]

[१] न० हि० सा० पृ० ८०-८१

प्रेमचन्द में मानव-मन के द्वन्दवाद का चित्रण

उद्धृत किस्म की प्रशंसा कोई बहुत गहराई तक नहीं जाती और न इस प्रकार की प्रशंसा से प्रेमचन्द की कला का मर्मोद्घाटन होता है। समालोचक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह बहुत लम्बी-चौड़ी बातें करें, दो-एक छोटे वाक्यों में और कुछ उदाहरणों से किसी उपन्यासकार की कला की आत्मा तक पहुँचा जा सकता है। हम पहले ही प्रेमचन्द की कला के सम्बन्ध में एक ऐसी बात कह चुके हैं जो उनकी कला पर बहुत जबर्दस्त सर्चलाइट डालती है। हमने यह दिखलाया है कि प्रेमचन्द किस खूबी से दो पुश्तों के लोगों की अलग-अलग भावनाओं का चित्रण करते हैं। इसी प्रकार की एक बात यह है कि प्रेमचन्द किसी को यहाँ तक कि बड़े से बड़े को विशुद्ध भला या विशुद्ध बुरा करके चित्रित नहीं करते। आधुनिक मनोविज्ञान का यह कहना है कि मनुष्य प्रकृति ambivalent होती है याने उसमें 'सु' और 'कु' एक साथ रहता है। जो लोग निरवच्छिन्न 'कु' या 'सु' में विश्वास नहीं करते वे इसको शायद यों कहना पसन्द करें कि व्यक्ति अपने निजी स्वार्थों में तथा समाज के स्वार्थ में किसको अपनावे, इसके द्वन्द में पड़ा रहता है। इसीको अन्तर्द्वन्द कहते हैं। To be or not to be यह केवल हैमलेट की समस्या नहीं है, बल्कि व्यक्तिमात्र की समस्या है। आधुनिक मनोविज्ञान यह बताता है कि अत्यन्त मित्र भी कभी-कभी इस प्रकार सोचता है जिसके सामने शत्रु भी शर्मा जावे। इसी प्रकार शत्रु भी कभी-कभी मित्र की तरह सोचता है। इन दो परस्पर-विरोधी भावनाओं के बीच में मनुष्य का चरित्र बनता जाता है, अवश्य कहीं गलतफहमी न हो इसलिए यह बता दिया जाय कि यह जो अन्तर्द्वन्द होता है यह कोई विशुद्ध रूप से व्यक्ति के मन की समस्या नहीं है, समाज तथा वातावरण के बात

प्रतिघात से ही व्यक्ति इस प्रकार की ढुलमुलयकीनी में पड़ा रहता है।

प्रेमचन्द और शोलोकाफ

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में यह बार-बार कहा गया है कि वे गांधीवाद से बहुत अधिक प्रभावित थे, किन्तु मनुष्य के मन के अन्तर्द्वन्द को चित्रित करने में वे कतई गांधीवादी नहीं थे। उन्होंने अपने विराट साहित्य में शायद ही किसी निरवच्छिन्न वीर की सृष्टि की हो। इस मामले में वे अच्छे से अच्छे सोवियट लेखक जैसे शोलोकाफ की तरह हैं। शोलोकाफ अपने उपन्यासों में बाल्शेविकों का जो चित्रण करते हैं, उनमें बाल्शेविकों को कभी भी अतिमानव, कमजोरी से परे करके चित्रित नहीं किया गया है। उनकी 'निराई हुई जमीन' में वे डेविडाफ नामक जिस वीर का चित्रण करते हैं, वह 'ग्लब स्ट्रूवे' के अनुसार अधिक वीरता का परिचय नहीं देते।[१] उनकी एक अन्य पुस्तक 'शान्त डान' (अंग्रेजी में And quiet flows the don) में बुनचुक नामक एक पात्र है, जो जिसे आदर्श-रूप में बतलाया गया है। यह एक बाल्शेविक आन्दोलनकारी है, 'बाद को मशीनगन-टुकड़ी का नेता हो जाता है, और इसका अन्त उन कसाकों के हाथों से गोली खाकर होता है जो बाल्शेविक विरोधियों के साथ मिल गये हैं। किन्तु इस पात्र को भी अपने जीवन के अपराह्न में समस्त मानवीय दुर्बलताओं से युक्त एक मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है न कि बाल्शेविक सदगुणों के आकार के रूप में। इसके साथ ही शोलोकाफ बाल्शेविकवाद के विरोधियों को भी वीरता से समन्वित करने से नहीं चूकते, और बुनचुक के हाथों में कसाक-अफसर कालिमीकाफ की जिस प्रकार मृत्यु होती है, उसके वर्णन में गौरव का

---

[१] S. R. I.

एक स्पर्श है। इसी प्रकार कसाक अतमानकालेडीन जो श्वेत सेना के नेताओं के साथ मिल गया था, उसके चित्रण में भी प्रचलित शत्रुता का भाव नहीं दिखलाया जाता, और जिन अध्यायों में उसका चित्रण किया गया है उनमें सचमुच एक वास्तविक ट्रेजडी की भावना दिखाई पड़ती है, विशेषकर जहाँ पर उसकी आत्महत्या का दृश्य दिखलाया गया है, उसमें तो ट्रेजडी ओत-प्रोत है।[1]

प्रेमचन्द भी इसी प्रकार अत्यन्त प्रशंसनीय वस्तुवाद से परिचालित होकर इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की द्विधा विभक्तता— Zwiespalt को खूब चित्रित किया है। प्रेमचन्द का कोई भी पात्र शायद देवता नहीं है। अवश्य इसमें हम मायाशङ्कर को अपवाद रूप में गिन सकते हैं, किन्तु उसके विषय में हम यह बता चुके कि किन परिस्थितियों में तथा किन प्रभावों के वशवर्ती होकर इस पात्र की कल्पना की गई थी। सच बात तो यह है कि मायाशङ्कर बहुत थोड़े क्षण के लिए हमारे सन्मुख आता है, इसलिए हम उसमें कोई बुराई नहीं पाते, किन्तु यदि इसके विपरीत मायाशङ्कर का समग्र जीवन हमारे सन्मुख आता तो हम अवश्य ही देखते कि इस पात्र में भी चारित्रिक द्वन्दवाद निभाया गया है। होरी के चरित्र में तो यह द्वन्दवाद बहुत स्पष्ट हो जाता है। जिस भाई के द्वारा बहुत भारी अपराध हो जाने पर भी वह अपनी स्त्री से लड़कर उसकी तलाशी रुकवाने के लिए पुलिसवालों को घूस देने के लिए तैयार हो जाता है, उसी भाई में वह बाँस वाले से मिलकर दो-चार रुपये के लिए ठगना चाहता है। सेवासदन के पद्मसिंह सुमन की मदद करना चाहता है, किन्तु वही उसके चरम पतन का कारण स्वरूप होता है। गबन के रमानाथ के चरित्र में तो इस प्रकार हर पग पर अन्तर्द्वन्द्व है। वह अपनी स्त्री से प्रेम

[1] S. R. I.

रखता भी है, और नहीं भी रखता है। मनोरमा का चरित्र भी इसी प्रकार के ढुलमुलयक़ीनी से भरा हुआ है। चक्रधर गान्धीवाद का प्रतिनिधि और किसान-आन्दोलन का नेता है, किन्तु वही एक किसान को एक मामूली अपराध पर इतना मारता है कि वह मर जाता है। स्मरण रहे हम ऐसे चरित्रों में ढोंगियों को नहीं गिन रहे हैं, इन लोगों के व्यक्तित्वों में ही इस प्रकार के द्वन्द अन्तर्निहित ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार रंगभूमि का विनयसिंह एक तरफ तो इतना घोर अहिंसावादी है कि अन्यायपूर्वक कैद किये जाने पर भी जब वीरपालसिंह उसे जेल से भगाने आते हैं तो वे भागने से इन्कार कर देते हैं कि जो कुछ होगा कानूनी रूप से हो, किन्तु दूसरी तरफ वे जिस समय मोटर में दीवान साहब के मकान की ओर जाते हैं तो शोफर को इस बात के लिए उत्साहित कर देते हैं कि वह मौका लगाकर अन्यायी दीवान को मोटर से गिरा दे। अवश्य बाद को वे पछताते हैं; यह दूसरी बात है। कर्मभूमि का कालेखाँ भी इसी प्रकार एक चोर डाकू है जो दो पैसे के लिए किसी का गला काट सकता है, किन्तु दूसरी ओर जब वह जेल में जाता है, और अमर से उसकी भेंट होती है तो वह उसे चक्की पीसने नहीं देता, स्वयं ही उसके लिए भी चक्की पीसता है। इस प्रकार अमर की चक्की पीसने के पीछे परोक्षरूप से शायद यह विचार रहा हो कि अमर उसी रईस का लड़का है जिसके यहाँ वह वर्षों से चुराये हुये सोने-चाँदी के गहने आदि बेचा करता था, किन्तु बाद को चलकर कालेखाँ का चरित्र स्पष्ट हो जाता है। वह नमाज पढ़ता हुआ जेल अफसरों के द्वारा मार डाला जाता है। इस प्रकार इस व्यक्ति के चरित्र में हम शोहदा और शहीद दोनों पहलू को बहुत स्पष्टता के साथ देख सकते हैं।

प्रेमचन्दजी ने अपने चरित्रों का इस प्रकार द्वन्द्वात्मक तरीके से जो चित्रण किया है वह सज्ञानकृत है, इसका परिचय हम उन्हीं के

एक लेख से प्राप्त करते हैं। वे लिखते हैं 'चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती बल्कि यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा, और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।'[1]

कथित अन्तर्द्वन्द्व वैयक्तिक या सामाजिक

हम और अधिक व्यौरे में नहीं जायेंगे, किन्तु हम इस अवसर पर पाठक की दृष्टि इस ओर बिना आकर्षित किये नहीं रह सकते कि इन अन्तर्द्वन्द्वों का स्वरूप क्या है। क्या ये केवल व्यक्ति तक सीमित अन्तर्द्वन्द्व हैं, या समाज तथा वाह्य जगत के घात-प्रतिघात के कारण इन दृश्यमान अन्तर्द्वन्द्वों का उदय होता है। होरी जिस समय दो-चार रुपयों के लिए अपने भाई को ठगना चाहता है, उस समय क्या वह गरीबी के शिकार होने के कारण ही ऐसा नहीं करता? क्या कोई भाई और होरी-सा भाई अपने भाई को भीषण गरीबी के अलावा किसी और हालत में इस प्रकार धोखा देने की चेष्टा कर सकता था? हमने अन्तर्द्वन्द्व की स्वाभाविकता पर जो कुछ कहा है, उससे यह गलत-फहमी हो जाना बहुत स्वाभाविक है कि हमारे अनुसार बुनचुक पर होरी की कमजोरियाँ और सहजोरियाँ दोनों चिरन्तन हैं, ऐसी ही सदा से चली आई है, और ऐसी ही सदा रहेगी, यहाँ तक कि सोवियट रूस में भी ऐसा ही है। यदि यह गलतफहमी हुई हो तो वाकई बहुत गलत

---

[1] कु० वि० ७७

धारणा उत्पन्न हुई, इसमें सन्देह नहीं। होरी के उल्लिखित अन्तर्द्वन्द के इतिहास में हम यह देख सकते हैं कि होरी स्वाभाविक रूप से अच्छा है, भ्रातृवत्सल है, किन्तु समाज ने उसे भी गरीबी की चक्की में पीस कर धोखेबाज बनने के लिए विवश किया है। हम यह नहीं कहते कि जिस समय समाजवादी समाज की स्थापना के द्वारा इस प्रकार के असत दबावों का अन्त हो जायगा, उस समय किसी प्रकार का अन्तद्वन्द नहीं रहेगा। उस समय अवश्य ही अन्तर्द्वन्द वर्तमान रूप में न होगा, इतना ही हम कह सकते हैं, तथा वे समाज के दमनकारी प्रभाव के कारण न होंगे।

रमानाथ के अन्तर्द्वन्द में वाह्य परिस्थितियाँ जो हिस्सा अदा करती हैं, वे बिल्कुल स्पष्ट हैं। उसके दिमाग में शराफत तथा मर्यादा की जो धारणा है जिसके कारण वह पग-पग पर झूठ बोलता है, और अपनी स्त्री को भी वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में अँधेरे में रखता है, जिसके कारण वह अन्त में गबन करता है, और उसके परिणाम से बचने के लिए भाग निकलता है, अवश्य ही वे धारणायें उसके मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं हुई थीं। उसने इन धारणाओं को अपने निम्नमध्यवित्त समाज में प्राप्त किया था। उसके पिता दयानाथ को भी लिया जाय तो वह घूसखोरी से नफरत करता; किन्तु वही विवेक-बुद्धि-सम्पन्न दयानाथ परिस्थितियों में पड़कर अपने लड़कों को पतोहू के गहनों को चुराने के लिए प्रोत्साहित करता है। क्या यह सब केवल अन्तर्द्वन्द है? स्पष्ट ही हम यहाँ समाज तथा वाह्य परिस्थितियों को देखते हैं। मनोरमा और चक्रधर में भी हम ये ही बातें देखते हैं। मनोरमा इच्छानुरूप व्यक्ति से विवाह नहीं कर पाती, भावुकतावश दूसरे से विवाह करती है, इसीके कारण उसका सारा अन्तर्द्वन्द है, इसके लिए कौन जिम्मेदार है? समाज या मनोरमा का विशेष व्यक्तित्व। चक्रधर जो किसान को मार डालता है उसमें क्या हम उसके वर्ग चरित्र

को ही नहीं देखते ! इस प्रकार सभी अन्तर्द्वन्द समाज से अभिन्न हैं। एक स्थान पर जाकर यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि जिसे हम अन्तर्द्वन्द समझ रहे हैं, वह कहाँ तक उस व्यक्ति की मानसिक विशेषता के कारण है, और कहाँ तक सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के कारण है। इस पहलू को अच्छी तरह चित्रित करने के कारण प्रेमचन्द अभिनन्दनीय हो जाते हैं।

प्रेमचन्द-साहित्य में कथोपकथन

किसी उपन्यासकार की शैली साथ ही साथ मनोविज्ञान-सम्बन्धी सफलता अथवा विफलता को कूतने के लिए यह भी देखना आवश्यक हो जाता है कि उस लेखक ने कथोपकथन का कितना सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया है। अच्छे कथोपकथन से उपन्यास की रोचकता बढ़ती है। कथोपकथन जितना ही स्वाभाविक, दिलचस्प तथा प्रतिभामंडित होगा, उतना ही उपन्यास सफल होगा। उपन्यास में कथोपकथन केवल निष्क्रिय विचार-विनिमय मात्र नहीं है, अक्सर कथोपकथन के जरिये से कथानक का विकास होता है, और उनके नये-नये ऐसे पर्दे खुल जाते हैं जो अब तक दृष्टि के अन्तराल में थे। भाषा के प्रयोग या कथोपकथन के सम्बन्ध में आमतौर से यह बतलाया जाता है कि ऐसा विचार विनिमय के लिए ही होता है, किन्तु जैसा कि तालेराँ ने कहा था भाषा का प्रयोग अपने मनोभावों को छिपाने के लिए भी हो सकता है। हम अपने मामूली जीवन में भी अक्सर कथोपकथन के इस पहलू को प्रत्यक्ष करते हैं। कथोपकथन चाहे मनोभावों को व्यक्त करने के लिए हो, अथवा मनोभावों को छिपाने के लिए होते हों, उपन्यासकार दोनों तरह के कथोपकथन को अपनी कला के लिए इस्तेमाल कर सकता है। हम प्रेमचन्द की रचना में दोनों तरह के कथोपकथन के नमूने पाते हैं। मनोभावों को छिपाने के लिए कथोपकथन का व्यवहार

ढोंगी, धर्मात्मा तथा पुलिसवाले करते हैं। इसका हम चाहें तो प्रेमचन्द के साहित्य से गाड़ियों उदाहरण दे सकते हैं। जिस समय कायाकल्प के मुन्शीजी लौगी से अपनी बात मनवाने के लिए एक नकली ज्योतिषी को बुला लाते हैं, उस समय मुन्शीजी की बातचीत अपने मनोभावों को छिपाने के लिए अर्थात् गलत प्रभाव डालने के लिए होती है। गोदान में होरी भोला से चिकनी-चुपड़ी बातकर जब उसकी शादी करवाने की उम्मीद दिलाता है, और सोचता है कि इसे किसी प्रकार शादी नहीं करनी चाहिये उस समय वह भाषा का तालेरों वाला प्रयोग कर रहा है। इसी उपन्यास में होरी जिस समय सहुआइन से अपने मतलब के लिए यह कहता है कि तुम अभी बुढ़िया कैसे हो गईं, भाभी, तब फिर यह बातचीत उसी श्रेणी में आती है। अन्यत्र इसी उपन्यास में यही होरी भोला की वह बीबी जो नोखेराम से फँसी हुई है, उसके साथ भी 'ठकुरसुहाती' से काम लेता है।

कथोपकथन के दौरान में कथानक में मौलिक परिवर्तन

प्रेमचन्द-साहित्य में कई बार तो बातचीत के दौरान में ऐसी कहा-सुनी हो जाती है कि बातचीत करने वालों के जीवन का काया-पलट हो जाता है। सेवासदन में सुमन और उसके पति गजाधर में जो बात-चीत में गरमागर्मी हो जाती है, और जिसके फलस्वरूप सुमन घर छोड़कर चल देती है, वह बातचीत कितनी महत्वपूर्ण है ? इसी बात-चीत के फलस्वरूप सुमन अन्त में वेश्या हो जाती है, और गजाधर साधु हो गया। इसी प्रकार निर्मला में बाबू उदयभानुलाल और उनकी स्त्री में इस बात पर वादविवाद होता है कि कन्या का विवाह धूमधाम से किया जाय या नहीं। यह वादविवाद इतना तूल पकड़ता है कि उदयभानुलाल ने यह तय किया कि वे अपना कुर्ता घाट के किनारे रखकर मिर्जापुर चले जायेंगे। उन्होंने ऐसा ही करना चाहा किन्तु

रास्ते में ही चोरों ने उनको मार डाला। निर्मला का लगा-लगाया विवाह टूट गया। यहीं से निर्मला के जीवन की भयंकर ट्रेजडी का सूत्रपात होता है। प्रेमाश्रम में जब जमीन्दार के लोगों के हाथों से पिटकर बलराज की माँ आती है, और अपने पति तथा पुत्र को बताती है कि किस प्रकार उसका अपमान हुआ, तो इसी पर मनोहर रात को उठकर कारिन्दे की हत्या कर डालता है। इसके फलस्वरूप गाँववाले जिस प्रकार बरबाद हो जाते हैं, और मुश्किल से सम्हलते हैं, प्रेमाश्रम मुख्यत: उसीकी कहानी है।

उपन्यास या नाटक में कथोपकथन के स्वरूप की आलोचना करते हुये हडसन ने यह बतलाया है कि कथोपकथन का पहला गुण तो यह होना चाहिये कि वह कथानक से सम्बद्ध हो तथा कथानक को विकसित करने में मदद देता हो। यदि ऐसा न हुआ तो वह कथोपकथन बहुत कुछ बोझ-सा हो जाता है। जहाँ कथोपकथन केवल इसलिए कराया जाता है कि किसी विषय पर पाठक के सामने लेखक अपने विचारों का स्पष्टीकरण करे, किन्तु उस कथोपकथन का कथानक से कोई अंगांगी या आवयविक सम्बन्ध न हो, तब तो वह रस के परिपाक में सहायक न होगा। शरत् बाबू ने उन्हें पात्रों के द्वारा बहुत स्थानों पर दीर्घ कथोपकथन कराया है, किन्तु अक्सर वे कथोपकथन को कथानक के दायरे में रखने में समर्थ रहते हैं। कथोपकथन उन पर या उनके कथानक पर हावी नहीं हो पाता। चरित्रहीन में किरणमयी और दिवाकर में नारी के रूप पर जो अत्यन्त कवित्तपूर्ण साथ ही दार्शनिक बातचीत हुई है, वह स्वयं विश्व-साहित्य का एक हिस्सा है, किन्तु यह कथोपकथन दीर्घ होते हुये भी किसी भी प्रकार लेखक के हाथ से निकलकर नहीं जा पाता। वह कथोपकथन कथावस्तु को विकसित होने में सहायता देता है। प्रेमचन्द भी अक्सर क्षेत्रों में कथोपकथन और कथावस्तु में इस तारतम्य को निभा पाते हैं, किन्तु

कहीं-कहीं ऐसा भी है जैसे सेवासदन में जब वेश्याओं को शहर से निकालने पर वादविवाद इतना तूल पकड़ जाता है कि यह ज्ञात होता है कि कोई तारतम्य नहीं रह जाता। प्रेमचन्द के अन्य दो समसामयिक उपन्यासकार शरत् और कन्हैयालाल मुन्शी के साथ तुलना करते हुये श्री धूर्जटीप्रसाद ने यह ठीक ही लिखा है कि 'प्रेमचन्द कथोपकथन का प्रयोग करते हैं, किन्तु वे नाटकीय नहीं हो पाते। इस क्षेत्र में शरत् और कन्हैयालाल उन पर बाजी मार लेते हैं। कन्हैयालाल को नाटकाकार रूप में कथोपकथन के सम्बन्ध में अनुभव प्राप्त है, किन्तु शरत् बाबू कदाचित् अपनी अन्तर्निहित शक्ति के कारण इसे निभा ले जाते हैं। फिर भी प्रेमचन्द की ताकत इस बात में है कि वे वास्तविक जीवन को मूर्त कर पाते हैं। इसीमें उनकी कला है।'[1]

नारी के रूप पर प्रेमचन्द और शरत्

चरित्रहीन में किरणमयी और दिवाकर में जो बातचीत होती है, उसके विषय से मिलते हुए विषय पर प्रेमचन्द गोदान में कुछ कहते हैं। मेहता और मालती के प्रेम को दिखलाते हुये वे कहते हैं कि 'ज्यों-ज्यों वह मालती को निकट से देखते थे, उनके मन में आकर्षण बढ़ता जाता था। रूप का आकर्षण तो उन पर कोई असर नहीं कर सकता था। यह गुण का आकर्षण था।' फिर वे आगे कहते हैं 'यह मेहता जानते थे कि जिसे सच्चा प्रेम कह सकते हैं, केवल एक बन्धन में बँध जाने के बाद ही पैदा हो सकता है।...इसके पहले जो प्रेम होता है, वह तो रूप की आसक्ति मात्र है, जिसका कोई टिकाव नहीं, मगर इसके पहले यह निश्चय तो कर लेना ही था कि जो पत्थरसाहचर्य के खराद पर चढ़ेगा, उसमें खरादे जाने की क्षमता है भी या

[1] M. I. C., p. 168

नहीं।' यह मत लेखक का है, जिन लोगों ने दिवाकर और किरणमयी की उस बातचीत को पढ़ा है, उन्हें मालूम होगा कि उसके मुकाबिले में भाव और भाषा दोनों दृष्टि से प्रेमचन्द की उक्तियाँ फीकी पड़ जाती हैं।

आत्म-दोष-स्वीकृति के लिए कथोपकथन का उपयोग

प्रेमचन्द अक्सर कथोपकथन को आत्मदोष-स्वीकृति के लिए व्यवहार करते हैं। उनके पूरे साहित्य में कई व्यक्ति ऐसे हैं जो इस प्रकार अपने दोषों को स्वीकार करते हैं। सच बात तो यह है कि इन क्षेत्रों में आत्मदोष-स्वीकृति एक व्यक्ति के दोष की स्वीकृति नहीं बल्कि एक वर्ग के दोष की स्वीकृति होती है, इसलिए ये कथोपकथन बहुत ही दिलचस्प हो जाते हैं। गोदान का पूँजीपति खन्ना कहता है······ 'मैंने अपने सिद्धान्तों की कितनी हत्या की है, कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी ली हैं। किसानों की ऊख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाँट रखें·····' इत्यादि इसी उपन्यास के रायसाहब सिद्धान्तहीन लेखक ओंकारनाथ से बात करते हुये कहते हैं—'आखिर मैं आपके पत्र का पँचगुना चन्दा क्यों देता हूँ, केवल इसलिए कि वह मेरा गुलाम बना रहे। मुझे परमात्मा ने रईस बनाया है। आपके बनाने से नहीं बना हूँ। साधारण चन्दा पन्द्रह रुपया है, आपको ७५) देता हूँ, इसलिए कि आपका मुँह बन्द रहे।...हर मौके पर आपकी कुछ न कुछ मदद करता हूँ। दीपावली, दशहरा, होली में आपके यहाँ बैना भेजता हूँ, और साल में पचीस बार आपकी दावत करता हूँ, सो किस लिए? आप रिश्वत और कर्त्तव्य दोनों साथ-साथ नहीं निभा सकते।' इसी प्रकार रंगभूमि में उदीयमान ईसाई पूँजीपति जानसेवक अपने धर्म विश्वासों की पोल खोलते हुये पुत्र प्रभुसेवक से कहता है—'मुझे अब तक तुम्हारी व्यावहारिक बुद्धि पर विश्वास था, पर अब विश्वास उठ गया। मुझे निश्चय था कि तुम

जीवन और धर्म के सम्बन्ध को भली-भाँति समझते हो, पर अब ज्ञात हुआ कि सोफी और अपनी माता की भाँति तुम भी भ्रम में पड़े हुये हो। क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ जैसे हजारों आदमी जो नित्य गिर्जे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखे बन्द करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुये हैं? कदापि नहीं। अगर अब तक तुम्हें नहीं मालूम है, तो अब मालूम हो जाना चाहिये कि धर्म केवल स्वार्थ-संगठन है। सम्भव है, तुम्हें ईशा पर विश्वास हो, शायद तुम उन्हें खुदा का बेटा या कम से कम महात्मा समझते हो, पर मुझे तो यह भी विश्वास नहीं है··। गिर्जे में न जाने से अपने समाज में अपमान होगा, उसका मेरे व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा, फिर अपने ही घर में अशान्ति फैल जायगी।' जानसेवक के इस कथन में गिर्जे पर न जाने से व्यवसाय पर बुरा असर पड़ेगा, पूँजीवादी के मन को किस सुन्दर तरीके से निकाल करके रख देता है। जिस युग में आदमी कुछ भी करे, साख घटना सबसे बड़ी दुर्घटना है, उस युग में प्रत्येक बात को व्यवसाय की भलाई-बुराई अर्थात् मुनाफे की दृष्टि से देखा जायगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

इसी उपन्यास में देशी रियासत जसवन्त नगर के दीवान साहब विनय से बातचीत करते हुये कहते हैं—मुझमें वह सत्साहस, वह सदुत्साह नहीं है जिसके उपहार स्वरूप ये सब चीजें (बेड़ियाँ आदि) मिलती हैं।······व्यक्तिगत रूप से मैं आपकी सेवाओं को स्वीकार करता हूँ, और इस थोड़े-से समय में आपने रियासत का जो कल्याण किया है, उसके लिए आपका कृतज्ञ हूँ। मुझे खूब मालूम है कि आप निरपराध हैं, और डाकुओं से आपका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। उसका मुझे गुमान तक नहीं है।......रियासतों को आप सरकार की महलसरा समझिये, जहाँ सूर्य के प्रकाश का भी गुजर नहीं हो सकता। हम सब इस हरमसरा के हब्शी ख्वाजासरा हैं। हम किसी की प्रेमरस-

पूर्ण दृष्टि को इधर उठाने न देंगे ।......आपने इस हरमसरा में घुस आने का दुःसाहस किया है ।......नादिरशाही हुक्म है कि जितनी जल्द हो सके, यह जत्था हरमसरा से दूर हटा दिया जाय ।...... आपका कथन है कि प्राणीमात्र को खाने-पहनने और शान्ति से जीवन व्यतीत करने का समान स्वत्व है । इस हरमसरा में इन सिद्धान्तों और विचारों का प्रचार करके आप हमारी सरकार को बदगुमान कर देंगे ।......रेजिडेन्ट साहब की इच्छा के विरुद्ध हम तिनका तक नहीं हिला सकते ।......सरकार की रक्षा में हम मनमाने कर वसूल करते हैं, मनमाने कानून बनाते हैं, मनमाने दण्ड लेते हैं, कोई चूँ नहीं कर सकता । यही हमारी कारगुजारी समझी जाती है, इसीके उपलक्ष में हमको बड़ी-बड़ी उपाधियाँ मिलती हैं, पद की उन्नति होती है, ऐसी दशा में हम रेजिडेन्ट के विरुद्ध क्यों करें ।

इस प्रकार दीवान साहब ने अपनी स्वीकारोक्ति में रियासतों का सारा कच्चा चिट्ठा मानो खोलकर रख दिया है । इससे यह साफ हो जाता है कि जैसा आमतौर से समझा जाता है कि केवल रियासत के राजगण ही रियासतों के पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार है, ऐसी बात नहीं, बल्कि स्वयं ब्रिटिश सरकार रेजिडेन्टों के ज़रिये से उनके इस पिछड़ेपन को कायम रखती है । पूँजीवाद स्वाभाविकरूप से सामन्तवाद का दुश्मन है, किन्तु ह्रासशील पूँजीवाद ने किस प्रकार अपनी रक्षा के लिए इस स्वाभाविक शत्रु सामन्तवाद से मित्रताकर और सामन्तवाद को चिरस्थाई बनाने का प्रयत्न कर अपनी आयु को बढ़ाने की चेष्टा की है, यह इस छोटे से कथोपकथन में स्पष्ट हो जाता है ।

प्रेमचन्द-साहित्य में इस प्रकार के और भी कथोपकथन हैं, किन्तु विस्तारभय से उनको उद्धृत करना उचित न होगा । इस प्रकार के आत्मदोष-स्वीकृति-मूलक कथोपकथन कराने में प्रेमचन्दजी अद्वितीय हैं । शरत् बाबू मुख्यतः यौन, पारिवारिक समस्याओं के उपन्यासकार हैं

इसलिए यह उचित ही है कि उनके पात्रों में इस प्रकार के कथोपकथन बहुत हैं। 'शेष प्रश्न' में तो कथोपकथन ही कथोपकथन है, और सब उल्लिखित पहलुओं पर बहुत गहरी छानबीन करते हैं, प्रेमचन्द वर्ग-संग्राम के शोषण के चित्रकार हैं, इसलिए उनके कथोपकथन में इन्हीं पहलुओं को स्पष्ट किया गया है, और इसमें उनके समकक्ष भारतीय-साहित्य में कोई नहीं है।

जैसा व्यक्ति वैसा कथोपकथन

कथोपकथन का जो दूसरा गुण है कि वह बातचीत करनेवालों की मानसिक सतह के अनुसार हो, तथा उसकी भाषा उसके उपयुक्त हो, प्रेमचन्दजी इसे इतना अच्छा निभा ले जाते हैं कि इस पर कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। अक्सर उनकी कराई हुई बातचीत इसी गुण के कारण बहुत दिलचस्प होती है, और पाठक का जी नहीं ऊबता है। यों तो उन्होंने भाषा अपने पूर्ववर्ती हिन्दी और उर्दू के सब लेखकों से ली, किन्तु कराई हुई बातचीत में विशेषकर फिसाने आजाद के लेखक का प्रभाव ज्ञात होता है। उनके उपन्यासों में किसान किसान की तरह, मजदूर मजदूर की तरह—संक्षेप में हिन्दू, मुसलमान, कारिन्दा, अफसर सब अपनी-अपनी भाषा में बातचीत करते हैं। बातचीत स्वयं ही इतनी दिलचस्प रहती है कि उसमें जी लग जाता है।

कथोपकथन में संयम-कला का गुण

हम रोजमर्रे की बातचीत में कितनी ही फालतू बातें कहते हैं जिनका उपन्यास में कोई स्थान नहीं हो सकता। मिस्टर आर्थर जोन्स ने ठीक ही कहा है कि रोज होने वाले वस्तुवादी झगड़े में कितनी ही फालतू बातें कही तथा सुनी जाती हैं, किन्तु नाटक या उपन्यास में इस प्रकार फालतू बातों के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं है। जीवन का

कैन्वास सौ वर्ष तक फैला हुआ हो सकता है, किन्तु उपन्यासकार को तो बहुत हुआ पाँच सौ पृष्ठ के अन्दर कई जीवनों को चित्रित करना पड़ता है। इसलिए स्वाभाविक रूप से इन फालतू बातों के लिए वस्तु-वादी-कला में भी कोई गुञ्जाइश नहीं है। एक उपन्यास में बातचीत इतनी ही हद तक हो सकती है जितनी हद तक वह आवश्यक हो, अर्थात् कथानक के विकास में मदद देती हो या यों कहा जाय कि कथानक पर आवश्यक रोशनी अधिक मात्रा में डालती हो। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द-साहित्य के कथोपकथन कहीं-कहीं अधिक दीर्घ हो गये हैं! फिर भी वे इस सम्बन्ध में कोई बहुत बड़ी गलती कभी नहीं करते। हम श्री जनार्दन झा की इस बात से सहमत हैं कि कथोपकथन ही प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के प्राण हैं।

प्रेमचन्द की भाषा

प्रेमचन्द की भाषा के सम्बन्ध में भी दो शब्द। यों तो वे भाषा के परम आदर्श के रूप में हैं। यदि उनके पूर्ववर्तियों या समसामयिकों के साथ उनकी तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि हिन्दी-साहित्य को उन्होंने इस सम्बन्ध में क्या प्रदान किया है। शान्तिप्रियजी ने ठीक ही लिखा है कि 'उर्दू से प्रेमचन्द ने सिर्फ एक ही सिफत ली, व्यावहारिक जीवन में मजी हुई उनकी भाषा। उसी भाषा को उन्होंने हिन्दी की संस्कृतिजन्य स्निग्धता दे दी है। यों कहें कि उर्दू के मुख पर हिन्दी का आलेप कर उन्होंने भाषा को एक नवीन शोभा दे दी है।' फिर भी जिस प्रकार शरत् और रवीन्द्र के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि कोई भी छिद्रान्वेषी पाठक ऐसा एक भी शब्द नहीं पायेगा जिसके सम्बन्ध में वह यह कह सके कि इसे बदलकर अमुक शब्द लगा दिया जाता तो अच्छा होता, मालूम होता है उन्होंने प्रत्येक शब्द को बखूबी रेत कर इस प्रकार फिट कर दिया है कि उसे वहाँ से उठाया ही नहीं

जा सकता, किन्तु प्रेमचन्द के विषय में ऐसा कहना मुश्किल है। कहीं-कहीं तो ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी चीजों को दोबारा बिना पढ़े ही छापेखाने में भेज दिया। भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द और शरत्चन्द्र में एक फर्क यह भी है कि प्रेमचन्द ज्यों-ज्यों लिखते गये, त्यों-त्यों उनकी भाषा निखरती गई, किन्तु शरत् बाबू तो मानो पूर्ण विकसित होकर ही साहित्य के सिंहद्वार के अन्दर दाखिल हुये थे। यह तो तुलना की बात हुई, किन्तु यों प्रेमचन्दजी की भाषा बहुत ही अच्छी होती है। गोदान की भाषा तो बहुत दिनों तक हिन्दी लेखकों के लिए एक स्टैन्डर्ड-सा रहेगी। कहते हैं 'उर्दू साहित्य के दिग्गज पंडित मौलाना शिवली ने एक बार अपनी यह सम्मति प्रकट की थी कि सात करोड़ मुसलमानों में एक भी आदमी प्रेमचन्द की तरह सुन्दर, कोमल और सँवारा हुआ गद्य नहीं लिखता।'[1]

समस्या को न सुलझा पाकर पात्र की मृत्यु तथा आत्महत्या कराना

हम पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि प्रेमचन्दजी पर यह आरोप रहा है कि वे समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रहकर पात्रों की मृत्यु करवा देते हैं या उनके द्वारा आत्महत्या करवा देते हैं। सूरदास और विनय की मृत्यु इस प्रकार के आरोप के लिए सबसे बड़ा आधार समझा गया है। गबन में जोहरा जो डूबकर मर जाती है, उसमें तो यह साफ दृष्टिगोचर होता है कि लेखक एक उलझन से बचने के लिए ऐसा करते हैं। निःसन्देह यह एक बहुत बड़ी त्रुटि है। झाजी ने फिर भी प्रकारान्तर से इस सम्बन्ध में प्रेमचन्द की कुछ सफाई देने की कोशिश की है। वे कहते हैं 'लेकिन प्रश्न तो यह है कि आखिर

---

[1] हं० प्र० पृ० ८८८

उस स्थल पर उस परिस्थिति में और किया ही क्या जा सकता था। यह तो ठीक है कि जितनी ही कम मृत्यु कराई जाय, उतनी ही अच्छी बात है क्योंकि पात्रों की मृत्यु कराना अधिकतर क्षेत्र में लेखक की कलात्मकअसमर्थता ही प्रकट करती है, उद्भावना शक्ति की प्रौढ़ता नहीं। किन्तु जहाँ इसीसे कला के उद्देश्य की पूर्ति होती हो, वहाँ क्या किया जाय? शेक्सपियर ने भी तो अपने सर्वोत्तम कहे जाने वाले पात्रों में कुछ कम हत्यायें नहीं कराई हैं।"[1] इसमें सन्देह नहीं कि सफाई बहुत अच्छी है, किन्तु इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि किसी कलाकार के लिए यह अच्छी बात नहीं हो सकती कि वह ऐसी समस्या की सृष्टि करे जिसे वह सुलझा नहीं सकता, और इसलिए आत्महत्या या मृत्यु करा दे। हमारा यह कहना कदापि नहीं है कि सभी मृत्यु उपन्यास-कला के लिए घातक हैं, उदाहरणार्थ निर्मला में उदयभानुलाल की मृत्यु से ही समस्या का सूत्रपात होता है। ऐसी मृत्यु आपत्तिजनक नहीं हो सकती। वे ही मृत्युयें तथा आत्महत्यायें कला की दृष्टि से त्याज्य हैं जिनके होने के कारण लेखक ने अब तक जिस उलझन की सृष्टि की है, उसका एकाएक आकस्मिकता के साथ सुलझाव नहीं, बल्कि अन्त हो जाता है। इस दृष्टि से जोहरा की मृत्यु बहुत ही भद्दी रही, इसमें कोई सन्देह नहीं।

प्रेमचन्द-साहित्य में आत्महत्याओं की भरमार है, इतनी भरमार की बाबू श्री प्रकाश ने इसी कारण उनका साहित्य पढ़ना ही छोड़ दिया था, और प्रेमचन्द से शिकायत की थी कि यह उचित नहीं है।[2] शायद ही उनकी कोई रचना हो जिसमें आत्महत्या या आत्महत्या की चेष्टा नहीं है। सेवासदन में कृष्णचन्द ने ग्लानि से गंगा में डूबकर आत्महत्या कर ली। प्रेमाश्रम में मनोहर ने जब देखा कि उसके कारण गाँव वालों

[1] प्रे० उ० क० पृ० १८५-६ [2] हं० प्रे० पृ० ७६७

को कष्ट हुआ, तो वह जेल में आत्महत्या कर लेता है। इसी उपन्यासमें ज्ञानशंकर जब देखता है कि विद्या भी उसे कुछ नहीं समझती' तो डूबने जाता है, किन्तु डूब नहीं पाता है। वरदान में प्रताप ग्लानि के मारे रेल से कूदकर जान दे देता है। रंगभूमि में विनय आत्महत्या कर लेता है, इसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। कायाकल्प में सोलह वर्ष की तेजस्विनी रोहिणी आत्महत्या कर लेती है। प्रतिज्ञा की पूर्णा जब कमलाप्रसाद के द्वारा बलात्कृता होने से बचकर निकल जाती है, तो वह गंगा में डूबने के लिए तैयार होती है।

विश्व-साहित्य में प्रेमचन्द का प्रवेश

इन छोटी-मोटी त्रुटियों के बावजूद प्रेमचन्द के उपन्यास हिन्दी साहित्य को केवल भारतीय साहित्य में नहीं, बल्कि विश्वसाहित्य में स्थान दिला सका है, इसमें सन्देह नहीं।

प्रेमचन्द की प्रतिभा का सबसे बड़ा दान यह है कि उनके पहले जो तबका हिन्दी उपन्यासों की ओर मुँह उठाकर देखता भी नहीं था, वह भी हिन्दी उपन्यासों को पढ़ने के लिए बाध्य हुये हैं तथा उनमें आनन्द प्राप्त करते हैं। साहित्य के दायरे का यह विस्तार कितनी बड़ी बात है, यह लेनिन ने सुप्रसिद्ध जर्मन क्रान्तिकारिणी क्लारा जेटकीन से बात करते हुये बताया था। उन्होंने कहा था कि 'कला जनता की है। कला को चाहिये कि वह अपनी शाखाओं को अधिक से अधिक जनता में प्रसारित कर दे। इसे चाहिये कि यह जनता की भावुकताओं, विचारों तथा इच्छाओं को संयुक्त करे, और इन्हें ऊपर उठावे।' यों तो सर्वहारिणी क्रान्ति होने पर ही कला सच्चे मानों में जनता की हो सकेगी, इसके पहले तो कला केवल कुछ रियायतप्राप्त वर्गों तथा उनके पिछलगुओं की ही सम्पत्ति रहेगी, किन्तु फिर भी जहाँ तक विषय-वस्तु को जनता के नज़दीक लाकर जनता में प्रवेश करने की बात है,

प्रेमचन्द-साहित्य ने हिन्दी में एक युगान्तर उपस्थित किया, इसमें सन्देह नहीं। प्रेमचन्द-साहित्य प्राक्‌प्रेमचन्द-साहित्य के मुकाबिले में कहीं अधिक जन-साहित्य है, इसमें किसीको सन्देह नहीं हो सकता। प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास के मानदण्ड को ऊँचा उठाकर हिन्दी उपन्यास साहित्य से जो मर्यादा प्राप्त की, वह भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। यों तो पढ़े-लिखे वर्ग में चन्द्रकान्ता सन्तति आदि खूब पढ़ी जाती थी, किन्तु लोग इसे उसी प्रकार से पढ़ते थे (और अब भी पढ़ते हैं) जैसे लन्दन-रहस्य या इस प्रकार के साहित्य पढ़े जाते हैं, किन्तु प्रेमचन्द-साहित्य की बदौलत ही यह सम्भव हुआ कि उच्च संस्कृति वाले लोगों में भी बेधड़क यह स्वीकार किया जाने लगा, या यों कहिये कि स्वीकार किया जाना सम्भव हुआ कि मैं प्रेमचन्द की अमुक पुस्तक पढ़ रहा हूँ। इस प्रकार प्रेमचन्दजी ने हिन्दी साहित्य को अपनी रचनाओं से अभूतपूर्व मर्यादा प्रदान की और वे साहित्य को जनता में ले गये।

यह स्वाभाविक है कि उनकी कला की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में एक तबके की ओर से बहुत सन्देह प्रकट किया जायेगा। प्रेमचन्द आगामी समाज पर अपनी दृष्टि निबद्ध रखकर लिखते थे, स्वाभाविक रूप से ऐसे लोग जिनका शासन समाप्त हो रहा है, जो अपने पैरों के नीचे से जमीन को खिसकती हुई पा रहे हैं, वे तथा उनके पिछलगुये उनको उच्चकोटि का लेखक नहीं मानेंगे। उन्हें तो वही सड़ा-गला पाश्चात्य का जूठन (यहाँ पाश्चात्य से मतलब जाति विशेष की नहीं बल्कि पाश्चात्य की पूँजीवादी संस्कृति से है,) मनोवैज्ञानिक उपन्यास के नाम से पसन्द आयेगा। वे यह आँख खोलकर नहीं देख रहे हैं कि अत्यन्त गर्वित बँगाली समालोचकगण भी अब शरत् बाबू और रवि बाबू के होते हुये भी प्रेमचन्द को अपनाने लगे हैं, और प्रेमचन्द की कहानियों का बँगला में बराबर अनुवाद होता जा रहा है। श्री रघुपतिसहाय फिराक के अनुसार 'उनकी कहानियों का अनुवाद बँगला के अतिरिक्त मराठी,

गुजराती और तामिल तथा दूसरी दक्षिण भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हुये हैं।' उन्हें यह भी मालूम हुआ था कि जापान में भी कुछ हिन्दुस्तानी लेखकों ने उनकी कहानियों का अनुवाद जापानी भाषा में प्रकाशित कराये हैं। शायद सी० एफ० एंड्रूज उनकी कहानियों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करना चाहते थे। 'आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अध्यापक ड्यू हर्स्ट ने एक बार प्रेमचन्द को लिखा था कि आपकी रचनायें बहुत उच्चकोटि की होती हैं, और भारतीय साहित्य की प्रथम श्रेणी में स्थान पाने योग्य हैं।'"[1]

श्री 'अंचल' जी ने प्रेमचन्द की लोकप्रियता का कारण बतलाते हुये कहा है कि प्रेमचन्द की लोकप्रियता का एक रहस्य मेरी समझ में उनकी 'ह्यूमनिज़म' है।' फिर 'ह्यूमनिज़म' का शायद व्याख्या करते हुये वे कहते हैं 'जहाँ भी उन्हें अन्याय और उत्पीड़न दिखा, वहीं उनकी लेखनी में कशाघातों का प्रवाह उमड़ आया। जमीन्दार ने किसान पर, महाजन ने ऋणी, पटवारी, राज्यकर्मचारियों ने निरीह, अशिक्षित और अन्धविश्वासी जनता पर पुरोहित, पंडों और धर्मगुरुओं ने भोले-भाले, परम्परागत संस्कारों में पले और संशय, तर्क और बौद्धिक चेतना से रहित जन-साधारण पर, नर ने नारी पर, निरीह पशुओं पर जहाँ कहीं भी अन्याय किया, वहीं उनका विद्रोह जाग उठा।' यह सब तो ठीक है, किन्तु इसे अंचलजी ने ह्यूमनिज़म ऐसा निरामिष नाम क्यों दिया, यह समझ में नहीं आता। ह्यूमनिज़म एक युग में प्रगतिशील अवश्य था, किन्तु अब किसी क्रान्तिकारी लेखक को ह्यूमनिष्ट कहना गलत इसलिए होगा कि एक क्रान्तिकारी लेखक मानवतावादी होने के अतिरिक्त और भी कुछ होता है। आई० काटा-

---

[1] ह० प्रे० पृ० ८८८

येफ नामक सोवियट लेखक ने ह्यूमनिज्म और सच्ची क्रान्तिकारिणी शैली को अलग करते हुये लिखा है कि 'वे हमें ह्यूमनिष्ट बता कर हमारा नाम साहित्य से काट ही देना चाहते थे।' आई० काटायेफ ने क्रान्तिकारिणी कला के सम्बन्ध में लिखा है कि 'मुझे इस बात पर खास जोर देकर कहना है कि हमारी कला जंगजू होगी। क्रान्ति के मार्ग में जो रोड़े हैं—अकर्मण्यता, कायरता, शान्तिवाद, थकावट, उदासीनता, जो हमारे रथचक्र में कीचड़ की तरह लगकर उसकी अग्रगति में बाधा पहुँचाती हैं, इन सबके विरुद्ध हमारी कला संग्राम करेगी।' काटायेफ ने जो बातें क्रान्तिकारिणी कला की परिभाषा करते हुये लिखी हैं, उनमें और अंचल ने ह्यूमनिज्म की व्याख्या-सी करते हुये जो बातें लिखी हैं उनमें फर्क कहाँ है? इसलिए यहाँ अंचलजी शब्दों की गड़बड़ी में पड़ गये हैं। उन्होंने जो कुछ कहा है वह ठीक है, किन्तु जिस नाम से उन्होंने प्रेमचन्द को अभिहित करना चाहा है, उसमें अव्याप्ति दोष है। प्रेमचन्द मानवतावादी थे जैसा कि प्रत्येक क्रान्तिकारी तथा समाजवादी होने के लिए बाध्य है, किन्तु वे मानवतावादी से कुछ अधिक भी इस अर्थ में थे कि उन्होंने अपने साहित्य में केवल भावुकता को प्रश्रय नहीं दिया, जगत् की विषमताओं पर आँसू बहाकर चुप नहीं हो गये, बल्कि उन्होंने अपने साहित्य में संग्राम का सन्देश दिया है। इस कारण वे काटायेफ-वर्णित अर्थ में क्रान्तिकारी हैं।

सत्य, शिव, सुन्दर की दृष्टि से प्रेमचन्द-साहित्य

सत्य, शिव, सुन्दर की दृष्टि से भी उनकी कला बहुत ऊँचे दर्जे की है। वर्गसंघर्ष सत्य है, इसीको प्रेमचन्दजी ने अपने उपन्यासों का मुख्य उपजीव्य बनाया है। आगामी समाज वर्तमान शोषणमूलक पद्धति की तुलना में शिव है, इसीका ऊषाराग प्रेमचन्द के अन्तिम

उपन्यास तथा अन्तिम कहानियों में—और जैसा कि हम दिखा चुके उनके सारे साहित्य में चित्रित है। प्रेमचन्द-साहित्य सुन्दर इस अर्थ में कदापि नहीं है कि वह जीवन के प्रकाश-पुष्प-प्रेम वाले हिस्से को देखता है और बाकी की तरफ से आँख फेर लेता है, बल्कि वह सुन्दर इसलिए है कि वह हमें इस बात की आशा दिलाता है कि असुन्दर पर सुन्दर की विजय होगी। इस दृष्टि से देखने पर प्रेमचन्द का स्थान विश्व-साहित्य के उन अमर लेखकों में है जिन्होंने लेखनी से इतिहास की सृष्टि की।

सहायक पुस्तकें

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—लेखक डाक्टर श्रीकृष्ण लाल, एम० ए० डीफील०—आ० हि० सा० वि०
2. प्रेमचन्द : एक अध्ययन—अध्यापक रामरतन भटनागर, एम० ए०—प्रे० अ०
3. हंस-प्रेमचन्द अंक मई १९३७—हं० प्र०
4. प्रेमचन्द घर में—श्रीमती शिवरानी देवी—प्रे० घ०
5. The Novel and the People—Ralph Fox—N. P.
6. कुछ विचार (भाग एक)—प्रेमचन्द—कु० वि०
7. Honore de Balazac—F. Brunetiere—H. D. B.
8. Romanciers et Viveus—Du XIXth Siecle—R. E. V.
9. Lettres de Mon Monlin—Par Alphonse Dandet—L. M. M.
10. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—गुलाबराय—हि० सा० सु० इ०
11. आधुनिक कथा साहित्य—गंगाप्रसाद पाण्डे—आ० क० सा०
12. प्रेमचन्द की उपन्यास कला—जनार्दन झा द्विज—प्रे० उ० क०
13. भारतेन्दु युग—डा० रामविलास शर्मा—भा० यु०
14. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—अयोध्यासिंह उपाध्याय—हि० भा० सा० वि०
15. तारीख-इ-अदब उर्दू—एजाज हुसेन ता० अ० उ०
16. प्रेमचन्द—डाक्टर राम विलास शर्मा—प्रे०
17. An Introduction to the Study of Literature—William Henry Hudson, I S. T.
18. History of Indian Literature—Dr. Winternitz—H. I. L.
19. Modern Indian Culture—D. P. Mukerjee—M. I. C.
20. International Literature (files)—I. L. F. (Moscow).
21. Lenin on Art and Literature—Edited by Lunachardey—L A.L.
22. युग और साहित्य—शान्ति प्रिय द्विवेदी—यु० सा०
23. What is art ? Tolstoy—W. I. T.
24. नया हिन्दी साहित्यः एक दृष्टि—श्री प्रकाश चन्द्रगुप्त—न० हि० सा०
25. Soviet Russian Literature—Galeb Streeve—S. R. L.
26. Philosophy for a Modern Men—H. Levy—P. M. M.
27. समाज और साहित्य—अंचल—स० सा०